आर्थिक अवधारणाएँ व विधियाँ

(Economic Concepts and Methods)

[राजस्थान व अजमेर विश्वविद्यालयों के प्रथम वर्ष (अर्थशास्त्र), 1995 की परीक्षा के लिए निर्धारित पाठ्यक्रमानुसार]

लेखक

लक्ष्मीनारायण नाथूरामका

पूर्व रीडर, अर्थशास्त्र विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

CBH

कॉलेज बुक हाउस

चौड़ा रास्ता, जयपुर—3

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

पुस्तक का चतुर्थ सस्करण प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस रचना की बढती हुई माग को देखते हुए स्पष्ट है कि इसका उपयोग राजस्थान व अजमेर विश्वविद्यालयो के प्रथम वर्ष (कला) के विद्यार्थियो के अलावा प्रतियोगी परीक्षार्थी भी अधिक मात्रा मे करने लगे हैं ताकि उन्हे प्रारम्भिक विषयो की स्पष्ट सुनिश्चित व अधिकृत जानकारी हो सके।

इस बार भी पुस्तक के मूल प्रस्तुतीकरण को यथावत् रखा गया है लेकिन विभिन्न स्थलो पर भारतीय उदाहरणो के विभिन्न तथ्यो व तर्कों को नवीनतम स्वरूप प्रदान किया गया है। इसके लिए नये आकडे Economic Survey 1993-94 तथा Report on Currency And Finance 1992-93 Vol I & Vol II (May, 1994), से लिये गये हैं। विभिन्न अध्यायो के अन्त में राजस्थान व अजमेर विश्वविद्यालयो की 1992 1993 व 1994 की परीक्षाओ के प्रश्न भी जोड दिये गये हैं तथा पुस्तक के अन्त मे 1994 की परीक्षा के प्रश्न–पत्र अलग से भी दिये गये हैं ताकि विद्यार्थी उनसे लाभान्वित हो सके।

14 मई, 1994 को घोषित नई मुद्रा व साख नीति (मई अक्टूबर, 1994) के आधार पर CRR की 6 अगस्त, 1994 से लागू नई प्रभावी दर 15% तथा SLR की 17 सितम्बर, 1994 से लागू नई दर 33.75% का यथास्थान स्पष्टीकरण दिया गया है। मुद्रा की पूर्ति वास्तविक आय व मुद्रास्फीति के वार्षिक परिवर्तनो का सम्बन्ध नवीनतम आकडो के आधार पर पुन व्यवस्थित किया गया है।

मैं अर्थशास्त्र विभाग जयपुर के डॉ एन सिन्हा डॉ रजना श्री जे पी गुप्ता डॉ सतीश बत्रा डॉ एन सी पहाडिया तथा श्री के एल शर्मा एव अर्थशास्त्र के अन्य प्राध्यापकों– डॉ मान भडारी (जया कॉलेज जयपुर), श्री सतुलाल शर्मा (टोक) डॉ एम एल आच्छा (राणवास) डॉ मानमल जैन (कोटा) श्री लोकेश कुमार भट्ट (अलवर) आदि अनेक विद्वान महानुभावो का हार्दिक आभारी हूँ जिन्होने रचना–कार्य मे मुझे निरन्तर प्रोत्साहित किया है।

मैं अपने प्रकाशको– श्री हर्षवर्धन जैन व श्री मनीष जैन– के प्रति भी आभार प्रगट करता हूँ जिन्होने इस रचना को उत्तरोत्तर अधिक उत्कृष्ट बनाने का प्रयास जारी रखा है।

आशा है यह सस्करण पहले की भाति सभी के लिए विशेष लाभकारी सिद्ध होगा।

लक्ष्मीनारायण नाथूरामका,
बी–17–ए चौमू हाउस, सी स्कीम
जयपुर।
फोन 381361

University of Rajasthan
B.A. Part I Examination, 1995
Economics Paper-I : Economic Concepts and Methods

SECTION-A

Basic Economic Problems Assumptions in Economic Analysis-Rationality in Consumer (including **ceteris paribus.**) Stock and Flow Variables Positive and Normative Analysis

Equilibrium-Partial and General Properties of Different Markets-Perfect Competition, Monopoly, Market Imperfections and Elementary Idea of Monopolistic Competition and Oligopoly

The concept of National Income and National Accounts, Circular Flow of Income Components and Measurement of National Income, Relationship between Per Capita National Income and Economic Welfare

SECTION-B

Money Functions of money Currency and credit,

Velocity of Circulation Introduction to the concept of demand for money and supply of money Relationship between Money Supply, Output and Prices Internal and external value of money Exchange rate and foreign exchange markets

Characteristics of Capitalism, Socialism, Communism and Mixed Economies

SECTION-C

Functional relationships in Economics and the use of graphs, the concept and interpretation of slopes of curves (e g Total Revenue and Total Cost Curves, Consumption and production functions, simple Derivatives, Concepts of Total, Average and Marginal Values-Introductory analysis with examples from costs, revenue and production

The concept of Average Frequency Distribution-Mean Mode and Median

Books for reference-

1 P A Samuelson & W Nordhaus, ECONOMICS (latest ed)
2 Suraj B Gupta, Monetary Economics
3 लक्ष्मीनारायण नाथूरामका आर्थिक अवधारणाएँ व विधियाँ
कॉलेज बुक हाउस जयपुर।

MDS University, AJMER
B.A. (Part-I) Examination, 1995
ECONOMICS
Paper-I Economic Concepts & Methods

3 Hours duration

Max Marks 100

NOTE: In this question paper nine questions will be set, three questions from each section Candidates have to answer five questions in all taking at least one question from each section

SECTION-A

What is Economics? Nature, Subject matter and scope of Economics Basic Economic Problems Assumptions in Economic Analysis (Rationality in consumer & Producer behaviour including ceteris paribus) Distinction between Micro & Macro Economics Positive & Normative Analysis Static & Dynamic Analysis (only elementary approach) Nature of Economic Laws The Concept of National Income Circular Flow of Income-components and Measurements of National Income Relationship between (per capita National Income & Economic Welfare, Net Economic Welfare

SECTION-B

Money Nature, functions and importance of money The Concepts of Currency and Credit The Concept of Demand for money and supply of money Relationship between money supply, output & prices (upto Cambridge version)

Credit creation by commercial banks Nationalisation of Banks Recent trends in Indian Banking Functions of Central Bank Characteristics of Capitalism, Socialism, Communism and Mixed Economies

SECTION-C

Definition, Nature, Importance & Limitations of Statistics Collection of Data - Primary and Secondary data, Census and Sample Method Representation of data (diagramatic and graphic)

The Concept of Averages, frequency distribution Mean, Mode, Median only The concept of Index Numbers (ordinary, Weighted and Family Budget Method)

Functional relationship in economics & the use of Graphs The concept & interpretation of slopes of curves (e g demand & supply curve etc) Concept of Total, Average & Marginal Values

Note: Only one numerical question shall be asked

विषय सूची

खण्ड (अ)

खण्ड (ब)

खण्ड (स)

अजमेर के लिए

विभिन्न प्रकार के बैक– भारतीय रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंक–अनुसूचित व गैर अनुसूचित–सहकारी बैंक विदेशी बैंक भारतीय स्टेट बैंक व इसके सहायक बैंक नाबार्ड व प्रादेशिक ग्रामीण बैंक राष्ट्रीय आवास बैंक। व्यापारिक बैंको का राष्ट्रीयकरण बाद मे प्रगति जमाए अग्रिम राशियाँ प्राथमिक क्षेत्र को कर्ज बैंकिग का प्रादेशिक विस्तार आधुनिक प्रवृत्तियाँ–साख–कार्ड म्यूच्यूअल–फण्ड मर्चेन्ट–बैकिग आवासीय वित्त लीजिग वेचर केपिटल 'सा' (SAA) (Service Area Approach) (सेवा–क्षेत्र दृष्टिकोण) भारतीय बैंकिग की वर्तमान समस्याएँ नरसिम्हम समिति व गोइपोरिया समिति की सिफारिशे प्रतिभूति–घोटाले मे बैंको की अवांछित भूमिका।

खण्ड–अ

1

अर्थशास्त्र की परिभाषा, विषय – सामग्री, प्रकृति व क्षेत्र

(Definition, Subject matter, Nature and Scope of Economics)

अर्थशास्त्र की परिभाषा

अर्थशास्त्र की परिभाषा काफी विवाद का विषय रहा है, हालाँकि आजकल अधिकाश अर्थशास्त्री रोबिन्स की दुर्लभता पर आधारित परिभाषा को स्वीकार करते है। इस मत के अनुसार दुर्लभता आर्थिक समस्या का केन्द्र बिन्दु होती है। हमारी आवश्यकताएँ असीमित है और उनकी पूर्ति के साधन सीमित होते है। ऐसी स्थिति मे हमे चुनाव करना होता है। यह चुनाव ही आर्थिक समस्या कहलाती है।

अर्थशास्त्र की विभिन्न परिभाषाओ को तीन समूहो मे विभाजित किया जा सकता है –

(क) धन-प्रधान परिभाषाएँ

(ख) भौतिक कल्याण-प्रधान परिभाषाएँ

(ग) दुर्लभता-प्रधान परिभाषाएँ

इनका सक्षेप मे क्रमशः वर्णन किया जाता है।

(क) धन – प्रधान परिभाषाएँ

इस समूह मे एडम स्मिथ, जे बी. से, मिल, सीनियर आदि के विचारो का उल्लेख किया जाता है। अर्थशास्त्र के जनक एडम स्मिथ ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक का नाम 'An Enquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations' रखा था, जिससे स्पष्ट होता है कि उसने अर्थशास्त्र मे 'राष्ट्रो के धन की प्रकृति व कारणो की जाँच' को प्रधानता दी थी। एडम स्मिथ ने अपने ग्रन्थ मे कही पर यह नही लिखा कि 'अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है', लेकिन उसने अपने ग्रन्थ मे जो कुछ लिखा उससे यही प्रकट होता है कि उसने धन पर काफी जोर दिया था। जे. बी. से ने अर्थशास्त्र को

'ऐसे नियमो का अध्ययन बतलाया था जो धन से सम्बन्ध रखते हैं ।' एन. सीनियर ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था के क्षेत्र की चर्चा करते हुए कहा था कि 'राजनीतिक अर्थशास्त्रियो का विषय सुख नही अपितु धन होता है ।'

अर्थशास्त्र की जिस समय धन-प्रधान परिभाषाएँ दी गयी थीं, उस समय इंग्लैण्ड मे औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ था ! उद्योगपति श्रमिको का आर्थिक शोषण करते थे और धन-सचय मे लगे हुए थे । उस समय के समाज-सुधारको व धार्मिक नेताओ जैसे कार्लाइल, रस्किन व विलियम मोरिस आदि ने, अर्थशास्त्र व अर्थशास्त्रियो की काफी निन्दा की और इसे एक घृणित विज्ञान (a dismal science) बतलाया । धन-प्रधान परिभाषाओ मे निम्न दोष थे ।

दोष--(1) धन का सीमित अर्थ--प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने धन का अर्थ भौतिक पदार्थों तक ही सीमित रखा जो अनुचित था । उन्होने इसमे वकील, डाक्टर, अध्यापक, अभिनेता, गायक आदि की सेवाओ को उचित स्थान नही दिया, जिससे लोगो के दिलो मे अर्थशास्त्र के प्रति अनुचित कटुता उत्पन्न हो गयी और अर्थशास्त्र का क्षेत्र भी सीमित हो गया ।

(2) धन पर आवश्यकता से अधिक बल--पुरानी परिभाषाओ के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि धन ही मानवीय क्रियाओ का लक्ष्य (end) है । लेकिन यह सही नही है । धन तो केवल एक साधन मात्र है । भारत मे तो मानव-जीवन का लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करना माना गया है । अत धन को अनुचित स्थान नही देना चाहिए । जीवन मे उत्तम आचरण, त्याग, परस्पर स्नेह आदि गुणो का भी महत्त्व होता है ।

(3) 'आर्थिक पुरुष' की धारणा (Concept of Economic Man) --एडम स्मिथ ने एक ऐसे मानव की कल्पना की थी जो बहुत स्वार्थी होता है । वह केवल धन को ही महत्त्व देता है और दया, सहानुभूति, परोपकार आदि को महत्त्व नही देता । इससे भी अर्थशास्त्र को एक घटिया किस्म का विज्ञान समझा जाने लगा ।

प्रोफेसर मार्शल आदि ने धन के स्थान पर मानवीय कल्याण पर अधिक बल दिया और अर्थशास्त्र के प्रति जनसाधारण के दिल मे जमी हुई विरोधी भावना को बदलने का प्रयास किया ।

(ख) भौतिक कल्याण-प्रधान परिभाषाएँ

इस समूह मे मार्शल, पीगू, आदि की परिभाषाएँ आती है । इनके अनुसार अर्थशास्त्र मे भौतिक कल्याण का अध्ययन किया जाता है ।

मार्शल की परिभाषा--मार्शल के अनुसार, 'राजनीतिक अर्थव्यवस्था या अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यवसाय मे मानवता का अध्ययन है, यह व्यक्तिगत व सामाजिक कार्य मे उस अश की जाँच करता है जिसका कल्याण के भौतिक साधनो की प्राप्ति व उपयोग से गहरा सम्बन्ध होता है । इस प्रकार

एक तरफ वह धन का अध्ययन है, और दूसरी तरफ, इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण, मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।

मार्शल की परिभाषा का स्पष्टीकरण

(1) **जीवन का साधारण व्यवसाय**—मार्शल ने 'जीवन के साधारण व्यवसाय' मे उन कार्यों को शामिल किया है जिनका सम्बन्ध धन को उत्पन्न करने व उसे खर्च करने से होता है। मनुष्य का अधिकाश समय इनमे लगता है और इन कार्यों का उसके जीवन पर काफी प्रभाव पड़ता है। मार्शल ने मनुष्य के जीवन पर धार्मिक प्रभावो को भी स्वीकार किया है, लेकिन उसका मत है कि आर्थिक प्रभाव इनसे अधिक प्रबल होते है।

(2) **व्यक्तिगत व सामाजिक कार्य**—मार्शल के मतानुसार अर्थशास्त्र मे व्यक्तिगत व सामाजिक दोनो प्रकार के कार्य शामिल होते है। अर्थशास्त्र एक व्यक्तिगत उपभोक्ता या व्यक्तिगत उत्पादक के व्यवहार का अध्ययन करता है और साथ मे अनेक उपभोक्ताओ व अनेक उत्पादको के व्यवहार का भी। इस प्रकार दोनो प्रकार के आचरणो का अध्ययन अर्थशास्त्र मे शामिल किया गया है। लेकिन मार्शल ने अर्थशास्त्र को सामाजिक विज्ञान माना है। एक व्यक्ति के कार्यों का समाज पर प्रभाव पड़ता है और समाज के कार्यों का व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है।

(3) **मनुष्य पर धन से ज्यादा बल**—मार्शल ने अपनी परिभाषा मे स्पष्ट शब्दो मे धन से ज्यादा महत्त्व मनुष्य को दिया है। उसके अनुसार धन आवश्यकताओ की पूर्ति का एक साधन मात्र है। यह स्वय मे कोई साधन नही है। इस प्रकार मार्शल ने अर्थशास्त्र को घृणा के दलदल से निकाला क्योकि उसने मनुष्य को ऊँचा स्थान दिया।

(4) **कल्याण के भौतिक साधनों की प्राप्ति व उपयोग**—मार्शल ने मानवीय कल्याण को ध्यान मे रखा है और इसके लिए भौतिक साधनो को जुटाने पर बल दिया है। मार्शल का विचार था कि गरीबी मनुष्य को पतन की तरफ ले जाती है। गरीब लोग जीवन के सुख से वचित रहते है। गरीबो की शारीरिक, मानसिक व नैतिक गिरावट के कई कारण हो सकते है, लेकिन इनमे गरीबी एक प्रमुख कारण होता है। अत मार्शल ने कल्याण के लिए भौतिक साधनो को जुटाने व इनको प्रयुक्त करने पर बल दिया जो उचित था।

प्रोफेसर पीगू की परिभाषा—प्रोफेसर पीगू ने मार्शल के विचारो को आगे बढ़ाया। पीगू के अनुसार, अर्थशास्त्र मे आर्थिक कल्याण का अध्ययन होता है। आर्थिक कल्याण को इस तरह परिभाषित किया गया है 'यह कल्याण का वह अश है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे मुद्रा के मापदण्ड से जोड़ा जा सकता है।'[1] यह परिभाषा ज्यादा स्पष्ट है क्योकि इसमे उस क्रिया को शामिल किया जाता है जिसका माप मुद्रा के माध्यम से किया जा सके।

---

1 'Economics, according to Prof. Pigou, is the study of economic welfare, economic welfare being defined as 'that part of welfare which can be brought directly or indirectly into relation with the measuring rod of money' Economics of Welfare, p 1.

भौतिक कल्याण पर आधारित परिभाषाओं की आलोचना—भौतिक कल्याण पर आधारित परिभाषाओ की रोबिन्स ने कड़ी आलोचना की है और उसमे निम्न दोष बतलाये है

(1) **साधनो की भौतिकता पर आपत्ति**—प्रोफेसर रोबिन्स ने कहा है कि साधनो की भौतिकता (materiality) पर ध्यान केन्द्रित करके मार्शल व अन्य व्यक्तियो ने अर्थशास्त्र का क्षेत्र अनावश्यक रूप से सीमित कर दिया है। साधन अभौतिक भी हो सकते है। सेवाएँ अभौतिक होती है। बहुत से लोग अभौतिक सेवाओ को प्रदान करके धनोपार्जन करते है,जैसे गायक गाना गाकर तथा अध्यापक पढ़ाकर अपनी आय प्राप्त करते है। इसी प्रकार साधन अभौतिक सेवाओ पर भी खर्च किये जाते है, जैसे कोई व्यक्ति चलचित्र देखने के लिए रुपया व्यय करता है। इस प्रकार प्रो रोबिन्स साधनो को भौतिक व अभौतिक भागो मे बाँटना उचित नही मानते।

(2) **कल्याण पर आपत्ति**—रोबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान (positive science) है। इसमे 'क्या है' का विश्लेषण किया जाता है। कल्याण से इसका कोई सरोकार नही होता। कुछ वस्तुओ के उपभोग से कल्याण मे वृद्धि नही होती जैसे शराब आदि से। लेकिन हम उनको अर्थशास्त्र के बाहर नही रखते क्योकि उनका मूल्य होता है और विनिमय किया जाता है। कल्याण का प्रश्न आदर्श विज्ञान (normative science) का विषय होता है। इसमे नीतिशास्त्र का समावेश होता है। कल्याण को मापने मे भी कठिनाई होती है। अत अर्थशास्त्र की वास्तविक विज्ञान के रूप मे प्रगति करने के लिए रोबिन्स ने इसे कल्याण के विवाद से मुक्त रखने पर बल दिया है। उसके मतानुसार, 'अर्थशास्त्र साध्यो के प्रति तटस्थ होता है' (Economics is neutral between ends)। अर्थशास्त्री के लिए साध्य दिये हुए होते है। वह दिये हुए साध्यो को प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय तलाश करता है और उस सम्बन्ध मे कम से कम व्यय के तरीको का उपयोग करता है।

(3) **विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण का अभाव**—मार्शल का दृष्टिकोण क्रियाओ के वर्गीकरण को स्वीकार करता है। उसने क्रियाओ को आर्थिक और अनार्थिक दो भागो मे विभाजित किया है। रोबिन्स का दृष्टिकोण विश्लेषणात्मक (analytical) है क्योकि उसके अनुसार प्रत्येक क्रिया का चुनाव का पहलू ही उसका आर्थिक पहलू होता है। सीमित साधनो व असीमित लक्ष्यो की स्थिति मे हमे चुनाव के लिए बाध्य होना पड़ता है। अत रोबिन्स के अनुसार कोई क्रिया सम्पूर्ण रूप से आर्थिक या अनार्थिक नही होती, बल्कि प्रत्येक क्रिया का चुनाव का पहलू उसका आर्थिक पहलू होता है।

(4) **अर्थशास्त्र एक मानवीय विज्ञान है**—उपर्युक्त विचारधारा मे

अर्थशास्त्र को एक मानवीय एवं सामाजिक विज्ञान माना गया है। रोबिन्स का मत है कि एक एकान्तवासी व्यक्ति को भी अपने सीमित समय का अनेक कार्यों मे विभाजन करना होता है। अतः उसे भी आर्थिक समस्या का सामना करना पड़ता है। रोबिन्सन क्रूसो के लिए भी चुनाव की समस्या होती है। इसी प्रकार एक साम्यवादी अर्थव्यवस्था मे भी चुनाव किया जाता है, हालाँकि वहाँ यह कार्य योजनाधिकारी (planners) करते हैं। अधिकांश चुनाव की समस्याएँ एक स्वतन्त्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था मे उत्पन्न होती है जहाँ अनेक उत्पादक व अनेक उपभोक्ता स्वतंत्र रूप से चुनाव की प्रक्रिया मे भाग लेते है और बहुत से निर्णय करते है। लेकिन चुनाव की समस्या अन्य परिस्थितियो मे भी पायी जा सकती है। इस प्रकार रोबिन्स ने अर्थशास्त्र का कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत बना दिया है।

इन्ही दोषो को दूर करने के लिए प्रो. रोबिन्स ने अर्थशास्त्र की एक आधुनिक परिभाषा दी है जो तार्किक दृष्टि से ज्यादा सही व युक्तिसंगत मानी गयी है।

(ग) दुर्लभता-प्रधान परिभाषा

प्रोफेसर रोबिन्स ने 1932 मे अर्थशास्त्र की परिभाषा व विषय-सामग्री आदि पर अपने नये विचार प्रस्तुत किये। अर्थशास्त्र की आधुनिक पाठ्य-पुस्तको मे परिभाषा के सम्बन्ध मे प्रायः रोबिन्स का दृष्टिकोण ही देखने को मिलता है जिससे इस क्षेत्र मे उसके योगदान का पता लगता है। स्टिगलर, सेमुअल्सन व नोरढाउस, हैडरसन व क्वान्ट, मिल्टन फ्रीडमैन तथा जॉर्ज लीलेण्ड बच (G.L. Bach) आदि आधुनिक अर्थशास्त्रियो के विचार भी बहुत-कुछ रोबिन्स के विचारो से मिलते-जुलते ही हैं। हम यथास्थान संक्षेप मे उनकी भी चर्चा करेगे।

रोबिन्स की परिभाषा—रोबिन्स के अनुसार, 'अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो उस मानवीय व्यवहार का अध्ययन करता है जिसका सम्बन्ध लक्ष्यो व वैकल्पिक उपयोगो वाले सीमित साधनो से होता है।'[1] इस परिभाषा मे अर्थशास्त्र को मानवीय विज्ञान माना गया है और अनेक साध्यो और सीमित साधनो के परस्पर सम्बन्ध की चर्चा की गयी है।

परिभाषा की व्याख्या—स्वयं रोबिन्स ने अपनी परिभाषा का विस्तृत रूप से स्पष्टीकरण दिया है जिसके अनुसार मनुष्य के समक्ष चार प्रकार की दशाएं विद्यमान होती है : (i) साध्य या लक्ष्य (ends) अनेक होते हैं, जैसे मनुष्य की आवश्यकताएँ अनंत होती हैं। (ii) लेकिन इन लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए

1. 'Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses.' L. Robbins, An Essay on the Nature and Significance of Economic Science, 2nd ed; p 16

समय व साधन सीमित होते हैं और उनके वैकल्पिक उपयोग होते है अर्थात् साधनो को एक उपयोग मे न लगाकर दूसरे उपयोग मे लगाया जा सकता है। (iii) साध्यो का महत्त्व भी भिन्न-भिन्न होता है। (iv) ऐसी स्थिति मे मनुष्य को चुनाव करना पड़ता है। यही आर्थिक पहलू कहलाता है।

हमे यह स्मरण रखना होगा कि उपर्युक्त पैरा की प्रथम तीन बातो के एक साथ पाये जाने पर ही चुनाव की समस्या उत्पन्न होती है, अन्यथा नही। केवल साध्यो की अनेकता मे किसी अर्थशास्त्री को रुचि नही होती। यदि मुझे दो काम करने है और मेरे पास दोनो के लायक पर्याप्त समय व पर्याप्त साधन है तो मेरा व्यवहार चुनाव का स्वरूप धारण नही करेगा। मेरे दोनो काम हो जायेगे और मेरे सामने कोई समस्या उत्पन्न नही होगी। इसी प्रकार केवल साधनो की सीमितता ही आर्थिक चुनाव को जन्म नही देती। यदि साधनो के वैकल्पिक उपयोग नही होते तो वे चाहे सीमित हो, फिर भी उनके मितव्ययितापूर्वक उपयोग का प्रश्न नही उठता। चूँकि अधिकाश साधनो के एक से अधिक उपयोग होते है, इसलिए रोबिन्स की मान्यता सही प्रतीत होती है।

ठीक इसी तरह सीमित साधनो के वैकल्पिक उपयोग से ही किसी भी क्रिया का आर्थिक पहलू उत्पन्न नही हो जाता। मान लीजिए दो लक्ष्य हैं और उसकी पूर्ति का एक ही साधन है और दोनो लक्ष्य समान महत्त्व रखते है। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति की स्थिति उस पशु की तरह होगी जो घास के दो समान आकर्षक ढेरो के बीच खड़ा है और कुछ भी नही कर पाता है।

अत लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए समय व साधनो के सीमित होने और उनके वैकल्पिक उपयोगो के लायक होने एव लक्ष्यो को महत्त्व के क्रम मे जँचाने के लायक होने पर ही मनुष्य का व्यवहार चुनाव का रूप धारण करता है। यदि मुझे रोटी व कपड़ा चाहिए और दिये हुए समय मे दोनो पर्याप्त मात्रा मे नही मिल सकते तो मेरी रोटी व कपड़े की आवश्यकता कुछ अशो मे पूरी नही हो पायेगी।

प्राय लोग यह कहते हुए पाये गये है कि अमुक लखपति या करोड़पति व्यक्ति के पास तो किसी भी साधन की कमी नही है। उसकी तो सभी आवश्यकताओ की पूर्ति हो रही है। ऐसे व्यक्तियो का विचार सही नही होता, क्योकि सभी के पास उपभोग के लिए समय सीमित होता है। अत धनी व्यक्तियो पर भी समय का बन्धन तो लगता ही है। 'हमे स्वर्ग से निकाल दिया गया है। न तो हमे शाश्वत व स्थायी जीवन मिला है और न सन्तुष्टि के लिए असीमित साधन ही। जिधर मुड़ते है उधर ही एक वस्तु लेते है तो दूसरी छोड़नी पड़ती है।'

रोबिन्स की परिभाषा के प्रमुख तत्त्व—रोबिन्स की परिभाषा मे अग्र बाते उल्लेखनीय हैं—

(1) **यह विश्लेषणात्मक** (analytical) है–इसमे प्रत्येक क्रिया के चुनाव-पक्ष का अध्ययन किया जाता है। ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि सीमित साधन, उनके वैकल्पिक उपयोग एव विभिन्न महत्त्व वाले अनेक लक्ष्यो की स्थिति मे चुनाव अवश्य करना होता है। अत रोबिन्स की परिभाषा विश्लेषणात्मक है। इसमे क्रियाओ को आर्थिक व अनार्थिक दो श्रेणियो मे नही बाटा गया है।

(2) **रोबिन्स साध्यों को दिया हुआ मानता है**–उसके मत मे साध्यो (जिन्हे एक व्यक्ति प्राप्त करना चाहता है) का निर्धारण राजनीतिज्ञ अथवा नीतिशास्त्री अथवा व्यक्ति स्वय करते है। अर्थशास्त्री का काम (अर्थशास्त्री के रूप मे) साध्यो के अच्छे-बुरे की जाँच करना नही है, बल्कि उनको दिया हुआ मानकर केवल उनको प्राप्त करने के उपाय सुझाना है।

(3) **अर्थशास्त्र एक मानवीय विज्ञान है**–इसमे समाज मे रहने वाले और न रहने वाले दोनो प्रकार के व्यक्तियो के व्यवहार का अध्ययन किया जा सकता है।

(4) **परिभाषा मे साधनो की 'भौतिकता' के स्थान पर 'सीमितता' पर बल दिया है**–रोबिन्स के अनुसार साधनो की 'भौतिकता' आर्थिक समस्या को जन्म नही देती हैं, बल्कि उनकी 'सीमितता' ही आर्थिक चुनाव के लिए प्रेरित करती है। साधन भौतिक या अभौतिक हो सकते है। लेकिन जब माँग की तुलना मे उनकी पूर्ति कम होती है, अर्थात् जब वे सीमित होते है तभी आर्थिक चुनाव की समस्या पैदा होती है।

हम पहले बतला चुके है कि अधिकाश आधुनिक अर्थशास्त्री आर्थिक समस्या को 'सीमितता' से जोड़ते है और इसे 'चुनाव की समस्या' मानते है। सेमुअल्सन व नोरढाउस, लिप्से, मिल्टन फ्रीडमैन व जी एल बच आदि ने रोबिन्स के दृष्टिकोण का समर्थन किया है।

जी एल बच (G L Bach) व उसके सहयोगी लेखको ने अर्थशास्त्र को **'आर्थिक विश्लेषण' व 'आर्थिक नीति'** दोनो रूपो मे देखा है। आर्थिक विश्लेषण के रूप मे, **'अर्थशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि हम जिन वस्तुओं व सेवाओ को चाहते हैं, उनका उत्पादन कैसे किया जाता है, और उनका हमारे बीच मे वितरण कैसे किया जाता है।'** इस तरह आर्थिक विश्लेषण वस्तुओ व सेवाओ के उत्पादन व वितरण से सम्बन्ध रखता है। लेकिन आर्थिक नीति के रूप मे **'अर्थशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि उत्पादन व वितरण की प्रणाली किस प्रकार बेहतर ढंग से काम कर सकती है।'** अत आर्थिक नीति के रूप मे यह उत्पादन व वितरण की प्रणाली मे सुधार के उपाय सुझाता है ताकि इनको पहले की तुलना मे ज्यादा कार्यकुशल

बनाया जा सके।[1]

इस विवरण के बाद जी एल बच ने इस बात पर भी बल दिया है कि कुछ अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र की एक भिन्न किस्म की परिभाषा का भी समर्थन करते है जो इस प्रकार होती है 'अर्थशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि मानवीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सीमित उत्पादक—साधनों का प्रयोग कैसे किया जाता है। इस परिभाषा मे दो केन्द्र बिन्दु है प्रथम, उत्पादन के साधन—भूमि, पूँजी, श्रम, आदि सीमित होते है। इसलिए हम सभी व्यक्तियो के लिए सभी प्रकार की वस्तुए उत्पन्न नही कर पाते। द्वितीय, मानवीय आवश्यकताए इतनी अधिक होती है कि हमारे उत्पादन के साधन उन्हे सन्तुष्ट नही कर पाते। इसलिए हमे उन उत्पादन के साधनो का मितव्ययिता या किफायत से उपयोग करना होगा (economize), ताकि हम अपनी ज्यादा से ज्यादा आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके।

अत अर्थशास्त्र में साधनों के मितव्ययितापूर्वक उपयोग की समस्या प्रधान होती है। इस अर्थ मे यह रोबिन्स की परिभाषा के अनुकूल हो जाती है।

रोबिन्स की परिभाषा की आलोचना—ऊपर बताया जा चुका है कि रोबिन्स की परिभाषा अधिक वैज्ञानिक, तर्कसगत व सही मानी गयी है, लेकिन, विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने इसमे भी दोष बतलाये है जो निम्नाकित है —

(1) कुछ मानवीय क्रियाओ के आर्थिक पहलू नही होते। रोबिन्स के अनुसार, प्रत्येक मानवीय क्रिया का चुनाव का पहलू उसका आर्थिक पहलू होता है। ऐसा इसलिए होता है कि दिये हुए लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए सीमित साधन प्रयुक्त किये जाते है। लेकिन डॉ बी के आर वी राव का कहना है कि मनुष्य की बहुत सी क्रियाये स्वय मे साध्य या अत (end in itself) होती है। उदाहरण के लिए, मनुष्य का पारिवारिक जीवन लीजिए। जब लोग शादी करते है या अपने बच्चो के साथ अपना समय बिताते है तो वे किफायत की बात नही करते हैं। जब व्यक्ति मित्रता करते हैं या सगीत सुनते है या चित्रकारी की प्रशसा करते है तो यह कहना सही नही होगा कि वे साधन की मितव्ययिता के दृष्टिकोण से प्रभावित होते है।

लेकिन जहाँ पर कोई क्रिया दिये हुए लक्ष्य के लिए साधन के रूप मे होती है वहाँ भी मितव्ययिता का दृष्टिकोण सदैव महत्त्वपूर्ण नही होता। मान लीजिए, दिया हुआ लक्ष्य, परीक्षा मे प्रथम श्रेणी प्राप्त करना है और न्यूनतम शक्ति और समय को खर्च करके यह लक्ष्य बाजारू नोट्स के सहारे प्राप्त किया

1 'Economics is the study of how the goods and services we want get produced and distributed among us This part we call economic analysis.

Economics is also the study of how we can make the system of production and distribution work better This part we call economic policy'
-- G L. Bach and his co-authors, ECONOMICS
11th ed, 1987, PP1 2, His co-authors are R. Flanagan, J. Howell, F. Levy & A. Lima.

जा सकता है । लेकिन कोई भी प्रोफेसर इस मार्ग का समर्थन नही करेगा, क्योकि शैक्षणिक आधार पर यह एक अनुचित मार्ग माना जाता है । अत यह कहने से क्या लाभ कि सभी क्रियाओ का आर्थिक पहलू होता है । कोई सन्त ईश्वर को पाने के लिए साधनो की मितव्ययिता का मार्ग नही अपनायेगा । उसे कठिन तपस्या करनी होगी । इसी प्रकार पारिवारिक जीवन, शिक्षा व धार्मिक जगत मे साधनो की मितव्ययिता को सदैव महत्त्व नही दिया जाता । अत यह आवश्यक नही कि सभी मानवीय क्रियाओ का आर्थिक पहलू हो ।

(2) **रोबिन्स की दुर्लभता की धारणा के पीछे पूर्ण रोजगार (full employment) की मान्यता निहित है** । आजकल विभिन्न देशो मे बेरोजगारी की स्थिति पायी जाती है जिससे मितव्ययिता के नियम के विपरीत परिणाम निकल सकते है । यदि मितव्ययिता के सिद्धान्त का परिणाम रोजगार घटाने वाला हो तो वह किस काम का । जनाधिक्य वाले देशो मे श्रम की किफायत कराने वाली पद्धतियाँ हानिप्रद सिद्ध होती है । इस प्रकार साधनो की सीमितता मे निहित धारणा के परिणाम विपरीत भी निकल सकते है । हमारे देश मे महात्मा गाधी ने मशीनो का उपयोग करके श्रम का उपयोग घटाने तथा लागत कम करने को गलत माना था ।

(3) असीमित आवश्यकताओ की धारणा भी सही नही है । कुछ धनी व्यक्तियो के लिए आवश्यकताओ की अनेकता की बात कही जा सकती है लेकिन विशाल जन-समुदाय के लिए, विशेषतया भारत जैसे देश मे, यह सही नही जान पड़ती ।

(4) डॉ. राव का मत है कि रोबिन्स ने मानवीय क्रिया के सामान्य उद्देश्य पर ध्यान नही दिया । रोबिन्स ने आर्थिक क्रिया का कोई एक लक्ष्य स्वीकार नही किया । उसने लक्ष्यो के बीच चुनाव की बात कही है । इस प्रकार मानवीय क्रिया का सामान्य लक्ष्य उसकी आँखो से ओझल रह गया है । डॉ **राव ने यह लक्ष्य मानव के व्यक्तित्व का विकास माना है जिसके लिए रोबिन्स की विचारधारा में कोई स्थान नहीं है** । उसने तो 'मितव्ययिता के सिद्धान्त' को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जो डॉ राव जैसे अर्थशास्त्रियो को स्वीकार्य नही है ।

(5) रोबिन्स की परिभाषा स्थैतिक (static) है क्योकि इसमे दिये हुए साध्यो का दिये हुए साधनो से मेल बैठाया गया है । लेकिन साधन बदलते भी रहते है । अत यह गत्यात्मक अर्थशास्त्र की परिभाषा नही कहला सकती ।

(6) इस परिभाषा मे बहुतायत या अधिकता से उत्पन्न होने वाली समस्याओ के लिए कोई स्थान नही है । कभी कभी उत्पादन की अधिकता से भी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है । ऊँचे भौतिक स्तर से भी मानसिक शान्ति नही मिलने पर कई बार लोग आध्यात्मिक जीवन मे शान्ति की तलाश करने लग जाते है । अत मितव्ययिता के सिद्धान्त, आवश्यकताओं की वृद्धि, अधिकतम सन्तुष्टि आदि ने कई नई समस्याओं को जन्म दिया है ।

(7) रोबिन्स के मतानुसार, अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है, न कि एक आदर्श विज्ञान । इस बात को लेकर भी काफी विवाद पाया गया जिसका विवेचन आगे किया गया है ।

प्रो जे के मेहता द्वारा दी गई अर्थशास्त्र की परिभाषा—इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री व दार्शनिक विचारक स्व प्रोफेसर जे के मेहता ने अर्थशास्त्र की अपनी नयी परिभाषा दी थी जो रोबिन्स के विचारो से भिन्न है । उनकी परिभाषा मे आवश्यकताओ को न्यूनतम करने पर बल दिया गया है जो प्राचीन भारतीय सस्कृति व हमारी आध्यात्मिक परम्परा के काफी अनुरूप है । प्रोफेसर जे के मेहता के अनुसार, 'अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो उस मानवीय आचरण का अध्ययन करता है जो आवश्यकता-रहित स्थिति के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए किया जाता है ।'[1] एक दूसरे स्थान पर उन्होने इसी से मिलती-जुलती अर्थशास्त्र की निम्न परिभाषा दी है अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो उस मानवीय आचरण का अध्ययन करता है जो दीर्घकाल मे दु ख को न्यूनतम करने के प्रयास के रूप मे किया जाता है अथवा दूसरे शब्दो मे, आवश्यकताओ से मुक्ति पाने और सुख की स्थिति तक पहुँचने के प्रयास के रूप मे किया जाता है ।[2]

परिभाषा का स्पष्टीकरण—प्रोफेसर मेहता का विचार था कि जब तक आवश्यकता की पूर्ति नही होती तब तक हमे कष्ट का अनुभव होता है और उसकी पूर्ति हो जाने पर हमे आनन्द मिलता है । इस प्रकार किसी आवश्यकता की पूर्ति से केवल वह दु ख दूर होता है जिसे हम पहले अनुभव कर चुके है । यदि आवश्यकताओ को कम कर दिया जाय तो दु ख भी कम हो जायेगा । अत आवश्यकताओ को निरन्तर कम करते हुए हम वास्तविक सुख की स्थिति मे पहुँच सकते है । सुख की स्थिति आनन्द या सन्तोष की स्थिति से भिन्न होती है, क्योकि आनन्द का अर्थ तो दु ख या कष्ट का दूर होना है, लेकिन सुख का आशय उस स्थिति से है जहाँ कोई कष्ट ही नही होता ।

प्रोफेसर मेहता का विचार था कि एक आवश्यकता की पूर्ति के बाद दूसरी आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है । एक आवश्यकता भी एक बार पूरी हो जाने के बाद पुन पैदा हो जाती है । इस प्रकार आवश्यकताओ को बढ़ाने से दु ख बढ़ता है । अत इनको कम करना बहुत आवश्यक है । अत मानव को आवश्यकताओ को कम करने पर ध्यान देना चाहिए । घटिया या निम्न स्तर की आवश्यकताओ के स्थान पर उच्च स्तर की आवश्यकताओ को अपना लेने

---

1 ' Economics is a science that studies human behaviour as a means to the end of wantlessness '--J K. Mehta, Advanced Economic Theory, 1957, p 10

2 'Economics is, therefore, the science that studies human behaviour as the effort to minimise pain in the long run or, in other words, as an endeavour to gain freedom from wants and reach the state of happiness '-- J K. Mehta Lectures on Modern Economic Theory, 1967, Ch I

से घटिया अथवा निम्न स्तर की आवश्यकताएँ अपने आप समाप्त हो जाती है। प्रोफेसर मेहता ने इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण भी दिया है कि घटिया सिनेमा देखने की बजाय उत्तम साहित्य पढ़ना चाहिए। स्मरण रहे कि एक उच्च श्रेणी की आवश्यकता कई घटिया श्रेणी की आवश्यकताओ को समाप्त कर सकती है।'[1]

आवश्यकता-रहित स्थिति मे मनुष्य पूर्णतया निष्क्रिय नही हो जाता बल्कि वह सन्तुलन की अवस्था प्राप्त कर लेता है जहाँ कष्ट व आनन्द दोनो समाप्त हो जाते है और उसे केवल सुख ही मिलता है। अधिकाश ऋषि-महर्षि व साधु-सन्त ऐसा ही आचरण करते आये है।

आवश्यकताओ को बढ़ाकर मनुष्य स्वय दु खी हो जाता है और दूसरो को भी दु खी कर डालता है। वह नितान्त स्वार्थी हो जाता है और दूसरो के अधिकारो को आघात पहुँचाने की चेष्टा करने लगता है। इससे समाज मे कई प्रकार के तनाव उत्पन्न हो जाते है।

प्रोफेसर मेहता की परिभाषा की आलोचना—प्रोफेसर मेहता के परिभाषा सम्बन्धी विचार दार्शनिक व नीति-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर आधारित है। उनका विचार था कि ये बाते व्यवहार में प्रयोग करके ही समझी जा सकती है, कोरे तर्क-वितर्क से विशेष लाभ नही हो सकता।

आधुनिक पाश्चात्य अर्थशास्त्री व अन्य भौतिकवादी अर्थशास्त्री प्रोफेसर मेहता की परिभाषा को स्वीकार नही करते। इसके निम्न कारण है —

(1) आवश्यकताओ को कम करने से सभ्यता का विकास ही रुक जायगा। अधिक आवश्यकताओ की तृप्ति आधुनिक भौतिकवादी युग मे आवश्यक मानी गयी है।

(2) मेहता की परिभाषा के अनुसार, एक निर्धन व्यक्ति धनी व्यक्ति से ज्यादा सुखी होता है, क्योकि उसे कम आवश्यकताएँ सताती है, जबकि एक धनी व्यक्ति अनेक आवश्यकताओ से घिरा रहने से दु खी रह सकता है। लेकिन यह बात आसानी से समझ मे नही आती।

(3) प्रो मेहता के अनुसार, अर्थशास्त्र एक आदर्श विज्ञान (normative science) भी है जिसे प्रो रोबिन्स व उनके समर्थक स्वीकार नही करते।

हमारा यह मत है कि प्रोफेसर मेहता के दृष्टिकोण को सही रूप से समझने पर उनके विचारो मे काफी सार्थकता व सत्यता प्रतीत होगी। उनके विचार राष्ट्रपिता महात्मा गाधी के आर्थिक विचारो से काफी मेल खाते है। इस विचारधारा के पीछे मूलमत्र है—सादा जीवन—उच्च विचार, जो भारतीय सस्कृति का आधार रहा है।

---

1 'One noble want can be relied upon to kill several baser wants' - J K. Mehta, The Infra structure of Economics, 1972, p 66

अर्थशास्त्र की आधुनिक परिभाषा :

अर्थशास्त्र एक विकास के विज्ञान के रूप में—रोबिन्स की परिभाषा की आलोचना मे यह बतलाया गया था कि यह दिये हुए साध्यो का सम्बन्ध दिये हुए साधनो से स्थापित करने के कारण स्थैतिक (static) किस्म की मानी गयी है । पिछले लगभग पचास वर्षों मे कुछ ऐसे परिवर्तन हुए है जिनके कारण अर्थशास्त्र की परिभाषा मे परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है । मिण्ट व हैरड जैसे विद्वान् अर्थशास्त्री रोबिन्स की परिभाषा को व्यापक नही मानते । पिछले वर्षों मे रोजगार, राष्ट्रीय आय, आर्थिक विकास व आर्थिक नियोजन जैसे विषयो पर काफी नया साहित्य सामने आया है । ऐसा प्रतीत होता है कि रोबिन्स की परिभाषा जो दुर्लभता-केन्द्रित (scarcity-centred) है, वह विकास-केन्द्रित (growth-centred) साहित्य को अपने मे समा सकने मे असमर्थ रही है । सच पूछा जाय तो रोबिन्स ने सीमित साधनो के आवटन पर ही विचार किया था । उसकी परिभाषा मे साधनो मे होने वाली निरन्तर वृद्धि पर विचार नही किया गया ।

हेनरी स्मिथ के अनुसार, '**अर्थशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि एक सभ्य समाज में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के द्वारा उत्पादित माल में अपना हिस्सा कैसे प्राप्त करता है तथा समाज की कुल उत्पत्ति कैसे परिवर्तित होती है एवं कैसे निर्धारित होती है ।**' इस परिभाषा मे तीन बातो पर बल दिया गया है : (1) समाज मे कुल उत्पत्ति अथवा राष्ट्रीय आय कैसे निर्धारित होती है ? (2) इसमे कैसे परिवर्तन होते है ? (3) एक व्यक्ति का इसमे हिस्सा कैसे निर्धारित होता है ? वस्तुत. इसे समष्टि अर्थशास्त्र की परिभाषा कहे तो गलत न होगा । इसमे राष्ट्रीय आय व आर्थिक विकास जैसे विषयो पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया गया है ।

यह परिभाषा अधिक व्यापक है क्योकि इसमे साधनो के विकास का भी उचित समावेश किया गया है ।

रिचर्ड जी. लिप्से द्वारा अर्थशास्त्र की परिभाषा :

रिचर्ड जी. लिप्से (Richard G. Lipsey) ने उत्पादन-सम्भावना वक्र के विवेचन को ध्यान मे रखते हुए अर्थशास्त्र की एक नयी परिभाषा प्रस्तुत की है जिसमे समस्त आर्थिक समस्याओ का समावेश हो जाता है । यह परिभाषा इस प्रकार है —

विस्तृत रूप में परिभाषित किये जाने पर आधुनिक अर्थशास्त्र का सम्बन्ध निम्नलिखित से किया जा सकता है :

(1) समाज के साधनों का वैकल्पिक उपयोगों में आवंटन तथा समाज की उत्पत्ति का व्यक्तियों व समूहों के बीच वितरण;

(2) वे तरीके जिनके द्वारा उत्पादन व वितरण किसी अवधि में परिवर्तित हो जाते हैं; तथा

(3) आर्थिक प्रणालियों की कार्यकुशलताएँ तथा अकार्यकुशलताएँ।*

इस परिभाषा में साधनो के वैकल्पिक उपयोग, उत्पत्ति के वितरण, उत्पादन व वितरण के परिवर्तनो तथा अर्थव्यवस्थाओं की कार्यकुशलताओं एवं अकार्यकुशलताओं का समावेश किया गया है। अत: यह काफी आधुनिक व व्यापक परिभाषा मानी जा सकती है। इसमें साधन आवंटन के साथ-साथ साधनो के विकास को भी शामिल किया गया है। इसमें आर्थिक प्रणाली की कार्यकुशलताओं व अकार्यकुशलताओं को शामिल करना एक विशेष बात है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि परिभाषा पर रोबिन्स के विचार अधिक वैज्ञानिक व तर्कसंगत हैं, हालाँकि उसके विचारो मे अब सशोधन की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। अर्थशास्त्र में विभिन्न महत्व वाले साध्यों एव सीमित व वैकल्पिक उपयोग वाले साधनो के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मानवीय व्यवहार का अध्ययन किया जाता है।

आर्थिक जगत मे साधनो की सीमितता के कारण कई प्रकार की समस्याए उत्पन्न होती हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री अनेक प्रश्नों का अध्ययन करते हैं जैसे बजट का घाटा, व्यापार का घाटा, मुद्रास्फीति, बेरोजगारी, आर्थिक असमानताए, पर्यावरण को खतरा, युद्ध, आन्तरिक अशान्ति आदि। हमे सदैव यह स्मरण रखना होगा कि बाजार अर्थव्यवस्था हो, अथवा नियोजित अर्थव्यवस्था हो, सभी साधनों मे सीमितता अवश्य देखने को मिलती है। इसलिए अर्थशास्त्री को किफायत से काम करने की विधि (economizing) का प्रयोग करके अधिक से अधिक सतुष्टि प्राप्त करने का उपाय बतलाना होता है। लेकिन आर्थिक निर्णयो को लागू करने मे राजनीतिक प्रक्रिया भी काफी महत्त्व रखती है।

अब हम अर्थशास्त्र के क्षेत्र पर प्रकाश डालेगे जिसके अन्तर्गत अर्थशास्त्र की प्रकृति व विषय-सामग्री का वर्णन आ जाता है।

अर्थशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Economics)

अर्थशास्त्र की प्रकृति व क्षेत्र के विवेचन मे विभिन्न लेखक प्राय अलग-अलग विषयो की चर्चा करते हैं। कुछ लेखक इसके अन्तर्गत आर्थिक समस्या के स्वरुप, उत्पादन-सम्भावना वक्र, सन्तुलन व असन्तुलन, व्यष्टि

---

*Broadly defined, modern economics concerns :

(1) the allocation of a society's resources among alternative uses and the distribution of the society's output among individuals and groups at a point in time

(2) the ways in which allocation and distribution change over time, and

(3) the efficiencies and inefficiencies of economic systems '- Richard G Lipsey, An Introduction to Positive Economics, Seventh edition, 1989, p 8

अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र, वास्तविक तथा आदर्शमूलक अर्थशास्त्र एव अर्थशास्त्र की विधियो (आगमन व निगमन) तक का समावेश करते है। अन्य लेखक इनमे से थोड़े विषय ही शामिल करते है। अत. अर्थशास्त्र की प्रकृति व क्षेत्र का विवेचन पूर्णतया सुनिश्चित नही माना गया है।

जे. एन. केन्स (J N. Keynes) के अनुसार अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे निम्न तीन बातो का समावेश किया जाना चाहिए –

(1) अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री

(2) अर्थशास्त्र की प्रकृति, अर्थात् अर्थशास्त्र विज्ञान है या कला, अथवा दोनो,

(3) अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानो से सम्बन्ध।

आजकल तीसरे बिन्दू के स्थान पर अर्थशास्त्र की सीमाओ का विवेचन शामिल किया जाने लगा है। इन पर क्रमश नीचे प्रकाश डाला जाता है।

1. अर्थशास्त्र की विषय–सामग्री

(Subject-Matter of Economics)

अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री इसकी परिभाषा पर निर्भर करती है। एडम स्मिथ व उसके समर्थको के अनुसार अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री धन है। अत. इनमे धन के उत्पादन, उपभोग, विनिमय व वितरण आदि का समावेश किया जाता है। मार्शल व पीगू आदि ने अर्थशास्त्र मे भौतिक कल्याण पर अधिक जोर दिया है। पीगू ने मुद्रा के माप-दण्ड पर बल दिया था। आगे चलकर रोबिन्स ने अर्थशास्त्र का सम्बन्ध चुनाव व निर्णय की प्रक्रिया से किया। इसके अनुसार चुनाव का पहलू ही अर्थशास्त्र का विषय माना जाता है।

अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री मे उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण व राजस्व का सक्षिप्त परिचय देने की परम्परा रही है। उपभोग मे आवश्यकताओ, माँग, उपभोक्ता के व्यवहार आदि का वर्णन किया जाता है। उत्पादन मे उत्पादन के साधनो, उत्पादन के नियमो व उत्पादन के सगठन आदि का वर्णन आता है। विनिमय मे वस्तुओ व सेवाओ के क्रय-विक्रय, बाजार, मुद्रा, बैंकिंग आदि का अध्ययन किया जाता है। वितरण मे उत्पादन के साधनो मे राष्ट्रीय आय के वितरण की चर्चा होती है और लगान, मजदूरी, ब्याज व लाभ के सिद्धान्त आते है। आजकल सरकार के द्वारा आर्थिक जीवन मे हस्तक्षेप के कारण इसका योगदान काफी बढ़ गया है जिससे अर्थशास्त्र का एक पाँचवाँ भाग–सार्वजनिक वित्त भी उभर कर सामने आया है जिसमे सरकारी राजस्व, व्यय व ऋण-सम्बन्धी क्रियाओ का विवेचन किया जाता है। नियोजन के कारण सार्वजनिक वित्त का महत्त्व काफी बढ गया है क्योकि सार्वजनिक विनियोग व सार्वजनिक व्यय के माध्यम से आर्थिक विकास पर अधिक बल दिया जाने लगा है।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है आधुनिक अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री को एक नये ढंग से प्रस्तुत करने लगे है। वे इसके अन्तर्गत इसके दो भागो (i) व्यष्टि अर्थशास्त्र (Micro-economics) व (ii) समष्टि अर्थशास्त्र (Macro-economics) का वर्णन करते है। इनका परिचय नीचे दिया जाता है :

(i) व्यष्टि अर्थशास्त्र को कीमत-सिद्धान्त भी कहा जाता है। इसमे उपभोक्ता, फर्म व व्यक्तिगत उद्योगो (जैसे चीनी उद्योग, इस्पात उद्योग आदि) के आर्थिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। ये इकाइयाँ छोटी आर्थिक इकाइयाँ मानी जाती है। व्यष्टि अर्थशास्त्र मे वस्तुओ की कीमतो के निर्धारण व साधनो की कीमतो के निर्धारण पर प्रकाश डाला जाता है। इसमे दिये हुए आर्थिक साधनो के आवंटन का अध्ययन किया जाता है।

(ii) समष्टि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से होता है, जैसे, राष्ट्रीय आय, रोजगार, मुद्रास्फीति; बचत, विनियोग, आदि। इसके अन्तर्गत आर्थिक विकास व आर्थिक उतार-चढ़ाव जैसे विषय भी आते है। नियोजन के युग मे समष्टिगत चल-राशियो (macro-variables) का महत्त्व काफी बढ़ गया है।

अतः अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री मे पहले उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण व राजस्व का वर्णन किया जाता था, लेकिन आधुनिक अर्थशास्त्री व्यष्टि अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र के विवेचन पर जोर देते है।

2. अर्थशास्त्र की प्रकृति

(Nature of Economics)

अर्थशास्त्र की प्रकृति मे हम इस बात का अध्ययन करते है कि (1) अर्थशास्त्र विज्ञान है अथवा कला, (2) यह वास्तविक विज्ञान (positive science) है अथवा आदर्शात्मक विज्ञान (normative science)। इनका विवेचन नीचे किया जाता है :

अर्थशास्त्र विज्ञान है अथवा कला

1. क्या अर्थशास्त्र एक विज्ञान है ?

विज्ञान का अर्थ है क्रमबद्ध या व्यवस्थित ज्ञान। इसमे कारण तथा परिणाम का अध्ययन करके विभिन्न तत्त्वो मे पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किये जाते है। उन्हे नियम या सिद्धान्त कहते है। विज्ञान मे प्रयोग भी किये जाते है।

अर्थशास्त्र एक विज्ञान है क्योकि इसमे विभिन्न प्रकार के नियम पाये जाते है जैसे, माँग का नियम, उत्पत्ति के नियम, मूल्य-सिद्धान्त आदि। माँग के नियम मे, अन्य बातो के समान रहने पर, वस्तु की कीमत व माँग की मात्रा मे परस्पर सम्बन्ध बतलाया जाता है। अर्थशास्त्र मे नियमो की रचना के

लिए वैज्ञानिक विधियो का प्रयोग किया जाता है । जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञानो मे विभिन्न विधियो का उपयोग किया जाता है उसी प्रकार अर्थशास्त्र मे भी इनका उपयोग किया जाता है । प्राकृतिक विज्ञानो मे नियन्त्रित प्रयोग करना सुगम होता है, लेकिन अर्थशास्त्र मे बाजारो के माध्यम से कुछ सीमा तक प्रयोग किये जा सकते है । आर्थिक जगत मे नियन्त्रित प्रयोग करना कठिन होता है । फिर भी साख्यिकीय पद्धति (statistical method) का उपयोग करके आर्थिक ज्ञान मे काफी वृद्धि की जा सकती है ।

अर्थशास्त्र को विज्ञान न मानने वालों के तर्क—कुछ व्यक्ति अर्थशास्त्र के विज्ञान होने मे सन्देह प्रकट करते है । वे इस सम्बन्ध मे निम्न तर्क देते है जो सही नही माने जा सकते

(1) *अर्थशास्त्र मे नियमो की अनिश्चितता*—अर्थशास्त्र के नियम प्राकृतिक नियमो की भाँति सुनिश्चित नही होते । अर्थशास्त्र की वैज्ञानिकता मे सन्देह करने वालो का कहना है कि अर्थशास्त्र के नियम उतने सही नही है जितने कि अन्य प्राकृतिक विज्ञानो के होते है । स्वय मार्शल ने अर्थशास्त्र के नियमो की तुलना गुरुत्वाकर्षण के नियम (law of gravitation) से न करके ज्वार-भाटे के नियमो (laws of tides) से की है जो कम निश्चित होते है, क्योकि समुद्र मे तूफान, वर्षा आदि से ज्वार-भाटे के समय व इनकी तीव्रता मे अन्तर हो सकता है ।

अर्थशास्त्र के नियमो मे कम निश्चितता का कारण यह बतलाया गया है कि इनका सम्बन्ध मानवीय व्यवहार से होता है जो बहुत अनिश्चित व परिवर्तनशील होता है । इसमे नियन्त्रित प्रयोग नही हो सकते । इसमे मुद्रा का मापदण्ड प्रयुक्त होता है जो स्वय अस्थिर होता है क्योकि मुद्रा का मूल्य प्राय बदलता रहता है ।

अर्थशास्त्र के नियम वैज्ञानिक विधियो का उपयोग करके बनाये गये है इसीलिए उनकी वैज्ञानिकता मे सन्देह नही किया जाना चाहिए । ये प्राकृतिक विज्ञानो के नियमो से चाहे कम निश्चित हो, लेकिन अन्य सामाजिक विज्ञानो के नियमो से ये अधिक सही व सुनिश्चित होते है ।

जहाँ तक नियमो के पीछे 'अन्य बातो के यथास्थिर' मानने का प्रश्न है, ऐसा तो सभी विज्ञानो मे किया जाता है । इसलिए यह कोई दोष नही है । प्रोफेसर रोबिन्स तो अर्थशास्त्र के नियमो के पीछे पायी जाने वाली मान्यताओ को इतना सही मानते है कि उन्हे अर्थशास्त्र के कुछ नियमो, जैसे सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम, उत्पत्ति ह्रास नियम, आदि की सत्यता मे सन्देह करने का कोई कारण प्रतीत नही होता ।'

(2) **अर्थशास्त्रियो में परस्पर मतभेद**—अर्थशास्त्रियो मे आपस मे काफी मतभेद को देखकर भी अर्थशास्त्र को विज्ञान कहने मे सकोच किया गया है । बर्नार्ड शॉ ने एक बार कहा था कि यदि दुनिया के अर्थशास्त्रियो को एक साथ बैठा दिया जाय तो वे कभी किसी एक निष्कर्ष पर नही पहुँच सकेगे । इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि आर्थिक नीति-सम्बन्धी विषयो मे विभिन्न

अर्थशास्त्रियो के आदर्शात्मक दृष्टिकोण (normative approach) मे अन्तर होने से उनमे मतभेदो का पाया जाना स्वाभाविक है । यदि किसी आर्थिक विषय पर विशुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो सम्भवत मतभेद का क्षेत्र कम हो जायगा । 'क्या है' (वास्तविक अर्थशास्त्र) के विवेचन मे इतना मतभेद नही पाया जाता जितना 'क्या होना चाहिए' (आदर्शात्मक अर्थशास्त्र) के सम्बन्ध मे पाया जाता है ।

(3) **भावी अनुमान लगाने में कठिनाई**—अर्थशास्त्र मे भावी घटनाओ के बारे मे अनुमान नही लगाये जा सकते और यदि लगाये भी जाते है तो वे सही नही निकलते । इसलिए अर्थशास्त्र को विज्ञान का दर्जा नही मिल सकता। यह तर्क भी मिथ्या है । पिछले वर्षों मे सख्यात्मक अर्थशास्त्र (quantitative economics) का काफी तेजी से विकास हुआ है और आर्थिक मॉडलो का उपयोग बढ़ने लगा है । इससे अर्थशास्त्री की अनुमान लगाने की क्षमता बढ़ी है । आशा है इसमे आगे और वृद्धि होगी ।

हेनरी सी वालिस का मत है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान तो है, लेकिन यह कम निश्चित किस्म का विज्ञान (less exact science) है । अर्थशास्त्रियो को कई प्रकार की बाधाओ का सामना करना पड़ता है जिनसे भौतिक विज्ञान मुक्त होता है । इन बाधाओ के कारण ही हमारे ज्ञान मे बहुधा अनिश्चितता आ जाती है और हमारी भविष्यवाणी भी अविश्वसनीय बन जाती है । आर्थिक जीवन की वास्तविकता बड़ी जटिल होती है और उस पर काबू पाना भी कठिन होता है । 'पहले अपने तथ्य (facts) लाओ' कहने वाला व्यक्ति कोई मामूली आदेश नही देता । दुनिया मे असख्य व्यक्तियो, अनेक वस्तुओ व उनकी कीमतो, असीमित क्रय-विक्रय आदि का सामना करना कोई आसान बात नही है । अर्थशास्त्री नियन्त्रित किस्म के प्रयोग भी नही कर सकते । अर्थशास्त्र मे कुछ भी निश्चित नही है, कुछ भी सम्भव हो सकता है और प्रत्येक चीज दूसरी चीज पर आश्रित होती है । अर्थशास्त्री को प्राय यह समझने मे कठिनाई होती है कि अर्थशास्त्र मे क्या हो रहा है । इन बाधाओ के बावजूद अर्थशास्त्री प्रगति कर रहे है । केन्स व उसके बाद के कई अर्थशास्त्रियो ने आर्थिक मन्दी को दूर करने के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है एव अन्य क्षेत्रो मे भी प्रगति की गयी है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह सार निकलता है कि हमे अर्थशास्त्र को विज्ञान स्वीकार करने मे कोई कठिनाई नही होनी चाहिए । **गणित व सांख्यिकी के प्रयोग से अर्थशास्त्र की वैज्ञानिकता में निरन्तर निखार आता जा रहा है ।** फिर भी अर्थशास्त्र के सामाजिक विज्ञान होने के कारण कुछ कठिनाइयाँ तो रहेंगी ही । आजकल गणित के बढ़ते हुए प्रयोग से असतुष्ट होने के कारण कुछ लोगो को ऐसा लगने लगा है कि अर्थशास्त्र जहाँ विज्ञान सरीखा लगता है वहाँ वह अर्थशास्त्र नही है, और जहाँ यह अर्थशास्त्र है वहाँ यह विज्ञान सरीखा नही

है। लेकिन सच यह है कि वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करके आर्थिक जीवन मे कई बिन्दुओ पर कारण तथा परिणामो के बीच सम्बन्धो की स्थापना से अर्थशास्त्र का अपना विज्ञान तैयार हो गया है और गणित के बढ़ते हुए प्रयोग से यह विज्ञान दिनोदिन अधिक प्रगति करता जा रहा है।

अर्थशास्त्र एक वास्तविक और आदर्शात्मक विज्ञान के रूप मे

वास्तविक विज्ञान मे 'क्या है' (what is) का अध्ययन किया जाता है और आदर्शात्मक विज्ञान में 'क्या होना चाहिए' (what ought to be) का अध्ययन किया जाता है। वास्तविक विज्ञान का सम्बन्ध वास्तविक स्थिति से होता है, जबकि आदर्शात्मक विज्ञान का सम्बन्ध आदर्श से होता है। वास्तविक विज्ञान के रूप मे अर्थशास्त्र मे कारण तथा परिणाम मे परस्पर सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं। 'वास्तविक विज्ञान' के लिए 'यथार्थवादी विज्ञान' शब्द भी प्रयुक्त किया जाता है। अर्थशास्त्री तर्क-विधि व तथ्य विधि का उपयोग करके जिस आर्थिक ज्ञान का निर्माण करता है, वह इसका वास्तविक विज्ञान होता है। रिचर्ड जी लिप्से के अनुसार, 'वास्तविक कथनो का सम्बन्ध **'क्या है, क्या था अथवा क्या होगा'** से होता है (positive statements are concerned with what is, was or will be)। इसका अर्थ यह है कि वास्तविक कथनो का सम्बन्ध वर्तमान, भूत व भविष्य सभी प्रकार की अवधियो से हो सकता है। ज्यादातर पुस्तको में **वास्तविक कथनों के वर्तमान पक्ष को ही लिया जाता है, लेकिन इन्हें भूत व भविष्य के सन्दर्भ में भी कार्य–कारण सम्बन्ध स्थापित करते समय लिया जा सकता है। जैसे यह कथन भी एक वास्तविक कथन ही है कि भूतकाल में भारत में मृत्यु–दर अधिक होने के कारण जनसख्या की वार्षिक वृद्धि–दर नीची रही थी।** इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि यदि भविष्य मे मृत्यु-दर की गिरावट जारी रही और जन्म-दर यथास्थिर बनी रही तो जनसख्या की वार्षिक वृद्धि-दर ऊँची बनी रह सकती है। यह भी वास्तविक कथन का ही रूप है, हालाँकि इसका सम्बन्ध भविष्य से किया गया है। वास्तविक कथन सरल और जटिल दोनो किस्म के हो सकते है। अत ये विश्लेषणात्मक (analytical) होते है। जैसे भारत मे बेरोजगारी की समस्या को लीजिए। इसके कारणो की जाँच करना 'वास्तविक विज्ञान' मे आता है। अर्थशास्त्री विभिन्न तथ्यो (जनसख्या की वार्षिक वृद्धि, श्रम-शक्ति की वार्षिक वृद्धि, जनसख्या का आयु के अनुसार वितरण, आर्थिक विकास की दशा, जनसख्या का व्यावसायिक वितरण, शिक्षा का प्रसार, आदि) एव कई प्रकार के तर्कों का उपयोग करके बेराजगारी की समस्या के स्वरूप को स्पष्ट करता है। इसी प्रकार मुद्रा–स्फीति, निर्धनता, आर्थिक असमानता, भुगतान असन्तुलन आदि का सैद्धान्तिक विश्लेषण किया जा सकता है। अत वास्तविक विज्ञान के रूप मे अर्थशास्त्र का कार्य समस्याओ के कारणो का पता लगाना और उनका विश्लेषण करना होता है।

यदि सैद्धान्तिक निष्कर्षों के बारे मे कोई मतभेद उत्पन्न हो जाये तो तथ्यो का उपयोग करके उन्हे दूर किया जाना चाहिए।

अर्थशास्त्र आदर्शात्मक विज्ञान के रूप में—आदर्शात्मक विज्ञान के रूप मे अर्थशास्त्र भले व बुरे का निर्णय करता है। भले व बुरे का निर्णय एक मूल्य सम्बन्धी निर्णय (value-judgment) कहलाता है। इस प्रकार के निर्णय पर दार्शनिक, सास्कृतिक, धार्मिक व नैतिक विचारो का प्रभाव पड़ता है। विभिन्न व्यक्तियो के भले व बुरे के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार के विचार हो सकते है और प्राय होते भी है। आदर्शात्मक कथनो के सम्बन्ध मे पाये जाने वाले मतभेदो को तथ्यो का सहारा लेकर दूर नही किया जा सकता। जैसे भारत मे गो—वध को अधिकाश हिन्दू बुरा मानते है। इसके पीछे लोगो की धार्मिक भावनाओ का प्रश्न है। अत 'क्या होना चाहिए' का निर्णय व्यक्ति की भावनाओ पर आधारित होता है। इसमे मतभेदो की ज्यादा गुजाइश होती है और उनको मिटाना भी बहुत कठिन होता है।

हमारे देश मे 'क्या होना चाहिए' को लेकर विभिन्न आर्थिक प्रश्नो पर मतभेद प्रकट किये गये है जैसे भारत मे कुछ व्यक्तियो के अनुसार, शराबबदी होनी चाहिए तथा कुछ के अनुसार नही होनी चाहिए। इसलिए 'क्या होना चाहिए' और 'क्या नही होना चाहिए' के निर्णय बहुधा मूल्य सम्बन्धी निर्णयो (भले व बुरे के सम्बन्ध मे प्रचलित सामाजिक धारणाओ) से प्रभावित होते हैं और इन पर व्यक्तिगत भावनाओ, सामाजिक व राजनैतिक विचारो, आदि का अधिक प्रभाव पड़ता है।

यहा यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि वास्तविक अर्थशास्त्र व आदर्शात्मक अर्थशास्त्र के आधार भिन्न भिन्न होने से हम इनमे एक से दूसरे पर नही जा सकते। उदाहरण के लिए, गो—वध का सैद्धान्तिक विश्लेषण करने से यदि यह निष्कर्ष निकले कि भारत मे आर्थिक दृष्टिकोण से गो—वध उचित है तो भी सास्कृतिक परम्पराओ व धार्मिक भावनाओ के कारण इसे देश मे समर्थन नही मिल पायेगा।

अब प्रश्न उठता है कि क्या वास्तविक अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को 'यह होना चाहिए' शब्द को देखकर चौक जाना चाहिए, और उस क्षेत्र मे प्रवेश ही नही करना चाहिए। रिचर्ड जी लिप्से का मत है कि उसे आदर्शात्मक कथनो (normative statements) की जाच वास्तविक अर्थशास्त्र मे करनी चाहिए। जैसे उपर्युक्त उदाहरण मे 'गो—वध के अर्थशास्त्र' का निर्माण किया जाना चाहिए। उसे इन प्रश्नो का सैद्धान्तिक अध्ययन प्रस्तुत करना चाहिए कि अमुक मात्रा मे गायो के होने से देश मे दूध की पूर्ति पर अमुक प्रभाव पड़ेगा। अमुक मात्रा मे घास, चारे आदि की माग होगी इत्यादि। हो सकता है कि सैद्धान्तिक विवेचन से आगे चलकर लोग उस विषय के अर्थशास्त्र को ज्यादा समझने व स्वीकार करने लगे और मतभेदो की खाई भी कम हो जाये। इसके अलावा और कोई दूसरा विकल्प या उपाय नही है। अत वास्तविक अर्थशास्त्र मे समस्या का 'निदान' किया जाता है जो अपने आप मे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य होता है। हमे ज्ञान के क्षेत्र को निरन्तर आगे बढ़ाते जाना

चाहिए। बहुधा ऐसे कई व्यक्ति मिल जायेगे जो किसी आर्थिक समस्या के सैद्धान्तिक विश्लेषण मे प्रवेश किये बिना ही उसके हल के सम्बन्ध मे अपनी तरफ से किसी विशेष दृष्टिकोण का समर्थन करने लग जाते है, अर्थात् वे वास्तविक विज्ञान की सीढ़ी पर चढ़े बिना ही आदर्शात्मक विज्ञान के मन्दिर मे प्रवेश कर जाते है। ऐसा वे अपनी कुछ कठोर मान्यताओ (दार्शनिक, सामाजिक, सास्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि क्षेत्रो से सम्बन्धित) के कारण करते है।लेकिन उचित तो यह होगा कि पहले पर्याप्त मात्रा मे सैद्धान्तिक पहलू पर विस्तार से विचार कर लिया जाय ताकि 'क्या होना चाहिए' के सम्बन्ध मे सम्भवत अधिक सही दृष्टिकोण अपनाया जा सके। नीति-सम्बन्धी निर्णयो पर पहुँचने से पूर्व उन्हे विभिन्न मान्यताओ से निकलने वाले विभिन्न परिणामो का अध्ययन अवश्य कर लेना चाहिए। इससे मतभेद का दायरा काफी कम हो जायगा।

अर्थशास्त्र को एकमात्र वास्तविक विज्ञान बनाने के पक्ष में तर्क

क्लासिकल अर्थशास्त्री और रोबिन्स अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान मानते है। रोबिन्स का दृढ़ मत है कि अर्थशास्त्र साध्यो के बीच तटस्थ रहता है (economics is neutral between ends)। अर्थशास्त्र मूल्य-सम्बन्धी अन्तिम निर्णयो की सत्यता का फैसला नही कर सकता। अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र मे भेद करते हुए रोबिन्स ने एक स्थान पर कहा है कि **'दुर्भाग्यवश इन दोनो अध्ययनो को पास-पास रखने के अतिरिक्त इनमे और कोई तार्किक सम्बन्ध या मेल बैठाना सम्भव प्रतीत नहीं होता। अर्थशास्त्र निश्चित तथ्यों से सम्बन्ध रखता है, जबकि नीतिशास्त्र मूल्याकनो व दायित्वों से। जाँच के दोनों क्षेत्र वार्तालाप के एक धरातल पर नहीं हैं।'**

अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान के रूप मे रखने के पक्ष मे निम्न तर्क दिये गये है—

(1) अर्थशास्त्र का विज्ञान के रूप मे विकास करने के लिए—वास्तविक विज्ञान मे कारण-परिणाम सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। यह बहुत कुछ तर्क पर आधारित होता है। अत विज्ञान के रूप मे अर्थशास्त्र का तेजी से विकास करने के लिए इसे वास्तविक विज्ञान तक सीमित रखना ही उचित बतलाया गया है।

(2) श्रम-विभाजन का तर्क—यह कहा गया है कि अर्थशास्त्री को वास्तविक विज्ञान तक ही अपने आपको सीमित रखना चाहिए और भले-बुरे का निर्णय राजनीतिज्ञ, नीतिशास्त्री या स्वय व्यक्तियो पर ही छोड़ देना चाहिए। ऐसे श्रम-विभाजन से दोनो कार्यों मे अधिक दक्षता आ सकेगी।

(3) आदर्शों के निर्धारण में जटिलता—रोबिन्स का मत है कि आदर्शों का निर्धारण बहुत कठिन होता है। इनके सम्बन्ध मे काफी मतभेद पाया जाता है। भले-बुरे के सम्बन्ध मे लोगो की धारणाएँ भिन्न-भिन्न होती है। मान

लीजिए, विश्व के चार-पाँच महान् व्यक्तियो की एक समिति बना दी जाये और उसे पूँजीवाद पर अपना मत प्रकट करने के लिए कहा जाय तो सम्भवतः एक मत से कोई निर्णय नही हो सकेगा। अतः रोबिन्स का मत है कि अर्थशास्त्री भले-बुरे के निर्णय मे पड़कर अपने मुख्य काम को भी ठीक से नही कर पायेगा।

(4) **भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना**—यदि एक ही अर्थशास्त्री सैद्धान्तिक विवेचन करता है और वही भले-बुरे का निर्णय करता है तो उसकी बातो से जनसाधारण मे भ्रम फैलने की आशका बढ़ जायेगी। लोग उसके सैद्धान्तिक निष्कर्षों को उसके आदर्शात्मक निर्णय मान लेगे। स्वय उस अर्थशास्त्री के लिए भी अपना प्रथम कार्य सफलतापूर्वक करना कठिन हो जायेगा। यह भी सम्भव है कि वह अर्थशास्त्री अपनी पसन्द व नापसन्द के अनुसार ही सैद्धान्तिक विवेचन को मोड़ देने लग जाय। इससे वास्तविक विज्ञान की सत्यता को ठेस पहुँचेगी। इसलिए अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान ही बनाया जाना चाहिए।

अर्थशास्त्र को आदर्शात्मक विज्ञान भी होना चाहिए : पक्ष में तर्क

हॉब्सन व हॉट्रि अर्थशास्त्र को आदर्शात्मक विज्ञान बनाने के पक्ष मे रहे हैं। प्रोफेसर जे. के. मेहता के अनुसार भी अर्थशास्त्र एक आदर्शात्मक विज्ञान है, क्योकि उन्होने अर्थशास्त्र की अपनी परिभाषा मे आवश्यकता-रहित स्थिति (a state of wantlessness) का एकमात्र लक्ष्य स्वीकार किया है। रोबिन्स ने तो कई लक्ष्यो की बात कही है। फ्रेजर का मत है कि 'आर्थिक कथनो को समस्त आदर्शात्मक निष्कर्षों से पूर्णतया दूर नही रखा जा सकता।' फ्रेजर ने ही एक दूसरे कथन मे पुनः निम्न शब्दो मे अर्थशास्त्री को नीति-सम्बन्धी निर्णयो मे भाग लेने की सलाह दी है : '**एक अर्थशास्त्री जो केवल अर्थशास्त्री ही है, वह एक सुन्दर, लेकिन एक दीन मछली के समान है।**' इस सम्बन्ध मे प्रोफेसर पीगू की स्थिति इतनी निश्चित नही है। उनका मत है कि अर्थशास्त्र 'क्या है' का वास्तविक विज्ञान है और 'क्या होना चाहिए' का आदर्शात्मक विज्ञान बनने का प्रयास कर रहा है। फिर भी पीगू ने इस बात पर बल दिया है कि अर्थशास्त्र का उपयोग मानवीय समस्याओ के हल मे अवश्य किया जाना चाहिए। उनका निम्न कथन विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, '**हमारी दृष्टि दार्शनिक जैसी नहीं है, जो ज्ञान के लिए ज्ञान पर जोर देता है, बल्कि चिकित्सक जैसी है जो ज्ञान पर इसलिए जोर देता है कि उससे इलाज में सहायता मिलती है।**' इस कथन मे पीगू ने आर्थिक ज्ञान का उपयोग समस्याओ को हल करने की दृष्टि से आवश्यक माना है।

जो लोग आदर्शात्मक विज्ञान के रूप मे अर्थशास्त्र को देखना चाहते हैं, उनके तर्क इस प्रकार हैं—

(1) **वास्तविक विज्ञान कभी भी मूल्य—तटस्थ नहीं रहा है**—सैद्धान्तिक

विश्लेषण मे कुछ लक्ष्यो के अधिकतमकरण की बात सदैव की जाती रही है; जैसे उपभोक्ता के व्यवहार का सिद्धान्त उसके उपयोगिता-अधिकतमकरण के लक्ष्य से निकला है। इसी प्रकार उत्पादक के व्यवहार का सिद्धान्त उसके लाभ-अधिकतमकरण के लक्ष्य से निकला है। बिना लक्ष्य को परिभाषित किये कोई सिद्धान्त नही बनाया जा सकता। लक्ष्यो को परिभाषित करने की क्रिया शुद्ध मूल्यात्मक(value-based) होती है। स्वर्गीय डॉ राजकृष्ण का भी मत था कि आर्थिक सिद्धान्त 'मूल्य-तटस्थ' (value-neutral) न कभी थे, न है, और न कभी होगे।' अत अर्थशास्त्री मूल्यो के सम्बन्ध मे अपनी-अपनी मान्यताएँ सदैव रखते है, चाहे वे इन्हे स्पष्ट रूप मे प्रकट न करे। यहाँ 'मूल्यो' का अर्थ है अपनी सामाजिक, राजनीतिक अथवा दार्शनिक विचारधारा के आधार पर भले-बुरे के बारे मे निर्णय करना। इस प्रकार वास्तविक विज्ञान के पक्ष को आदर्शात्मक पक्ष से पूर्णतया पृथक् नही किया जा सकता।

(2) **श्रम–विभाजन का भ्रमात्मक तर्क**—यह कहना कि एक अर्थशास्त्री कारण-परिणाम सम्बन्ध स्थापित करे और दूसरा कोई व्यक्ति उचित-अनुचित का निर्णय दे-उचित नही प्रतीत होता। यह कार्यकुशल श्रम-विभाजन नही माना जा सकता। वास्तव मे जो व्यक्ति सैद्धान्तिक विश्लेषण करता है और विविध प्रकार के तर्कों व तथ्यो मे से गुजरता है, वही उचित-अनुचित का भी सही निर्णय दे सकता है और उसे ही ऐसा करने का अवसर दिया जाना चाहिए। इस कार्य को दो भागो मे बाँटना अकार्यकुशल व अनुचित होगा। यदि एक पृथक् व्यक्ति भले-बुरे का फैसला देगा तो उसे सर्वप्रथम सम्पूर्ण सैद्धान्तिक विवेचन से परिचित होना पड़ेगा जिसमे काफी समय लग जायगा। अत स्वय वास्तविक अर्थशास्त्री को ही आदर्शात्मक पहलू पर भी अपना निर्णय देना चाहिए।

(3) **तर्क व भावना का सयोग आवश्यक**—मानवीय विषयो का केवल तार्किक विवेचन ही नही होता। मनुष्य के भावना-प्रधान होने के कारण उसकी क्रियाओ के अध्ययन मे उचित-अनुचित का भी पूरा समावेश होना चाहिए। अत' आदर्शात्मक पहलू को सैद्धान्तिक पहलू से पृथक् नही किया जा सकता।

(4) **आदर्शात्मक पहलू को अपनाने से ही अर्थशास्त्री का सामाजिक कल्याण मे अधिक योगदान होगा**—आज प्रत्येक देश के समक्ष कई प्रकार की आर्थिक समस्याएँ विद्यमान है जिनके सामाजिक व राजनीतिक परिणाम भी निकलते है। अर्थशास्त्री का भी यह दायित्व हो जाता है कि वह उन प्रश्नो के सम्बन्ध मे अपना निश्चित मत बनाये। जैसे एक देश मे आय के वितरण को लीजिए। आर्थिक जगत् की विभिन्न गतिविधियो को देखते हुए एव सामाजिक परिवर्तन की दिशा को ध्यान मे रखते हुए आजकल आय की समानता के आदर्श का समर्थन करना उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार नीति-निर्णयो मे प्रत्यक्ष रूप से भाग लेकर अर्थशास्त्री समाज की आर्थिक समस्याओ के हल

करने मे सक्रिय रूप से भाग ले सकता है। **प्रो. पीगू के कथनानुसार अर्थशास्त्र को प्रकाशदायक (light-bearing) होने के साथ-साथ फलदायक (fruit-bearing) भी होना चाहिए।** एक निर्धन व्यक्ति को केवल इस बात से पूरा सन्तोष नही होगा कि अर्थशास्त्री उनकी गरीबी के कारणो की छानबीन कर रहा है, बल्कि वह तो यह चाहेगा कि अर्थशास्त्री उसकी गरीबी को दूर करने के लिए आवश्यक व शीघ्र उपाय बतलाये एव साथ मे वह उसकी गरीबी को दूर करने के सघर्ष मे भी शामिल हो।

(5) **सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र की वस्तुनिष्ठता (objectivity) में** सदेह-प्राय. यह दावा किया जाता है कि सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र केवल तथ्यो व विश्लेषण पर ही टिका हुआ होता है। लेकिन कुछ अर्थशास्त्रियो ने वास्तविक अर्थशास्त्र की वस्तुनिष्ठता पर सन्देह व्यक्त किया है। उनका कहना है कि अर्थशास्त्री की विचारधारा पर उसके सामाजिक वर्ग, सस्कृति व देश के आर्थिक विकास की अवस्था, आदि का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहता है।

सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र मे वस्तुनिष्ठता को दो प्रकार से दबाया जाता है। सर्वप्रथम, गुन्नार मिर्डल के अनुसार, तथ्यो व आँकड़ो के चुनाव मे पक्षपात किया जाता है। आय के वितरण के अध्ययन मे पूँजीवादी अर्थशास्त्री राष्ट्रीय आय मे श्रम के भाग का विवेचन करते है, जबकि साम्यवादी अर्थशास्त्री अतिरिक्त मूल्य व शोषण पर अधिक ध्यान केन्द्रित करते है। इस प्रकार सैद्धान्तिक विश्लेषण मे पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण शुरू से ही निहित होता है। ऊपर से दिखाने के लिए तो कुछ अर्थशास्त्री विशुद्ध रूप से सैद्धान्तिक बने रहते हैं, लेकिन उनके मन मे पक्षपात समाया रहता है।

सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र मे वस्तुनिष्ठता कम होने का दूसरा कारण यह है कि इसमे प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्द ऐसे होते है जो मूल्यभारित या मूल्यो से लदे हुए (value-loaded) होते है और विशेषज्ञ भी इनसे मुक्त नही होते है। 'कल्याण', 'कार्यकुशलता', 'उपयोगिता', 'उत्पादकता' आदि शब्द पूँजीवादी-पक्ष की ओर से प्रयुक्त किये जाते हैं और 'न्याय', 'समानता', 'नियोजित', 'सस्यागत' आदि शब्द समाजवादी पक्ष की ओर से प्रयुक्त किये जाते हैं। इस प्रकार सैद्धन्तिक विश्लेषण मे मूल्य-तटस्थता की बात नितान्त भ्रामक, कल्पित व थोथी प्रतीत होती है।

भारत की वर्तमान आर्थिक समस्याओं के विश्लेषण में भी पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों व समाजवादी अर्थशास्त्रियों में स्पष्ट मतभेद पाये गये हैं। प्रथम समूह आर्थिक नियन्त्रणो व लाइसेस-व्यवस्था को समाप्त करने की सलाह देता है, तो दूसरा समूह नियोजन मे नियन्त्रणो को बनाये रखने का समर्थन करता है। दोनो विशुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को अपनाने का दावा तो करते है, लेकिन उनके अन्तरमन मे अपनी-अपनी विचारधारा जड़ जमाये हुए है जिससे मुक्त होना आसान नही है। एक हर हालत मे 'निजीकरण' का समर्थन करेगा तो दूसरा हर हालत मे इसका विरोध करेगा। इसलिए मूल्यो के बीच तटस्थ भाव रखना कठिन जान पड़ता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह परिणाम निकलता है कि अर्थशास्त्र एक तरफ वास्तविक विज्ञान है तो दूसरी तरफ आदर्शात्मक विज्ञान भी है।

मिल्टन फ्रीडमैन का मत

सैद्धान्तिक रूप से वास्तविक अर्थशास्त्र किसी भी नैतिक या आदर्शात्मक निर्णय से स्वतन्त्र होता है। उसका कार्य ऐसे नियम बनाना होता है जिनका उपयोग परिस्थितियो मे परिवर्तनो के परिणामो के बारे मे सही निष्कर्ष (predictions) निकालने मे किया जा सके। इसकी सफलता की कसौटी यह होती है कि इसके निष्कर्ष व्यावहारिक अनुभवो से कहाँ तक मेल खाते है। संक्षेप मे, वास्तविक अर्थशास्त्र एक 'वस्तुनिष्ठ विज्ञान' होता है, अथवा हो सकता है, ठीक उसी अर्थ मे जिसमे कि अन्य भौतिक विज्ञान होते है। फ्रीडमैन ने अर्थशास्त्र की वस्तुनिष्ठता के मार्ग मे आने वाली कुछ कठिनाइयाँ भी स्वीकार की है।

दूसरी तरफ फ्रीडमैन का यह भी मनाना है कि आदर्शात्मक अर्थशास्त्र और अर्थशास्त्र की कला वास्तविक अर्थशास्त्र से मुक्त या अलग नही हो सकते। कोई भी नीति सम्बन्धी निर्णय एक ही जगह दूसरी चीज के परिणामो के बारे मे निकाले गये निष्कर्षों पर आश्रित होता है। ये निष्कर्ष व्यक्त या अव्यक्त रूप मे वास्तविक अर्थशास्त्र पर ही आधारित होते है।

2. क्या अर्थशास्त्र एक कला है ?

कला का आशय काम करने की विधि से लगाया जाता है। दूसरे शब्दो, मे यह वास्तविक विज्ञान को आदर्शात्मक विज्ञान से मिलाने वाली आवश्यक कड़ी होती है। 'क्या है' को 'क्या होना चाहिए' से जोड़ने के लिए 'कैसे होना चाहिए' का ज्ञान आवश्यक होता है। अतः आर्थिक नीतियो के रूप मे हमारे समक्ष अर्थशास्त्र की कला प्रस्तुत होती है। आधुनिक युग में अर्थशास्त्र के कला-पक्ष का महत्त्व विकसित व विकासशील सभी देशो मे काफी बढ़ गया है। अर्थशास्त्रियों से यह आशा की जाती है कि वे विभिन्न आर्थिक समस्याओ का अध्ययन करके उचित आर्थिक नीतियाँ सुझाकर आधुनिक सरकारो की मदद करे। यही कारण है कि आजकल अर्थशास्त्र व अर्थशास्त्रियो का सम्मान सर्वत्र बहुत बढ़ गया है। यह बात अलग है कि वे लोगो की आशाओ के अनुकूल काम कर पाते हैं, अथवा नही। अतः अर्थशास्त्र का कला-पक्ष भी है और वह विज्ञान-पक्ष से कम महत्त्वपूर्ण नही है। सच पूछा जाय तो दोनो पक्ष परस्पर आश्रित है।

यह निश्चित हो जाने के बाद कि वास्तविक अर्थशास्त्र, आदर्शात्मक अर्थशास्त्र और अर्थशास्त्र की कला तीनो ही पक्ष अपने-अपने ढंग से सही है, अब हम आर्थिक विश्लेषण व आर्थिक नीति (वास्तविक अर्थशास्त्र व अर्थशास्त्र की कला) के सम्बन्ध को नीचे कुछ उदाहरणो सहित स्पष्ट करते है। इससे यह समझ में आ जायगा कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान व कला दोनो है।

आर्थिक विश्लेषण व आर्थिक नीति

अर्थशास्त्र का विज्ञान-पक्ष उसके कला-पक्ष के समीप

हम पहले बतला चुके है कि कुछ अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को दो रूपो मे परिभाषित करते है—एक तो 'आर्थिक विश्लेषण' के रूप मे और दूसरे 'आर्थिक नीति' के रूप मे। अतः इनमे परस्पर कड़ी पायी जाती है।

प्रोफेसर जी.एल. बच के अनुसार, **'आर्थिक विश्लेषण सुदृढ़ आर्थिक नीति का आवश्यक आधार होता है।'**[1]

आर्थिक विश्लेषण की सहायता से हम आर्थिक व्यवहार को समझने का प्रयास करते है ताकि हम उसको आवश्यकतानुसार बदल सके। प्रत्येक देश मे अनेक आर्थिक नीति-सम्बन्धी निर्णय लिये जाते है। अर्थशास्त्री का यह कार्य होता है कि वह विभिन्न आर्थिक नीतियो के परिणामो की जाँच करके यह बतलाये कि (i) क्या प्रस्तावित आर्थिक नीति प्रस्तावित उद्देश्य/उद्देश्यो को प्राप्त कर सकेगी ? (ii) आर्थिक नीति के अन्य परिणाम क्या होगे ? (iii) क्या प्रस्तावित उद्देश्य अन्य वैकल्पिक आर्थिक नीतियो के उपयोग से प्राप्त नही किये जा सकते थे ? (iv) वर्तमान आर्थिक नीति की लागत अन्य आर्थिक नीतियो से अधिक होगी या कम ? इन प्रश्नों का वैज्ञानिक विश्लेषण करना आवश्यक होता है।

भारतीय परिस्थिति से दो उदाहरण

(1) बेरोजगारी दूर करने के लिए खादी, हथकरघा व शक्ति–करघा उद्योग को प्रोत्साहन देने की नीति—कुछ गांधीवादियो का यह मत रहा है कि यदि देशवासी खादी, हथकरघे व शक्ति-करघे के वस्त्रो का ही उपयोग करे तथा सूती वस्त्र मिलो मे बने सम्पूर्ण वस्त्र का निर्यात कर दिया जाय, तो निकट भविष्य मे ही देश मे बेकारी की समस्या काफी सीमा तक हल हो जायगी, क्योकि एक मिल-मजदूर वस्तुतः 12 जुलाहो को बेकार कर देता है। देश की सूती वस्त्र मिलो मे 8–9 लाख मजदूर रोजगार पाये हुए है। इसलिए खादी, हथकरघे, शक्ति करघे को प्रोत्साहन देने से दो-तीन वर्षों मे एक करोड़ व्यक्तियो को काम दिया जा सकता है।

अर्थशास्त्रियो को इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे यह देखा जाना चाहिए कि (i) क्या समस्त देशवासी अपना वस्त्र-धारण का वर्तमान स्वरूप त्याग कर खादी, हथकरघा व शक्ति-करघा से बने वस्त्र धारण कर लेगे ? इसकी व्यावहारिकता पर ध्यान दिया जाना चाहिए। (ii) सूती वस्त्र मिलो के वस्त्र का निर्यात कहाँ तक सम्भव हो सकेगा ? इस सम्बन्ध मे विभिन्न देशो के बाजारो में भारतीय सूती वस्त्रो की माँग की भावी सम्भावनाएँ क्या हैं ? (iii) खादी व अन्य विकेन्द्रित क्षेत्रो मे उत्पन्न वस्त्र की भी

---

1. 'Economic analysis is the necessary foundation for sound economic policy.'—G.L. Bach and four co-authors, ECONOMICS, 11th ed. 1987, p.2.

निर्यात-माँग है, उसकी भावी सम्भावनाएँ क्या हैं ? (iv) रोजगार बढ़ाने के अन्य विकल्प क्या हैं ? उनकी लागत उपर्युक्त सुझाव की लागत से कम होगी या ज्यादा ? इस प्रकार आर्थिक नीति विस्तृत आर्थिक विश्लेषण पर टिकी होनी चाहिए, तभी वह कारगर हो सकती है, अन्यथा नहीं। हमें समस्या के विभिन्न समाधानों का विश्लेषण करके कोई अन्तिम राय कायम करनी चाहिए।

(2) देश के लिए स्थायी खाद्य-नीति का निर्धारण—भारत में अभी तक खाद्य-नीति काफी ढिल-मिल व अस्थायी किस्म की रही है। इसमें प्रति वर्ष परिवर्तन होते रहे हैं। अर्थशास्त्रियों को एक अधिक स्थायी खाद्य नीति के निर्धारण में सरकार को योगदान देना चाहिए। इसके लिए निम्नांकित प्रश्नों का विवेचन करना आवश्यक होगा—

(i) क्या खाद्यान्नों के अभाव तथा खाद्यान्नों के आधिक्य दोनों प्रकार के वर्षों के लिए एक ही खाद्य-नीति चल सकती है ? (ii) क्या सरकार को खाद्यान्नों में सार्वजनिक वितरण की प्रणाली का विस्तार करना चाहिए। (iii) खाद्यान्नों के वसूली मूल्यों, न्यूनतम समर्थन-मूल्यों व राशन की दुकानों पर खुदरा बिक्री मूल्यों में परस्पर सम्बन्ध क्या होना चाहिए। (iv) खाद्यान्नों पर दी जाने वाली आर्थिक सहायता या सब्सिडी का भार कैसे कम किया जाय ? (v) यदि खाद्यान्नों का वितरण पूर्णतया निजी व्यापारियों पर छोड़ दिया जाय तो उत्पादकों व उपभोक्ताओं पर क्या प्रभाव पड़ेंगे ? (vi) खाद्यान्नों की वसूली, आयात व देश में वितरण की सही नीति क्या होनी चाहिए ?

अतः स्पष्ट है कि सही व उपयोगी आर्थिक नीतियों के निर्धारण में विस्तृत आर्थिक विश्लेषण की आवश्यकता पड़ती है। हमें समस्या के प्रत्येक पहलू पर बारीकी से अध्ययन करके किसी परिणाम पर पहुँचना चाहिए, तभी लाभप्रद व व्यावहारिक नीति का निर्माण सम्भव हो सकता है।

आधुनिक युग में अर्थशास्त्री के लिए जाँच का काम काफी बढ़ गया है। कभी-कभी दो या अधिक उद्देश्य एक साथ प्रस्तुत कर दिये जाते हैं जिनमें परस्पर विरोध भी हो सकता है; जैसे भारत में एक ओर आर्थिक विकास की दर को तेज करना और दूसरी ओर रोजगार को बढ़ाना। यदि हम आर्थिक विकास की गति को बढ़ाने के लिए पूँजी-गहन विधियों का उपयोग करने लगते हैं तो उससे अधिकतम रोजगार के लक्ष्य पर विपरीत प्रभाव पड़ता है, और यदि अधिकतम रोजगार प्राप्त करने के लिए श्रम-गहन विधियों का प्रयोग करने लगते हैं तो आर्थिक विकास की गति के धीमा पड़ने का भय उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार विभिन्न आर्थिक उद्देश्यों के परिणामों की परस्पर तुलना करना भी आवश्यक हो गया है। लेकिन यदि कभी आर्थिक विकास की तेज गति व अधिकतम रोजगार के उद्देश्यों में से चुनाव करना पड़े, तो सम्भवतः अर्थशास्त्र के बाहर से मूल्य-सम्बन्धी निर्णयों की सहायता लेनी पड़ेगी और सम्भवतः अधिकतम रोजगार का लक्ष्य (मानवीय कारणों के

आधार पर) ऊँचा माना जायगा और उसी पर अधिक ध्यान दिया जायगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्री आर्थिक विश्लेषण के उपकरणो का उपयोग आर्थिक नीति के परिणामो की जाँच करने मे करते है। उन्हे अपने उपकरणो व विधियो मे निरन्तर सुधार करते रहना चाहिए। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री डॉ. के. एन. राज का मत है कि बौद्धिक ईमानदारी का तकाजा है कि अर्थशास्त्रियो को उन मान्यताओ को स्पष्ट रूप से व्यक्त करना चाहिए जिनके आधार पर उनके नीति-सम्बन्धी निर्णय व कार्यक्रम टिके हुए होते है। उन्हे यह भी बतलाना चाहिए कि उन्होने वे मान्यताएँ क्यो स्वीकार की है और वे मान्यताएँ अन्य मान्यताओ से किन अर्थों मे बेहतर है? उनको सुनिश्चित रूप से यह भी बतलाना चाहिए कि ऐसी नीतियो व कार्यक्रमो को लागू करने के लिए उनके पास कौन से उपाय है, क्योकि इससे भी काफी मदद मिलेगी।[1]

इस प्रकार आर्थिक विश्लेषण व आर्थिक नीति दोनो मे परस्पर गहरा सम्बन्ध पाया जाता है, अथवा, दूसरे शब्दो मे, अर्थशास्त्र के विज्ञान-पक्ष व इसके कला-पक्ष मे सम्बन्ध पाया जाता है। दोनो का अपनी-अपनी जगह काफी महत्त्व होता है।

3. अर्थशास्त्र की सीमाएँ

(Limitations of Economics)

अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री व इसकी प्रकृति का विवेचन करने के बाद हम इसकी सीमाओ का उल्लेख करते हैं।

परम्परागत विवेचन मे अर्थशास्त्र की परिभाषा का इसकी सीमाओ के निर्धारण पर प्रभाव देखा जाता है। प्रो. मार्शल व पीगू ने अर्थशास्त्र के अध्ययन मे मानव के भौतिक कल्याण को बढ़ाने पर बल दिया था। लेकिन प्रो. रोबिन्स ने *अर्थशास्त्र मे मानवीय क्रिया के चुनाव करने के पहलू* को शामिल किया है। अत. रोबिन्स की परिभाषा को स्वीकार करने पर अर्थशास्त्र मे सामाजिक व एकान्तवासी सभी प्रकार के व्यक्तियो की क्रियाओ का वह पक्ष शामिल किया जाता हैं जिसका सम्बन्ध असीमित आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सीमित व वैकल्पिक प्रयोग वाले साधनों के उपयोग से होता है। इसके लिए चुनाव की प्रक्रिया का सहारा लिया जाता है। *यही इसकी सीमा कहलाती है।*

आधुनिक विश्लेषण मे अर्थशास्त्र की सीमाओ पर दूसरे ढग से विचार किया गया है। इसके अन्तर्गत एक तरफ व्यष्टि अर्थशास्त्र की सीमाएँ देखी जाती हैं, तो दूसरी तरफ समष्टि अर्थशास्त्र की सीमाएँ। इनका अधिक

---

1 K.N Raj, Presidential Address to Indian Economic Association, printed in IEJ, January-March 1973, p 362.

स्पष्टीकरण आगे चलकर सम्बन्धित अध्याय को पढ़ने के बाद हो पायेगा, लेकिन इसकी मुख्य बाते इस प्रकार है

(अ) व्यष्टि अर्थशास्त्र की सीमाएँ

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है व्यष्टि अर्थशास्त्र मे परिवार, फर्म व व्यक्तिगत उद्योगो के आर्थिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। इसे कीमत-सिद्धान्त भी कहते है। इसकी निम्न सीमाएँ होती है

(1) इसमे दिये हुए साधनो के आवटन का अध्ययन किया जाता है। व्यष्टि अर्थशास्त्र मे साधनो की कुल मात्रा दी हुई मानी जाती है और केवल यह देखा जाता है कि इनका आवटन विभिन्न वस्तुओ के उत्पादन मे किस प्रकार से किया जायगा।

(2) व्यष्टि अर्थशास्त्र मे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से विचार नही किया जाता। इसमे अपेक्षाकृत छोटी आर्थिक इकाइयो की क्रियाओ का विवेचन किया जाता है जैसे उपभोक्ता, फर्में व उद्योग किस प्रकार कार्य करते है। अत इसमे सापेक्ष कीमतो की चर्चा तो होती है, लेकिन सामान्य कीमत-स्तर की नहीं। सापेक्ष कीमतो मे अनाज व वस्त्र आदि की कीमते ली जा सकती है।

(आ) समष्टि अर्थशास्त्र की सीमाएँ

इसमे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का अध्ययन किया जाता है, इसलिए राष्ट्रीय आय, बचत, विनियोग, रोजगार, सामान्य कीमत-स्तर, आदि इसके क्षेत्र मे आते है। इसकी भी कुछ सीमाएँ होती है जो नीचे दी जाती है

(1) इसमे गलत परिणाम निकाले जाने का भय अधिक रहता है जैसे कृषिगत कीमते गिर सकती है तथा औद्योगिक कीमते बढ़ सकती है एव सामान्य कीमत-स्तर अपरिवर्तित बना रह सकता है। ऐसी स्थिति मे सामान्य कीमत स्तर को स्थिर मानकर चलने से कठिनाई उत्पन्न हो सकती है।

(2) हम आगे चलकर बतलायेगे कि समष्टि अर्थशास्त्र मे कई प्रकार के विरोधाभास पाये जाते है जिनसे काफी सावधान रहने की आवश्यकता होती है, एव उन पर ध्यान न देने से काफी कठिनाई हो सकती है। जो बात एक व्यक्ति के लिए सही हो सकती है, वह समस्त व्यक्तियो के लिए गलत भी हो सकती है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को बचत करने से लाभ होता है, लेकिन यदि समस्त समाज बचत करने लगे तो राष्ट्रीय आय घट सकती है, क्योकि उपभोग के कम होने से उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार जो बात समस्त समाज के लिए सही होती है, वह व्यक्तिगत फर्मों के लिए गलत सिद्ध हो सकती है। जैसे बाजार मे कट्टर प्रतियोगिता की दशा के पाये जाने से कार्यकुशलता बढ़ती है जिससे कम कीमत पर उत्तम किस्म का माल उत्पन्न किया जाता है। लेकिन इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप कुछ फर्मों

को उद्योग छोड़ना भी पड़ सकता है क्योंकि वे प्रतियोगिता में नहीं टिक पाती।

निष्कर्ष - इस प्रकार व्यष्टि अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र की अपनी-अपनी सीमाएँ होती हैं। लेकिन इससे आर्थिक सिद्धान्त का महत्त्व कम नहीं हो जाता। हम देख चुके हैं कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त वैज्ञानिक विधियो के आधार पर बनाये जाते हैं, इसलिए वे आर्थिक नीतियो के निर्धारण मे काफी मदद देते हैं। स्मरण रहे कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो के आधार पर हम सही निष्कर्ष निकालने की क्षमता प्राप्त करते हैं, इसलिए इनको एक 'विधि' के रूप मे ही देखा जाना चाहिए।

जे एम केन्स के शब्दों मे, **'अर्थशास्त्र का सिद्धान्त ऐसे कोई निश्चित निष्कर्ष प्रस्तुत नहीं करता जिन्हें शीघ्र ही नीति के क्षेत्र में लागू किया जा सके। यह सिद्धान्त की अपेक्षा एक विधि होती है, मस्तिष्क का एक उपकरण व विचार करने की एक पद्धति होती है जो प्रयोगकर्ता को सही परिणाम निकालने में मदद देती है।** अत आर्थिक विश्लेषण का दीर्घकालीन दृष्टि से आर्थिक नीति के निर्धारण में विशेष रूप से योगदान माना गया है।

प्रश्न

1 'वास्तविक अर्थशास्त्र' एव 'आदर्शात्मक अर्थशास्त्र' के गुण दोषों की तुलना कीजिए। (Raj Iyr 1993)

2 प्रो रोबिन्स द्वारा दी गई अर्थशास्त्र की परिभाषा को समझाइये। यह मार्शल के अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से किस प्रकार भिन्न है? (Ajmer Iyr 1993)

3 अर्थशास्त्र की एक 'आधुनिक' परिभाषा दीजिए। इसमें साधनों के मितव्ययितापूर्ण उपयोग पर क्यों बल दिया गया है?

4 निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए
   (i) अर्थशास्त्र की प्रकृति,
   (ii) अर्थशास्त्र की विषय सामग्री,
   (iii) अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान के रूप में,
   (iv) अर्थशास्त्र, एक आदर्शात्मक विज्ञान के रूप में,
   (v) अर्थशास्त्र कला के रूप मे,
   (vi) अर्थशास्त्र की सीमाए

5 क्या आप निम्नांकित कथनों से सहमत हैं-
   (अ) 'अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यवसाय में मानव जीवन का अध्ययन है।'
   (ब) अर्थशास्त्र वास्तविक एव आदर्शात्मक विज्ञान दोनों है।
   (Ajmer Iyr 1992)

2

मूलभूत आर्थिक समस्याएँ
(Basic Economic Problems)

प्रत्येक अर्थव्यवस्था को चाहे वह विकसित हो या विकासशील हो; पूँजीवादी हो, समाजवादी हो, अथवा मिश्रित हो, उसे कुछ मूलभूत या आधारभूत आर्थिक समस्याओ को हल करना होता है । हम जानते है कि मानवीय आवश्यकताएँ असीमित होती है, जबकि उनकी सन्तुष्टि के साधन सीमित व वैकल्पिक उपयोग वाले होते है । प्राय देखा गया है कि एक साधन के एक से अधिक उपयोग होते है; जैसे बिजली का उपयोग बिजली के पखे, कूलर, फ्रीज, रेडियो, टेलीविजन एव रोशनी आदि मे किया जा सकता है । यदि बिजली का एक उपयोग होता तो चुनाव की कोई समस्या नही होती । लेकिन सीमित साधनो के कई प्रकार के उपयोग होने से चुनाव की समस्या उत्पन्न होती है । यही आर्थिक समस्या का मुख्य रूप माना जाता है । यदि साधन असीमित होते तो सभी आवश्यकताओ की पूर्ति कर ली जाती और इस स्थिति मे चुनाव की समस्या उत्पन्न नही होती और फलस्वरूप कोई आर्थिक समस्या नही होती । इसी प्रकार यदि साधनो के कुछ विशिष्ट उपयोग ही होते तो भी आर्थिक समस्या उत्पन्न नही होती, क्योकि एक साधन को उसके विशिष्ट उपयोग मे लगा दिया जाता और चुनाव का प्रश्न सामने नही आता । ऐसी स्थिति मे एक साधन किसी अन्य उपयोग मे निरर्थक सिद्ध होता । अत चुनाव की समस्या तभी उत्पन्न होती है जब सीमित एव वैकल्पिक उपयोगो वाले साधनो का उपयोग असीमित आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए किया जाता है । हम आगे चलकर देखेगे कि आजकल इस परिभाषा मे थोड़ा सशोधन किया गया है ताकि साधनो की वृद्धि को भी आर्थिक समस्या के विवेचन मे शामिल किया जा सके ।

चुनाव का एक सरल उदाहरण—मूलभूत आर्थिक समस्याओ की चर्चा करने से पूर्व पाठको के समक्ष चुनाव का एक सरल उदाहरण प्रस्तुत करना उपयोगी होगा । मान लीजिए, एक बालक एक रुपया लेकर पड़ोस की दूकान पर जाता है और वह बिस्कुट व टॉफी खरीदना चाहता है । कल्पना करे कि दूकानदार 20 पैसे का एक बिस्कुट व 40 पैसे की एक टॉफी बेचता है । बालक यदि 6 बिस्कुट मागता है तो दूकानदार देने से इन्कार कर देगा, क्योकि

इसके लिए एक रुपया 20 पैसे चाहिए । इसी प्रकार उसे 3 टॉफी भी नही मिलेगी क्योकि उनके लिए भी 1 रुपया 20 पैसे चाहिए । कुल एक रुपया व्यय करने की स्थिति मे वह 3 बिस्कुट + 1 टॉफी खरीद सकता है, अथवा केवल 5 बिस्कुट खरीद सकता है । कहने का आशय यह है कि एक वस्तु अधिक लेने पर उसे दूसरी वस्तु कम मात्रा मे लेनी होगी । इस प्रकार उसे अपने सीमित साधनो का उपयोग करने मे चुनाव करना पड़ेगा । यही स्थिति समाज मे सभी ग्राहको की होती है । एक वस्तु की अधिक मात्रा लेने के लिए उन्हे दूसरी वस्तु की कम मात्रा लेनी पड़ती है । साधनो की सीमितता के कारण उन्हे ऐसा करना पड़ता है ।

समस्त समाज अथवा राष्ट्र को भी इसी तरह के आर्थिक चुनावो का सामना करना पड़ता है । राष्ट्र के पास आर्थिक साधन—भूमि, पूँजी, दक्ष श्रम, उद्यम, तकनीकी ज्ञान आदि सीमित मात्रा मे पाये जाते है । उनके उपयोग से सभी प्रकार की वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा मे उत्पन्न नही की जा सकती । मान लीजिए, साधनो के उपयोग से उपभोग की वस्तुएँ व सुरक्षा की वस्तुएँ बनाई जा सकती है । यदि हम साधनो का पूर्ण उपयोग करके अधिक मात्रा मे सुरक्षा का सामान बनाना चाहते है, तो हमे कम मात्रा मे उपभोग की वस्तुओ से सन्तुष्ट होना पड़ेगा, और यदि हम अधिक मात्रा मे उपभोग का माल बनाना चाहते है तो हमे सुरक्षा की कम सामग्री से सन्तुष्ट होना पडेगा ।

यहाँ पर किसी जटिल विवेचन या विवाद मे पडे बिना यह बात भारत व पाकिस्तान जैसे कम विकसित देशो के सन्दर्भ मे आसानी से समझ मे आ सकती है । इन देशो की निर्धन जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा करने अथवा गिरते हुए जीवन-स्तर को रोकने के लिए अधिक मात्रा मे उपभोग्य वस्तुओ की आवश्यकता है । लेकिन राजनीतिक कारणो से उन्हे युद्ध के साज-सामान व सुरक्षा पर भी अपने सीमित साधनो का काफी बड़ा भाग व्यय करना पड़ता है । इससे इनकी अर्थव्यवस्थाओ पर भारी आर्थिक बोझ पड़ता है जिसे ये उठा सकने की स्थिति मे नही हैं । कहने का आशय यह है कि सीमित आर्थिक साधनो के कारण युद्ध का साज-सामान व उपकरण बनाने के लिए इन्हे कुछ सीमा तक उपभोग्य वस्तुओ का त्याग करना पड़ता है । अमेरिका के आर्थिक साधन अधिक होने से वह उपभोग का सामान व युद्ध का सामान दोनो निर्धन देशो की अपेक्षा तो ज्यादा बना सकता है, लेकिन उसे भी उपभोग-सामग्री के बीच चुनाव करना होगा । दूसरे शब्दो मे, एक किस्म का माल अधिक मात्रा मे बना सकने के लिए दूसरी किस्म के माल की कम मात्रा से सन्तुष्ट होना पड़ता है । इस प्रकार विकसित व अर्द्ध विकसित, पूँजीवादी, समाजवादी व मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले सभी प्रकार के देशो को उत्पादन के क्षेत्र मे 'चुनाव की समस्या' का सामना करना पड़ता है । अत सभी देशो के समक्ष आर्थिक चुनाव की समस्या पाई जाती है ।

उत्पादन–सम्भावना–वक्र की धारणा (The Concept of Production Possibility Curve or p-p frontier)--यहाँ पर उत्पादन-सम्भावना-वक्र या परिधि की धारणा को प्रस्तुत करना उचित होगा जिससे आर्थिक समस्या के स्वरूप को ठीक से समझने मे मदद मिलेगी। आगे चलकर मूलभूत आर्थिक समस्याओ के विवेचन मे इसका अधिक उपयोग किया जायगा।

उत्पादन–सम्भावना–वक्र की परिभाषा

माइकल पी टोडारो के अनुसार, ''दी हुई टेक्नोलोजी तथा भौतिक व मानवीय साधनों की दी हुई मात्रा की दशा में एक उत्पादन–सम्भावना वक्र दो वस्तुओं, जैसे चावल व रेडियो, के उन अधिकतम प्राप्य उत्पत्ति–संयोगों को दर्शाता है, जो समस्त साधनों के पूर्ण व कार्यकुशल उपयोग (fully and efficiently employed) की स्थिति मे ही प्राप्त होते हैं।

उक्त परिभाषा मे इस बात पर बल दिया गया है कि एक उत्पादन-सम्भावना वक्र दो वस्तुओ के उन विभिन्न सयोगो को बतलाता है जो उत्पादन के साधनो का प्रचलित टेक्नोलोजी की दशा मे पूर्ण व कार्यकुशल उपयोग करने पर प्राप्त हो सकते है। इसका स्पष्टीकरण नीचे दिया जाता है।

उत्पादन–सम्भावना–वक्र की मान्यताएँ

(Assumptions of Production Possibility Curve)

1. पूर्ण रोजगार की स्थिति–हम मान लेते है कि अर्थव्यवस्था मे पूर्ण रोजगार पाया जाता है तथा वह पूर्ण उत्पादन की दशा मे काम कर रही है। दूसरे शब्दो मे उसमे बेरोजगारी व अल्परोजगार की स्थिति नही पायी जाती है। **साधनों के अपूर्ण या कम उपयोग की स्थिति में उत्पादन–सम्भावना–वक्र नहीं बनाया जा सकता।***

2. साधनों की पूर्ति स्थिर मानी जाती है–हम यह भी मान लेते है कि उत्पादन के साधनो की पूर्ति स्थिर होती है, लेकिन वे विभिन्न व वैकल्पिक

---

* कुछ पुस्तकों में 'अपूर्ण रोजगार की स्थिति मे उत्पादन–सम्भावना–वक्र' दिया हुआ मिलता है जो गलत है। साधनो के अपूर्ण उपयोग की स्थिति मे उत्पादन का केवल एक बिन्दु होता है, जो पूर्ण रोजगार की दशा मे पाये जाने वाले उत्पादन–सम्भावना–वक्र के बायी ओर नीचे की तरफ दिखाया जाता है। अत उत्पादन–सम्भावना–वक्र की परिभाषा मे यह मान लिया गया है कि अर्थव्यवस्था मे उत्पादन के साधनो का पूर्ण उपयोग हो रहा है। साधनो के अपूर्ण उपयोग की दशा मे उत्पादन–सम्भावना–वक्र बनाना गलत माना जायगा। पाठक इस सम्बन्ध मे आवश्यक सावधानी बरते ताकि वे प्रारम्भिक पाठ्यक्रम मे ही इसका सही अर्थ समझ सके।

उपयोगों के बीच परिवर्तित हो सकते है । जैसे एक अदक्ष श्रमिक खेतिहर मजदूर के रूप मे कार्य कर सकता है, अथवा वह भवन-निर्माण कार्य या सड़क-निर्माण कार्य मे भाग ले सकता है । लेकिन अदक्ष श्रमिको की कुल संख्या दी हुई होती है ।

3 **उत्पादन की टेक्नोलोजी स्थिर रहती है**—विश्लेषण के दौरान उत्पादन की टेक्नोलोजी नहीं बदलती । यदि कृषि पुराने या परम्परागत ढग से हल-बैल की सहायता से की जाती है तो यह विधि जारी रखी जाती है । इसके स्थान पर ट्रैक्टर से खेती चालू नहीं की जाती । इसी प्रकार उद्योगो मे भी उत्पादन की पद्धति नही बदली जाती । उत्पादन की टेक्नोलोजी को स्थिर रखने का कारण यह है कि इसको बदलने से स्वय उत्पादन-संभावना-वक्र ही बदल जाता है । उन्नत व नयी टेक्नोलोजी के आने पर उत्पादन-सम्भावना-वक्र ऊपर की ओर खिसक जाता है एव घटिया टेक्नोलोजी का उपयोग करने पर यह नीचे की ओर खिसक जाता है ।

द्वितीय व तृतीय मान्यताओ का अर्थ यह है कि हम अति अल्पकाल अथवा समय के एक विशिष्ट बिन्दु (a point of time) पर ही विचार कर रहे है । दीर्घकाल मे तो उत्पादन के साधनो की मात्रा व टेक्नोलोजी दोनो बदल सकते है ।

4 **साधनो का उपयोग पूर्ण कार्यकुशलता से हो रहा है**—उत्पादन–सम्भावना वक्र के पीछे एक मान्यता यह भी है कि उत्पादन के सभी साधनो का उपयोग पूर्ण कार्यकुशलता से किया जाता है । अत **यह एक पूर्ण कार्यकुशल अर्थव्यवस्था की मान्यता पर आधारित है** । इसमे साधनो की किसी भी प्रकार की बर्बादी नही होती और उन्हे व्यर्थ नष्ट नही होने दिया जाता । **इस प्रकार उत्पादन–सम्भावना–वक्र साधनो के पूर्ण उपयोग व इनके पूर्ण कार्यकुशल उपयोग दोनो पर समान रूप से बल देता है ।**

सेमुअल्सन व नोरढाउस ने मक्खन व बन्दूक के उत्पादन का एक सरल व सुन्दर उदाहरण लेकर उत्पादन–सम्भावना वक्र की धारणा को स्पष्ट किया है । हम यहाँ पर इसी उदाहरण का उपयोग करेगे [जैसा कि ऊपर बतलाया गया है कि किसी भी अर्थव्यवस्था मे श्रम, पूँजी, तकनीकी ज्ञान व प्राकृतिक साधनो का एक दिये हुए समय मे एक निश्चित भण्डार होता है । सरलता के लिए हम कल्पना कर लेते है कि उनका पूर्ण उपयोग करके केवल दो पदार्थ—मक्खन व बन्दूक ही बनाये जा सकते है । मान लीजिए सभी साधनो का उपयोग करने पर उत्पादन की अग्रलिखित सम्भावनाएँ पाई जाती है ।

तालिका—1

उत्पादन की सम्भावनाएँ (Production Possibilities)	मक्खन (लाख किलो में)	बन्दूकें (हजारों में)
A	0	16
B	1	15
C	2	13
D	3	10
E	4	6
F	5	0

उपर्युक्त तालिका को नीचे चित्र की सहायता से स्पष्ट किया गया है —

स्पष्टीकरण

अर्थव्यवस्था के समस्त साधनो का पूर्ण उपयोग करने पर मक्खन व बन्दूक के उत्पादन की सम्भावनाएँ क्रम A, B, C, D, E, व F के रूप मे उत्पादन–सम्भावना–वक्र पर अंकित की गई हैं। OX-अक्ष पर मक्खन का उत्पादन व OY-अक्ष पर बन्दूकों का उत्पादन दर्शाया गया है। वक्र पर सभी
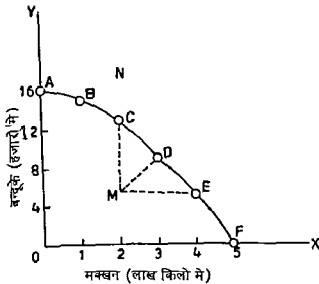
चित्र 1 उत्पादन सम्भावना-वक्र (Production Possibility Curve)

बिन्दु उत्पादन की विभिन्न सम्भावनाओ को सूचित करते है। पाठक चाहे तो A व B के बीच अथवा B व C के बीच कोई अन्य बिन्दु लेकर चित्र की सहायता से मक्खन व बन्दूक के उत्पादन का कोई अन्य सयोग भी दिखा

सकते है। चित्र से स्पष्ट होता है कि यदि देश के समस्त साधन बन्दूके बनाने मे लगा दिये जाते तो A बिन्दु पर 16 हजार बन्दूके बन सकती थीं और यदि ये साधन केवल मक्खन बनाने मे लगा दिये जाते तो F बिन्दु पर 5 लाख किलो मक्खन उत्पन्न किया जा सकता था। यदि दोनो वस्तुएँ बनानी है तो A से F के बीच मे कोई भी बिन्दु चुना जा सकता है। युद्धकाल मे सम्भवत. B या C जैसा कोई बिन्दु पसन्द किया जायगा, ताकि अधिक मात्रा मे बन्दूके बनाई जा सके, जबकि शान्तिकाल मे D या E जैसा कोई बिन्दु पसन्द किया जायगा ताकि अधिक मात्रा मे मक्खन उत्पन्न किया जा सके। अत. एक देश अपनी परिस्थिति व आवश्यकता के अनुसार किसी भी बिन्दु का चुनाव करेगा। इस सम्बन्ध मे अकेला अर्थशास्त्री कोई सर्वोत्तम या अन्तिम निर्णय नही दे सकता। उत्पादन-सम्भावना-वक्र को उत्पत्ति-रूपान्तरण-वक्र (Product Transformation Curve) भी कहते है क्योकि इसमे एक वस्तु की कम मात्राओ का उत्पादन करके दूसरी वस्तु की अधिक मात्राओ का उत्पादन किया जाता है। दूसरे शब्दो मे एक वस्तु को दूसरी वस्तु मे बदला जाता है।

पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि उत्पादन–सम्भावना–वक्र उत्पादन की सर्वोत्तम या अधिकतम स्थिति को व्यक्त करता है। यह वस्तुओ के अधिकतम सयोगो को बतलाता है जो साधनो के उपयोग से प्राप्त किये जा सकते है। उत्पादन की दी हुई तकनीक की स्थिति मे सीमित साधनो का पूर्ण उपयोग व पूर्ण कार्यकुशल उपयोग करके ही उत्पादन-सम्भावना-वक्र के विभिन्न बिन्दुओ पर दर्शाया गया उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। अतः यह 'अधिकतम उत्पादन' की दशा को सूचित करता है।

दूसरे शब्दो मे, चित्र 1 मे मक्खन व बन्दूक के उत्पादन का N-संयोग प्राप्त नही हो सकता, क्योकि उसको प्राप्त करने के लिए देश मे आर्थिक साधन पर्याप्त नही है। अर्थव्यवस्था अपने साधन बढ़ाकर, अथवा उत्पादन की तकनीक मे सुधार करके ही N-संयोग प्राप्त कर सकती है। सच पूछा जाय तो वक्र के किसी भी बिन्दु जैसे B अथवा C से N बिन्दु तक जाने की समस्या 'विकास की समस्या' (Growth Problem) मानी जाती है।

इसी प्रकार यदि अर्थव्यवस्था मक्खन व बन्दूक का उत्पादन वक्र से नीचे किसी बिन्दु जैसे M-सयोग पर करती है तो इस सम्बन्ध मे दो बाते हो सकती है–

(i) साधनो का पूर्ण उपयोग नही हो रहा है, अर्थात् कुछ साधन बेकार या अर्द्ध-बेकार अवस्था मे पड़े है।

अथवा

(ii) साधनो का पूर्ण कार्यकुशलता से उपयोग नही हो रहा है।

अतः एक उत्पादन-सम्भावना-वक्र के विभिन्न बिन्दु उत्पादन की उन सम्भावनाओं को व्यक्त करते है जिन पर साधनो का पूर्ण उपयोग व पूर्ण कार्यकुशल उपयोग हो पाता है। कुछ व्यक्ति कहते हैं कि यदि किसी देश मे

समस्त साधनो का एक भाग (जैसे एक-तिहाई) बेकार पड़ा है, और इसे बेकार पड़े रहने दिया जाता है, तो शेष साधनो (यहाँ दो तिहाई) का उपयोग करते हुए एक उत्पादक सम्भावना-वक्र पहले के ABCDEF उत्पादन सम्भावना-वक्र के नीचे की ओर बनाया जा सकता है। लेकिन हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि उत्पादन–सम्भावना–वक्र के विवेचन में इस प्रकार की स्थिति को स्वीकार नहीं किया जाता। हम बतला चुके हैं कि साधनों का अपूर्ण उपयोग होने पर दो वस्तुओं के उत्पादन का संयोग या बिन्दु उस वक्र से नीचे बायीं ओर दिखाया जाता है। हमने चित्र 1 मे M-बिन्दु से ऐसी ही स्थिति बतलाई है, जहाँ कुछ साधन बेकार है, अथवा उनका अकार्यकुशल ढंग से उपयोग हो रहा है। इसलिए उत्पादन के साधनों का पूर्ण उपयोग तथा पूर्णतया कार्यकुशल उपयोग करने पर ही ABCDEF जैसे उत्पादन–सम्भावना–वक्र पर आना सम्भव हो सकता है।

महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष—भारत जैसे निर्धन देशो के लिए पहली आर्थिक समस्या तो यह है कि वे M सयोग से C-सयोग (अथवा B, D या E) पर जाएँ, *अर्थात् वे अपने साधनो का पूर्ण उपयोग करे व पूरे कार्यकुशल ढग से उपयोग करे।* इसका आशय यह है कि उत्पादन मे कोई भी साधन फालतू न पड़े रहे। अर्थात् श्रम, भूमि, पूँजी व उद्यम आदि का पूर्ण उपयोग किया जाय। साथ ही यह भी आवश्यक है कि उनका उपयोग पूर्ण कार्यकुशल विधियाँ अपनाकर किया जाय। चित्र 1 को ध्यान से देखने पर स्पष्ट होगा कि M से C पर जाने मे अधिक बन्दूके प्राप्त होगी। (राष्ट्र की सुरक्षा की दृष्टि से शक्ति बढ़ेगी), लेकिन मक्खन की मात्रा उतनी ही रहेगी। M से D पर जाने पर मक्खन व बन्दूके दोनो पहले से ज्यादा प्राप्त होगे। M से E पर जाने से मक्खन ज्यादा प्राप्त होगा। (जिससे लोगो के जीवन-स्तर मे सुधार आयेगा) तथा बन्दूके पहले जितनी ही प्राप्त होगी।

दूसरी समस्या यह है कि वे अपने साधनो मे वृद्धि करे ताकि उत्पादन का N-सयोग अथवा इससे भी ऊँचे सयोगो को प्राप्त कर सके। इस प्रकार उत्पादन सम्भावना-वक्र के द्वारा आर्थिक समस्या का सही रूप प्रकट किया जा सकता है।

मूलभूत सात आर्थिक प्रश्न[1]—प्रत्येक अर्थव्यवस्था को निम्न सात आर्थिक प्रश्नो का समाधान या हल निकालना होता है। इनमें से प्रथम तीन प्रश्न अधिक महत्त्व रखते है, जिन पर प्रोफेसर सेमुअल्सन व नोरढाउस ने भी बहुत बल दिया है। लेकिन आर जी लिप्से के अनुसार शेष चार प्रश्नो का हल निकालना भी बहुत आवश्यक है। मूलभूत आर्थिक प्रश्नो को किसी भी

1 Richard G Lipsey, An Introduction to Positive Economics Seventh Education 1989, pp 4 7 प्रोफेसर लिप्से ने मुद्रा की क्रय शक्ति के घटने की समस्या, अर्थात् मुद्रास्फीति, को मूलभूत आर्थिक प्रश्नो मे शामिल किया है।

अर्थव्यवस्था के मूलभूत आर्थिक कार्य भी कह सकते है । इसका कारण यह है कि प्रत्येक अर्थव्यवस्था को इन विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करना होता है ।*

सैमुअल्सन व नोरढाउस ने प्रथम तीन प्रश्नो को क्या, कैसे व किसके लिए (WHAT, HOW, and FOR WHOM) से सम्बोधित किया है। दूसरे शब्दो मे इनका अर्थ यह है कि किन वस्तुओ का उत्पादन किया जाय, उत्पादन किस प्रकार से किया जाय एव उत्पादन का वितरण किस तरह से किया जाय। हम नीचे इन तीनो प्रश्नो की चर्चा करके लिप्से द्वारा वर्णित चार अन्य आर्थिक प्रश्नो का उल्लेख करेगे ताकि आर्थिक समस्या के सभी सात रूप पूर्णतया स्पष्ट हो सके।

1. किन वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन किया जाय व किन मात्राओ में किया जाय ?—चित्र के अनुसार हमे यह निर्णय करना होता है कि उत्पादन सम्भावना-वक्र के A, B, C, D, E व F बिन्दुओ मे से किस बिन्दु का चुनाव किया जाय । एक ही उत्पादन-सम्भावना-वक्र पर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर जाने का आशय यह है कि एक वस्तु की अधिक मात्रा लेकर दूसरी वस्तु की कम मात्रा लेना । जैसे चित्र 1 मे A बिन्दु पर 16 हजार बन्दूके मिलती है, जबकि मक्खन बिल्कुल नही मिलता । B बिन्दु पर आने पर बन्दूको का उत्पादन घटकर 15 हजार इकाई हो जाता है और मक्खन का उत्पादन 1 लाख किलो होने लगता है । इसी प्रकार C बिन्दु पर बन्दूको का उत्पादन घटकर 13 हजार इकाई हो जाता है तथा मक्खन का उत्पादन बढ़कर 2 लाख किलो पर आ जाता है । इन तथ्यो को तालिका 1 या चित्र 1 से भलीभाँति समझा जा सकता है । स्पष्ट है कि एक वस्तु का ज्यादा उत्पादन करने के लिए दूसरी वस्तु का कम उत्पादन करना होगा । अत. यह साधन-आवटन (Resource-allocation) की समस्या मानी जाती है । अर्थव्यवस्था मे 'कीमत-सिद्धात' के अन्तर्गत इस समस्या का समाधान निकाला जाता है । जिन वस्तुओ की कीमते बढ़ती हैं उनमे उत्पादन के साधन अधिक मात्रा मे लगाये जाते है, इससे उनका उत्पादन बढ़ता है । जिन वस्तुओ की कीमते घटती है उनसे साधन धीरे-धीरे हटाये जाते है जिससे उनका उत्पादन घटता है । इस प्रकार कीमते साधन-आवटन मे काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

2. वस्तुओं का उत्पादन किन विधियो से किया जाए ?—एक वस्तु का उत्पादन कई विधियो से सम्भव हो सकता है । अतः दूसरी समस्या उत्पादन की विधि के चुनाव की होती है । कृषि मे उत्पादन के लिए थोड़ी भूमि व अधिक मात्रा मे मशीनरी, खाद, पानी व श्रम का उपयोग किया जा सकता है, जिसे गहन कृषि कहकर पुकारते है । इसी प्रकार उतना ही उत्पादन

---

* अत. अर्थव्यवस्था के प्रमुख कार्यों के बारे मे पूछे जाने पर इसकी मूलभूत समस्याओं को ही स्पष्ट करना चाहिए ।

अधिक भूमि व थोड़ी मात्रा मे मशीनरी, खाद, पानी व श्रम का उपयोग करके प्राप्त किया जा सकता है, जिसे विस्तृत खेती कहते है। मकान बनाने मे कई कामो के लिए 'अधिक श्रम + कम मशीनरी' की विधि एव 'कम श्रम + अधिक मशीनरी' की विधि के बीच चुनाव करना पड़ता है। पहली विधि श्रम-गहन कहलाती है और दूसरी पूँजी-गहन होती है। इसी प्रकार फैक्ट्रियो मे उत्पादन की विभिन्न विधियो के बीच चुनाव किया जा सकता है। इस आर्थिक प्रश्न का हल उत्पादन के सिद्धान्त मे मिलता है जिसमे यह बतलाया जाता है कि उत्पादन की एक विधि दूसरी से श्रेष्ठ क्यों मानी जाती है। उत्पादन-सिद्धान्त की सहायता से उत्पादन की विभिन्न पद्धतियो के बीच चुनाव करना सम्भव होता है।

3. वस्तुओं का वितरण समाज के सदस्यों में कैसे किया जाए ? -- तीसरी आर्थिक समस्या यह होती है कि राष्ट्रीय उत्पत्ति या राष्ट्रीय आय का समाज के विभिन्न सदस्यो मे वितरण कैसे किया जाए ? इसमे सर्वप्रथम यह देखा जाता है कि स्वतत्र बाजार वाली अर्थव्यवस्था मे आय का वितरण कैसे होता है ? फिर यह देखा जाता है कि सरकार इसमे किस प्रकार हस्तक्षेप करती है और उसके क्या परिणाम निकलते है ? आजकल सरकार न्यूनतम मजदूरी कानून, सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम व आय-कर आदि का उपयोग करके आय के वितरण को बदलने की कोशिश करती है। यहाँ पर स्मरण रखना होगा कि समाज मे वस्तु-वितरण (Product-distribution) व आय-वितरण (Income-distribution) एक दूसरे पर निर्भर करते है। कीमती पदार्थ ऊँची आय वालो को ही मिलते है और उन्हीं की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए बनाये जाते है। अर्थशास्त्र मे 'वितरण सिद्धान्त के अन्तर्गत इस समस्या का विवेचन किया जाता है।

4 साधनों का उपयोग उत्पादन व वितरण में कितनी कार्यकुशलता से होता है ?--साधनो के कार्यकुशल उपयोग का अर्थ है कि उत्पादन कार्यकुशल ढग से हो एवं इसका वितरण भी कार्यकुशल ढग से हो। यदि केवल उत्पादन के साधनो का पुनर्वितरण अथवा पुनरावटन (Re-allocation) करके कम से कम एक वस्तु का उत्पादन बढ़ाया जा सके, और साथ ही किसी अन्य वस्तु का उत्पादन न घटे, तो ऐसी दशा मे पुनरावटन से पहले का उत्पादन अकार्यकुशल तथा पुनरावटन के बाद का उत्पादन अधिक कार्यकुशल माना जायगा। इसलिए साधनो के उपयोग मे आवश्यक फेर-बदल करके उत्पादन की कार्यकुशलता बढ़ाना उचित होगा।

इसी प्रकार वस्तुओं का वह आवटन या वितरण कार्यकुशल माना जाता है जिसमे इनको विभिन्न व्यक्तियो मे पुनर्वितरित करके कम से कम एक व्यक्ति को अवश्य लाभ मिल सके, जबकि साथ मे किसी भी अन्य व्यक्ति को हानि न पहुँचे। ऐसी स्थिति मे वस्तुओ के पुनर्वितरण से पहले की स्थिति अकार्यकुशल

तथा पुनर्वितरण के बाद की स्थिति अधिक कार्यकुशल या उत्तम मानी जाएगी। इसलिए वस्तुओ का पुनर्वितरण करके कार्यकुशलता बढ़ाने मे समाज का हित माना जाता है। सभी अर्थव्यवस्थाओ मे ऐसी उत्पादन व वितरण की अकार्यकुशलताएँ थोड़ी-बहुत मात्रा मे अवश्य पाई जाती हैं। इनको दूर करके कार्यकुशलता को बढ़ाया जा सकता है और समाज मे लोगो को अधिक लाभ पहुँचाया जा सकता है। साधनो के उपयोग की कार्यकुशलता का प्रश्न बहुत पेचीदा होता है। इसका सम्बन्ध 'कल्याण-अर्थशास्त्र' से होता है। चित्र 1 के अनुसार M-संयोग 'अकार्यकुशल' माना जाएगा। अतः चौथी आर्थिक समस्या साधनो के कार्यकुशल उपयोग की मानी जाती है।

उपर्युक्त चारो आर्थिक समस्याएँ व्यष्टि अर्थशास्त्र (Micro economics) के क्षेत्र मे आती है, जबकि आगामी तीन समस्याएँ समष्टि अर्थशास्त्र (Macro-economics) के क्षेत्र मे शामिल होती है।

5. क्या साधनों का पूर्ण उपयोग हो रहा है, अथवा कुछ साधन बेकार या अर्द्ध–बेकार पडे हैं ?—हम पहले बतला चुके है कि एक अर्थव्यवस्था मे साधनो के बेकार पड़े रहने की समस्या भी पाई जा सकती है। वैसे यह बात सुनने मे थोड़ी अटपटी-सी लगती है कि एक तरफ तो साधन सीमित कहे जाते है और दूसरी तरफ वे बेकार या अर्द्ध-बेकार भी पड़े रह सकते हैं। प्रश्न उठता है कि सीमित साधनो को बेकार कैसे पड़ा रहने दिया जाता है ? लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि विकसित व कम विकसित देशो मे कुछ सीमा तक साधनो के फालतू पड़े रहने की दशा पाई जा सकती है, और बहुधा पाई भी जाती है। उदाहरण के लिए, विकसित राष्ट्रो मे माल की माँग कम हो जाने से कारखाने बन्द हो जाते है और कुछ समय के लिए श्रमिक बेकार हो जाते है। गम्भीर किस्म की आर्थिक मन्दी के समय मे तो श्रम-शक्ति का बड़ा भाग भी बेकार रह सकता है। कम विकसित या विकासशील देशो मे सहायक साधनो जैसे आवश्यक मात्रा मे पूँजी या भूमि के अभाव मे काफी मजदूर बेकार रहते है। भारत जैसे देशो मे ऐसी ही बेरोजगारी तथा अल्परोजगार की स्थिति पाई जाती है। इस तरह विभिन्न देशो मे अलग-अलग प्रकार से आर्थिक साधन फालतू या बेकार पड़े रह सकते है।

पुनः चित्र 1 के अनुसार साधनो के फालतू पड़े रहने पर उत्पादन का प्रयोग उत्पादन-सम्भावना-वक्र के नीचे M जैसे किसी संयोग पर पाया जा सकता है। हम देख चुके है कि साधनो के अकार्यकुशल उपयोग की दशा मे भी ऐसा ही होता है। इस प्रकार M-संयोग साधनो के फालतू पड़े रहने एव साधनो के अकार्यकुशल उपयोग—इन दोनो प्रकार की दशाओ को दर्शाता है। लेकिन इन समस्याओ का समाधान भिन्न-भिन्न प्रकार का होगा। विकसित राष्ट्रो मे मंदी के समय श्रम की बेरोजगारी का आर्थिक विश्लेषण लॉर्ड कीन्स ने 1936 मे प्रकाशित अपनी पुस्तक "The General Theory of Employment,

Y
उत्पादन क्षमता बढ़ने पर
नया उत्पादन सभावना वक्र
A_1F_1
A_1
A
बन्दूकें (हजारों मे)
O
F
F_1
X
मक्खन (लाख किलो मे) (अ)
Y
समस्त सुधार मक्खन के उत्पादन के क्षेत्र मे
होने पर नया उत्पादन सम्भावना वक्र
AF_1
A
बन्दूकें (हजारों मे)
O
F
F_1
X
मक्खन (लाख किलो मे)(आ)
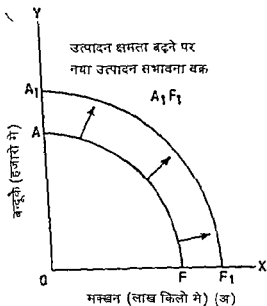
चित्र 2 (अ)
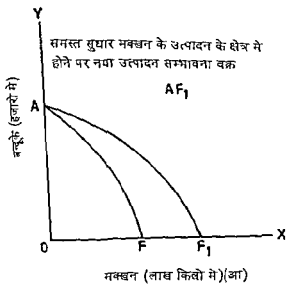
चित्र 2 (आ)
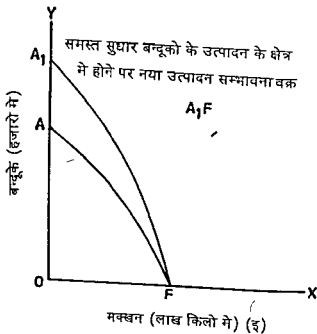
चित्र 2 (इ)

nterest and Money" मे प्रस्तुत किया था, जिसने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को काफी विस्तृत व व्यापक बना दिया था।

साघनो की बेकारी का अध्ययन राष्ट्रीय आय-सिद्धान्त व व्यापार-चक्र-सिद्धात का विषय है, जिसका महत्त्व आजकल बहुत बढ़ गया है।

(6) क्या मुद्रा व बचतों की क्रय–शक्ति स्थिर है, अथवा उनमें मुद्रास्फीति के कारण गिरावट आ रही है ?—1970 के दशक मे विश्व के अधिकाश देशो मे मुद्रास्फीति के कारण मुद्रा की क्रय-शक्ति घटी थी। मानव ने मुद्रा का आविष्कार अपने लाभ के लिए किया है। वही उसको नियन्त्रित भी कर सकता है। अर्थशास्त्री मुद्रा की मात्रा मे होने वाले परिवर्तनो के कारणो व परिणामो के सम्बन्ध मे अध्ययन करते है, तथा उनकी कीमत-स्तर पर पड़ने वाले प्रभावो की जाँच-पड़ताल करते है। वे मुद्रास्फीति के अन्य कारणो के बारे मे भी जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करते है। इस प्रकार प्रोफेसर रिचर्ड जी. लिप्से ने अर्थव्यवस्था के मूलभूत प्रश्नो मे मुद्रा की क्रय-शक्ति का प्रश्न भी शामिल किया है। पिछले वर्षों मे विकसित व विकासशील देश विभिन्न कारणो से मुद्रास्फीति के शिकार रहे है जिससे उनमे मुद्रा की क्रय-शक्ति घटी है।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे मुद्रास्फीति की समस्या को हल करने के लिए ...ि का उपयोग किया जाता है, मुद्रा की पूर्ति को नियन्त्रित किया जाता है,

तथा राशनिंग व मूल्य-नियन्त्रणो का सहारा लिया जाता है। समाजवादी देशो में प्राय., मुद्रास्फीति की समस्या इतनी गम्भीर नही होती, क्योंकि वहा आर्थिक नियोजन के फलस्वरूप उत्पादन, उपभोग, बचत, विनियोग आदि पर सरकार का व्यापक व कड़ा नियन्त्रण होता है।

7. **क्या अर्थव्यवस्था की वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन की क्षमता बढ़ रही है, अथवा वह यथास्थिर है ?**—किसी भी अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध मे यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि समय के साथ-साथ उसकी माल उत्पन्न करने की क्षमता बढ़ रही है, अथवा स्थिर बनी हुई है। यदि उसकी उत्पादन-क्षमता तेजी से बढ़ती है तो वहाँ के निवासियो को ऊँचा जीवन-स्तर भोगने का अवसर मिलता है। यदि उत्पादन-क्षमता बहुधा धीमी गति से बढ़ती है तो जीवन स्तर बहुत धीमी गति से बढ़ता है और यदि उत्पादन-क्षमता स्थिर बनी रहती है और जनसख्या बढ़ती जाती है तो जीवन-स्तर घटने लगता है।

विश्व मे पिछली शताब्दी मे कुछ राष्ट्रो की उत्पादन-क्षमता बहुत तेजी से बढ़ी है और कुछ की अपेक्षाकृत धीमी गति से बढ़ी है। इससे विभिन्न देशो के बीच आर्थिक विकास व जीवन-स्तर की खाई अधिक चौड़ी होती गई है।

चित्र–1 के अनुसार उत्पादन-क्षमता के बढ़ने पर ही दोनों वस्तुओ के उत्पादन का N-सयोग प्राप्त किया जा सकता है। उत्पादन के साधनो मे वृद्धि होने पर स्वय उत्पादन-सम्भावना-वक्र ऊपर दायी ओर खिसक जाता है, जिससे सभी वस्तुएँ अधिक मात्रा मे प्राप्त होने लगती है। यह चित्र 2 (अ) से स्पष्ट हो जाता है—यही चित्र टेक्नॉलोजी मे परिवर्तन का प्रभाव भी दर्शाता है।

उत्पादन-क्षमता के बढ़ने पर उत्पादन—सम्भावना वक्र ऊपर की ओर खिसक जाता है। चित्र 2 (अ) से स्पष्ट होता है कि उत्पादन के साधनो मे वृद्धि होने पर उत्पादन—सम्भावना वक्र AF से बढ़कर A_1F_1 पर आ जाता है, जिससे प्रत्येक बिन्दु पर पहले से अधिक मक्खन व अधिक बन्दूके बनने लगती है। सच पूछा जाय तो अमेरिका ने अपनी उत्पादन-क्षमता बढ़ा कर युद्ध-सामग्री व उपभोग-सामग्री दोनो का अत्यधिक मात्रा मे विस्तार कर लिया है, जिससे वह दोनो प्रकार की वस्तुओ का उत्पादन बढ़ा सका है। इसका अर्थ यह नही है कि अमेरिका के समक्ष युद्ध-सामग्री व उपभोग-सामग्री के बीच चुनाव की समस्या नही है। यह समस्या तो उसके समक्ष भी है, क्योंकि वह उत्पादन के साधन सुरक्षा की सामग्री से कम करके उपभोग-सामग्री मे बढ़ा सकता है, जिससे वह अपने देशवासियो को, अथवा विदेशियो को, अथवा दोनो को, अधिक उपभोक्ता-माल देकर उनके जीवन-स्तर मे सुधार ला सकता है। लेकिन यह बात अलग है कि राजनीतिक कारणो से वह ऐसा न कर पाए, या ऐसा न करना चाहे। यह भी ध्यान देने योग्य है कि अत्यधिक मात्रा मे विदेशो मे सैनिक सहायता देने से स्वय अमेरिका की अर्थव्यवस्था पर भी बुरा प्रभाव पड़ा है। हाल मे ईराक युद्ध मे भारी मात्रा मे सैनिक व्यय करने से अमेरिका के भुगतान-सतुलन पर विपरीत प्रभाव पड़ा है।

इसके अलावा निर्धन मुल्को को भारी मात्रा मे सैनिक सहायता देने से उनके पड़ौसी देशो मे राजनीतिक अस्थिरता व अशाति का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को आधुनिक अस्त्र-शस्त्रो से सुसज्जित करने से भारत के आर्थिक विकास पर कुप्रभाव पड़ा है, क्योकि हमे सुरक्षा पर अपने बूते से अधिक धनराशि व्यय करनी पड़ रही है।

ऊपर चित्र-2 (आ) मे उत्पादन-सम्भावना-वक्र AF से खिसक कर AF_1 पर आ गया है, इसमे यह मान लिया गया है कि उत्पादन की विधि के समस्त सुधार केवल मक्खन के उत्पादन तक सीमित रह गये है। इसलिए बन्दूको के लिए A बिन्दु है, जबकि मक्खन का F बिन्दु खिसक कर F_1 पर आ गया है।

इसी प्रकार चित्र 2 (इ) मे उत्पादन-सम्भावना-वक्र AF से खिसक कर A_1F पर आ गया है। इसमे उत्पादन की विधि के समस्त सुधार केवल बन्दूको के उत्पादन पर सीमित हो गए है। इसलिए मक्खन के लिए F बिन्दु यथास्थिर है, जबकि बन्दूको का A बिन्दु खिसक कर A_1 पर आ गया है।

अत चित्र 2 (अ) मे टेक्नोलोजी के परिवर्तन दोनों पदार्थों के उत्पादन को प्रभावित करते हैं, चित्र 2 (आ) में केवल मक्खन के उत्पादन को तथा चित्र 2 (इ) मे केवल बन्दूको के उत्पादन को प्रभावित करते हैं।

उत्पादन-क्षमता के विकास की समस्या का अध्ययन आर्थिक विकास के अन्तर्गत किया जाता है।

इस प्रकार उपरोक्त सात प्रश्नो मे अर्थशास्त्र की सभी मूलभूत समस्याएँ समा जाती है। आर्थिक समस्या केवल एक उत्पादन-सम्भावना-वक्र के एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक जाने मात्र की ही नही है, बल्कि इस वक्र के नीचे के बिन्दु (साधनो के अकार्यकुशल उपयोग, या बेकार रहने के सूचक बिन्दु) से ऊपर की ओर जाने एव उत्पादन-क्षमता का विस्तार करके स्वय उत्पादन-सम्भावना-वक्र को ऊपर की ओर ले जाने या खिसकाने की भी है। इससे आर्थिक समस्या का विस्तृत व व्यापक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।*

---

*एक अर्थव्यवस्था की मूलभूत आर्थिक समस्याओं के वर्णन में पाठकों को उपरोक्त सातों समस्याओं पर प्रकाश डालना चाहिये। क्या, कैसे, किसके लिए, क्या साधनो का पूर्ण कार्यकुशलता से उपयोग हो रहा है, क्या उनका पूर्ण उपयोग हो रहा है, क्या मुद्रा की क्रय-शक्ति स्थिर है, अथवा वह महगाई के कारण घट रही है, एव क्या अर्थव्यवस्था की उत्पादन-क्षमता का विस्तार हो रहा है–ये सात मूलभूत आर्थिक समस्याएँ हैं जिनका हल प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था को निकालना होता है, चाहे वह पूँजीवादी हो, समाजवादी हो या मिश्रित हो।

यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि ईकर्ट व लेफ्टविच (Eckert and Leftwich) की पुस्तक The Price System and Resource Allocation (दसवे सस्करण, 1988) मे एक आर्थिक प्रणाली के कार्यों का उल्लेख करते हुए ''अति अल्पकाल में राशनिंग'' (Rationing in the very short run) पर भी प्रकाश डाला गया है। इसका अर्थ यह है कि अति अल्पकाल मे वस्तु की पूर्ति स्थिर रहती

उत्पादन–सम्भावना वक्र की धारणा के विभिन्न उपयोग (Applications of the Concept of Production Possibility Curve)[1]

हम ऊपर स्पष्ट कर चुके है कि उत्पादन सम्भावना-वक्र साधनों की सीमितता की एक निश्चित परिभाषा देता है। इससे आर्थिक जीवन की तीन मूलभूत समस्याएँ–क्या, कैसे और किसके लिए–आसानी से समझ मे आ सकती है। उत्पादन-सम्भावना-वक्र पर हम जो बिन्दु चुनते हैं उससे यह तय होता है कि कौनसी वस्तुएँ उत्पन्न की जायेगी और परिणामस्वरूप उन्ही का समाज मे उपभोग किया जा सकेगा।

वस्तुएँ कैसे उत्पन्न की जायेगी–इसमे साधनो के कार्यकुशल ढग से उपयोग करने की बात आती है। यदि साधनो का कार्यकुशल ढग से उपयोग नही होगा तो हम उत्पादन-सम्भावना-वक्र के नीचे ही रह जाते है। इससे आर्थिक अकार्यकुशलता प्रकट होती है।

वस्तुएँ किसके लिए उत्पादित होती है–इसकी जानकारी केवल उत्पादन-सम्भावना वक्र से नही हो जाती, हालाकि इस सम्बन्ध मे इनका कुछ अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। यदि एक समाज उत्पादन-सम्भावना-वक्र के ऐसे बिन्दु पर उत्पादन करता है जहाँ साइकिले अधिक एव कारे कम बनती है तो यह अन्दाज लगाया जा सकता है कि उस समाज मे आय व धन के वितरण मे काफी समानता पायी जाती है। कारण यह है कि इस प्रकार के समाज मे निर्धन व मध्यम वर्ग के लिए अधिक मात्रा मे साइकिलो का उत्पादन किया जाता है और धनिक-वर्ग के लिए थोड़ी मात्रा मे कारो का उत्पादन किया जाता है। आय व धन के वितरण की समानता पाए जाने पर

है। जैसे गेहूँ की फसल कटने के बाद इसकी पूर्ति अगली फसल तक लगभग स्थिर बनी रहती है। अर्थव्यवस्था का यह काम होता है कि वह इस सीमित पूर्ति का वितरण उपभोक्ताओ मे एक निश्चित अवधि (एक वर्ष) तक भलीभाँति करे। हम जानते है कि फसल कटने के बाद भाव नीचे होते है। सट्टेबाज ऐसी स्थिति मे गेहूँ खरीदने लगते हैं जिससे भाव बढ़ते है और गेहूँ का उपभोग कम होने लगता है। वे बाद मे गेहूँ बेचते है जिससे भाव थोड़े कम हो जाते है। इस प्रकार सट्टेबाज अपनी क्रय-विक्रय की क्रियाओ से एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे वस्तु की सीमित पूर्ति का उचित वितरण कराने मे मदद करते है।

"अति अल्पकाल मे राशनिंग" स्वतत्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण कार्य होता है। हमने सात मूलभूत आर्थिक समस्याओ मे इसे प्रत्यक्ष रूप से शामिल नही किया है। पाठक मूलभूत आर्थिक समस्याओ के वर्णन मे इसका आवश्यकतानुसार उल्लेख कर सकते है जिससे कुल आर्थिक समस्याएँ आठ हो जाती है।

1 Paul A Samuelson and William D Nordhaus, Economics 14th edition 1992 pp 21 28
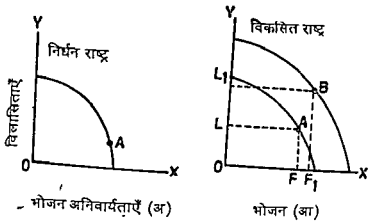
चित्र–3

एक तरह की वस्तु ही अधिक मात्रा मे उत्पन्न की जायेगी, जैसे चीन मे साइकिलो के उत्पादन की भरमार पायी जाती है।

उत्पादन-सम्भावना-वक्र अन्य आर्थिक दशाओ को भी स्पष्ट कर सकता है। इनमे से कुछ उदाहरण आगे दिये जाते है।

1. निर्धन व सम्पन्न राष्ट्रों के उपभोग में अन्तर—ऊपर चित्र 3 (अ) मे निर्धन राष्ट्र अपने साधनो का अधिकाश भाग भोजन पर लगाता है और वह बहुत कम मात्रा मे विलासिता का उपभोग कर पाता है। विकास के बाद चित्र 3 (आ) मे यह A से B पर चला जाता है जिससे प्रकट होता है कि भोजन का उपभोग कम बढ़ा (FF_1) और विलासिताओ का अपेक्षाकृत अधिक बढ़ा (LL_1)। इस प्रकार आर्थिक विकास का उपभोग पर प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। आर्थिक विकास से विलासिताओ व आरामदायक पदार्थों का उपभोग भोजन व अन्य अनिवार्यताओ के उपभोग की तुलना मे ज्यादा तेज गति से बढ़ता है। यह स्थिति चित्र 3 (आ) से स्पष्ट हो जाती है।

2. वर्तमान उपभोग और पूँजीगत वस्तुओं के बीच चुनाव—चित्र 4 (अ) के तीन राष्ट्र आर्थिक विकास के पथ पर आगे बढ़ते हैं। A_1 पर जो राष्ट्र है वह कुछ भी नही बचा पाता (केवल काम मे ली गई मशीनो को ही बदल पाता है), A_2 पर जो राष्ट्र है वह कुछ मात्रा मे वर्तमान उपभोग का त्याग करता है और A_3 पर जो राष्ट्र है वह नई मशीनो मे काफी विनियोग करता है और इसके लिए उसे वर्तमान उपभोग का काफी मात्रा मे त्याग करना होता है।
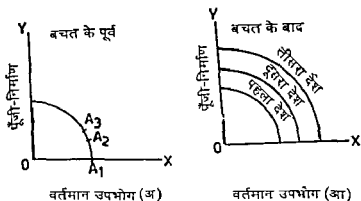
चित्र–4

आगे चलकर तीसरा देश दूसरे देश से काफी आगे निकल जाता है और पहला देश पूर्ववत दशा मे पड़ा रह जाता है । तीसरे देश के पास अधिक मशीने होने से वह दूसरे देश की तुलना मे दोनो प्रकार की वस्तुएँ अधिक मात्रा मे उत्पन्न कर पाता है । इस प्रकार बचत व पूँजी-निर्माण का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है । जो देश पूँजीगत माल पर अपने साधन लगाता है उसे
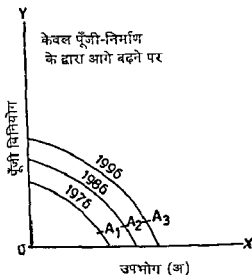
चित्र–5 (अ)

ऊँचे विनियोग वाला राष्ट्र (जिसमे केवल पूँजी-निर्माण होता है)

वर्तमान उपभोग मे तो कमी करनी पड़ेगी, लेकिन आगे चलकर वह दोनो प्रकार की वस्तुएँ अधिक मात्रा मे उत्पन्न कर सकेगा।

3. ऊँचे विनियोग तथा ऊँचे आविष्कारों के प्रभावों की तुलना— उत्पादन-सम्भावना-वक्रो की सहायता से ऊँचे विनियोगो तथा ऊँचे आविष्कारो के प्रभावो की तुलना की जा सकती है।
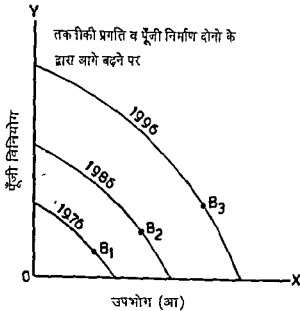
चित्र—5 (आ)

ऊँचे आविष्कार वाला राष्ट्र जिसमें पूँजी—निर्माण भी होता है

चित्र 5 (अ) मे राष्ट्र A केवल पूँजी-निर्माण करता हुआ आगे बढ़ता है और कल्पना करे कि 1976, 1986 व 1996 मे चित्र मे प्रदर्शित तीन स्थितियो प्राप्त कर सकता है। चित्र 5 (आ) मे राष्ट्र B पूँजी-निर्माण के साथ-साथ तकनीकी प्रगति या आविष्कारो पर भी व्यय करता जाता है। परिणामस्वरूप वह 1976 की तुलना मे 1986 व 1996 मे अधिक द्रुतगति से प्रगति करता है, जो अपेक्षाकृत ऊँचे उत्पादन-सम्भावना-वक्रो से सूचित होती है। सम्भवतया आधुनिक युग मे जापान व दक्षिण कोरिया की आर्थिक प्रगति का यही रहस्य रहा हो।

उत्पादन-सम्भावना-वक्रो के उपर्युक्त विवेचन के बाद हम निम्न प्रश्नो का उत्तर सरलतापूर्वक दे सकते है।

प्रश्न—निम्न दशाओ मे उत्पादक-सम्भावना-वक्र का क्या होगा ?

(अ) जब सभी उत्पादन के साधनो की मात्राएँ बढ़ा दी जाएँ ?

(ब) वैज्ञानिक आविष्कार दिये हुये साधनो के उत्पादन मे वृद्धि कर दे ?

(स) सभी सुधार मक्खन के उत्पादन के क्षेत्र मे ही हों ?

(द) राष्ट्र के सभी साधन बिना प्रयोग के रह जाएँ ?

उत्तर—(अ) सभी उत्पादन के साधनो मे वृद्धि होने से उत्पादन-सम्भावना-वक्र ऊपर की ओर खिसक जायेगा जिससे दोनो वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि हो सकेगी। देखिए चित्र 2 (अ)

(ब) वैज्ञानिक आविष्कार मे दिए हुए साधनो के उत्पादन मे वृद्धि होने से भी उत्पादन-सम्भावना-वक्र ऊपर की ओर खिसक जायेगा। देखिए चित्र 2 (अ)

(स) सभी सुधार मक्खन के उत्पादन के क्षेत्र मे होने पर मक्खन के लिए उत्पादन-सम्भावना-वक्र का अश दायी तरफ बढ़ जायेगा और बन्दूको या अन्य वस्तुओं का पहले जैसा ही बना रहेगा। देखिए चित्र 2 (आ)

(द) राष्ट्र के सभी साधन बिना प्रयोग के रह जाये तो उत्पादन शून्य होगा। उस स्थिति मे चित्र के मूलबिन्दु O पर अर्थव्यवस्था टिकी रहेगी, और कोई उत्पादन-सम्भावना-वक्र नही बनेगा। लेकिन यह स्थिति काल्पनिक व अव्यावहारिक मानी जाती है।

एक स्वतन्त्र बाजार अर्थव्यवस्था अथवा कीमत--प्रणाली प्रमुख आर्थिक समस्याओं को कैसे हल करती है ?

एक स्वतत्र बाजार अर्थव्यवस्था अपने कार्य का सचालन कीमत-प्रणाली के माध्यम से करती है। अतः इसके अन्तर्गत विभिन्न आर्थिक समस्याएँ कीमत-प्रणाली के माध्यम से ही हल की जाती है। इनका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है –

(1) **कीमत--प्रणाली व 'क्या उत्पन्न करने' की समस्या**—जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है उपभोक्ता की माँग यह निश्चित करती है कि किस वस्तु का उत्पादन किया जायेगा और कितनी मात्रा मे किया जायगा। इस प्रकार की अर्थव्यवस्था मे उपभोक्ता एक राजा होता है। अर्थव्यवस्था उसी के इशारे पर चलती है। उपभोक्ता जिन वस्तुओ के लिए ऊँची कीमते देने को उद्यत होते है उनका उत्पादन अपेक्षाकृत अधिक मात्रा मे किया जाता है। उत्पादन बढ़ने से कीमत कम करनी पड़ती है और सन्तुलन की स्थिति मे वस्तु की कुल माँग उसकी कुल पूर्ति के बराबर हो जाती है। इस प्रकार साधनो का आवटन उपभोक्ता-वर्ग की माँग के अनुसार होता है।

यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि उपभोक्ता की माँग उपभोक्ता के पास होने वाली क्रय-शक्ति अथवा मुद्रा से निर्धारित होती है। क्रय-शक्ति पर साधनो की आय का प्रभाव पड़ता है। हम आगे चलकर चित्र मे देखेगे कि उपभोक्ता जो मुद्रा उत्पादको व व्यापारियो से मजदूरी, लगान, ब्याज व

लाभाश के रूप मे प्राप्त करते है वह वस्तुओ को खरीदने पर उत्पादको व व्यापारियो को वापस लौटा दी जाती है । इस प्रकार लेन-देन का एक चक्र पूरा हो जाता है ।

(ii) कीमत–प्रणाली एव उत्पादन 'कैसे किया जाय' की समस्या– उत्पादको मे प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप यह निश्चित होता है कि वस्तुएँ कैसे उत्पादित होगी । प्रत्येक उत्पादक उत्पादन की ऐसी विधि अपनाता है जो लागत को न्यूनतम कर सके । इसके लिए सबसे अधिक कार्यकुशल विधियो को अपनाया जाता है । यदि कोयले से उत्पन्न विद्युत की अपेक्षा जल-विद्युत अधिक सस्ती पड़ती है तो जल-विद्युत का उपयोग किया जायेगा, और यदि इससे अधिक सस्ती आणविक विद्युत होती है तो उसका उपयोग किया जायेगा । प्राय श्रम-गहन और पूँजी विधियो के बीच चुनाव की समस्या पायी जाती है । कृषि की अधिक उपज सीमित भूमि पर श्रम, खाद, बीज, औजार व सिंचाई आदि की मात्रा बढ़ाकर प्राप्त की जा सकती है, अथवा नई भूमि पर खेती करके प्राप्त की जा सकती है । प्रथम स्थिति मे गहन खेती होगी और द्वितीय में विस्तृत खेती ।

प्राय उत्पादको के समक्ष श्रम व पूँजी के बीच चुनाव की समस्या पाई जाती है । पूँजी का निर्माण बचत से अथवा वर्तमान उपभोग के त्याग से होता है । पूँजी का उपयोग करने पर ब्याज देना होता है । लेकिन पूँजी से उत्पादक अधिक होता है । उत्पादक पूँजी के उपयोग से प्राप्त अधिक उत्पत्ति के मूल्य और उसके लिए दिये जाने वाले ब्याज की तुलना करके पूँजी के उपयोग की मात्रा निर्धारित करते है । कहने का आशय यह है कि **उत्पादन कैसे किया जाय–इसका निर्णय साधनो की कीमतो एवं उत्पादन के नियम के आधार पर किया जाता है** । लेकिन इस सम्बन्ध मे उत्पादक का लक्ष्य लाभ अधिकतमकरण (अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना) होता है, और वह उत्पादन की उस विधि को काम मे लेता है जिससे लागत न्यूनतम की जा सके । उत्पादन के कई बिन्दुओ या स्थानो पर लागत कम करने की दशाएँ पायी जा सकती है जिनका उपयोग उत्पादक किया करते है । एक प्रतिस्पर्धात्मक अर्थव्यवस्था मे ऐसा करना बहुत आवश्यक होता है, तभी अधिकतम लाभ का लक्ष्य प्राप्त हो सकता है ।

(iii) कीमत–प्रणाली व 'किसके लिए उत्पादन' की समस्या–उत्पादन किसके लिए किया जाता है यह बाजारो मे उत्पादन के साधनो की माँग व पूर्ति से निर्धारित होता है, अर्थात् यह मजदूरी, लगान, ब्याज व मुनाफे की दरो से निर्धारित होता है जिससे प्रति व्यक्ति आय निर्धारित होती है । लेकिन एक श्रमिक की आमदनी दूसरे से कम या अधिक हो सकती है । भारत मे भूमिहीन मजदूरो की आमदनी एक फैक्ट्री के श्रमिक से प्राय कम होती है । एक इजीनियर की आमदनी एक स्कूल के अध्यापक से अधिक होती है ।

आमदनी का अन्तर केवल मजदूरी के अन्तर पर ही निर्भर नही करता । हो सकता है कि किसी व्यक्ति ने भूतकाल मे अपनी आय का कुछ भाग बचाकर पूँजी के रूप मे ब्याज पर उधार दे दिया हो जिससे उसकी वर्तमान आय मे ब्याज मे प्राप्त आय भी जुड़ जायेगी । यह भी सम्भव है कि किसी को उत्तराधिकार या विरासत मे अपने पूर्वजो की कुछ सम्पत्ति मिल गई हो जिससे उसकी वर्तमान आय बढ जाती है । सम्पत्ति के प्रारम्भिक वितरण, प्राप्त की गई व पैतृक रूप मे मिली योग्यताओ, शिक्षा के अवसर व जाति एव लिग-भेदो पर आय के अन्तर निर्भर करते है । इस प्रकार कई कारणो से विभिन्न व्यक्तियो की खर्च के योग्य या प्रयोज्य आय मे अन्तर पाये जाते है । जिनकी आय किसी भी कारण से अधिक होती है वे अधिक वस्तुएँ व सेवाएँ खरीद सकते है । **इस प्रकार समाज मे वस्तु–वितरण (product distribution) आय–वितरण (income distribution) से प्रभावित होता**

कीमत–प्रणाली के संचालन को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक चित्र
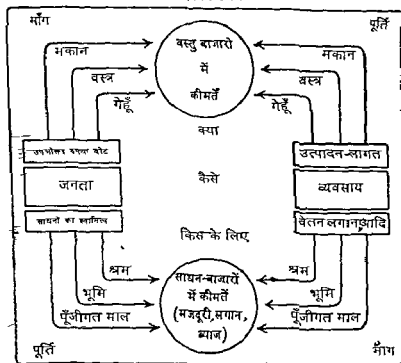
चित्र 1 एक स्वतत्र बाजार अर्थव्यवस्था मे कीमत-प्रणाली तथा तीन आर्थिक प्रश्न

है । उत्पादन उन्ही वस्तुओ का होता है जिनकी माँग होती है और माँग पर आमदनी का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है । **इस प्रकार समाज में आय के वितरण का 'किसके लिए उत्पादन' पर गहरा प्रभाव पड़ता है ।**

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि मूलभूत आर्थिक प्रश्नो का हल कीमत-प्रणाली की सहायता से निकाला जाता है । । **सेमुअल्सन व नोरढाउस के अनुसार, ''जिस प्रकार एक गधे का स्वामी उसे हाँकने के लिए उसको गाजर खिलाता है और पीटता भी है, उसी प्रकार कीमत–प्रणाली क्या, कैसे व किसके लिए का निर्णय कराने के लिए लाभ–हानि के माध्यम का उपयोग करती है ।''**

हम चित्र एक के द्वारा भी यह स्पष्ट कर सकते है कि कीमत-प्रणाली क्या, कैसे और किसके लिए प्रश्नो को हल करने मे कैसे मदद पहुँचाती है । चित्र मे जनता और व्यवसायी (अथवा व्यावसायिक फर्में) दो बार परस्पर एक दूसरे के सम्पर्क मे आते है–एक ओर तो वस्तु का क्रय-विक्रय करने के समय जब उपभोक्ता उनसे विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ खरीदते है और व्यवसायी उन्हे वस्तुएँ बेचते है । दूसरी बार लोग उत्पादन के साधन बेचते है और व्यवसायी उन साधनो को खरीदते है ।

पहले सम्पर्क मे वस्तु-बाजारो मे भाव तय होते है और दूसरे सम्पर्क मे साधन-बाजारो मे मजदूरी, लगान व ब्याज, आदि निर्धारित होते है ।

एक प्रतिस्पर्धात्मक कीमत–प्रणाली माँग व पूर्ति का उपयोग करके तीन मूलभूत आर्थिक समस्याएँ हल करती है–

चित्र 1 का स्पष्टीकरण

चित्र के ऊपरी भाग मे उपभोक्ता अपने रुपये देकर गेहूँ, वस्त्र व मकान की माँग करते है, जिसका व्यवसायियो या फर्मों की उत्पादन-लागत व पूर्ति के निर्णयो से मेल होता है । इससे 'क्या उत्पादित किया जाए' की समस्या हल होती है । चित्र के निचले भाग मे व्यवसायियो या फर्मों के द्वारा श्रम, भूमि व पूँजी की माँग का इन साधनो की जनता द्वारा की जाने वाली पूर्ति से मेल होता है जिससे साधनो की कीमते, अर्थात् मजदूरी, लगान व ब्याज निर्धारित होते है, अर्थात् पूर्व वर्णन के अनुसार, वस्तुएँ किसके लिए उत्पादित हुई हैं, की समस्या हल होती है । साधनो की खरीद मे व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा एव वस्तुओ को सबसे सस्ता बेचने के प्रयास मे यह तय होता है कि वस्तुएँ कैसे उत्पादित होती है । इस प्रकार वस्तुओ का 'उत्पादन कैसे हो' की समस्या का हल निकाला जाता है ।

स्मरण रहे कि उपरोक्त चित्र के दोनो अंग–ऊपरी व निचला–एक साथ अपनी प्रतिक्रिया बतलाते है । **ऊपरी भाग का 'क्या' निचले भाग के 'किसके लिए' पर निर्भर करता है ।** दूसरे शब्दो मे, जहाँ बढ़ई की मजदूरी मकानो की माँग पर निर्भर करती है, वहाँ गेहूँ की माँग बढ़ई की मजदूरी पर निर्भर करती

है, अर्थात् एक तरफ नीचे का भाग ऊपर के भाग पर निर्भर करता है तो दूसरी तरफ ऊपर का भाग नीचे के भाग पर निर्भर करता है। इस प्रकार वस्तु-बाजार व साधन-बाजार की परस्पर निर्भरता स्पष्ट हो जाती है। चित्र के ऊपरी भाग में कीमत-प्रणाली वस्तुओं के भाव निर्धारित करती है और निचले भाग मे यह साधनो के भाव निर्धारित करती है। इस प्रकार कीमत-प्रणाली विभिन्न बाजारो मे परस्पर समन्वय व ताल-मेल स्थापित करती है।

प्रश्न

1 एक अर्थव्यवस्था की मूलभूत आर्थिक समस्याओं की व्याख्या कीजिए। एक प्रतियोगी अर्थव्यवस्था में उनको किस प्रकार हल किया जा सकता है ?

(Raj Iyr 1994)

2 एक उत्पादन सम्भावना वक्र क्या दर्शाता है ? इसकी मान्यताओं को स्पष्ट कीजिए। क्या साधनों के फालतू पडे रहने की दशा में एक उत्पादन सम्भावना वक्र बनाया जा सकता है ? समझाइए।

3 दो देश विकास के मार्ग पर आगे बढते हैं। इनमें से एक अधिक पूजी निर्माण का मार्ग अपनाता है और दूसरा अधिक पूजी निर्माण के साथ साथ उन्नत टेक्नोलोजी का भी उपयोग करता जाता है। आर्थिक विकास की दृष्टि से इनमें क्या अन्तर पाया जायेगा ? उत्पादन सम्भावना वक्रों की सहायता से समझाइए।

4 एक अर्थव्यवस्था की मूलभूत आर्थिक समस्याओं की विवेचना कीजिए।

(Raj Iyr 1992)

5 निम्नांकित पर लगभग 100 शब्दों में संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये -

(i) एक आर्थिक समस्या क्यों उत्पन्न होती है ? (Ajmer Iyr 1993)

(ii) मूलभूत आर्थिक समस्याए (संक्षिप्त टिप्पणी) (Raj Iyr 1993)

3

आर्थिक सिद्धान्त का निर्माण

(Formulation of Economic Theory)

अन्य विज्ञानो की भाति अर्थशास्त्र मे भी सिद्धान्तो का निर्माण किया जाता है। जब दो या अधिक चीजो के बीच किसी प्रकार की नियमितता देखी जाती है तो हम यह जानना चाहते है कि ऐसा क्यो होता है। इस प्रश्न का उत्तर सिद्धान्त के द्वारा दिया जाता है। सिद्धान्त का स्पष्टीकरण तो करता ही है, लेकिन वह भावी घटनाओ के सम्बन्ध मे भी अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करता है (predicts)। उदाहरण के लिए, मुद्रा के अवमूल्यन से (एक देश की मुद्रा की विनिमय-दर अन्य देशो की मुद्राओ मे घटाने से) निर्यात बढ़ते है। किसी भी फसल के नष्ट हो जाने से उसकी पैदावार के मूल्यो मे वृद्धि होती है, आदि, आदि।

इस प्रकार सिद्धान्तो की सहायता से हम घटनाओ या तथ्यो के सन्बन्धो को समझा सकते है और भावी परिणामो के बारे मे भी अनुमान लगा सकते है।

प्राय. हमे यह सुनने को मिलता है कि 'यह सिद्धान्त रूप मे तो सही है, लेकिन व्यवहार मे नहीं'। यह कथन सही नही है, क्योकि व्यवहार मे जो कुछ होता है उसका कोई न कोई सिद्धान्त अवश्य होगा। कोई व्यक्ति यह तो कह सकता है कि अमुक व्यवहार को यह सिद्धान्त न समझाकर कोई दूसरा सिद्धान्त ज्यादा सही ढग से समझाता है। लेकिन प्रत्येक व्यवहार का कोई सिद्धान्त अवश्य होता है।

एक सिद्धान्त के चार अग माने जा सकते है –

(i) सिद्धान्त में जिन चलराशियो (variables) का प्रयोग किया जाना है,उनकी स्पष्ट परिभाषा की जानी चाहिए; जैसे माँग के नियम मे हमे माँग व कीमत जैसी चलराशियो की निश्चित परिभाषा करनी होगी।

(ii) उन मान्यताओं (assumptions) को स्पष्ट करना होगा जिनके लागू होने पर ही वह सिद्धान्त लागू होगा।

(iii) चलराशियो के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धो के बारे मे एक या अधिक परिकल्पनाऍं (hypotheses) बनायी जा सकती हैं और

(iv) सिद्धान्त की मान्यताओ के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष

(predictions) जिनकी वास्तविक जगत मे पाये जाने वाले तथ्यो के आधार पर जाँच की जा सकती है।

एक सिद्धान्त के इन विभिन्न अगो पर नीचे क्रमश विचार किया जाता है।

(i) चलराशियाँ (Variables)

एक चलराशि या चर उसे कहते है जो विभिन्न सम्भावित मूल्य (different possible values) ले सके, अर्थात् इसका मूल्य घटता-बढ़ता रहता है। सिद्धान्तो मे चलराशियाँ ही मूल तत्त्व होते है और उनकी परिभाषा सावधानीपूर्वक की जानी चाहिए। उदाहरण के लिए, माँग के नियम मे माँग-चलराशि (demand variable) एक विशेष वस्तु की माग की वह मात्रा होती है जो बाजार मे एक विशेष कीमत पर एक विशेष अवधि मे ग्राहको द्वारा माँगी जाती है। जैसे कल्पना करे कि जयपुर के बाजार मे 10 रु. प्रति किलो कीमत पर दानेदार चीनी की माँग एक सप्ताह मे 1000 क्विटल है, तो एक वस्तु की माँग की परिभाषा मे कीमत, समयावधि 'व बाजार आदि का स्पष्ट उल्लेख किया जायगा। इसका कोई अर्थ नही कि बाजार मे चीनी की माँग 1000 क्विटल है। इसके साथ कीमत व समयावधि (एक दिन, एक सप्ताह, एक महीना, आदि जो भी हो) बतलाना भी आवश्यक है।

अर्थशास्त्र मे अध्ययन की दृष्टि से चलराशियो के दो भेद बहुत प्रचलित है,जो इस प्रकार है —

(अ) आन्तरजात व बाह्यजात चलराशियाँ

(Endogenous and Exogenous Variables)

आन्तरजात चलराशि वह चलराशि होती है जो सिद्धान्त मे अंदर से ही समझाई जाती है, जैसे माँग के नियम मे एक वस्तु की कीमत एक आन्तरजात चलराशि कहलाती है। यह सिद्धात के ढाचे के अदर से ही निर्धारित होती है।

बाह्यजात चलराशि आन्तरजात चलराशि को प्रभावित तो करती है, लेकिन यह स्वय सिद्धान्त के बाहर के तत्त्वो से निर्धारित होती है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए हम आइसक्रीम की कीमत व उसकी माँग पर विचार कर रहे है। **इस स्थिति में 'मौसम' बाह्यजात चलराशि मानी जा सकती है।** यह आइसक्रीम की कीमत को तो प्रभावित करेगी, लेकिन स्वय कीमत से प्रभावित नही होगी। मौसम पर उन तत्त्वो का प्रभाव पड़ता है जो यहाँ माँग के सिद्धान्त के बाहर से काम करते है।

इसी प्रकार हम सेब की कीमत व उसकी पूर्ति का सम्बन्ध ले सकते है, जिससे पूर्ति का नियम स्थापित होता है। **यहाँ भी सेब की कीमत एक आन्तरजात चलराशि है क्योकि यह सिद्धान्त के ढाचे के अदर से निर्धारित होती है, लेकिन पुन यहाँ भी 'मौसम' एक बाह्यजात चलराशि है जो सेब की उत्पत्ति को प्रभावित करते हुए इसकी कीमत को प्रभावित करती है, लेकिन**

यह स्वयं कीमत से प्रभावित नहीं होती । अतः यह सिद्धान्त के बाहर की चलराशि मानी जाती है ।

व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर एक सिद्धान्त से सम्बन्धित आन्तरजात व बाह्यजात चलराशियो का पता लगाना कठिन नही होता ।

(आ) स्टॉक व प्रवाह चलराशियाँ

(Stock and flow Variables)

स्टॉक व प्रवाह चलराशियो का भेद समष्टि अर्थशास्त्र मे बहुत उपयोगी माना गया है । एडवर्ड शेपीरो के अनुसार 'इन दोनो का अतर यह है **कि स्टॉक समय के किसी विशिष्ट बिन्दु (a specific point of time) पर मापा जाता है और प्रवाह एक विशिष्ट समयावधि (a specific period of time) में मापा जाता है** ।' स्मरण रहे कि स्टॉक व प्रवाह दोनो चलराशियाँ घटने-बढ़ने वाली राशिया होती हैं, लेकिन स्टॉक मे चलराशि का मूल्य समय के किसी बिन्दु पर (जैसे 30 जून, 1994 को) आका जाता है, जबकि प्रवाह चलराशि का मूल्य एक समयावधि जैसे वित्तीय वर्ष 1993-94 (अप्रैल 1993 से मार्च 1994 तक) के लिए आका जाता है ।

स्टॉक के उदाहरण :

इसमें हम एक देश में मुद्रा की पूर्ति (money supply) को ले सकते हे जैसे भारत में, विस्तृत अर्थ मे, मुद्रा की पूर्ति को लेने पर, अर्थात M_3 की मात्रा 29 अप्रैल 1994 को 447199 करोड रुपये थी । इसी प्रकार एक देश की जनसख्या, श्रम शक्ति व बेरोजगार व्यक्तियो की सख्या भी 'स्टॉक की अवधारणा' मे शामिल होती है । उदाहरण के लिये, 1 मार्च 1991 को जनगणना के परिणामो के अनुसार भारत की जनसख्या लगभग 84 63 करोड व्यक्ति थी । इनके अलावा देश मे पूँजी का स्टॉक, सकल कृषित क्षेत्र, सकल सिंचित क्षेत्र, आदि भी स्टॉक की अवधारणाओ मे ही शामिल माने जाते हैं ।

प्रवाह के उदाहरण :

प्रवाह की अवधारणा मे राष्ट्रीय आय, व्यय, बचत, विनियोग (पूँजी-निर्माण) तथा प्रति वर्ष श्रम-शक्ति में नये जुड़ने वाले व्यक्ति, अथवा प्रति वर्ष नया रोजगार पाने वाले व्यक्ति, आदि शामिल होते हैं । हम जानते हैं कि एक देश की या एक राज्य की वार्षिक आय का सम्बन्ध प्राय एक वर्ष की अवधि से किया जाता है । भारत मे यह वित्तीय वर्ष माना जाता है, जो अप्रेल-मार्च की अवधि के लिए होता है । इसी प्रकार एक वर्ष की अवधि मे की गई बचत की राशि, विनियोग की राशि, निर्यात की राशि, आयात की राशि, आदि भी प्रवाह की राशियाँ ही मानी जाती हैं ।

स्मरण रहे कि स्टॉक व प्रवाह की चलराशियो मे अतर होते हुए भी वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, जैसे एक देश मे जो पूँजी का स्टॉक होता है

वह उस देश मे एक वर्ष मे पूँजी-निर्माण (Capital formation) या विनियोग को प्रभावित करता है । सामान्यतया पूँजी का स्टॉक अधिक पाये जाने पर पूँजी—निर्माण (प्रवाह की राशि) अधिक होगा, और पूँजी का स्टॉक कम पाये जाने पर पूँजी—निर्माण भी कम होगा । इसका अर्थ यह हुआ कि स्टॉक की राशि प्रवाह की राशि को प्रभावित करती है । ये एक-दूसरे से जुड़े हुए है । आर्थिक सिद्धान्तो मे स्टॉक व प्रवाह दोनो प्रकार की चलराशियो का प्रयोग किया जाता है और इनको पहचानने मे कोई कठिनाई नही होती । यदि कोई चलराशि समय के किसी बिन्दु पर बतलायी जाती है तो वह 'स्टॉक' होती है और यदि वह किसी समयावधि (a period of time) के लिए बतलायी जाती है तो वह 'प्रवाह' होती है । इनमे आपस मे कोई भ्रम नही होना चाहिए, वरना विश्लेषण मे कई प्रकार की उलझनें पैदा हो सकती है ।

(ii) मान्यताए (assumptions) :

सिद्धान्तो के निर्माण में 'मान्यताओ' का बहुत महत्त्व होता है । मान्यताओ का अर्थ है कि हमे कुछ बातो को मानकर या दिया हुआ समझकर चलना पड़ता है ।

उन्ही के आधार पर हम तार्किक विधि का प्रयोग करके आगे बढ़ते है और अत मे किसी न किसी सिद्धान्त का निर्माण करते है । मान्यताए कई प्रकार की हो सकती है, और अलग-अलग सिद्धान्तो की मान्यताए प्राय अलग-अलग होती है । लेकिन अर्थशास्त्र मे कुछ मूलभूत मान्यताए (basic assumptions) निम्न किस्म की होती हैं – (i) हम किस प्रकार के बाजार को मानकर चल रहे हैं, जैसे पूर्ण प्रतिस्पर्धा, एकाधिकार, आदि । इनका विस्तृत अध्ययन आगे चलकर किया जायगा, लेकिन यहाँ यह जानना पर्याप्त होगा कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा की मान्यता का आशय है कि बाजार मे अनेक क्रेता व अनेक विक्रेता है, वस्तु समरूप या एक सी है, फर्में उद्योग मे आ-जा सकती है, क्रेताओ व विक्रेताओ को कीमतो का पूरा ज्ञान होता है, उत्पादन के साधन विभिन्न उद्योगो के बीच पूर्णतया गतिशील होते है तथा समस्त उत्पादक काफी समीप रह कर काम करते हैं जिससे परिवहन लागत नही लगती । पूर्ण प्रतिस्पर्धा की इन दशाओ को मानकर चलने से हमे कीमत व उत्पत्ति-निर्धारण की विशेष दशाए प्राप्त होती है । उनसे पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे कीमत-सिद्धान्त का निर्माण होता है । इसी प्रकार बाजार के अन्य रूपों मे कीमत सिद्धान्त भिन्न रूप लेता है ।

(ii) दूसरी मूलभूत मान्यता उपभोक्ता व उत्पादक की विवेकशीलता (rationality) के बारे मे हुआ करती है । हम उपभोक्ता के सिद्धान्त की रचना में हम यह मान लेते हैं कि प्रत्येक उपभोक्ता उपयोगिता-अधिकतमकरण (utility-maximisation) करना चाहता है, अर्थात् वह अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करता है । प्रत्येक विवेकशील उपभोक्ता ऐसा ही करता है और उसका व्यवहार इसी से निर्धारित होता है । यदि हम उपभोक्ता के व्यवहार के सम्बन्ध मे अधिकतम सन्तुष्टि की मान्यता लेकर नही चलते है तो

उपभोक्ता-सिद्धान्त की रचना मे कठिनाई उत्पन्न हो जायगी।

पूर्व कक्षा मे उपभोग मे साधन-आवटन के विवेचन मे बतलाया गया था कि एक उपभोक्ता अपनी सीमित आमदनी को विभिन्न वस्तुओ पर इस प्रकार से व्यय करता है कि प्रत्येक वस्तु पर व्यय किये गये अन्तिम रुपये से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता बराबर या लगभग बराबर हो जाय। इसे सम-सीमान्त उपयोगिता का नियम कहा जाता है। पाठको को याद होगा कि सीमान्त उपयोगिता दृष्टिकोण के अनुसार चलने पर एक उपभोक्ता के लिए अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने की निम्न दो शर्तें होती है —

(i) $$\frac{MUx}{Px} = \frac{MUy}{Py} = \frac{MUz}{Pz}$$

(ii) $(x \times Px) + (y \times Py) = I$

यहाँ MUx = x - वस्तु की सीमान्त उपयोगिता;

Px = x - वस्तु की कीमत

x=x- वस्तु की मात्रा है, तथा इसी प्रकार y- वस्तु व z-वस्तु के लिए विचार किया गया है; एव I = आमदनी की वह राशि है जो विभिन्न वस्तुओ पर व्यय की जानी है। हम उपभोक्ता के सतुलन को तटस्थता-वक्र रेखाओ के द्वारा भी समझा सकते हैं। **यहाँ मुख्य बात यह है कि उपभोक्ता के व्यवहार का सम्पूर्ण सिद्धान्त इस मान्यता पर टिका हुआ है कि एक उपभोक्ता विवेकपूर्ण आचरण करता है, अर्थात् वह अधिकतम सन्तुष्टि के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है।** यदि वह अपना लक्ष्य अधिकतम सन्तुष्टि न रखे तो उसका व्यवहार विवेकशील (rational) नहीं माना जायगा और उसका सिद्धान्त बनाने मे दुविधा उत्पन्न हो जायगी।

इसी प्रकार एक उत्पादक के विषय मे भी यह मान लिया जाता है कि वह अपना लाभ अधिकतम करना चाहता है। उत्पादक या फर्म के लिए 'लाभ–अधिकतमकरण' (profit-maximisation) की मान्यता के आधार पर उनके व्यवहार के बारे मे निष्कर्ष निकाला जा सकता है। हम उत्पादक द्वारा अपनाये गये विभिन्न उपायो का उसके मुनाफे पर प्रभाव देखते है, और अत मे वे उपाय निकाल लेते है जिससे उसका मुनाफा अधिकतम होता है।

एक उत्पादक द्वारा साधन-आवटन के विवेचन मे पूर्व कक्षा मे बतलाया गया था कि एक उत्पादक को अपने सीमित व्यय का वितरण उत्पादन के साधनो पर इस प्रकार करना चाहिए कि एक रुपये के व्यय से प्राप्त सीमान्त भौतिक उत्पत्ति सभी साधनों में समान हो जाय। x और y दो साधन लेने पर उसे अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए अग्र शर्त का पालन करना होगा :

$$\frac{MPPx}{Px} = \frac{MPPy}{Py}$$ यहाँ, MPPx, x - साधन की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति, तथा Px, x साधन की कीमत, को सूचित करती है । इसी प्रकार y - साधन को लिया जा सकता है । एक उत्पादक या फर्म का सतुलन समोत्पत्ति वक्र–समलागत की विधि से भी समझाया जा सकता है । यहाँ पर भी मुख्य बात यह है कि हम एक विवेकशील उत्पादक के सम्बन्ध मे यह मान्यता स्वीकार कर लेते है कि वह लाभ-अधिकतम करना चाहता है । इस मान्यता के आधार पर एक फर्म के सिद्धान्त की रचना की जा सकती है ।

कई बार यह कहा जाता है कि उत्पादक राजनीतिक व समाज-सेवा के उद्देश्यो से भी प्रेरित होते है, इसलिए लाभ-अधिकतमकरण की मान्यता अवास्तविक है । **यहाँ हमें यह याद रखना होगा कि हम उत्पादक का एक मात्र उद्देश्य लाभ-अधिकतमकरण करना नहीं मानते हैं, लेकिन इसे एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य अवश्य मानते हैं ताकि इसके आधार पर हम उसके व्यवहार के बारे में कोई निष्कर्ष प्रस्तुत कर सके ।** इसलिए एक विवेकशील उपभोक्ता के सम्बन्ध मे *'उपयोगिता-अधिकतमकरण' की मान्यता तथा एक विवेकशील उत्पादक* के सम्बन्ध मे 'लाभ-अधिकतमकरण' की मान्यता के आधार पर हम उनके व्यवहार के सम्बन्ध मे निष्कर्ष निकाल सकते है ।

(iii) **तृतीय श्रेणी की मूलभूत मान्यता 'एक स्थिर अर्थव्यवस्था' (a static economy)** के बारे मे होती है जिसमे अर्थव्यवस्था मे साधन व टेक्नोलोजी को दिया हुआ माना जाता है । एक गत्यात्मक या प्रावैगिक अर्थव्यवस्था मे साधन व टेक्नोलोजी परिवर्तनशील माने जाते है । अधिकाश आर्थिक सिद्धान्तो की रचना 'एक स्थिर अर्थव्यवस्था' की मान्यता पर आधारित होती है ।

इस प्रकार बाजार के रूप, उपभोक्ता व उत्पादक की विवेकशीलता (rationality) तथा 'स्थिर अर्थव्यवस्था' अर्थशास्त्र की आधारभूत मान्यताए मानी जाती है ।

श्रीमती जोन रोबिन्सन का भी कहना है, '**आर्थिक विश्लेषण की यह आधारभूत मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति उचित ढग का आचरण करता है, और इसीलिए, वह सीमान्त लागत को सीमान्त लाभ से सतुलित करता है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब एक खरीददार एक वस्तु की खरीद मे कोई दी हुई सीमान्त लागत लगाता है तो उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता इसकी सीमान्त लागत के बराबर होती है ।**''[1]

---

1 'The fundamental assumption of economic analysis is that every individual acts in a sensible manner, and it is sensible for the individual to balance marginal cost against marginal gain It follows that when a given marginal cost is being incurred by a buyer in purchasing a commodity the marginal utility of the commodity to him is equal to its marginal cost'

Joan Robinson, **The Economics of Imperfect Competition**, 1961 (reprinted) pp 211 212

अतः उपभोक्ता व उत्पादक की विवेकशीलता की मान्यता एक आधारभूत मान्यता मानी जाती है।

'अन्य बातों के समान रहने' की मान्यता

('Ceteris paribus' or the assumption of 'other things remaining the same')

हम पहले बतला चुके है कि अर्थशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तो या नियमो के पीछे **'अन्य बातों के समान रहने'** की मान्यता पायी जाती है। जैसे माँग का नियम (law of demand) बतलाता है कि, अन्य बातो के समान या अपरिवर्तित रहने पर, एक वस्तु की कीमत के घटने पर उसकी माँग की मात्रा बढ़ेगी, अथवा कीमत के बढ़ने पर माँग की मात्रा घटेगी।

हम जानते है कि एक वस्तु की माँग पर निम्न तत्त्वो का प्रभाव पड़ता है :-

(i) स्वयं उस वस्तु की कीमत,

(ii) उपभोक्ताओ की आमदनी

(iii) उपभोक्ता-वर्ग की पसंद या रुचि

(iv) अन्य वस्तुओ की कीमते—इनमे कुछ वस्तुएं विचाराधीन वस्तु की पूरक (complementary) हो सकती है अथवा इसकी स्थानापन्न (substitutes) हो सकती है।

(v) भावी कीमतो के सम्बन्ध में प्रत्याशाएं, आदि।

अतः माँग के नियम मे हम अन्य बातो को स्थिर रखकर जैसे उपभोक्ताओ की आमदनी, उनकी रुचि-अरुचि, अन्य वस्तुओ की कीमतो, भावी कीमतो की प्रत्याशाओ, आदि को स्थिर रखकर केवल एक वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव उसकी माँग की मात्रा पर देखते है। नियम की क्रियाशीलता के लिए 'अन्य बातो को समान' रखना जरूरी होता है। मान लीजिए, कीमत के बढ़ने पर उपभोक्ता-वर्ग की आमदनी भी बढ़ जाती है तो एक वस्तु की माँग सम्भवतया न घटे, अर्थात् माँग का नियम लागू न हो। इसी प्रकार मान लीजिए कीमत के बढ़ने पर लोगो की रुचि किसी वजह से उस वस्तु के पक्ष मे अधिक तीव्र हो जाती है तो भी माँग घटने की बजाय बढ़ सकती है। अत माँग के नियम मे अन्य बातो के समान रहने की मान्यता का बड़ा महत्त्व है।

पूर्ति का नियम —

इसी प्रकार एक वस्तु के पूर्ति के नियम मे अन्य बातो के समान रहने की मान्यता स्वीकार की जाती है। एक वस्तु की पूर्ति पर कई तत्त्वो का प्रभाव पड़ता है जैसे—

(i) स्वयं उस वस्तु की कीमत,

(ii) अन्य वस्तुओ की कीमतो,

(iii) उत्पादन के साधनो की कीमतो,

(iv) लागत की दशाओ,

(v) उत्पादन की तकनीक तथा

(vi) सरकारी नीति मौसम आदि।

पूर्ति के नियम मे हम अन्य तत्त्वो को स्थिर मानकर, एक वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव उसकी पूर्ति की मात्रा पर देखते है।

साधारणतया कीमत के बढ़ने पर वस्तु की पूर्ति बढ़ती है और कीमत के घटने पर उसकी पूर्ति घटती है। लेकिन ऐसा कहते समय हम पूर्ति को प्रभावित करने वाले अन्य सभी तत्त्व स्थिर मान लेते हैं। यदि अन्य तत्त्वों को स्थिर नहीं माना गया तो पूर्ति का नियम सम्भवत लागू न हो। जैसे एक वस्तु की कीमत के बढ़ने पर उसकी पूर्ति बढ़ती, लेकिन मान लीजिए वह एक कृषिगत पदार्थ है जिसकी पूर्ति अकाल व सूखे के कारण काफी घट जाती है। इसलिए प्राकृतिक बाधाओ के कारण कीमत के बढ़ने पर भी सम्भवत कृषिगत वस्तु की सप्लाई न बढ़ पाये।

इस प्रकार हमने ऊपर एक तरफ मूलभूत मान्यताओ (बाजार की प्रकृति, उपभोक्ता व उत्पादक की विवेकशीलता व स्थैतिक अर्थव्यवस्था) का उल्लेख किया और बाद मे 'अन्य बातो के समान रहने' की मान्यता का विवेचन किया।

मान्यताओ की प्रकृति

आर्थिक सिद्धान्तो का निर्माण मान्यताओ के आधार पर किया जाता है। यदि सिद्धान्त का वास्तविक तथ्यो से मेल खाता है तो उसे स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा इसमे सशोधन किया जा सकता है अथवा इसे अस्वीकार किया जा सकता है। मिल्टन फ्रीडमैन ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि मान्यताओं की वास्तविकता की जाँच करने की आवश्यकता नहीं है। हमें तो उनके आधार पर निकाले गये निष्कर्षों की जाँच तथ्यों के आधार पर करनी चाहिए। यदि निष्कर्षों का तथ्यो से मेल हो जाये तो सिद्धान्त को स्वीकार किया जा सकता है।

(III) परिकल्पनाएं (hypotheses)

सिद्धान्त के निर्माण में चलराशियो की परिभाषा व मान्यताओं के बाद तीसरा चरण परिकल्पनाओं के निर्माण का आता है। एक परिकल्पना वह कथन है जो दो या अधिक चलराशियो का परस्पर सम्बन्ध बतलाती है। जैसे किसी वस्तु की कीमत के बढ़ने से उसका उत्पादन अधिक मात्रा मे किया जाता है। अर्थशास्त्र मे इससे फलनात्मक सम्बन्ध (functional relation) स्थापित होते है जैसे वस्तु की कीमत व वस्तु के उत्पादन की मात्रा मे तथ्यो के विस्तृत अध्ययन के आधार पर अर्थशास्त्री यह भी बतला सकते है कि कीमत के अमुक परिवर्तन से उत्पादन मे अमुक मात्रा मे परिवर्तन होगा। इस प्रकार वे दिशा व मात्रा दोनो के परिवर्तनो को जानने मे मदद देते है।

अर्थशास्त्र मे अनेक परिकल्पनाएं सार्वभौमिक (Universal) होती है। ऐसी परिकल्पनाओ को न तो निश्चितता से सही सिद्ध किया जा सकता है और न निश्चितता से गलत सिद्ध किया जा सकता है। कुछ बाते जो आज सही लगती है वे कल गलत प्रमाणित हो सकती है। इसी प्रकार जो आज गलत लगती है वे कल सही लग सकती है।

(iv) सिद्धान्त से प्राप्त निष्कर्ष (predictions) --

एक सिद्धान्त से प्राप्त निष्कर्ष वे प्रस्थापनाएं (propositions) होती है जो उस सिद्धान्त से निकाली जाती है। उदाहरण के लिए, यदि फर्मे अपना

लाभ अधिकतम करती हैं तथा सिद्धान्त की अन्य मान्यताए व परिकल्पनाए सही मानी जाती हैं तो कम्पनियो पर कर की दर के बढ़ने से नये प्लान्ट व उपकरण मे विनियोग की मात्रा घटेगी । इस प्रकार यह सिद्धान्त का निष्कर्ष हुआ कि निगम कर की दर के बढ़ने से स्थिर विनियोग मे गिरावट आयेगी । इस निष्कर्ष के पीछे विचाराधीन सिद्धान्त की मान्यताए व परिकल्पनाए काम कर रही है । स्मरण रहे कि सिद्धान्त से प्राप्त निष्कर्ष व भविष्यवाणी मे अतर होता है । एक वैज्ञानिक निष्कर्ष वह कथन होता है जो निम्न रूप लेता है—'यदि आप यह करेगे तो उसका परिणाम वह होगा ।' यदि विशिष्ट दशाओ मे दो भाग हाइड्रोजन व एक भाग ऑक्सीजन मिलाया जायगा तो पानी बनेगा ।

प्राप्त निष्कर्षों के तथ्यो के आधार पर जाँच करना ही सिद्धान्त की जाँच करना कहलाता है । यदि कोई सिद्धान्त बेहतर किस्म के निष्कर्ष नही दे पाता है तो या तो इसमे सशोधन किया जाता है, अथवा इसके स्थान पर दूसरा सिद्धान्त अपनाया जाता है । इस प्रकार सिद्धान्तो के जाँच की क्रिया निरतर जारी रहती है ।

सिद्धान्त के निर्माण मे तार्किक विधि व माप की अन्तर्क्रिया का चार्ट[1]

1 Lipsey, Steiner Purvis and Courant ECONOMICS, Ninth Edition 1990 p 24
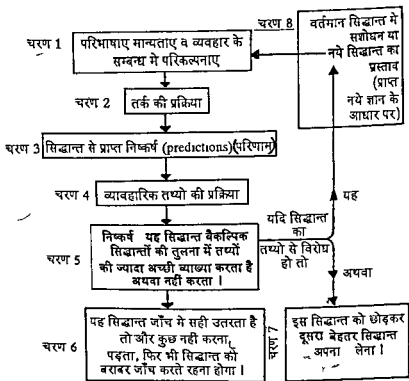
चार्ट का स्पष्टीकरण —

उपर्युक्त चार्ट मे हम कुछ चलराशियो (variables) की परिभाषाओ, मान्यताओ व परिकल्पनाओ से प्रारम्भ करते हैं। तार्किक प्रक्रिया द्वारा कुछ निष्कर्ष या परिणामो (predictions) पर पहुँचते है। उन निष्कर्षों की जाँच तथ्यो के आधार पर करते है। यदि सिद्धान्त जाँच मे सही उतरता है तो प्रक्रिया समाप्त मानी जाती है एव आगे और कुछ नही करना पड़ता।

यदि सिद्धान्त का तथ्यो से विरोध पाया जाता है तो दो रास्ते खुलते है–(i) इस सिद्धान्त को त्याग कर दूसरा इससे श्रेष्ठ सिद्धान्त अपना लेना, अथवा (ii) इसी सिद्धान्त मे सशोधन करना अथवा प्राप्त नये ज्ञान के आधार पर नये सिद्धान्त का प्रस्ताव रखना और पुन चरण 1 से सिद्धान्त के निर्माण की प्रक्रिया शुरू करके आगे बढ़ना।

अर्थशास्त्र मे साख्यिकीय विधि (Statistical Method in Economics)[1] —अर्थशास्त्र मे नियन्त्रित प्रयोग के स्थान पर साख्यिकीय विधि प्रयुक्त होती है। अत यह एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है। साख्यिकीय विधि का उपयोग तथ्यो के सग्रह, वर्गीकरण, विश्लेषण व निष्कर्ष निकालने मे किया जाता है। इसमे सैम्पलिग (न्यादर्श) विधि के आधार पर सम्पूर्ण क्षेत्र के बारे मे परिणाम निकाले जाते है। जैसे मान लीजिये, हमे एक हजार श्रमिको के उपभोग का अध्ययन करना है तो हम यह कार्य एक सौ श्रमिको के पारिवारिक बजटो के अध्ययन के आधार पर कर सकते है। सैम्पलिग प्रणाली वैज्ञानिक होती है। इसके परिणाम विश्वसनीय होते है और इसमे हमे त्रुटि (error) की मात्रा का भी पता होता है। सैम्पल का आकार बढ़ाकर त्रुटि की मात्रा कम की जा सकती है। अर्थशास्त्र मे साख्यिकीय विश्लेषण के दो उपयोग होते है–(अ) सिद्धान्तो की जाँच करना, तथा (आ) आर्थिक सम्बन्धो का सख्यात्मक माप करना। इनका क्रमश नीचे स्पष्टीकरण किया जाता है

(अ) सिद्धान्तो की जाँच करना—मान लीजिये हमे इस परिकल्पना (hypothesis) की जाँच करनी है कि आय के बढ़ने से भोजन पर किया गया व्यय बढ़ता है। हम समस्त देश के उपभोक्ताओ का अध्ययन करने मे असमर्थ होते है और वह आवश्यक भी नही होता। अत हम उपभोक्ताओ का एक प्रतिनिधि नमूना (representative sample) चुन लेते है और उनकी आय व भोजन पर किये गये व्यय के आँकड़े एकत्र कर लेते है। हम जानते है कि भोजन पर किये जाने वाले व्यय पर परिवार के सदस्यो की सख्या का भी प्रभाव पड़ता है, इस प्रकार हम तीन चलराशियो (आय, सदस्यो की सख्या, भोजन पर व्यय) का अध्ययन करके उनके सम्बन्धो के बारे मे प्रतीपगमन-विश्लेषण (regression analysis) की सहायता से निम्न प्रकार के परिणाम निकाल सकते है–

(i) परिवार के सदस्यो की सख्या स्थिर मानकर, आय व भोजन पर व्यय मे कितना सह-सम्बन्ध (correlation) पाया जाता है।

---

1 Richard G Lipsey, An Introduction to Positive Economics, 7th ed., 1989, Ch. 3

(ii) आय को स्थिर मानने पर, परिवार के सदस्यो की सख्या व भोजन पर व्यय मे कितना सह-सम्बन्ध पाया जाता है।

(iii) आय व परिवार के सदस्यो की संख्या दोनो मिलकर भोजन पर किये जाने वाले व्यय के परिवर्तनो को किस सीमा तक समझाते हैं, और अन्य तत्त्वो का भोजन के व्यय पर क्या प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार विभिन्न तत्त्व एक साथ अपना प्रभाव डालते रहते है, लेकिन 'प्रतीपगमन विधि' (regression method) का उपयोग करके उन पर साख्यिकीय नियन्त्रण (statistical control) स्थापित किया जा सकता है। **इस विधि की विस्तृत जानकारी के लिए साख्यिकीय विधि का अध्ययन करना आवश्यक है।** इस प्रकार जो काम भौतिक विज्ञानो मे प्रयोगशालाओ मे नियन्त्रित प्रयोग करने से सम्भव हो पाता है, वह अर्थशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञानो मे साख्यिकी के प्रयोग से सम्भव कर लिया जाता है। हम साख्यिकीय विधि का प्रयोग करके किसी भी चलराशि को स्थिर कर लेते है, और इस प्रकार विभिन्न चलराशियो मे परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने मे सफल हो जाते है। अत. साख्यिकीय विधि ने अर्थशास्त्र को काफी लाभ पहुँचाया है।

(आ) आर्थिक सम्बन्धों का संख्यात्मक माप करना--साख्यिकीय विश्लेषण के द्वारा हम आँकड़े एकत्र करके विभिन्न चलराशियो मे सम्बन्ध स्थापित कर सकते है, जैसे प्रति हैक्टेयर उपज पर खाद, पानी, खेत के आकार व मौसम आदि का अलग-अलग प्रभाव जाना जा सकता है। इसके लिए भी प्रतीपगमन विश्लेषण की सहायता ली जाती है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे रिसर्च करने वालो के लिए साख्यिकीय ज्ञान का महत्त्व काफी बढ़ गया है।

हम आगे चलकर साख्यिकीय विधियो का प्रारम्भिक विवेचन प्रस्तुत करेगे।

आर्थिक नियमों की प्रकृति (Nature of Economic Laws)

अन्य विज्ञानो की भाँति अर्थशास्त्र के भी अपने नियम या सिद्धान्त होते है। इनमे कारण-परिणाम सम्बन्ध स्थापित किये जाते है। अन्य विज्ञानो मे (भौतिक विज्ञानो सहित) भी अध्ययन की विभिन्न विधियो का उपयोग करके नियम बनाये जाते है। अत. जहाँ तक नियमो को बनाने की विधि का प्रश्न है, अर्थशास्त्र भी वैज्ञानिक विधियो का ही प्रयोग करता है। यह बात अलग है कि अपनी विषय-सामग्री की भिन्नता के कारण अर्थशास्त्र के नियम उतने सुनिश्चित नही होते जितने कि प्राकृतिक विज्ञानो के नियम होते है। अर्थशास्त्र मानव के व्यवहार का अध्ययन करता है जिस पर अनेक तत्त्वो का प्रभाव एक साथ पड़ता रहता है और उस पर नियत्रित प्रयोग भी नही हो पाते है। प्राकृतिक विज्ञानो मे प्रयोगशालाओ मे नियन्त्रित प्रयोग सुगम होते है। इसलिए प्राकृतिक विज्ञानो को विशेष किस्म की सुविधा मिलने में उनके नियम यदि अधिक सुनिश्चित हो तो उसमे आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

आर्थिक नियमो के पीछे 'अन्य बाते समान रहने' की शर्त लगी रहती है जैसा कि पहले बतलाया गया है, माँग का नियम बतलाता है कि अन्य बातो के यथास्थिर रहने पर (जैसे उपभोक्ता की रुचि-अरुचि, जनसख्या, आमदनी, अन्य सम्बद्ध वस्तुओ के मूल्य, आदि), एक वस्तु की कीमत के घटने पर उसकी माँग की मात्रा बढ़ेगी एव उसकी कीमत के बढ़ने पर उसकी माग की मात्रा घटेगी। इस प्रकार माँग का नियम केवल एक वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव उसकी माँग की मात्रा पर बतलाता है। इस सम्बन्ध मे (i) माँग पर प्रभाव डालने वाले अन्य तत्त्वों की क्रियाशीलता बन्द कर दी जाती है, (ii) यह वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव माँग के परिवर्तन की 'दिशा' (direction) पर ही बतलाता है। इस प्रकार आर्थिक नियमो के पीछे कई प्रकार की मान्यताएँ होती है। फिर भी अर्थशास्त्री वैज्ञानिक विधियो का प्रयोग करके आर्थिक नियमो के निर्माण मे निरन्तर सलग्न रहते है। यदि कही कोई कमी है तो उनकी विषय-वस्तु मे है, अध्ययन करने की विधियो मे नही है। आजकल अर्थशास्त्र मे गणित व साख्यिकी के बढ़ते हुए प्रयोग ने इस विषय को अधिक सुनिश्चितता प्रदान की है। किसी भी कार्य के परिणामो को मापने की दिशा मे पहले से अधिक प्रगति हुई है और आर्थिक नियम अधिक वैज्ञानिक होने का दावा कर सकते है।

आर्थिक नियमो के सम्बन्ध मे प्रोफसर मार्शल के विचार

मार्शल ने आर्थिक नियमो को आर्थिक प्रवृत्तियो का सूचक मात्र माना है। उसके शब्दो मे, 'इस प्रकार सामाजिक विज्ञान का नियम अथवा एक सामाजिक नियम सामाजिक प्रवृत्तियो का कथन होता है, अर्थात् यह इस बात का सूचक होता है कि कुछ दशाओ मे समाज मे एक समूह के सदस्यो से एक विशेष प्रकार के कार्य की आशा की जा सकती है।

आर्थिक नियम, अथवा आर्थिक प्रवृत्तियो के कथन वे सामाजिक नियम होते है जिनका व्यवहार की उन शाखाओ से सम्बन्ध होता है जिनमे मुख्य प्रयोजनो की शक्ति का माप मौद्रिक कीमत मे किया जा सकता है।'[1] मार्शल ने आगे चलकर कहा है कि 'दी हुई दशाओ मे एक औद्योगिक समूह के सदस्यो के द्वारा जिस प्रकार के कार्य की आशा की जा सकती है, वह उस समूह के सदस्यो का उन परिस्थितियो मे सामान्य कार्य माना जाता है।

आर्थिक नियम कल्पनामूलक (Hypothetical)—मार्शल के अनुसार, 'अर्थशास्त्र के नियम कल्पनामूलक उसी अर्थ मे होते हैं जिसमे कि भौतिक विज्ञानो के नियम होते है, क्योकि उन नियमो मे भी कुछ शर्तें दी हुई होती है। लेकिन भौतिकशास्त्र की अपेक्षा अर्थशास्त्र मे उन शर्तों को स्पष्ट करना अधिक कठिन होता है और स्पष्ट न करने से हानि का खतरा भी अधिक होता है। मानवीय क्रिया के नियम उतने सरल, उतने सुनिश्चित अथवा उतने स्पष्ट

1 Marshall, Principles of Economics, 1920, p 27.

नही होते जितना कि गुरुत्वाकर्षण का नियम होता है, लेकिन इनमे से कई नियम उन प्राकृतिक विज्ञानो के नियमो के साथ रखे जा सकते है, जिनकी विषय-सामग्री पेचीदा होती है।'

उपर्युक्त कथन मे मार्शल ने आर्थिक नियमो के सम्बन्ध मे निम्न बातो पर ध्यान आकर्षित किया है —

(1) आर्थिक नियमो की शर्तों को स्पष्ट करना अधिक कठिन होता है।

(2) स्पष्ट न करने से खतरा भी अधिक होता है, क्योकि नियम का दुरुपयोग हो सकता है। नासमझ व्यक्ति नियम का गलत अर्थ भी निकाल बैठते है।

(3) आर्थिक नियम उतने सरल व सुनिश्चित नही होते जितना गुरुत्वाकर्षण का नियम होता है।

(4) अर्थशास्त्र मे कुछ नियम प्राकृतिक नियमो की भाँति ही सुनिश्चित हो सकते है।

आर्थिक नियमो के सम्बन्ध मे मार्शल ने एक अन्य स्थान पर अपने विचार ज्यादा प्रभावपूर्ण व स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किये है। ये इस प्रकार है **'अर्थशास्त्र के नियमों की तुलना गुरुत्वाकर्षण के सरल व सुनिश्चित नियम से करने के बजाय ज्वार-भाटे के नियमों से की जा सकती है**। इसका कारण यह है कि मानव के कार्यकलाप इतने विविध व अनिश्चित होते है कि मानवीय आचरण के विज्ञान मे हम प्रवृत्तियो के बारे मे जो सर्वश्रेष्ठ कथन प्रस्तुत कर सकते है वे अनिवार्यत कम निश्चित व दोषपूर्ण होते है।'

उपर्युक्त कथन मे मार्शल ने अर्थशास्त्र के नियमो को ज्वार-भाटे के नियमो के समकक्ष रखा है जो इतने निश्चित नही होते जितना कि गुरुत्वाकर्षण का नियम होता है। समुद्र मे ज्वार की तीव्रता कई कारणो से घट-बढ़ सकती है। हो सकता है कि ज्वार थोड़ा समय के पूर्व या समय के पश्चात् आ जाये,और कुछ जल्दी या देर से चला जाये। इसी तरह की थोड़ी अनिश्चितता अर्थशास्त्र के नियमो मे भी पायी जा सकती है। लेकिन गुरुत्वाकर्षण का नियम अधिक निश्चित व ठोस होता है। किसी भी भारी वस्तु को ऊपर की ओर फेके जाने पर वह नीचे ही गिरेगी। अर्थशास्त्र के नियम इतने सुनिश्चित नही होते है। आखिर इसकी विषय-सामग्री मानवीय व्यवहार होता है जो काफी अस्थिर, चचल व परिवर्तनशील होता है। मनुष्य एक सवेदनशील व भावुक प्राणी होता है। इसलिए उसके व्यवहार को पूर्णतया नियन्त्रित नही किया जा सकता। फिर भी मार्शल का मत है कि जिस प्रकार रसायनशास्त्री की सही व सुन्दर तुला (fine balance) ने रसायनशास्त्र को अधिकाश भौतिक विज्ञानो मे अधिक सुनिश्चित बनाया है, उसी प्रकार अर्थशास्त्री की तुला (मुद्रा) ने अर्थशास्त्र को सामाजिक विज्ञान की किसी भी अन्य शाखा की तुलना मे अधिक सुनिश्चित बनाया है, चाहे यह तुला स्वय कितनी भी अपूर्ण व अपर्याप्त किस्म की क्यो न हो।

आर्थिक नियमों के सम्बन्ध में रोबिन्स के विचार[1]

(1) मूल्य–सिद्धान्त का आधार सही–रोबिन्स ने मूल्य के सामान्य सिद्धान्त के आधार को सही बतलाया है। मूल्य-सिद्धान्त इस मान्यता पर टिका हुआ है कि एक व्यक्ति के लिए विभिन्न वस्तुएँ एक-सा महत्त्व नही रखती है और वे इसी वजह से एक निश्चित क्रम मे जँचाई जा सकती हैं। इस साधारण अनुभव के आधार पर ही हम विभिन्न वस्तुओ की स्थानापन्नता का विचार, एक वस्तु की माँग अन्य वस्तुओ के माध्यम से, विभिन्न उपयोगो मे वस्तुओं का सतुलित वितरण, विनिमय सन्तुलन व मूल्यो का निर्माण आदि के विचार भी निकाल सकते है।

मूल्य-सिद्धान्त के पीछे ह्रासमान प्रतिफल का नियम (Law of Diminishing Returns) पाया जाता है।

यह नियम भी इस तथ्य पर टिका हुआ है कि उत्पादन के विभिन्न साधन एक-दूसरे के अपूर्ण स्थानापन्न (imperfect substitutes) होते है। श्रम का काम पूँजी व पूँजी का काम भूमि पूर्णतया नही कर सकते। यदि ये ऐसा कर सकते तो उत्पादन के क्षेत्र मे ह्रासमान प्रतिफल का नियम लागू नही होता। विभिन्न उत्पादन के साधन एक-दूसरे के अपूर्ण प्रतिस्थापन होते है। यदि भूमि का काम अन्य साधन कर लेते तो दुनिया मे सारा अनाज एक एकड़ भूमि पर ही पैदा कर लिया जाता।

इस प्रकार रोबिन्स के अनुसार, आर्थिक सिद्धान्त ऐसी मान्यताओ व परिकल्पनाओ पर आधारित है जो अनुभव पर आधारित है।

(2) आर्थिक नियम परिस्थिति से जुड़े नहीं होते–इसके अतिरिक्त रोबिन्स ने आर्थिक नियमो को परिस्थितियो पर आश्रित नही माना है। उनका मत है कि अर्थशास्त्र की प्रमुख मान्यताये इतिहास पर आधारित नही होती है, अर्थात् वे परिस्थिति-विशेष पर आश्रित नही होती है। अत. अर्थशास्त्र के नियम विभिन्न समयो, स्थानो व परिस्थितियो मे लागू होते है। अर्थशास्त्र के नियम जिन प्रमुख मान्यताओ पर आधारित है वे काफी सच्ची होती है, लेकिन साथ मे आवश्यकतानुसार कुछ सहायक मान्यताओ को भी लिया जा सकता है। इस प्रकार रोबिन्स ने उन मान्यताओ को सबल, सुदृढ़ व अनुभवाश्रित बतलाया है जिन पर आर्थिक नियम टिके हुए है।

अर्थशास्त्र के नियमो की प्रकृति या विशेषताएँ

आर्थिक नियमो के सम्बन्ध मे मार्शल व रोबिन्स के विचार प्रस्तुत करने के बाद अब हम इनकी प्रकृति या विशेषताओ का उल्लेख करते है –

(1) अर्थशास्त्र के नियम काल्पनिक होते हैं (Economic laws are hypothetical)–इसका अर्थ यह है कि अर्थशास्त्र के नियम कई प्रकार की

---

1 L. Robbins, An Essay on the Nature and Significence of Economic Science, Chapters IV and V.

मान्यताओ पर आधारित होते है। इनमे कई शर्तों को लेकर चला जाता है। जैसे उत्पत्ति ह्रास नियम मे हम 'टेक्नोलोजी' को स्थिर मान लेते है, अर्थात् उत्पादन की विधि मे परिवर्तन नही करते। यदि हल-बैल की सहायता से परम्परागत किस्म की खेती की जाती है तो वही प्रणाली जारी रखी जाती है। उसके स्थान पर ट्रैक्टर की खेती लागू नही की जाती, अन्यथा वह टेक्नोलोजी का परिवर्तन माना जायगा। फिर एक उत्पादन का साधन (जैसे भूमि) स्थिर रखकर अन्य साधनो की इकाइयाँ क्रमशः बढ़ायी जाती है जिससे एक सीमा के बाद, उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो जाता है।

'अन्य बातो को स्थिर मानकर' आर्थिक नियम बनाने से वे अवैज्ञानिक या निरर्थक नही हो जाते। सच पूछा जाय तो भौतिक विज्ञानो के नियम भी कुछ मान्यताओ पर टिके होते है, जैसे रसायनशास्त्र के इस नियम को लीजिये जिसके अनुसार दो भाग हाइड्रोजन व एक भाग आक्सीजन मिलाने से जल बन जाता है। यह नियम भी तापक्रम व दबाव की कुछ दशाओ को मानकर चलता है। इसी प्रकार गुरुत्वाकर्षण का नियम (Law of gravitation) यह बतलाता है कि कोई भी वस्तु ऊपर की ओर फेंके जाने पर नीचे आकर गिरती है, क्योकि पृथ्वी मे अपनी ओर खींचने की शक्ति होती है। लेकिन यहाँ भी मान लिया गया है कि कोई विपरीत शक्ति वस्तु के पृथ्वी पर गिरने मे बाधा न डाले, अन्यथा यह नियम भी लागू नही होगा। हवाई जहाज, पक्षी, गुब्बारा आदि आसमान मे उड़ते रहते है और जमीन पर नही गिरते, क्योकि कुछ विपरीत शक्तियाँ काम करती रहती है जो इन्हे भूमि पर नही गिरने देती।

अतः मान्यताओ पर आधारित होना आर्थिक नियमो की कमजोरी नही है, यह तो वैज्ञानिक विधि का एक अग है।

(2) आर्थिक नियम सापेक्ष प्रकृति के होते हैं (Economic laws are relative in nature)—हम ऊपर बतला चुके है कि रोबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र के कुछ नियम सभी देशो, सभी समयो व सभी परिस्थितियो मे लागू होते है, जैसे माँग का नियम, उपयोगिता ह्रास नियम, उत्पत्ति ह्रास नियम, आदि। लेकिन कुछ नियम विशेष प्रकार की सामाजिक व सस्थागत दशाओ मे ही लागू होते हैं। कुछ नियम पूँजीवादी देशो मे लागू होते है तो कुछ साम्यवादी देशो मे। कुछ विकसित देशो मे लागू होते है तो कुछ विकासशील देशो मे। उदाहरण के लिए, केन्स ने बतलाया था कि विकसित देशो मे (पूँजीवादी या निजी उद्यम की अर्थव्यवस्था पर आधारित) बेरोजगारी की स्थिति 'माँग की कमी' से उत्पन्न होती है, लेकिन भारत जैसे विकासशील देशो मे यह प्रमुखतया 'पूँजी की कमी' से उत्पन्न होती है, क्योकि श्रमिको को काम देने के लिए पर्याप्त मात्रा मे मशीने व कारखाने नही पाये जाते है।

इसी प्रकार पिछड़े देशो मे श्रम का माँग-वक्र पीछे की ओर मुड़ने वाला (backward bending) होता है, अर्थात् एक सीमा के बाद, वास्तविक

मजदूरी के बढ़ने पर श्रम की पूर्ति घट जाती है, क्योकि कम आवश्यकताओ के कारण लोग विश्राम पसन्द करने लगते है। लेकिन विकसित देशो मे प्रायः श्रम का पूर्ति-वक्र ऊपर की ओर उठता हुआ (sloping upward) होता है। इस प्रकार विकसित देशो के सारे आर्थिक नियम विकासशील देशो पर लागू नही होते। इसीलिए आजकल यह कहना एक प्रकार का फैशन हो गया है कि अमुक सिद्धान्त तो पाश्चात्य देशो की विशेष परिस्थितियो मे बना था, अत. यह पिछड़े देशो मे लागू नही होता। इसमे कोई सन्देह नही कि एक सिद्धान्त का लागू होना उस देश की सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों पर भी निर्भर करता है।

(3) **आर्थिक नियम कम निश्चित होते हैं** (Economic laws are less exact) आर्थिक नियम भौतिक विज्ञानो के नियमो से कम निश्चित, लेकिन अन्य सामाजिक विज्ञानो के नियमो से अधिक निश्चित माने गये है। इसका कारण यह है कि अर्थशास्त्र का मानवीय व्यवहार से सम्बन्ध होता है जो काफी चचल, अनिश्चित व जटिल किस्म का होता है। उस पर नियन्त्रित किस्म के प्रयोग नही हो सकते। लेकिन अर्थशास्त्र के पास मुद्रा का माप-दण्ड होने से आर्थिक नियम अन्य सामाजिक विज्ञानो के नियमो से अधिक निश्चित हो सके है।

मार्शल का यह कथन काफी सारगर्भित प्रतीत होता है कि आर्थिक नियमो की तुलना गुरुत्वाकर्षण के नियम से न की जाकर ज्वार-भाटे के नियमो से की जानी चाहिए। इसका कारण यह है कि ज्वार-भाटे की गति व आने-जाने पर हवा, मौसम, वर्षा, तूफान आदि का प्रभाव पड़ने से इनमे कम निश्चितता पायी जाती है। अर्थशास्त्र के नियम भी बहुत-कुछ ज्वार-भाटे के नियमो की भाँति ही होते है। लेकिन इसके लिए बहुत-कुछ यह विषय ही जिम्मेदार है। आजकल गणित व साख्यिकी के बढ़ते हुए प्रयोग से अर्थशास्त्र का स्तर भी काफी ऊँचा हो गया है। आशा है भविष्य मे आर्थिक नियम अधिक सम्मानजनक स्थिति मे पहुँच जायेगे।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है डॉ. के एन राज के अनुसार अर्थशास्त्रियो मे नीति-सम्बन्धी मतभेद ज्यादातर उनकी मान्यताओ के अन्तर से पैदा होते है। इसलिए उन्हे अपनी मान्यताओ को स्पष्ट करना चाहिए तथा यह बतलाना चाहिए कि उनकी मान्यताये अन्य लोगो की मान्यताओ से अधिक श्रेष्ठ कैसे है ?

प्रश्न

1. निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :—
   (i) स्टॉक व प्रवाह चल राशियाँ, (Raj Iyr 1993)
   (ii) उपभोक्ता व उत्पादक के व्यवहार के सम्बन्ध मे विवेकशीलता की मान्यता (assumption of rationality),

(iii) एक विवेकशील उपभोक्ता व एक विवेकशील उत्पादक,
(iv) 'अन्य बाते समान' की मान्यता (Raj Iyr 1992)
(v) आर्थिक नियमो की विशेषताए ।

2 आर्थिक सिद्धान्त के निर्माण के विभिन्न चरण एक चार्ट की सहायता से सरल उदाहरण देकर समझाइए ।

3 आर्थिक सिद्धान्तो मे किस प्रकार की 'मान्यताए' पायी जाती है ? क्या मान्यताए सदैव अवास्तविक (unrealistic) होती हैं ।

4 'अर्थशास्त्र के नियमो की तुलना ज्वार-भाटे के नियमो के साथ की जा सकती है, न कि सरल और निश्चित गुरुत्वाकर्षण के नियम के साथ ।' (मार्शल) इस कथन को भली प्रकार समझाइये ।

5 अर्थशास्त्र के नियमो की विशेषताए समझाइये ।

6 आर्थिक सिद्धान्त के निर्माण मे चलराशियो, मान्यताओं, परिकल्पनाओ व सिद्धान्त से प्राप्त निष्कर्षों की भूमिका का विवेचन करके यह बतलाइए कि अर्थशास्त्र के नियमो मे कौन-सी कमियाँ हैं और उन्हे कैसे दूर किया जा सकता है ?

7 निम्नाकित पर लगभग 100 शब्दों में सक्षिप्त टिप्पणिया लिखिये -
(i) अर्थशास्त्र में 'सेटेरस पेरीबस (अन्य बातें समान रहना) की अवधारणा से आप क्या समझते हैं ? (Ajmer Iyr 1993)

8 'विवेकपूर्ण व्यवहार' से क्या आशय है ? उपभोक्ता एव उत्पादक के सन्दर्भ में व्याख्या कीजिए (Ajmer Iyr 1994)

4

आर्थिक विश्लेषण के रूप

(Forms of Economic Analysis)

इस अध्याय मे हम व्यष्टि व समष्टि अर्थशास्त्र,* स्थैतिक व प्रावैगिक विश्लेषण एव आशिक व सामान्य सतुलन का विवेचन प्रस्तुत करेगे।

व्यष्टि–अर्थशास्त्र का अर्थ

आर्थिक विश्लेषण की दो प्रमुख शाखाये हैं–एक तो व्यष्टि-अर्थशास्त्र और दूसरी समष्टि-अर्थशास्त्र। सर्वप्रथम रेगनर फ्रिश (Ragnar Frisch) ने 1933 मे व्यष्टि-अर्थशास्त्र व समष्टि-अर्थशास्त्र शब्दो का प्रयोग किया था। व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे एक व्यक्तिगत आर्थिक इकाई, जैसे परिवार, उपभोक्ता, फर्म, उद्योग आदि के आर्थिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। व्यष्टि-अर्थशास्त्र को प्राय कीमत-सिद्धान्त भी कहकर पुकारते है। 'micro' शब्द ग्रीक-शब्द 'mikros' से बना है, जिसका अर्थ है छोटा। इसमे इन प्रश्नो का अध्ययन किया जाता है, जैसे एक उपभोक्ता वस्तुओ की दी हुई कीमतो एव दी हुई आमदनी से किस प्रकार अधिकतम सन्तोष प्राप्त करता है ? एक फर्म वस्तु की दी हुई कीमत पर कितना उत्पादन करेगी, एक उद्योग मे वस्तु की कीमत कैसे निर्धारित होगी, वस्तु की सापेक्ष कीमते (relative prices) कैसे निर्धारित होगी, उत्पादन के साधनो का प्रतिफल (आय का वितरण) कैसे निर्धारित होगा, विभिन्न उपयोगो मे उत्पादन के साधनो का आवटन कैसे होगा ? इस प्रकार व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे कुल उत्पादन की बनावट और आवटन को स्पष्ट किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, इसमे यह बतलाया जाता है कि कुल उत्पत्ति का विभिन्न उद्योगो, फर्मों व वस्तुओ मे कैसे विभाजन होता है, और साधनो का आवटन विभिन्न उपयोगो मे किस प्रकार होता है।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे भी कुछ सीमा तक समष्टि या समग्र का विचार आता है, जैसे बाजार माँग-वक्र व्यक्तिगत माँग-वक्रो का योग ही होता है। एक उद्योग भी उसमे पायी जाने

---

*व्यष्टि अर्थशास्त्र के लिए व्यष्टिगत अर्थशास्त्र, सूक्ष्म अर्थशास्त्र या इकाई अर्थशास्त्र और समष्टि अर्थशास्त्र के लिए समष्टिगत अर्थशास्त्र, व्यापक अर्थशास्त्र या समग्र अर्थशास्त्र शब्द भी प्रयुक्त किये जाते हैं।

वाली विभिन्न फर्मों का समूह होता है। इस प्रकार व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे जिस लघु इकाई की चर्चा की जाती है वह भी कुछ इकाइयो का योग या समूह हो सकती है। लेकिन ध्यान रहे कि वह समूह अपने दायरे मे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को शामिल नही करता, अन्यथा वह समष्टि-अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे प्रवेश कर जाता।

व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे दिये हुए साधनो का विभिन्न वस्तुओ के उत्पादन मे आवंटन दर्शाया जाता है। इसमे विभिन्न वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण व उत्पादन के विभिन्न साधनो के मूल्य-निर्धारण की चर्चा की जाती है। व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे निम्न विषय शामिल होते है :–
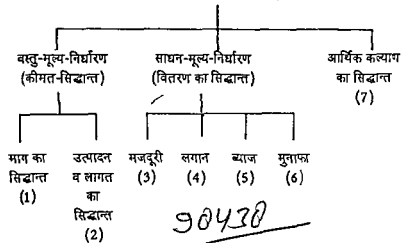
स्मरण रहे कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे प्रमुखतया व्यक्तिगत इकाइयो—उपभोक्ता, फर्म, उत्पादन के साधन, आदि का अध्ययन किया जाता है। हम आगे चलकर स्पष्ट करेगे कि इसमे आशिक सतुलन व सामान्य सतुलन दोनो का विवेचन किया जाता है। इसमे सापेक्ष कीमतो का अध्ययन किया जाता है, न कि सामान्य कीमत-स्तर का। इसमे राष्ट्रीय आय का वितरण मजदूरी, लगान, ब्याज व लाभ के निर्धारण के रूप मे देखा जाता है, एव आर्थिक कल्याण का भी अध्ययन किया जाता है।

समष्टि—अर्थशास्त्र का अर्थ

समष्टि-अर्थशास्त्र मे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित कुल राशियो जैसे राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय बचत, राष्ट्रीय विनियोग, कुल रोजगार, कुल उत्पत्ति, मुद्रास्फीति, आर्थिक विकास, आर्थिक विकास मे उतार-चढ़ाव आदि का अध्ययन किया जाता है। इसमे बैको, वित्तीय सस्थाओ तथा सरकारी सस्थाओ के आर्थिक कार्य-कलापो का अध्ययन भी शामिल होता है।

गार्डनर ऐक्ले के शब्दो मे 'समष्टि-अर्थशास्त्र आर्थिक विषयो पर 'व्यापक रूप' से विचार करता है। इसका सम्बन्ध आर्थिक जीवन के सम्पूर्ण विस्तार या सम्पूर्ण आयाम (overall dimension) से होता है। यह व्यक्तिगत अगो के कार्य-सचालन या पहचान या विस्तार की अपेक्षा आर्थिक अनुभव के विशाल रूप या **'हाथी' के कुल आकार व शक्ल और संचालन** का **अध्ययन करता है**। रूपक को बदलने पर, हम कह सकते है कि यह वन की प्रकृति का अध्ययन करता है, न कि उन पेड़ो का जो इसका निर्माण करते हैं।'1 इसे समग्र अर्थशास्त्र (aggregative economics) भी कहते है।

लॉर्ड जे.एम केन्स ने समष्टि-अर्थशास्त्र के विकास मे काफी योगदान दिया था। माइकल केलेस्की व निकोलस केल्डॉर ने वितरण का समष्टिगत सिद्धान्त विकसित किया है। केलेस्की ने राष्ट्रीय आय मे मजदूरी व लाभ के सापेक्ष अशो पर अर्थव्यवस्था मे एकाधिकार का प्रभाव बतलाया है, जबकि केल्डॉर ने इन पर उपभोग की प्रवृत्ति व विनियोग की दर का प्रभाव बतलाया है।

समष्टि-अर्थशास्त्र मे शामिल होने वाले विषयो का अनुमान निम्न चार्ट से लगाया जा सकता है –

समष्टि–अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

आय व रोजगार का सिद्धान्त (1)	सामान्य-कीमत स्तर का सिद्धान्त (2)	आर्थिक विकास का सिद्धान्त (3)	वितरण का समष्टि-गत सिद्धान्त (मजदूरी व लाभ के सापेक्ष अश) (4)
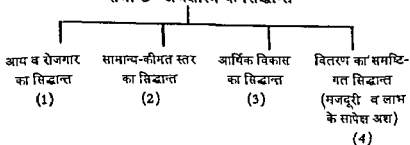
मुद्रा, राजस्व व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे भी समष्टि-अर्थशास्त्र का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार नियोजन, आर्थिक विकास, आर्थिक अस्थिरता या उतार-चढ़ाव आदि क्षेत्र समष्टि-अर्थशास्त्र से सम्बन्धित माने गये है, क्योकि इनका देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्ध होता है।

---

1 "Macroeconomics deals with economic affairs 'in the large', It concerns the overall dimensions of economic life It looks at the total size and shape and functioning of the 'elephant' of economic experience, rather than the working or articulation of dimensions of the individual parts To alter the metaphor, it studies the character of the forest, independently of the trees which compose it,"-Gardner Ackley, Macroeconomic Theory, 1961, p 4

इस प्रकार हम देखते है कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र व समष्टि-अर्थशास्त्र दोनो आर्थिक विश्लेषण के दो मार्ग है। एक मे वैयक्तिक इकाइयो का आर्थिक व्यवहार लिया जाता है तो दूसरे मे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का। एक का सम्बन्ध 'लघु' से है तो दूसरे का 'विशाल' से। इन दोनो का अन्तर प्रमुखतया रीति के प्रश्न को लेकर होता है। समष्टि-अर्थशास्त्र मे आर्थिक मात्राओ मे बड़े समूह और औसत परिणाम शामिल होते है। व्यष्टि-अर्थशास्त्र व समष्टि-अर्थशास्त्र के भेद को अधिक स्पष्ट करते हुए हम कह सकते है कि **पहले में व्यक्तिगत आय का अध्ययन होता है तो दूसरे में राष्ट्रीय आय का, पहले में उपभोक्ता के व्यवहार का अध्ययन होता है तो दूसरे में राष्ट्रीय उपभोग का, एक में एक वस्तु की कीमत के निर्धारण का अध्ययन होता है तो दूसरे में सामान्य कीमत-स्तर का, एक में एक वस्तु की उत्पत्ति का अध्ययन होता है तो दूसरे में अर्थव्यवस्था की कुल उत्पत्ति का अध्ययन होता है।** अब हम इनमे से प्रत्येक के उपयोगों व सीमाओ पर प्रकाश डालेगे।

व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे वस्तुओ व साधनो की कीमत-निर्धारण का अध्ययन किया जाता है और इसमे आर्थिक कल्याण की भी चर्चा आती है। समष्टि-अर्थशास्त्र मे राष्ट्रीय आय, रोजगार, सामान्य-कीमत- स्तर, आर्थिक विकास व वितरण का समष्टि-सिद्धान्त (राष्ट्रीय आय मे मजदूरी व मुनाफो के सापेक्ष अश) आदि आते है। इस प्रकार जब हम मजदूरी, लाभ, ब्याज व लगान का निर्धारण करते है तो वह व्यष्टि-अर्थशास्त्र का विषय बनता है, लेकिन राष्ट्रीय आय मे इनका सापेक्ष अश जानने के लिए हमे समष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे प्रवेश करना पड़ता है। **इस प्रकार वितरण का क्षेत्र व्यष्टि व समष्टि दोनों से सम्बन्ध रखता है। यही कारण है कि ब्याज के सिद्धान्त की चर्चा व्यष्टि-अर्थशास्त्र व समष्टि-अर्थशास्त्र दोनों मे आती है।**

व्यष्टि—अर्थशास्त्र व समष्टि—अर्थशास्त्र में मूलभूत अन्तर क्या है ?

अधिकाश अर्थशास्त्रियो का मत है कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र के अध्ययन की इकाइयाँ 'छोटी' होती है जैसे उपभोक्ता, परिवार, फर्म, उद्योग, आदि तथा समष्टि-अर्थशास्त्र के अध्ययन की इकाइयाँ 'बड़ी' होती है, जैसे राष्ट्रीय उत्पत्ति, राष्ट्रीय बचत, राष्ट्रीय विनियोग आदि। **प्रोफेसर जी. तिमैया का कहना है कि प्रायः पाठ्य—पुस्तकों में इन दोनों के बीच पाये जाने वाले मूलभूत अंतर को स्पष्ट नहीं किया जाता है।** उनका विचार है कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे किसी भी आर्थिक इकाई का व्यवहार 'कीमत' से निर्धारित होता है। जैसे एक उपभोक्ता व एक उत्पादक के आर्थिक व्यवहार पर 'कीमत' का प्रभाव पड़ता है। उनके उत्पत्ति, उपभोग, बचत व विनियोग के निर्णय 'कीमत' से प्रभावित होते है। कीमत बढ़ने पर उपभोक्ता कम माल खरीदेगे तथा उत्पादक अधिक माल का उत्पादन करेगे। अत. व्यष्टि-अर्थशास्त्र का सम्बन्ध दी हुई आमदनी पर, कीमत-निर्धारण से होता है।

इसी प्रकार समष्टि-अर्थशास्त्र मे मूलभूत निर्धारक तत्त्व उपभोक्ताओ व उत्पादको की आमदनी होती है। आमदनी ही मुद्रा की माँग व श्रम की माँग आदि को प्रभावित करती है। अतः जी. तिमैया के अनुसार 'माइक्रो' का लक्ष्य 'कीमत' तथा 'मेक्रो' का लक्ष्य 'आय' होती है।[1]

इसके अलावा व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे सन्तुलन व समष्टि-अर्थशास्त्र मे असन्तुलन की स्थिति प्रमुख मानी जाती है। इनका स्पष्टीकरण भी संतुलन के अध्ययन के बाद हो सकेगा।

व्यष्टि—अर्थशास्त्र का महत्त्व व उपयोग

हम ऊपर बतला चुके हैं कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे विशिष्ट आर्थिक संगठनो, उनके व्यवहार और सापेक्ष कीमतो का अध्ययन किया जाता है। सापेक्ष कीमतो का अर्थ है विभिन्न वस्तुओ व सेवाओ की कीमतो मे आपसी सम्बन्ध किस प्रकार का है। उदाहरण के लिए, यदि कभी टेरीकॉट कपड़ो की माँग बढ़ रही है और सूती कपड़ो की घट रही है तो टेरीकॉट कपड़ो की सापेक्ष कीमते बढ़ जायेगी। सापेक्ष कीमतो के परिवर्तन व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे आते हैं, लेकिन मुद्रास्फीति के समय सामान्य कीमत-स्तर की वृद्धि समष्टि-अर्थशास्त्र मे आती है, न कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे। यहाँ पर हम व्यष्टि-अर्थशास्त्र के विभिन्न उपयोगो पर प्रकाश डालते हैं —

(1) व्यष्टि—अर्थशास्त्र या कीमत-सिद्धान्त की सहायता से निष्कर्ष निकालना (predictions)—कीमत-सिद्धान्त का उपयोग करके हम महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँच सकते है। हम पहले बतला चुके है कि 'prediction' का अर्थ इस प्रकार होता है : यदि अमुक कार्य होगा, तो उसके अमुक प्रकार के परिणाम निकलेगे। हम आगे चलकर देखेगे कि कीमत-सिद्धान्त मे माँग व पूर्ति के मॉडल का उपयोग होता है। यह मॉडल हमे बतलाता है कि कीमत, माँग व पूर्ति की शक्तियो से निर्धारित होती है और सन्तुलन-कीमत पर कुल माँग की मात्रा कुल पूर्ति की मात्रा के बराबर होती है। यदि कीमत इससे ऊपर हो जाती है तो बाजार मे माँग की मात्रा पूर्ति की मात्रा से कम हो जाती है। इस प्रकार बाजार मे माल बचा रहेगा। अन्य मान्यताओ के आधार पर निष्कर्ष बदल जाते हैं।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे उपभोक्ता, परिवार, फर्म व उद्योग के बारे मे अध्ययन किया जाता है। मान लीजिए, हमे चीनी उद्योग का अध्ययन करना है। इसमे चीनी की कई मिले या फर्में ली जायेगी। सब उत्पादन की इकाइयाँ (यहाँ पर मिले) चीनी का उत्पादन

1. G. Thimmaiah, What is Macro-economics ? A critique of Text book version, an article in the Indian Economic Journal, July-September, 1982, pp 87-107.

करती है । हम इस अध्ययन मे विभिन्न मिलो की लागत की दशाओ को शामिल करेगे । उनमे प्रतिस्पर्द्धा के अश का अध्ययन किया जायगा । इस बात का उल्लेख किया जायगा कि वस्तु समरूप (एक-सी) है या भिन्न है । चीनी के उपभोक्ताओ की माँग का भी अध्ययन किया जायगा । इस प्रकार चीनी की कुल माँग व पूर्ति से इसके मूल्य का निर्धारण होगा । कीमत मे सरकार के हस्तक्षेप का भी अध्ययन किया जा सकता है । साथ मे चीनी की एक मिल के व्यवहार का भी अध्ययन होगा, जैसे वह चीनी की दी हुई कीमत पर कितनी मात्रा मे चीनी का उत्पादन करेगी । इसी प्रकार उपभोग-पक्ष की ओर एक उपभोक्ता के लिए चीनी के माँग-वक्र का एव सम्पूर्ण बाजार मे चीनी के माग-वक्र का भी अध्ययन किया जायेगा । इस उदाहरण से व्यष्टि-अर्थशास्त्र के कार्य की प्रकृति स्पष्ट हो जाती है ।

(2) **कीमत–सिद्धान्त व आर्थिक नीति**—हम कीमत-सिद्धान्त का उपयोग सरकार के कार्यो का विश्लेषण करने मे भी कर सकते है । आधुनिक युग मे सरकार का आर्थिक जीवन मे हस्तक्षेप काफी बढ गया है और निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है । वह वस्तुओ की कीमते एव उत्पादन के साधनो की कीमते जैसे लगान, ब्याज व मजदूरी आदि का निर्धारण व नियमन कर सकती है और विशेष परिस्थितियो मे करती भी है । भारत मे चीनी पर आशिक नियत्रण की नीति चलती है जिसमे सरकार मिलो से कुछ चीनी लेवी के रूप मे निश्चित भावो पर खरीद कर जनता मे सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से वितरित करती है और शेष चीनी खुले बाजार मे बेची जा सकती है । हम व्यष्टि-अर्थशास्त्र के द्वारा सरकार की इस नीति का प्रभाव चीनी के उत्पादन, उपभोग व खुले बाजार मे कीमत-निर्धारण पर देख सकते हैं । कीमत-सिद्धान्त हमे इनके सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकालने मे मदद देता है जिनके पीछे कुछ मान्यताएँ होती हैं ।

(3) **व्यष्टि–अर्थशास्त्र व आर्थिक कल्याण**—व्यष्टि-अर्थशास्त्र का उपयोग आर्थिक कल्याण के अध्ययन मे भी किया जाता है । इसकी सहायता से हम यह जान सकते है कि उपभोक्ताओ को वस्तुओ व सेवाओ के उपभोग से कितना सन्तोष प्राप्त हुआ है । यह आदर्शात्मक अर्थशास्त्र का पहलू है और इसमे कल्याण-अर्थशास्त्र का अध्ययन आता है जो यह बतलाता है कि निर्धारित आदर्श कैसे प्राप्त किया जा सकता है । हम आगे चलकर यह देखेगे कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे उपभोक्ता के अधिकतम सन्तोष, उत्पादक के अधिकतम लाभ एव अन्य परिस्थितियो मे अधिकतमकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने के उपायो का अध्ययन किया जाता है ।

(4) **व्यष्टि–अर्थशास्त्र व व्यावसायिक उपक्रमों का प्रबन्ध**—आजकल व्यष्टि-अर्थशास्त्र की सहायता से व्यावसायिक उपक्रमो के प्रबन्धक महत्त्वपूर्ण निर्णय लेते है । माँग-विश्लेषण, लागत-विश्लेषण आदि का उपयोग करके अधिकतम लाभ प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है ।

(5) व्यष्टि–अर्थशास्त्र व वस्तुओं एवं साधनों के प्रवाह–उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे एक ओर व्यवसायो से परिवारो की तरफ वस्तुओ व सेवाओ के प्रवाह का अध्ययन किया जाता है, तो दूसरी ओर परिवारो से व्यवसायो की तरफ उत्पादन के साधनो के प्रवाह का अध्ययन किया जाता है। पहले वस्तु-बाजारो व साधन-बाजारो की परस्पर निर्भरता स्पष्ट की जा चुकी है।

(6) व्यष्टि–अर्थशास्त्र का सार्वजनिक वित्त व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अध्ययन में प्रयोग–व्यष्टि अर्थशास्त्र मे माँग व पूर्ति की लोचो का अध्ययन किया जाता है। सार्वजनिक वित्त के अन्तर्गत किसी वस्तु पर लगे कर का भार जानने के लिए माँग की लोच के विचार का सहारा लिया जाता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभो का अध्ययन करने तथा मुद्रा के अवमूल्यन का प्रभाव जानने के लिए आयातो व निर्यातो के बारे मे माँग व पूर्ति की लोचे देखी जाती है। एक देश की मुद्रा की विदेशी विनिमय दर निर्धारित करने मे भी व्यष्टि-अर्थशास्त्र का उपयोग किया जाता है, क्योकि विनिमय दर मुद्रा की माँग व पूर्ति पर निर्भर करती है। इस प्रकार व्यष्टि-अर्थशास्त्र का सार्वजनिक वित्त व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्रो मे काफी सीमा तक उपयोग किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र अध्ययन का एक ऐसा उपयोगी साधन है जिसकी सहायता से हम मुख्यतया दो काम कर सकते है : (अ) यह निश्चित कर सकते है कि अर्थव्यवस्था मे किन-किन वस्तुओ का उत्पादन होता है, तथा (आ) समाज मे विभिन्न उत्पादन के साधनो के बीच आय का वितरण कैसे होता है, और साधनो का विभिन्न उद्योगो या उपयोगो मे आवटन किस प्रकार से होता है। अत. व्यष्टिमूलक अर्थशास्त्र आर्थिक विश्लेषण की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है। यह शाखा समष्टि-अर्थशास्त्र के सहायक के रूप मे कार्य करती है।

व्यष्टि–अर्थशास्त्र की सीमाएं

व्यष्टि-अर्थशास्त्र का आर्थिक सिद्धान्त मे इतना महत्त्व होते हुए भी इसकी प्रमुखतया दो मर्यादाएँ बतलायी गयी है –

(1) यह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर विचार नहीं करता–यह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की गतिविधि पर प्रकाश नही डालता। इसकी सहायता से हम कुल रोजगार, कुल आमदनी व देश मे सामान्य कीमत स्तर आदि के बारे मे ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। हम आगे चलकर देखेगे कि आजकल ऐसी नीतियो का महत्त्व बढ गया है जो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती है, जैसे सरकार की कर-नीति, व्यय-नीति तथा मौद्रिक नीति। इनका वर्णन व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे नही आता। जब देश मे मुद्रा-स्फीति होती है तो ऐसे सामान्य उपाय अपनाने होते है जो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर सके।

ऐसी स्थिति मे हमे समष्टि-अर्थशास्त्र की शरण मे जाना पड़ता है ।

(2) पूर्ण रोजगार की मान्यता पर आधारित—व्यष्टि-अर्थशास्त्र प्राय पूर्ण रोजगार की दशा को मानकर चलता है जो व्यवहार मे नही पायी जाती । इस मान्यता को स्वीकार करते हुए हम यह जानने का प्रयत्न करते है कि एक उपभोक्ता व एक उत्पादक किस प्रकार सन्तुलन प्राप्त करते है, तथा समाज मे साधन किस प्रकार आवटित किये जाते है । लॉर्ड केन्स ने इस मान्यता पर आपत्ति की है और कहा है कि इस मान्यता को स्वीकार कर लेने से कठिनाइयाँ समाप्त नही हो जाती है ।

उपर्युक्त दो मर्यादाओ के होने पर भी व्यष्टि-अर्थशास्त्र का अपना महत्त्व है और आर्थिक ज्ञान के निर्माण मे इसका अपना एक विशिष्ट व महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है ।[1]

समष्टि—अर्थशास्त्र के उपयोग अथवा इसका महत्त्व

पीगू व मार्शल ने व्यष्टि-अर्थशास्त्र की समस्याओ पर ही अधिक जोर दिया था, लेकिन पिछले लगभग 60 वर्षों मे समष्टि-अर्थशास्त्र काफी लोकप्रिय हो गया है । 1930 से प्रारम्भ होने वाले दशक मे विश्वव्यापी मन्दी के सकट ने समष्टि-अर्थशास्त्र को काफी आगे बढ़ाया है । केन्स की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'General Theory of Employment, Interest and Money' के 1936 मे प्रकाशित हो जाने के बाद तो समष्टि अर्थशास्त्र ने दिन-दुगुनी व रात-चौगुनी प्रगति की है । कई विद्वानो ने उसके विचारो को अनुभव के आधार पर सशोधित किया है और आजकल तो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित आर्थिक चलराशियो जैसे कुल रोजगार, कुल उत्पादन, राष्ट्रीय विनियोग, राष्ट्रीय बचत, सामान्य मूल्य-स्तर, आदि का महत्त्व इतना बढ़ गया है कि इनकी चर्चा एक आम बात हो गयी है । एक देश मे बेरोजगारी, मुद्रास्फीति, निर्धनता व आय के वितरण की असमानता की समस्याएँ समष्टि-अर्थशास्त्र के क्षेत्र से सम्बन्ध रखती है । समष्टि-अर्थशास्त्र के उपयोगो के सम्बन्ध मे निम्न बाते उल्लेखनीय है —

(1) सरकार की आर्थिक नीति के निर्धारण मे महत्त्व—आजकल सभी देशो मे वहाँ की सरकारे आर्थिक नीतियाँ निर्धारित करती है ताकि देशवासियो को रोजगार प्राप्त हो सके, निर्धनता कम हो सके, राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो सके, सामान्य कीमते स्थिर रह सके और देश मे बचत व विनियोग मे वृद्धि हो सके । इसलिए इनसे सम्बन्धित आँकड़े एकत्र किये जाते है और आवश्यक

---

1 कुछ पुस्तको मे व्यष्टि-अर्थशास्त्र के दोषो (defects) की भी चर्चा की जाती है जो हमारी राय मे सही नही है, क्योकि यह तो आर्थिक विश्लेषण की एक विधि है और इसका अपना एक निश्चित कार्यक्षेत्र होता है । विद्यार्थियो को इसके उपयोगो पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए ।

नीतियाँ लागू की जाती हैं। उदाहरण के लिए, भारत मे श्रम-शक्ति तेजी से बढ़ रही है और सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था मे अधिक रोजगार की स्थिति उत्पन्न करने के लिए आवश्यक समष्टिगत निर्णय लिये जाने चाहिए। विकसित राष्ट्रो में प्रभावपूर्ण माँग मे कमी के कारण बेकारी उत्पन्न हो जाती है जिसको दूर करने के लिए आवश्यक मौद्रिक व राजकोषीय नीतियाँ अपनायी जाती हैं।

(2) **आर्थिक नियोजन व समष्टि–अर्थशास्त्र**–आज के युग मे विकासशील व विकसित देश आर्थिक नियोजन के द्वारा अपना आर्थिक विकास करने मे सलग्न हैं। आर्थिक नियोजन मे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। अत यह समष्टि-अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आता है। बचत व विनियोग की दरे निर्धारित की जाती हैं और इनको बढ़ाने के उपाय किये जाते हैं। स्वय आर्थिक विकास की वार्षिक दर को निर्धारित करके उसको प्राप्त करने के उपाय सुझाये जाते है। इस प्रकार आर्थिक नियोजन के द्वारा अनेक समग्र चलराशियो को प्रभावित करने की कोशिश की जाती है।

(3) **व्यष्टि–अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए भी समष्टि–अर्थशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है**–एक उद्योग में मजदूरी का निर्धारण अर्थव्यवस्था मे मजदूरी की सामान्य स्थिति से प्रभावित होता है। एक वस्तु की कीमत भी बहुत कुछ देश में प्रचलित सामान्य कीमत-स्तर से प्रभावित होती है। मुद्रास्फीति की परिस्थितियो मे साधारणतः वस्तुओ के भाव ऊँचे होते हैं और आर्थिक मन्दी के वर्षों में नीचे होते हैं। इस प्रकार स्वय व्यष्टि-अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए भी समष्टि-अर्थशास्त्र का अध्ययन आवश्यक माना गया है।

(4) **समग्र का ज्ञान पृथक् से आवश्यक**–समग्र राशि व्यक्तिगत इकाइयो का जोड़ मात्र नही होती। इसके व्यवहार की अपनी स्वतत्र विशेषताएँ भी होती है जिनसे परिचित होना पड़ता है। एक वन केवल विभिन्न पेड़ो के योग से ही नहीं बनता, बल्कि उसमे कुछ अपनापन भी होता है, जिसे पहचानने की आवश्यकता होती है। एक अर्थव्यवस्था भी विभिन्न स्वतत्र आर्थिक इकाइयो का समूह मात्र नही होती है। पुराने उद्योग नष्ट होते रहते हैं और नये स्थापित होते रहते है और अर्थव्यवस्था निरतर चलती रहती है। अत. सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के ज्ञान का अपना पृथक् महत्त्व भी होता है समग्र मे जो समरूपता होती है उसके अध्ययन से विशेष लाभ प्राप्त होता है जैसे उपभोग-फलन मे देश की आय व उपभोग के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करके सम्पूर्ण उपभोग को प्रभावित करने की नीतियाँ अपनायी जा सकती है।

वैसे भी समग्र राशि की अपनी विशेषता होती है, जैसे समस्त उत्पादन का अनुमान लगाते समय हमे विभिन्न वस्तुओ के उत्पादन का मूल्य मुद्रा मे आँकना पड़ता है और फिर उसका जोड़ लगाना होता है। हम उपभोग की वस्तुओ व पूँजीगत वस्तुओ के मूल्य को जोड़ लेते है। वैयक्तिक कीमतो मे कुछ बढ़ती हैं, कुछ घटती हैं, कुछ यथास्थिर रहती हैं, लेकिन यह ज्ञान भी सार्थक व आवश्यक होता है कि औसत रूप से मूल्यो मे कैसी प्रवृत्ति पायी जाती है।

यह समष्टि-अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आता है। इसे सामान्य रूप से मूल्य-स्तर का अध्ययन कहा जाता है।

इस प्रकार सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को अपने क्षेत्र मे शामिल करने वाली बड़ी इकाइयो के स्वतत्र अध्ययन एव उनके पारस्परिक सम्बन्धो की जानकारी का सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनो दृष्टियो से महत्त्व होता है।

समष्टि—अर्थशास्त्र की सीमाएँ

(1) **समष्टि—अर्थशास्त्र में जोड़कर परिणाम निकालने की प्रक्रिया बड़ी जटिल होती है**—उदाहरण के लिए, विभिन्न वस्तुओ व सेवाओ का मूल्य आँक कर उनकी सहायता से राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना काफी कठिन होता है। सामान्य मूल्य-स्तर का पता लगाने के लिए थोक मूल्य-सूचनाक बनाये जाते है जिनमे भार-निर्धारण, वस्तुओ के चुनाव व कीमत-सग्रह को लेकर अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। कई बिन्दुओ व कई चरणो पर 'औसते' निकाली जाती हैं। सूचनाको का विवेचन आगे चलकर एक स्वतंत्र अध्याय मे किया गया है।

(2) **भ्रमात्मक परिणाम निकाले जाने का भय**—साख्यिकीय विधियो से पूर्णतया परिचित न होने से कभी-कभी कुछ व्यक्ति 'समग्र' को देखकर गलत परिणाम भी निकाल लेते है। मान लीजिए, कृषि-पदार्थों के भाव घट गये हैं और औद्योगिक पदार्थों के भाव बढ़ गये हैं। ऐसी स्थिति मे सामान्य कीमत-स्तर को लगभग स्थिर देखकर इन दोनो आर्थिक क्षेत्रो की विभिन्न व विपरीत दशाओ का ज्ञान नही हो सकेगा। हो सकता है कि एक का प्रभाव दूसरे के प्रभाव को मिटा दे। अत ऐसी स्थिति मे निष्कर्षों का सही अर्थ लगाना होता है जिसके लिए विशेष दक्षता व विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है।

(3) **विशाल इकाइयों को आवश्यकतानुसार परिवर्तित करने में कठिनाइयाँ**—किसी भी अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित बड़ी इकाइयो जैसे राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय उपभोग, राष्ट्रीय बचत व राष्ट्रीय विनियोग, आर्थिक विकास की वार्षिक दर, सामान्य मूल्य-स्तर आदि को लक्ष्यो के अनुसार बदल सकना काफी कठिन होता है। भारत जैसे देश मे तो कई प्रकार के प्राकृतिक व भौतिक तत्त्व भी पाये जाते हैं जो लक्ष्यो के अनुसार प्रगति नही होने देते। फिर भी प्रभावपूर्ण आर्थिक नीतियाँ अपनाकर इन आर्थिक चलराशियो को परिवर्तित करने का प्रयास किया जाता है। इस सम्बन्ध मे समष्टि-अर्थशास्त्र निश्चित रूप से प्रभावपूर्ण नीतियाँ सुझाता है।

समष्टिगत विरोधाभास (Macro-economic Paradoxes)

प्राय ऐसे कई उदाहरण मिलते है जिनमे जो बात 'अश' (part) के लिए सही होती है वह 'कुल' (whole) के लिए सही नहीं निकलती। इन्हे

समष्टिमूलक विरोधाभास के मामले अथवा 'जोड़-सम्बन्धी भ्रम' कहकर पुकारते है। मान लीजिये, एक व्यक्ति बचत करता है तो वह उसके लिए लाभप्रद सिद्ध होगी, लेकिन यदि समस्त राष्ट्र अधिक मात्रा मे बचत करता है और उपभोग घटा देता है, तो इसका अर्थव्यवस्था पर घातक प्रभाव पड़ेगा, क्योकि इससे वस्तुओ की माँग कम हो जायेगी। इसे 'बचत का विरोधाभास' कहकर भी पुकारा जाता है। इस प्रकार जो बात व्यक्ति-विशेष के लिए उचित होती है वह समस्त राष्ट्र के लिए अनुचित हो सकती है। एक व्यक्ति बैंक से अपनी जमा-राशि निकालने के लिए जाय तो कोई बात नहीं, लेकिन यदि सभी जमाकर्ता एक साथ अपनी जमा-राशि को निकालना चाहेगे तो बैंक वित्तीय सकट मे पड़ सकते है, क्योकि वे सबको एक साथ नकद-राशि देने की स्थिति मे नही होते है। इसी प्रकार सभी व्यक्ति एक साथ चलचित्र नही देख सकते एव सभी एक साथ यात्रा नही कर सकते, क्योकि सिनेमा-घरो व रेलो मे सीटे सीमित होती है।

प्रोफेसर सेमुअल्सन के अनुसार कुछ समष्टिगत विरोधाभास इस प्रकार हैं :—

(1) यदि सभी कृषक कठिन परिश्रम करते हैं और प्राकृतिक कारणो से फसल अच्छी होती है तो कृषको की कुल आमदनी घट सकती है, क्योकि कुल उत्पत्ति अधिक होने से पैदावार की कीमत कम हो जायेगी जिससे कृषको की आय पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार अकेले किसान की पैदावार बढ़ने से तो उसकी आमदनी बढ़ेगी, लेकिन सबकी पैदावार बढ़ने से सब कृषको के साथ उसकी आमदनी भी घट सकती है।

(2) एक व्यक्ति तो नौकरी की तलाश मे चतुराई दिखाकर अथवा कम मजदूरी पर काम करना स्वीकार करके अपनी बेरोजगारी की समस्या हल कर लेता है, लेकिन सभी बेरोजगार व्यक्ति अपनी समस्या इस तरह से हल नही कर सकते। मौद्रिक मजदूरी मे कमी होने से अर्थव्यवस्था मे समग्र माँग घट जाती है जिससे बेरोजगारी बढ़ती है। इस प्रकार एक उद्योग मे मजदूरी कम होने से उसमे मजदूरो की माँग बढ़ सकती है, लेकिन सभी उद्योगो के लिये यह बात सही नहीं निकलती।

(3) एक उद्योग मे ऊँची कीमतो से उसकी फर्में लाभान्वित होती है, लेकिन प्रत्येक वस्तु की कीमत के समान अनुपात मे बढ़ जाने से किसी को लाभ नही होता।

(4) अमरीका को आयात किये गये माल पर शुल्क घटाने से लाभ होगा, चाहे अन्य देश अपने आयात-शुल्क कम न करें।

(5) एक फर्म को औसत लागत से कम कीमत पर भी कुछ व्यवसाय करने मे लाभ हो सकता है क्योकि उसका बाजार से सम्पर्क बना रहता है।

(6) मन्दी की अवधि में व्यक्तियों की तरफ से अधिक बचत करने के

प्रयास से समाज की कुल बचत कम हो सकती है।

(7) एक व्यक्ति के लिए अपनी आमदनी से अधिक व्यय करना मूर्खता की बात हो सकती है, लेकिन मदी के समय एक देश के लिए सार्वजनिक ऋण मे वृद्धि करना बुद्धिमत्ता मानी जा सकती है।

(8) यदि एक व्यक्ति को अधिक मुद्रा प्राप्त होती है तो उसकी स्थिति अच्छी हो जाती है, लेकिन सभी व्यक्तियो को अधिक मुद्रा मिलने से किसी की भी स्थिति बेहतर नहीं हो पायेगी (मुद्रास्फीति के कारण)।

आजकल इनमे से बिन्दु 1, 4, 6 व 8 पर अधिक बल दिया जाने लगा है। अर्थशास्त्र मे इस तरह के अनेक उदाहरण दिये जा सकते है जिनमे एक बात एक व्यक्ति के लिए तो सही होती है, लेकिन समस्त समाज के लिए वह गलत होती है। इन दृष्टान्तो से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे लिए एक पृथक् समष्टि-अर्थशास्त्र की आवश्यकता है। व्यष्टि-अर्थशास्त्र के परिणाम समष्टि अर्थशास्त्र पर सदैव एव पूर्ण रूप से लागू नही होते।

व्यष्टि–अर्थशास्त्र व समष्टि–अर्थशास्त्र का आपसी सम्बन्ध

ऊपर हमने व्यष्टि-अर्थशास्त्र के उपयोगो पर प्रकाश डाला है। इससे यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि ये एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् है और परस्पर प्रभाव नही डालते है। वास्तव मे इन दोनो मे आपसी सम्बन्ध भी पाया जाता है। हम देख चुके है कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे कीमतो का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है और उसका लक्ष्य कीमत निर्धारण का विश्लेषण करना व विशिष्ट साधनो का विशिष्ट उपयोगो मे आवटन करना होता है। दूसरी तरफ समष्टिगत आर्थिक सिद्धान्तो का लक्ष्य राष्ट्रीय आय के स्तर तथा साधनो के समग्र उपयोग को निर्धारित करना होता है।

हैडरसन व क्वान्ट के अनुसार, हम यह नही कह सकते कि आय की अवधारणाएँ व्यष्टि-सिद्धान्तो मे नही होती, अथवा कीमते समष्टि सिद्धान्तो मे नही होती। लेकिन व्यष्टि-सिद्धान्तो मे व्यक्तियो की आमदनी का निर्धारण सामान्य कीमत-निर्धारण की प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है। व्यक्ति उत्पादन के साधन प्रदान करके अपनी आय प्राप्त करते है। इन साधनो की कीमते अन्य कीमतो की भाँति ही निर्धारित होती है। दूसरी तरफ, कीमते समष्टि-सिद्धान्तो मे भी अपना महत्त्व रखती हैं, लेकिन समष्टि-सिद्धान्त के समर्थक प्राय व्यक्तिगत कीमतो के निर्धारण की उन समस्याओ से दूर होते हैं जो कीमत सूचनाको के माध्यम से जानी जाती है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आय की चर्चा एक विशेष रूप मे व्यष्टि-सिद्धान्त मे भी होती है, हालाँकि प्रमुखतया यह विषय समष्टि सिद्धान्त का माना गया है। इसी प्रकार कीमतो की चर्चा समष्टि-सिद्धान्त मे भी होती है, हालाकि प्रमुखतया यह विषय व्यष्टि सिद्धान्त का माना गया है। इससे इन दोनो शाखाओ की परस्पर

निर्भरता स्पष्ट हो जाती है। व्यष्टि-अर्थशास्त्र के कुछ विषयो, जैसे लाभ के सिद्धान्त अथवा ब्याज के सिद्धान्त को समझने के लिए समष्टि-अर्थशास्त्र का सहारा लेना पड़ता है।

गार्डनर ऐक्ले के अनुसार, समष्टि-अर्थशास्त्र व व्यष्टि-अर्थशास्त्र के बीच कोई सुनिश्चित रेखा नहीं खीची जा सकती। अर्थव्यवस्था के एक सच्चे *'सामान्य'* सिद्धान्त मे स्पष्टतः दोनो शामिल होते हैं। लेकिन सार्थक परिणामो पर पहुँचने के लिए समष्टिगत आर्थिक समस्याओ का हल समष्टिगत उपकरणो से, एवं व्यष्टिगत आर्थिक समस्याओ का हल व्यष्टिगत उपकरणो से ही निकाला जाना चाहिए।

सेमुअल्सन का मत है कि **'वास्तव में व्यष्टि—अर्थशास्त्र और समष्टि—अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं है। दोनों अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि आप एक को समझते हैं और दूसरे से अनभिज्ञ रहते हैं तो आप केवल अर्द्ध—शिक्षित हैं।'**

अन्त मे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि हमे व्यष्टि-अर्थशास्त्र का अध्ययन तो वस्तुओ व साधनो की सापेक्ष कीमते निर्धारित करने के लिए करना चाहिए और समष्टि-अर्थशास्त्र का अध्ययन सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए करना चाहिए। दोनो एक-दूसरे के पूरक हैं, लेकिन दोनो मे *जो मूलभूत अन्तर है उन्हे भी नही भुलाया जाना चाहिए*। एक विशेष अध्ययन मे हमारा ध्यान या तो व्यष्टि-समस्या पर केन्द्रित होगा अथवा समष्टि-समस्या पर। लेकिन इन दोनो क्षेत्रो को एक-दूसरे से पृथक् मानने की भूल कभी नही की जानी चाहिए।

स्थैतिक व प्रावैगिक विश्लेषण
(Static and Dynamic Analysis)

आर्थिक विश्लेषण के सम्बन्ध मे प्रायः निम्न तीन विधियो की चर्चा की जाती है — (1) *स्थैतिक विश्लेषण* (static analysis), (2) तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण (comparative static analysis), और (3) प्रावैगिक या गत्यात्मक विश्लेषण (dynamic analysis)। ये शब्द भौतिक विज्ञानो व गणित मे भी प्रयुक्त होते है, लेकिन अर्थशास्त्र मे इनको विशेष अर्थों मे प्रयुक्त *किया गया है। हम नीचे इनके अर्थ व अर्थशास्त्र मे इनके प्रयोगो का अध्ययन* करेगे।

1. स्थैतिक विश्लेषण अथवा स्थैतिकी (statics)

स्थैतिक विश्लेषण समयरहित होता है तथा कुछ तत्त्वों को दिया हुआ मानकर चलता है- *स्थैतिक विश्लेषण मे विभिन्न चलराशियो (variables) के* मूल्यो मे जो सम्बन्ध स्थापित किये जाते है वे एक ही समय-बिन्दु (same point of time) या एक ही समयावधि (same period of time) से सम्बद्ध होते है। इसीलिए **स्थैतिक विश्लेषण को समयरहित (timeless) विश्लेषण**

कहा गया है। हम जानते हैं कि बाजार माँग-वक्र व बाजार पूर्ति-वक्र के परस्पर कटाव से एक वस्तु की सन्तुलन-कीमत व सन्तुलन-मात्रा निर्धारित होती है। यह व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे स्थैतिक विश्लेषण का सरलतम उदाहरण माना गया है। स्थैतिक विश्लेषण मे सन्तुलन के नियमो का अध्ययन किया जाता है। इसमे हम कुछ तत्त्वो को दिया हुआ मानकर उनके परिणामो का अध्ययन करते है। हम कीमत-सिद्धान्त मे देखेगे कि माँग व पूर्ति वक्रो के दिये होने पर एक वस्तु की कीमत उस स्थान पर निर्धारित होगी जहाँ माँग की कुल मात्रा पूर्ति की कुल मात्रा के बराबर होती है। यहाँ पर हम माँग व पूर्ति वक्रो को प्रभावित करने वाले तथ्यो को स्थिर मान लेते है। जैसे माँग को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्त्व--जनसख्या का आकार, आय, रुचि, अन्य वस्तुओ की कीमते, आदि स्थिर मान लिये जाते हैं। इसी प्रकार पूर्ति को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्त्व जैसे प्राकृतिक साधन, जनसख्या, पूँजी, तकनीकी ज्ञान आदि भी स्थिर मान लिये जाते है। इन विभिन्न तत्त्वो को स्थिर मानकर हम सन्तुलन-कीमत का अध्ययन करते है। स्मरण रहे कि यह सन्तुलन एक स्थिर किस्म का सन्तुलन (stable equilibrium) होता है। यदि इसमे कोई हलचल पैदा होती है तो यह पुन अपने आप स्थापित होने का प्रयास करता है। जैसे बाजार मे वस्तु की कीमत माँग व पूर्ति की शक्तियो से उस स्थान पर निर्धारित होती है जहाँ कुल माँग कुल पूर्ति के बराबर होती है। अब कल्पना कीजिए कि किसी कारण से वस्तु की कीमत बढ़ जाती है तो माँग की मात्रा व पूर्ति की मात्रा मे अन्तर उत्पन्न हो जायेगा। बढ़ी हुई कीमत पर माँग मे कमी आयेगी तथा पूर्ति बढ़ायी जायेगी। पूर्ति के बढ़ने पर कीमत मे गिरने की प्रवृत्ति लागू होगी तथा माँग मे भी कुछ वृद्धि होगी। इस प्रकार आगे चलकर पुन नया सन्तुलन स्थापित हो जायगा। इसीलिए इसे स्थिर सन्तुलन कहा गया है।

स्टोनियर व हेग के अनुसार, '**स्थैतिक विश्लेषण के अन्तर्गत जिस प्रश्न का विवेचन किया जाता है, वह यह बतलाता है कि माँग व पूर्ति-वक्रों के दिये हुए और अपरिवर्तित रहने पर बाज़ार में सन्तुलन कीमत कैसे निर्धारित होती है। इस प्रकार स्थैतिक विश्लेषण हमें यह दर्शाता है कि उपभोक्ता, फर्में, उद्योग व सम्पूर्ण अर्थव्यवस्थाएँ कीमत, उत्पत्ति, आय, व रोजगार के कुछ स्तरों पर कैसे स्थिर, अथवा स्थैतिक सन्तुलन में रह सकते हैं।**'[1] इस प्रकार स्थैतिक

---

1 'Static analysis dicusses the question of how, for example, an equilibrium price is arrived at in a market where the demand and supply curves are known and remain unchanged Static analysis enables us to analyse a situation where consumers, firms, industries and whole economies are in stable, or static, equilibrium at certain levels of prices, output, income and employment.'--Stonier and Hague, A Text Book of Economic Theory, 5th ed, 1980, p 605

अर्थशास्त्र मे हम अर्थव्यवस्था के कुछ आधारभूत तत्त्वो को दिया हुआ व ज्ञात मान लेते है । उदाहरण के लिए, इसमे जनसख्या का आकार व योग्यता, प्राकृतिक साधनो की मात्रा, उपभोक्ता की रुचि आदि को ले सकते है । ये आधारभूत तथ्य विभिन्न वस्तुओ की उत्पत्ति, उनकी कीमते व उत्पादन के साधनो की आय के स्तर को निर्धारित करते है ।

स्थैतिक अर्थशास्त्र का स्थिर स्थिति की अवधारणा से सम्बन्ध होता है । बोल्डिग के अनुसार स्थिर अवस्था मे जनसख्या की मात्रा, आयु-रचना व दक्षता, पूँजीगत पदार्थों का भण्डार व बनावट आदि उत्पादन के साधन स्थिर रहते है । उत्पादन उपभोग के बराबर होता है । कीमते स्थिर होती हैं । समाज के ज्ञान मे कोई वृद्धि नहीं होती । वहाँ कोई विकास नही होता। समाज की सम्पूर्ण क्रियाएँ केवल क्षतिपूर्ति मे लगी रहती है ।[1] शुम्पीटर के अनुसार, स्थिर अवस्था मे अर्थव्यवस्था केवल पुनरुत्पादन (reproduction) करती है । वह विकास का कार्य नही कर पाती । **उदाहरण के लिए, जितनी मशीनों का मूल्य-ह्रास होता है,उतनी ही मशीनों का नया निर्माण हो पाता है, जिससे पूँजी-निर्माण की गति भी स्थिर बनी रहती है ।**

स्थैतिक अर्थशास्त्र मे साधारणतया समय-तत्त्व नही होता,लेकिन कुछ विद्वानो का मत है कि फसलो के उत्पादन मे जो समय-समय पर उतार-चढ़ाव आते है वे स्थैतिक अर्थशास्त्र मे आयेगे; क्योकि ये उतार-चढ़ाव उत्पादन की विधियो, पूँजी आदि के स्थिर रहते हुए, केवल मौसम के परिवर्तनो के कारण ही आते है । वहाँ उत्पादन को प्रभावित करने वाले आधारभूत तत्त्वो मे कोई परिवर्तन नही होता । **रोबर्ट डोर्फमैन ने ठीक ही कहा है कि 'स्थैतिकी का आर्थिक विश्लेषण के उन भागो से सम्बन्ध होता है जो बाजार के सन्तुलन मूल्यों का निर्धारण करते हैं और उन परिवर्तनो पर विचार करते हैं जो बाजार के बाहर की बदलती हुई परिस्थितियो से उत्पन्न होते हैं ।**[2] इस प्रकार स्थैतिकी मे भी बाजार के बाहर की बदलती हुई परिस्थितियो जैसे मौसम के परिवर्तन शामिल किये जाते है ।

प्रोफेसर हिक्स ने अपनी पुस्तक 'Value and Capital' में कहा है कि 'मैं आर्थिक स्थैतिकी (economic statics) आर्थिक सिद्धान्त के उन भागों को कहता हूँ जहाँ हमे तिथि सूचित करने (dating) की कोई परवाह नही होती, आर्थिक प्रावैगिकी **(economic dynamics)** उन भागो को कहता हूँ जहाँ प्रत्येक सख्या की तिथि सूचित करनी आवश्यक होती है ।[3] हम

---

1 K.E. Boulding, Economic Analysis, Vol I, p 79

2 Robert Dorfman Prices and Markets, Second edition, 1972, p 11.

3 I call *Economic Statics those parts of economic theory where we do* not trouble about dating, Economic Dynamics those parts where every quantity must be dated '—J R. Hicks, Value and Capital p 115

—

आगे चलकर देखेगे कि आधुनिक अर्थशास्त्री हिक्स की प्रावैगिक अर्थशास्त्र की परिभाषा से पूर्णतया सहमत नहीं है, क्योकि उनके अनुसार इसमे केवल तिथि को सूचित करना ही पर्याप्त नही है, बल्कि विभिन्न तिथियो या समयो के सन्दर्भ मे विभिन्न चलराशियो मे परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना प्रावैगिक अर्थशास्त्र की एक आवश्यक शर्त मानी जाती है।

स्थैतिक विश्लेषण का अर्थशास्त्र में प्रयोग—अर्थशास्त्र मे एक निश्चित समय पर माँग व पूर्ति की अनुसूचियो के दिये हुए होने पर कीमत-निर्धारण का प्रश्न स्थैतिक विश्लेषण मे आता है। इसके अतिरिक्त **उपयोगिता-ह्रास-नियम, तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त व केन्स का राष्ट्रीय आय के निर्धारण का विश्लेषण भी इसी के अन्तर्गत आते हैं।**
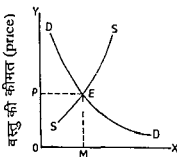
चित्र 1—स्थैतिक सन्तुलन (static equilibrium)

प्रो मार्शल का अधिकाश विश्लेषण स्थैतिक ही रहा है, हालाकि उसने कीमत-सिद्धान्त मे अल्पकाल व दीर्घकाल का समावेश करके प्रावैगिक सिद्धान्त की ओर जाने का प्रयास अवश्य किया था।

सलग्न चित्र की सहायता से व्यष्टि अर्थशास्त्र मे स्थैतिक विश्लेषण का प्रयोग समझाया गया है।

पहले बताया जा चुका है कि कुछ बातो को स्थिर मानकर माँग व पूर्ति वक्र बनाये जाते है। उनके कटाव से E बिन्दु पर सन्तुलन कीमत OP और माग व पूर्ति की मात्रा OM निर्धारित होते है। यहाँ दिये हुए समय मे OP कीमत पर माँग की मात्रा पूर्ति की मात्रा के बराबर होती है।

मर्यादाएँ—स्थैतिक विश्लेषण सरल होता है और यह अर्थव्यवस्था की कार्य-प्रणाली को समझने मे सहायता पहुँचाता है, लेकिन इसकी निम्न मर्यादाएँ होती है—

(i) आर्थिक विकास को समझाने मे अनुपयुक्त—यह वास्तविकता से परे होता है। आजकल अर्थशास्त्र मे आर्थिक विकास के अध्ययन का महत्व बढ गया है। इसमे प्रावैगिक विश्लेषण का उपयोग किया जाता है।

(ii) विभिन्न समयों के अध्ययन में अनुपयुक्त - हम आगे चलकर देखेंगे कि प्रावैगिक अर्थशास्त्र में भूत, वर्तमान व भविष्य के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और आर्थिक चलराशियों के भावी अनुमान लगाये जा सकते हैं। लेकिन स्थैतिक अर्थशास्त्र मे यह कार्य नहीं हो सकता। अत स्थैतिक आर्थिक विश्लेषण अध्ययन में सहायक तो होता है, लेकिन नीति-निर्धारण में आजकल प्रावैगिक अर्थशास्त्र का महत्त्व बहुत बढ़ गया है।

रोबर्ट डोर्फमैन ने स्थैतिकी के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि *'स्थैतिकी प्रावैगिकी से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। अशत तो इसका कारण यह है कि* अधिकाश मानवीय विषयो मे अन्तिम स्थिति का ही विशेष महत्त्व होता है। अशत इसका कारण यह भी है कि अन्तिम सन्तुलन ही उन समय-पथों या मार्गों (time paths) को गहराई से प्रभावित करता है जो इस तक पहुँचने के लिए अपनाये जाते हैं, जबकि इसके विपरीत दिशा में प्रभाव काफी कमजोर पाया जाता है। स्थैतिकी (statics) *प्रावैगिकी से काफी आसान भी होती है और यह काफी विकसित भी हो चुकी है।'*[1]

इस प्रकार डोर्फमैन का मत है कि अन्तिम सन्तुलन का अधिक महत्त्व होने के कारण स्थैतिकी का महत्त्व बढ़ गया है। स्थैतिकी उन समय पथों को तो नहीं समझाती जो अन्तिम सन्तुलन पर ले जाते हैं, लेकिन स्वय अन्तिम सन्तुलन का उन समय-पथों पर प्रबल रूप से प्रभाव पड़ता है। *इससे स्थैतिक विश्लेषण की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है।*

2. तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण (Comparative Static Analysis) अथवा तुलनात्मक स्थैतिकी (Comparative Statics)

इसमें हम एक सन्तुलन से दूसरे सन्तुलन पर जाते हैं और उनकी परस्पर तुलना करते हैं। *यह स्थैतिक विश्लेषण व प्रावैगिक विश्लेषण के बीच की अवस्था होती है।* इसमें एक तत्त्व के परिवर्तन के पथ पर कोई विचार नहीं किया जाता। यह स्थैतिक तो इसलिए है कि इसमें समय-तत्त्व की ओर ध्यान नहीं दिया जाता, और तुलनात्मक इसलिए है कि इसमें दो सन्तुलन–दशाओं की तुलना की जाती है।

रिचर्ड जी लिप्से के अनुसार -**तुलनात्मक स्थैतिकी में हम संतुलन की एक स्थिति से आरम्भ करते हैं और उसमें वह परिवर्तन शामिल करते हैं जिसका अध्ययन किया जाना है। तब नई सतुलन की दशा निर्धारित होती है और इसकी प्रारम्भिक सतुलन से तुलना की जाती है। सतुलन की दोनों दशाओं के बीच जो अंतर उत्पन्न होते हैं वे उस परिवर्तन के कारण होते हैं जिसका समावेश किया गया था, क्योंकि बाकी सब चीजों को तो यथास्थिर रखा गया था।**[2]

---

1 Robert Dorfman, op cit, p. 11

2 Richard G Lipsey An Introduction to Positive Economics 7th ed. 1989 p 73
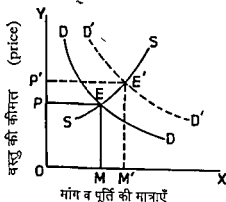
चित्र 2–तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण का उदाहरण

मार्शल ने कीमत-सिद्धान्त मे तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण का उपयोग किया था। स्थैतिक विश्लेषण मे माँग व पूर्ति की दशाएँ दी हुई होती है, लेकिन तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण मे इनमे परिवर्तन होने दिया जाता है और नये सन्तुलन की तुलना पुराने सन्तुलन से की जाती है। तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण का अर्थ उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट हो जायेगा।

चित्र 2 मे माँग-वक्र के DD से बदलकर D' D' हो जाने से नया सन्तुलन E' स्थापित होता है जहाँ कीमत OP' व मांग व पूर्ति मात्राएं OM' हो जाती है जो E की तुलना मे अधिक है।

तुलनात्मक स्थैतिकी का समष्टि–अर्थशास्त्र में उपयोग—व्यष्टि-अर्थशास्त्र के अलावा समष्टि-अर्थशास्त्र मे इस विधि के प्रयोग का श्रेय लॉर्ड केन्स को दिया जा सकता है। उसने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'General Theory of Employment, Interest and Money' (1936) मे तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण का उपयोग किया था। इसमे विनियोग की
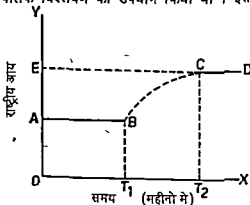
चित्र 3–तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण का दूसरा उदाहरण
(समष्टि-अर्थशास्त्र के क्षेत्र से)

वृद्धि का प्रभाव आय पर दिखलाया गया है और इस सम्बन्ध मे गुणक (multiplier) की अवधारणा का उपयोग किया गया है। गुणक का अर्थ है विनियोग मे वृद्धि होने से आय अन्त मे कितनी बढ़ती है, जैसे 100 रुपये के विनियोग से यदि आय 300 रुपये बढ़ती है, तो गुणक 3 हुआ।

तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण क्या करता है और क्या नही करता है यह सलग्न चित्र से समझा जा सकता है।[1]

चित्र मे राष्ट्रीय आय OY-अक्ष पर और समय OX-अक्ष पर मापे गये है। हम मान लेते है कि प्रारम्भ मे राष्ट्रीय आय OA (अथवा BT_1) है जो O से T_1 तक स्थिर रहती है, अर्थात् इस अवधि मे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि की दर शून्य रहती है। T_1 बिन्दु पर सरकार कुछ विनियोग बढ़ाती है और इसे प्रतिमाह बढ़ाती जाती है और T_2 समय मे आय अपने नये स्थिर सन्तुलन OE (अथवा CT_2) पर पहुँच जाती है। T_2 पर पुन आय की वृद्धि-दर शून्य हो जाती है। राष्ट्रीय आय T_1 से T_2 के बीच मे AE मात्रा बढ़ी। यहाँ हमने आय की दो स्थिर मात्राओ–OA और OE की तुलना की है। तुलनात्मक *स्थैतिक विश्लेषण मे आय के परिवर्तन के मार्ग BC का अध्ययन नही किया* जाता। यह काम प्रावैगिक अर्थशास्त्र का होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण मे दो सन्तुलन की दशाओं की तुलना की जाती है, लेकिन परिवर्तन के मार्ग पर कोई विचार नहीं किया जाता।

मर्यादाएँ–(1) आर्थिक परिवर्तनों के अध्ययन के लिए अनुपयुक्त– स्थैतिक विश्लेषण की भाँति तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण भी आर्थिक उतार-चढ़ावो व आर्थिक प्रगति के अध्ययन मे सहायता नही कर सकता। अत इसका भी सीमित प्रयोग ही हो पाता है।

(2) परिवर्तन के मार्ग पर विचार नहीं करता–जैसा कि ऊपर बतलाया गया है कि यह परिवर्तन के मार्ग का अध्ययन नही करता जो बहुत आवश्यक होता है। यह तो केवल एक सन्तुलन के स्तर की तुलना दूसरे सन्तुलन के स्तर से करता है।

(3) अक्षम विश्लेषण-विधि–तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण यह भी नही बतला सकता कि एक विशेष सन्तुलन की स्थिति कभी प्राप्त कर ली जायगी अथवा नही।

3. प्रावैगिक विश्लेषण अथवा प्रावैगिकी (Dynamics)

प्रावैगिक अर्थशास्त्र अथवा आर्थिक प्रावैगिकी मे आधारभूत तत्त्व जैसे जनसख्या का आकार व योग्यता, प्राकृतिक साधनो की मात्रा, उपभोक्ता-वर्ग की रुचि, पूँजी, तकनीकी ज्ञान आदि बदले जा सकते है और इनके परिवर्तनो

1 Stonier and Hague op cit pp 586 87

का प्रभाव उत्पत्ति के परिवर्तन की दर पर देखा जाता है। केम्ब्रिज अर्थशास्त्री **आर एफ हैरड** (R F. Harrod) **के अनुसार, प्रावैगिक अर्थशास्त्र मे परिवर्तन की दर के परिवर्तन** (Change in the rate of change) **का अध्ययन किया जाता है।** जैसे राष्ट्रीय आय 2 प्रतिशत सालाना से बढ़ती हुई 6 प्रतिशत सालाना तक जा सकती है, अथवा पहले 6 प्रतिशत बढ़ सकती है और आगे चलकर 2 प्रतिशत बढ़ सकती है, आदि। इस प्रकार हैरड के अनुसार, **'प्रावैगिकी उस अर्थव्यवस्था का अध्ययन करती है जिसमें उत्पत्ति की दरें परिवर्तित हो रही हैं।'**[1] अत प्रावैगिक अर्थशास्त्र मे परिवर्तन की दर के उतार-चढ़ावो का अध्ययन किया जाता है।

प्रोफेसर हिक्स के अनुसार, प्रावैगिक अर्थशास्त्र मे समय-तत्त्व या तिथिकरण (dating) होता है और परिवर्तन के मार्ग का भी अध्ययन किया जाता है।

रिचर्ड जी लिप्से के मतानुसार, 'प्रावैगिक विश्लेषण प्रणालियो के उस व्यवहार का अध्ययन करता है जो असन्तुलन की दशाओ से सम्बन्धित होता है।'[2]

प्रोफेसर रैग्नर फ्रिश ने प्रावैगिक विश्लेषण की मुख्य विशेषता यह बतलायी है कि इसमे चलराशियों का सम्बन्ध विभिन्न अवधियो के सन्दर्भ मे देखा जाता है, जैसे इस वर्ष का उपभोग (consumption) पिछले वर्ष की आमदनी पर निर्भर करे तो यह प्रावैगिक विश्लेषण का अग माना जायेगा।

फ्रिश के अनुसार, 'एक प्रणाली उस स्थिति मे प्रावैगिक हो जाती है जबकि एक समयावधि मे इसका व्यवहार ऐसे कार्यात्मक समीकरणो (functional equations) से निर्धारित हो जिनमे चलराशियाँ विभिन्न समयो के सन्दर्भ मे शामिल होती हैं।[3]

फ्रिश ने एक दूसरे लेख मे भी प्रावैगिक मॉडल उसे बतलाया है जिसमें एक समयावधि मे चलराशियो के मूल्य किसी दूसरी समयावधि की कुछ चलराशियो के मूल्यो अथवा कुछ प्राचलों (parameters) के मूल्यो से सम्बद्ध होते हैं।[4]

---

1 Dynamics studies an economy in which rates of output are changing ' R F Harrod, Towards a Dynamic Economics, p 4

2 'Dynamic analysis is the study of the behaviour of systems in states of disequilibrium ' —Richard G Lipsey, An Introduction to Positive Economics, 7th ed 1989, p 120

3 'A system is dynamical if its behaviour over time is determined by functional equations in which variables at different points of time are involved in an essential way ' -- Ragnar Frisch, in Economic Essays in Honour of Gustav Cassel, 1933

4 'A dynamic model is one in which the values of the variables in one period are related to the values of some of the variables, or to the values of some of the parameters, in another period.' Ragnar Frisch, 'On the Notion of Equilibrium and Disequilibrium ' Review of Economic Studies, 1936, Vol 3, pp 100 105

'प्राचाल (parameters) वे राशियाँ होती हैं जो पहले स्वय निर्धारित की जाती हैं, जैसे कीमतें, आदि।

इस प्रकार फ्रिश व सेमुअल्सन आदि ने प्रावैगिक अर्थशास्त्र मे विभिन्न समयो मे चलराशियो का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक माना है। अत प्रावैगिक अर्थशास्त्र मे (अ) चलराशियो के परिवर्तन की बदलती हुई दरो, तथा (आ) विभिन्न समयो के सन्दर्भ मे चलराशियो के परस्पर सम्बन्धो पर ध्यान आकर्षित किया जाता है।

अर्थशास्त्र में उपयोग—प्रावैगिक विश्लेषण की सहायता से आर्थिक उतार-चढ़ाव व आर्थिक प्रगति का अध्ययन किया जाता है। 1930 की दशाब्दी व 1940 की दशाब्दी के प्रारम्भ मे इनके सम्बन्ध मे कई सिद्धान्तो को विकसित किया गया था। फ्रिश, कैलेस्की व सेमुअल्सन ने आर्थिक उतार-चढ़ावो के सम्बन्ध मे गणितीय विश्लेषण प्रस्तुत किये है। इनसे आर्थिक जगत की वास्तविकता का पूरी तरह से विवेचन तो नही हो सका है, लेकिन आर्थिक उतार-चढ़ावो के कारणो को समझने मे काफी सहायता मिली है।

दूसरी ओर इंग्लैण्ड मे सर रॉय हैरड व अमरीका मे डोमर ने आर्थिक विकास का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, जो प्रावैगिकी या प्रावैगिक अर्थशास्त्र पर आधारित है।

प्रावैगिक विश्लेषण में आय (उत्पत्ति) के अलावा जनसंख्या, पूँजी-संग्रह, तकनीकी प्रगति आदि तत्त्वों में होने वाले परिवर्तनों पर भी ध्यान दिया जाता है। अर्थशास्त्र मे ब्याज के सिद्धान्त, लाभ के सिद्धान्त आदि मे भी प्रावैगिक विश्लेषण प्रयुक्त किया जाता है। जैसा कि पहले कहा गया है इस विश्लेषण मे आज की एक आर्थिक चलराशि का सम्बन्ध पिछली अवधि की किसी दूसरी आर्थिक चलराशि से स्थापित किया जा सकता है। जैसे वर्तमान अवधि मे आमदनी पिछली अवधि मे किये गये विनियोग की मात्रा पर निर्भर करती है। इसे निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है —

$$y_t = f(I_{t-1})$$

जहाँ y आमदनी, I विनियोग, t वर्तमान समय, t-1 पिछली अवधि को सूचित करते हैं और f का अर्थ फलन (function) है। यदि 1990 के वर्ष की राष्ट्रीय आय 1989 मे किये गये विनियोग पर निर्भर करती है तो यह सम्बन्ध उपर्युक्त फलन की सहायता से प्रस्तुत किया जायगा।

इसी तरह उद्यमकर्ता विनियोग-सम्बन्धी निर्णय लेते समय भविष्य की माँग के अनुमानो से भी प्रभावित होते है। **इस प्रकार प्रावैगिक अर्थशास्त्र में विभिन्न राशियों में भूत, वर्तमान व भविष्य के संदर्भ में अध्ययन किया जाता है।** प्रावैगिक विश्लेषण अधिक व्यावहारिक व वास्तविक होता है। आजकल इसका महत्त्व दिनोदिन बढ़ता जा रहा है। आर्थिक नियोजन के अपनाये जाने से समग्र अर्थशास्त्र और प्रावैगिक अर्थशास्त्र दोनो को काफी बढ़ावा मिला है।

यहाँ पूर्ववर्णित माँग व पूर्ति-वक्रो के सन्दर्भ मे प्रावैगिक विश्लेषण को स्पष्ट किया जाता है। इस प्रकार के विश्लेषण मे परिवर्तन के मार्गों को

दिखाया जाता है। इस सम्बन्ध मे चित्र 4 व 5 पर ध्यान दिया जाना चाहिए। इनमे वर्तमान अवधि की पूर्ति पिछली अवधि की कीमत पर निर्भर मानी गयी है, लेकिन वर्तमान अवधि की माँग वर्तमान कीमत पर निर्भर करती है।

तन्तुजाल (The Cobweb)[1]

तन्तुजाल एक प्रकार का मकड़ी का जाला होता है।

यहाँ हम दो प्रकार के तन्तुजालो का उल्लेख करेगे। प्रथम को स्थिर तन्तुजाल (*stable cobweb*) कहते है जिसमे *सन्तुलन एक बार भग होने पर* पुनः स्थापित हो जाता है। दूसरे को अस्थिर तन्तुजाल (unstable cobweb) कहते है जिसमे एक बार सन्तुलन भग होने पर पुनः स्थापित नही हो पाता, तथा वास्तविक कीमत व वस्तु की मात्राएँ अपने सन्तुलन स्तर से उत्तरोत्तर अधिक दूर होती जाती है। **ये दोनो प्रकार के तन्तुजाल प्रावैगिक विश्लेषण में शामिल होते हैं।**

अब हम एक वस्तु की कीमत-निर्धारण मे दोनो प्रकार के तन्तुजालो का वर्णन करेगे :

(1) स्थिर तन्तुजाल (Stable Cobweb) चित्र 4 मे प्रारम्भिक सन्तुलन E बिन्दु पर है जहाँ सन्तुलन मात्रा OQ है। मान लीजिए, किसी कारण से पूर्ति घटकर OQ_1 पर आ जाती है तो तुरन्त कीमत OPसे बढ़कर OP_1 अथवा E से बढ़कर E_1 हो जायगी। बढ़ी हुई कीमत से प्रभावित होकर *उत्पादक अगली अवधि मे पूर्ति बढ़ाकर F_2 कर देगे जिससे कीमत घटकर E_2 हो*
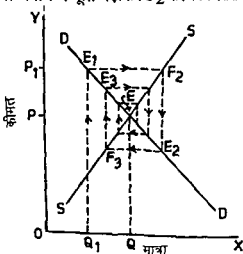
चित्र 4—प्रावैगिक विश्लेषण का उदाहरण .
स्थिर तन्तुजाल (A stable cobweb)

[1] Richard G Lipsey, An Introduction to Positive Economics 7th ed., 1989, pp 121-122

जायगी । इसके फलस्वरूप अगली अवधि मे पूर्ति F_3 और कीमत E_3 का क्रम जारी रहेगा और अन्त मे पुन E बिन्दु पर सन्तुलन स्थापित हो जायगा । इस प्रकार इस विशेष स्थिति मे E की ओर पुन सन्तुलन के स्थापित होने की प्रवृत्ति होगी । इसीलिए इसे स्थिर तन्तुजाल (stable cobweb) कहा गया है।

स्मरण रहे कि यहाँ $S_t = f(p_{t-1})$ की मान्यता स्वीकार की गई है, जिसका अर्थ यह है कि वर्तमान अवधि मे पूर्ति की मात्रा पिछली अवधि की कीमत पर निर्भर करती है । लेकिन $D_t = f(p_t)$ मानी जाती है, जिसका अर्थ है कि वर्तमान अवधि मे माँग की मात्रा वर्तमान अवधि की कीमत पर निर्भर करती है ।

(2) **अस्थिर तन्तुजाल** (Unstable Cobweb)—चित्र 5 मे अस्थिर तन्तुजाल का वर्णन किया गया है । यहाँ पूर्ति-वक्र माँग-वक्र से ज्यादा चपटा (flatter) होता है । यहाँ भी प्रारम्भिक सन्तुलन E पर है जहाँ SS वक्र DD
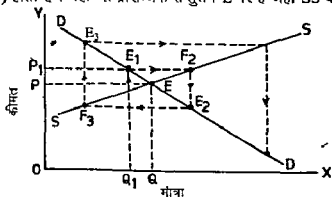
चित्र 5—प्रावैगिक विश्लेषण का उदाहरण :
अस्थिर तन्तुजाल (An unstable cobweb)

वक्र को काटता है । यहाँ पर वस्तु की सन्तुलन-मात्रा OQ होती है । मान लीजिए, किसी कारण से पूर्ति घटकर OQ_1 पर आ जाती है तो तुरन्त कीमत OP से बढ़कर OP_1 अथवा E से बढ़कर E_1 हो जायगी । बढ़ी हुई कीमत से प्रभावित होकर उत्पादक अगली अवधि मे पूर्ति बढ़ाकर F_2 कर देगे । इससे कीमत घटकर E_2 हो जायगी । इसके फलस्वरूप अगली अवधि मे पूर्ति घटकर F_3 हो जायेगी और कीमत बढ़कर E_3 हो जायेगी और यह क्रम आगे भी जारी रहेगा । इस प्रकार इस उदाहरण मे एक बार असन्तुलन प्रारम्भ होने पर वह निरंतर आगे बढ़ता ही जाता है । इसलिए इसे अस्थिर तन्तुजाल का नाम दिया गया है । अर्थशास्त्र के उच्च अध्ययन मे इन प्रश्नो की जाँच की जायगी कि यह असन्तुलन कहाँ तक बढ़ता जायगा और किस स्थान पर जाकर रुकेगा । फिलहाल हमारे लिए यही जानना पर्याप्त होगा कि यह तन्तुजाल पिछले तन्तुजाल से भिन्न है, क्योंकि इसमे एक बार हलचल प्रारम्भ होने पर

यह निरन्तर बढ़ती ही जाती है । ऐसा माँग-वक्र व पूर्ति-वक्र की विशेष आकृतियो के कारण होता है ।

प्रावैगिक विश्लेषण की कठिनाइयाँ—प्रावैगिक विश्लेषण व्यवहार मे बहुत उपयोगी होता है, लेकिन यह काफी जटिल भी होता है । इसका उपयोग प्राय विशेषज्ञ ही कर पाते है । इसमे 'अन्य बाते समान रहने' नामक वाक्याश का प्रयोग नही किया जाता । इसमे समय-तत्त्व (time element) के प्रवेश से जटिलताएँ बढ़ जाती है । इसमे एक सीमा के बाद उच्चस्तरीय गणित का प्रयोग भी आवश्यक हो जाता है । विलियम जे बौमल ने प्रावैगिक आर्थिक विश्लेषण मे विस्तृत रूप से अतर-समीकरण (Difference Equation) की गणित का उपयोग किया है ।[1] आधुनिक अर्थशास्त्री प्रावैगिक विश्लेषण का निरतर विकास करते जा रहे है । इसमे गणित का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है ।

निष्कर्ष —

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि **स्थैतिक विश्लेषण में मूलभूत तत्त्व दिये हुए मानकर उनके परिणाम निकाले जाते हैं । इसमें एक विशेष समय मे ही सन्तुलन का अध्ययन किया जाता है । तुलनात्मक स्थैतिकी में दो समयों के सन्तुलनों की परस्पर तुलना की जाती है, लेकिन प्रगति के पथ का विश्लेषण नहीं किया जाता । प्रावैगिक विश्लेषण में समय-तत्त्व का प्रवेश हो जाता है और असन्तुलन की दशाओं का अध्ययन किया जाता है । इसमें परिवर्तन के पथ का भी विश्लेषण किया जाता है जो चित्र 4 व 5 में तीरों की सहायता से दिखाया गया है ।**

आशिक व सामान्य सतुलन
(Partial and general Equilibrium)

सतुलन का अर्थ—अर्थशास्त्र मे अनेक जगह सतुलन की चर्चा आती है जैसे उपभोक्ता का सतुलन, उत्पादक या फर्म का सतुलन, उद्योग का सतुलन, सतुलन-कीमत, सतुलन विनिमय की दर, श्रम-बाजार या पूँजी-बाजार मे सतुलन, मौद्रिक सतुलन, आदि,आदि । इसलिये सतुलन की अवधारणा से परिचित होना आवश्यक है ।

सतुलन की अवधारणा हमे उस दिशा की ओर सकेत करती है, जिस तरफ आर्थिक प्रक्रियाएँ गतिमान होती हैं । सतुलन का महत्त्व इसलिए नहीं है कि वह वास्तव मे प्राप्त हो जाता है, बल्कि इसलिए है कि उसकी तरफ जाने की प्रवृत्ति रहती है । उदाहरण के लिए,वस्तु की माग उस बिन्दु पर निर्धारित

1 William J Baumol Economic Dynamics An Introduction, 3rd edition 1970

होती है जहा माग की मात्रा पूर्ति की मात्रा की माग के बराबर हो जाती है उसे संतुलन कीमत कहते है । मान लीजिए, किसी कारण से वह सतुलन-कीमत भग हो जाती है, और वह बढ़ जाती है । ऐसी स्थिति मे ऊँची कीमत पर पूर्ति की मात्रा माग की मात्रा से अधिक हो जायेगी, जिससे कीमत मे घटने की प्रवृत्ति लागू होगी, और पुन पहले वाली सतुलन-कीमत स्थापित हो जायेगी, जहा मांग की मात्रा पूर्ति की मात्रा के बराबर होगी । इसी प्रकार यदि किसी कारण से पूर्व सतुलन-कीमत भग होकर घट जाती है, तो माग की मात्रा पूर्ति की मात्रा से अधिक हो जायेगी, जिससे कीमत मे पुन वृद्धि की प्रवृत्ति लागू हो जायेगी, और पहले वाली सतुलन-कीमत स्थापित हो जायेगी । इसे स्थिर सतुलन (Stable equilibrium) कहते है । इसमे आर्थिक इकाइयाँ असन्तुलन की स्थिति से सतुलन की स्थिति की ओर गतिमान होती रहती हैं, इसलिए इसे स्थिर सतुलन कहा जाता है ।

जी एल बच (G L.Bach) व सहयोगी लेखको के अनुसार **'सतुलन उस स्थिति को कहते हैं जिसमें सम्बद्ध इकाइयां जो कुछ करती हैं उसी को करते रहने मे सतोष महसूस करती है । सतुलन में कोई ऐसी शक्ति काम नहीं करती जो विचाराधीन आर्थिक व्यवहार को बदलने का प्रयास करे ।**[1]

इसके विपरीत यदि संतुलन की स्थिति के भंग होने पर आर्थिक इकाइयां उससे दूर चलती जाती हैं तो उसे अस्थिर संतुलन (unstable equilibrium) कहा जाता है ।

संतुलन की चर्चा में हम 'अन्य बातों को समान मान कर' चलते हैं । जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि उपभोक्ता-सन्तुलन मे उसकी आमदनी, रुचि-अरुचि, अन्य वस्तुओ की कीमतो, आदि को अपरिवर्तित मान लिया जाता है । इसी प्रकार उत्पादक के सतुलन मे साधनो की कीमतो, टेक्नोलोजी, आदि को स्थिर मान लिया जाता है ।

अर्थशास्त्र मे आशिक व सामान्य सतुलन मे भी अतर करना होता है ।

आशिक या विशेष सतुलन (partial or particular equilibrium)

अर्थ-ईकर्ट व लेफ्टविच के अनुसार आशिक सतुलन उस सतुलन को कहते हैं जो एक वैयक्तिक इकाई (an individual unit) और/अथवा अर्थव्यवस्था का एक उप-भाग (a sub-section of the economy) बाहर से उसके लिये दी हुई दशाओ से प्राप्त करते है । इस प्रकार इसमे दो बाते ध्यान देने योग्य है प्रथम, आशिक संतुलन का सम्बन्ध वैयक्तिक इकाई जैसे उपभोक्ता या फर्म से होता है, अथवा अर्थव्यवस्था एक उप-भाग से होता है, जैसे एक उद्योग (लोहा व इस्पात उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग आदि) से होता है । द्वितीय, इन आर्थिक इकाइयो के लिए बाहर से कुछ दशाए दी हुयी होती है, जिनके अनुसार इनको अपना समायोजन करना होता है ।

1 By equilibrium we mean a situation in which those involved are satisfied to keep doing what they are doing *In equilibrium there s nothing* at work to change the economic behaviour under consideration.' G L.Bach and co-authors Economics 11th ed 1987, p 15.

जैसे प्रत्येक उपभोक्ता अपनी दी हुई आमदनी, अन्य वस्तुओ व सेवाओ की दी हुई कीमतो तथा अपनी दी हुई पसद व प्राथमिकताओ के आधार पर एक वस्तु की अपनी खरीद की मात्रा निर्धारित करता है (ताकि अधिकतम सतुष्टि प्राप्त कर सके) । इसी प्रकार एक व्यावसायिक फर्म अपने सीमित उत्पादन के साधनो को दी हुई टेक्नोलोजी व साधनो की दी हुई कीमतो, आदि की दशाओ मे इस प्रकार से काम मे लेता है कि वह अधिकतम लाभ प्राप्त कर सके ।

अर्थ-व्यवस्था के उप-भाग के उदाहरण मे एक उद्योग को लिया जा सकता है । दीर्घकाल मे उद्योग मे नई फर्मे प्रवेश करती रहती है और पुरानी फर्मे उद्योग छोड़कर बाहर जाती रहती है । अत एक उद्योग भी दी हुई परिस्थितियो के अनुसार अपना सतुलन निर्धारित करता रहता है ।

स्मरण रहे कि उपभोक्ताओ, फर्मों व उद्योगो के समक्ष पायी जाने वाली दशाओ के बदल जाने से वे सतुलन की नई दिशाओ की ओर जाने का प्रयास करती है ।

आंशिक संतुलन कब उपयुक्त रहता है ?

आशिक सतुलन दो दशाओ मे ज्यादा उपयोगी माना जाता है[1]

(1) जब आर्थिक हलचल एक फर्म या एक उद्योग तक सीमित होती है– जैसे, मान लीजिए, जयपुर मे स्थित किसी फैक्ट्री के श्रमिक हड़ताल कर देते है, अथवा, जयपुर मे ही स्थित इन्जीनियरी उद्योग की कुछ फैक्ट्रियो के श्रमिक हड़ताल कर देते हैं, तो इस प्रकार की हड़ताल के प्रभाव कुछ फर्मों व श्रमिको तक सीमित रहेगे । इसलिए उनका अध्ययन आशिक सतुलन की सहायता से किया जा सकता है ।

(ii) जब हमें किसी आर्थिक हलचल के प्रथम-क्रम के प्रभावो (first-order effects) का अध्ययन करना हो तो भी आशिक सतुलन की विधि उपयुक्त रहती है । जैसे मान लीजिए सरकार युद्ध की सामग्री का उत्पादन बढाने का निर्णय घोषित करती है, तो इसका सबसे पहला प्रभाव लोहे व इस्पात उद्योग पर पड़ेगा । इस्पात की माग बढ़ेगी । इसलिए इस्पात के उत्पादन, इस्पात की कीमतो, इस उद्योग के मुनाफो, इस उद्योग मे साधनो की माग, रोजगार व उनकी कीमतो, आदि पर पड़ने वाले प्रभावो का अध्ययन आशिक सतुलन की सहायता से किया जा सकता है । **लेकिन ध्यान रहे कि ये प्रथम क्रम के ही प्रभाव माने जायेंगे । इनका अंत यहीं पर नहीं हो जायगा । आगे चलकर इसके प्रभाव अधिक गहरे व व्यापक होने के कारण ये सामान्य संतुलन के दायरे में प्रवेश कर जायेंगे ।**

---

1. Eckert and Leftwich, The Price System and Resource Allocation Tenth edition, 1988, p.581.

सामान्य संतुलन-(general equilibrium)

अर्थ-सामान्य संतुलन उस समय स्थापित होता है जब सभी वैयक्तिक आर्थिक इकाइयां तथा अर्थ-व्यवस्था के सभी उप-भाग (sub-sections) एक साथ आशिक संतुलन मे होते है । सामान्य सतुलन की अवधारणा सभी आर्थिक इकाइयो व अर्थव्यवस्था के सभी भागो की परस्पर निर्भरता (interdependence) को स्पष्ट करती है । इसका विवेचन लियो वाल्रा (Leon Walras), जे. आर. हिक्स , वैसली डबलू लिओन्टीफ (Wassily W.Leontief), सैमुअल्सन आदि अर्थशास्त्रियो ने किया है जो उच्चतर अर्थ-शास्त्र मे आता है । इसमे गणित का व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है । यहां हम संतुलन की अवधारणा का सरल रूप मे अर्थ स्पष्ट करते हैं ।

सामान्य संतुलन की प्रक्रिया के दो उदाहरण:-

(i) **सरकार द्वारा युद्ध की सामग्री बढ़ाने के निर्णय का प्रभाव**—हम पहले ही बता चुके है कि जब सरकार युद्ध का अधिक सामान बनाने का निर्णय करती है तो पहला प्रभाव इस्पात उद्योग पर पड़ता है । इसे आशिक संतुलन के अन्तर्गत लिया जा सकता है, क्योकि हमे सर्वप्रथम इस्पात के मूल्यो, उत्पादन, इस उद्योग के मुनाफो, इसमे उत्पादन के साधनो के उपयोग व उनकी कीमतो आदि पर विचार करना होता है । लेकिन इससे अन्य उद्योगो व आर्थिक क्रियाओ मे भी हलचले पैदा होने लगती है । इस्पात के स्थानापन्न पदार्थों की मांग भी बढ़ती है जिससे हलचलो को दायरा बढ़ता जाता है । अंत मे ये प्रभाव सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था तक फैल जाते है । अत. युद्ध का अधिक सामान बनाने की सरकारी घोषणा के प्रभाव समस्त अर्थव्यवस्था मे व्याप्त होने के कारण इसका अध्ययन सामान्य सतुलन विश्लेषण के द्वारा करना पड़ता है ।

(ii) **भारत सरकार द्वारा उर्वरकों पर सब्सिडी घटाने के प्रभाव**—हमारे देश मे पिछले वर्षों मे खाद्यान्नो, उर्वरको व निर्यातो पर सब्सिडी का आर्थिक भार बहुत बढ़ गया है और यह असहनीय हो गया है । इसलिए बजट घाटे को कम करने के लिए उर्वरको पर सब्सिडी कम करने पर बहुत जोर दिया गया है । **प्रश्न उठता है कि उर्वरकों के लिए दी जाने वाली सब्सिडी या आर्थिक सहायता को कम करने से अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ेंगे ?**

इसका अध्ययन हाल मे आई. जेड. भट्टी व एस. पी. पाल ने सामान्य संतुलन मॉडल की सहायता से किया है ।[1] इसमे उर्वरको पर सब्सिडी कम करने के प्रभाव निम्न प्रकार से देखे गये है ।

1. उर्वरको की कीमते कितनी बढ़ेगी ।

---

1. I. Z. Bhatty and S P Pal, **Food and Fertiliser; Reducing Subsidies** I and II, the Economic Times, March 15 and 16,1991

2. उर्वरको की खपत पर क्या प्रभाव आयेगा ?

3. कृषिगत उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

4. गेहूँ, चावल व अन्य फसलो के बाजार-भाव पर क्या असर होगा।

5. देश मे कीमत-सूचनाको (थोक व उपभोक्ता-मूल्य दोनो पर) क्या प्रभाव पड़ेगा ?

6. खाद्यानो की सरकारी वसूली या खरीद पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

7. देश मे खाद्यान्नो के स्टॉक पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

8. बजट-घाटा कितना कम होगा ? आदि,आदि ?

इस प्रकार उर्वरको पर सब्सिडी घटाने का प्रथम प्रभाव उर्वरक उद्योग पर पड़ता है,जिसे आंशिक संतुलन के अन्तर्गत देखा जा सकता है। लेकिन वह पर्याप्त नही होगा। इसलिए इसके सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर व्यापक प्रभाव जानने के लिये सामान्य संतुलन विश्लेषण का उपयोग करना उचित होगा। उसी से हमको इसके विस्तृत प्रभावो को भलीभाँति समझने मे मदद मिलेगी।

अत: उर्वरकों पर सब्सिडी कम करने का निर्णय उर्वरक उत्पादन व उर्वरक उपभोग के अलावा खाद्यान्नों के बाजार भावों, कीमत-सूचनांक, सरकार के खाद्यान्नों के भण्डार आदि को प्रभावित करके अर्थव्यवस्था में काफी परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है। इसलिए इसका विश्लेषण सामान्य संतुलन की सहायता से करना उचित माना जायेगा।

सामान्य संतुलन के दो उद्देश्य

(i) इससे अर्थव्यवस्था को सम्पूर्ण रूप मे देखने का अवसर मिलता है जो विशुद्ध सिद्धान्त की दृष्टि से बहुत लाभकारी होता है।

(ii) इसकी सहायता से आर्थिक हलचल के प्रथम क्रम, द्वितीय क्रम, तृतीय क्रम व अन्य उच्च क्रम के प्रभाव जाने जा सकते है। अत: इसकी मदद से एक आर्थिक परिवर्तन के अन्तिम प्रभाव पूरी तरह जाने जा सकते है,जो अन्यथा सम्भव नही थे।

'ईकर्ट व लेफ्टविच' के अनुसार हलचल से पहले एक बड़ी छपछपाहट- सी (big splash) उत्पन्न होती है जिसे आंशिक संतुलन विश्लेषण सम्हाल लेता है। लेकिन इससे आगे लहरें व तरगें उत्पन्न होती हैं जो एक दूसरे को प्रभावित करती हैं और छपछपाहट के दायरे को भी प्रभावित करती हैं। तरंगें आगे चलती जाती हैं और उत्तरोत्तर छोटी होती जाती हैं और अंत में क्षीण होकर गायब हो जाती हैं। इन सभी प्रकार के पुनर्समायोजनों (readjustments) का विश्लेषण करने के लिए सामान्य संतुलन के उपकरणों की आवश्यकता होती है।[1] इस कथन से सामान्य संतुलन की प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है।

---

1. Eckert and Leftwich, The Price System and Resource Allocation, 10th ed. 1988,p 582.

सामान्य सतुलन विश्लेषण के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि यह बहुत जटिल किस्म का होता है। लियो वाल्रा ने इसका विवेचन गणितीय समीकरणो की सहायता से किया था जिनमे विभिन्न आर्थिक चलराशियो मे आपस मे सम्बन्ध स्थापित किये गये थे। विभिन्न समीकरणो के हल से चलराशियो के वे मूल्य प्राप्त होते है जो सामान्य सतुलन के अनुरूप होते है। इससे अर्थव्यवस्था के विभिन्न भागो की परस्पर निर्भरता को समझने मे भी सहायता मिलती है।

सामान्य सतुलन विश्लेषण का दूसरा रूप लियोन्तीफ ने 'इन्पुट- आउट विश्लेषण' के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इसमे अर्थव्यवस्था को कुछ क्षेत्रो (sectors) या उद्योगो मे विभाजित किया जाता है। एक उद्योग का आउटपुट दूसरे उद्योग के लिए 'इन्पुट' बन जाता है। इस प्रकार एक उद्योग की दूसरे उद्योग पर निर्भरता प्रगट हो जाती है। वस्तुओ, सेवाओ व साधनो के अन्तर-उद्योग प्रवाहो से काफी सूचनाएँ प्राप्त होती है। इस विश्लेषण की सहायता से आर्थिक नियोजन व आर्थिक विकास के सम्बन्ध मे काफी जानकारी मिलती है।

स्मरण रहे कि आशिक सतुलन व सामान्य सतुलन मे आपस मे कोई विरोध नही है। हम आशिक सतुलन से प्रारम्भ करते है, और धीरे धीरे आगे बढते जाते है। इनमे एक निरतरता व परस्पर कड़ी पायी जाती है। हम प्रथम क्रम के प्रभाव को देखकर, द्वितीय क्रम, तृतीय क्रम व अन्य उच्च क्रमो के प्रभाव देखते जाते है। एक फर्म के सुतलन से एक उद्योग के सतुलन पर जाते है, तत्पश्चात् पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में एक निजी उद्यमवाली अर्थव्यवस्था का सम्पूर्ण अध्ययन करके परिणाम निकालते हैं। इस प्रकार आशिक सतुलन से सामान्य सतुलन की तरफ बढने का प्रयास निर--र जारी रहता है।

प्रश्न

1 व्यष्टि एव समष्टि आर्थिक विश्लेषण मे अन्तर स्पष्ट कीजिये। इनमें से कौनसी अच्छी है एव क्यो ? (Ajmer Iyr 1992)
2 'आशिक साम्य' एव 'सामान्य साम्य' का अर्थ व उपयुक्तता की दशाओं को समझाइये। इनका पूरकता, यदि कोई हो, तो सिद्ध कीजिए। (Raj Iyr 1993)
3 निम्नाकित पर लगभग 100 शब्दो मे सक्षिप्त टिप्पणिया लिखिये
   (i) समष्टि अर्थशास्त्र मे किन समस्याओ का अध्ययन किया जाता है ?
   (Ajmer Iyr, 1993)
4 (i) व्यष्टि एव समष्टि अर्थशास्त्र में भेद स्पष्ट कीजिए।
   (ii) स्थिर एव गतिशील विश्लेषण में भेद स्पष्ट कीजिए।
   (Ajmer Iyr 1994)

5 व्यष्टि एव समष्टि अर्थशास्त्र मे कोई विरोध नही है। दोनो अत्यन्त आवश्यक है। यदि आप एक को समझते हैं और दूसरे से अनभिज्ञ हैं तो आप अर्द्ध-शिक्षित हैं। (सेमुअल्सन) इस कथन की विवेचना कीजिए।

6 स्थैतिकी एक समयरहित विचार है, जब कि प्रावैगिकी का सम्बन्ध समय से होता है। इस कथन की व्याख्या कीजिए।

7 सामान्य सतुलन विश्लेषण का विवेचन कुछ व्यावहारिक आर्थिक समस्याओं के उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

8 सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए
   (i) आशिक सतुलन का उद्देश्य,
   (ii) सामान्य सतुलन का महत्व,
   (iii) प्रावैगिक अर्थशास्त्र,
   (iv) समष्टि अर्थशास्त्र।

5

बाजार के रूप
(Types of Markets)

बाजार की परिभाषा—साधारण बोलचाल की भाषा मे बाजार का अर्थ एक स्थान–विशेष से लगाया जाता है, जहाँ एक वस्तु के क्रेता व विक्रेता एकत्र होकर उस वस्तु का क्रय-विक्रय करते है। लेकिन अर्थशास्त्री बाजार शब्द का थोड़ा भिन्न अर्थ लगाते है। उनके अनुसार बाजार की परिभाषा मे क्रेताओ व विक्रेताओ को एक स्थान पर उपस्थित होना आवश्यक नही माना जाता। वे टेलीफोन व डाक-तारद्वारा परस्पर सम्पर्क बनाये रख सकते है, भाव तय कर सकते है, एव लेन-देन कर सकते है। इसलिए बाजार के अस्तित्व के लिए क्रेताओ व विक्रेताओ मे निरन्तर समीप का सम्पर्क रहना ज्यादा आवश्यक माना जाता है। स्टोनियर व हेग के अनुसार, सक्षेप मे, वे (अर्थशास्त्री) इसे एक ऐसा सगठन मानते है जिसके माध्यम से एक वस्तु के क्रेता व विक्रेता एक-दूसरे के निकट सम्पर्क मे रहते है।[1]

इस प्रकार बाजार शब्द की परिभाषा मे क्रेताओ व विक्रेताओ का परस्पर सम्पर्क ज्यादा महत्त्वपूर्ण माना गया है। सम्पर्क के स्थान पर हम 'प्रतिस्पर्धा' भी ले सकते है, क्योकि यह बाजार का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अग होती है। यदि दिल्ली के ग्राहक मकान बनाने के लिए दिल्ली के आस-पास के पत्थर व ईंट ही प्रयोग में लाते हैं, तो वे जयपुर के ग्राहको से प्रतिस्पर्धा नही करते जो अपने आस-पास के पत्थर व ईंट काम मे लेते है। **इसलिए बाजार शब्द में 'प्रतिस्पर्धा' का तत्व काफी महत्त्वपूर्ण माना जाता है।** यदि किसी वस्तु के लिए क्रेताओ व विक्रेताओ मे विस्तृत क्षेत्र मे प्रतिस्पर्धा पायी जाती है तो उस वस्तु का बाजार विस्तृत माना जाता है। बाजार का विस्तृत होना कई बातो पर निर्भर करता है, जैसे वस्तु की माँग व पूर्ति का विस्तृत होना, वस्तु का टिकाऊपन, आदि। परिवहन व सचार के साधनो के विकास ने भी बाजारो के विस्तार मे सहायता पहुँचायी है। सोने का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय माना जाता है। अमरीका के गेहूँ की माँग रूस, चीन, भारत तथा

1 Briefly, they mean any organisation whereby the buyers and sellers of a good are kept in close touch with each other,-Stonier and Hague, A text-book of Economic Theory, 5th ed, 1980 p 12.

अन्य कई देशो मे होने के कारण गेहूँ का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय बन गया है । इसलिए आजकल बाजार का अर्थ किसी स्थान विशेष से नहीं लगाया जाता जहाँ कोई व्यक्ति जाकर अपनी किसी आवश्यकता की वस्तु खरीदता है बल्कि बाजार तो एक क्षेत्र होता है जिसमे क्रेता व विक्रेता परस्पर सम्पर्क करके लेन-देन का कार्य सम्पन्न करते रहते हैं। रिचर्ड जी लिप्से के अनुसार **'हम बाजार की परिभाषा एक क्षेत्र के रूप मे करते हैं जहाँ क्रेता व विक्रेता एक निश्चित वस्तु विनिमय का कार्य सम्पन्न करते हैं । इसके लिये यह जरूरी है कि क्रेता व विक्रेता परस्पर सम्पर्क बनाये रखे तथा सम्पूर्ण बाजार मे कोई सार्थक लेनदेन कर सके ।**[1]

इस प्रकार लिप्से की बाजार की परिभाषा मे निम्न तत्त्व विद्यमान है-

(i) यह एक स्थान न होकर 'क्षेत्र' होता है ।

(ii) इसमे एक सुनिश्चित व ठीक से परिभाषित वस्तु के विनिमय की बात की जाती है ।

(iii) क्रेता व विक्रेता परस्पर सम्पर्क बनाये रखते है, तथा

(iv) सम्पूर्ण बाजार मे वे सार्थक लेन-देन करते है ।

अत विभिन्न वस्तुओ के अलग-अलग बाजार होते है । इस अलगाव या पृथकता के लिए परिवहन की लागते व प्रशुल्क (tariffs) आदि भी जिम्मेदार होते है । परिवहन की ऊँची लागतो के कारण प्राय एक वस्तु को दूसरे देश मे भेजना कठिन हो जाता है । वहाँ लगे ऊँचे आयात शुल्को व अन्य बन्धनो के कारण माल भेजने मे बाधा उत्पन्न हो जाती है । इन सब कठिनाइयो के बावजूद विभिन्न वस्तुओ के बाजारो मे परस्पर सम्बन्ध भी देखने को मिलता है। विभिन्न वस्तुएँ उपभोक्ताओ की आमदनी को अपनी तरफ खीचने के लिये प्रतिस्पर्धा करती है । परिवहन की लागतो व प्रशुल्क की बाधाओ के बावजूद वस्तुएँ अवसर मिलने पर एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जाती है । अत व्यवहार मे विभिन्न वैयक्तिक बाजारो मे परस्पर सम्बन्ध पाया जाता है ।

प्राय यह प्रश्न उठाया जाता है कि एक वस्तु के बाजार का आकार किन बातो पर निर्भर करता है ? दूसरे शब्दो मे, कुछ वस्तुओ का बाजार सीमित व कुछ का विस्तृत क्यो होता है ? इस सम्बन्ध मे जो भी कारण होते है उनको दो भागो मे बाँटा जा सकता है (अ) वस्तु की प्रकृति, (आ) बाहरी तत्व । इन पर आगे प्रकाश डाला जाता है ।

---

1 A market may be defined as an area over which buyers and sellers negotiate the exchange of a well-defined commodity It must be possible therefore for buyers and sellers to communicate with each other and to make meaningful deals over the whole market. Richard G Lipsey An Introduction to Positive Economics 7th ed 1989 p 52

वस्तु के बाजार को प्रभावित करने वाले तत्व

(अ) वस्तु की प्रकृति

(1) माँग का स्वरूप—जिन वस्तुओ की माँग देश-विदेश मे विस्तृत रूप से पायी जाती है उनका बाजार विस्तृत होता है; जैसे पैट्रोल, कोयला, गेहूँ, कपास, सोना आदि। इनकी माग विश्व व्यापी होती है।

(2) टिकाऊ व शीघ्रनाशी वस्तुएँ—टिकाऊ वस्तुओ की माग विस्तृत होती है, जबकि फल, सब्जी व मछली आदि शीघ्रनाशी वस्तुओ की माँग सीमित होती है, क्योकि उनको सुदूर इलाके मे भेजने की परिवहन सम्बन्धी कठिनाइयाँ पाई जाती है। लेकिन कोल्ड स्टोरेज व रेफ्रिजरेशन की सुविधाओ के बढ़ने से तथा परिवहन के विकास से शीघ्रनाशी वस्तुओ को सुदूर इलाको मे भेजना आसान हो गया है। इसलिए यदि वस्तु की माँग होती है तो दूर के स्थानो से भी उसे मगाने की व्यवस्था की जा सकती है।

(3) वस्तु की वहनीयता (portability)-वजन मे भारी व कम मूल्यवाली वस्तुओ जैसे ईंट, साधारण पत्थर, मिट्टी, चूना आदि के परिवहन मे दिक्कते आती है। इनमे परिवहन की लागते भी ऊँची होती है। इसलिए इनका बाजार प्राय स्थानीय होता है। इनमे भी सगमरमर का पत्थर अथवा ग्रेनाइट स्टोन्स आदि अपने ऊँचे मूल्य की वजह से अपेक्षाकृत अधिक दूर के स्थानो तक भेजे जाते है। अत साधारणतया अधिक मूल्यवाली वस्तुओ का बाजार अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत होता है।

(4) वस्तु की पूर्ति— प्राय पर्याप्त व अत्यधिक पूर्ति वाली वस्तुओ के बाजार व्यापक व अन्तर्राष्ट्रीय पाये जाते है, जैसे गेहूँ, कच्चा लोहा, कोयला आदि। सीमित पूर्ति वाली वस्तुओ के बाजार भी सीमित होते है। ये सीमाएँ स्थानीय व ज्यादा से ज्यादा राष्ट्रीय हो सकती हैं। लेकिन कुछेक अपवाद भी देखने को मिलते है, जैसे कलात्मक मूर्तियो व विख्यात कलाकारो के बनाये हुए चित्रो आदि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजार होते है। इनकी दूर-दूर तक प्रतिष्ठा होती है, जिससे माँग भी विस्तृत होती है।

(5) ग्रेडिंग व प्रमापीकरण का प्रभाव—जिन वस्तुओ को आकार व किस्म के आधार पर विभिन्न सुनिश्चित श्रेणियो मे बाँटा जा सकता है, उनके बाजार विस्तृत होते है, क्योकि उनकी बिक्री नमूने व श्रेणी के आधार पर हो सकती है। ये वस्तुएँ मानक व प्रमापीकृत मानी जाती हैं। यहीं कारण है कि चाय, कपास, गेहूँ आदि के बाजार विश्वव्यापी बन गये हैं।

इस प्रकार स्वय वस्तु के गुण उसके बाजार की सीमा को निर्धारित करते हैं।

(आ) बाहरी तत्व

(1) *आर्थिक विकास की आवश्यकता*-*विभिन्न देश अपना आर्थिक विकास करने के लिये विदेशो से अनेक प्रकार की वस्तुओ का आयात करते हैं

जिससे सामान्यतया बाजारो का विस्तार हुआ है। जापान अपने इस्पात उद्योग के लिए भारत व अन्य देशो से कच्चे लोहे का आयात करता है। इसी प्रकार अनेक किस्म के कच्चे मालो का आदान-प्रदान विश्वव्यापी स्तर पर होता है।

(2) परिवहन व संचार के साधनों का विकास-पिछले वर्षो मे यातायात व सदेशवाहन के साधनो मे क्रांति हो गई है जिसके फलस्वरूप सड़क, रेल, जल व वायु परिवहन मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गये है।इसी प्रकार तार-टेलीफोन आदि सचार के साधन काफी विकसित हो गये है। इनकी वजह से क्रेता व विक्रेताओ मे व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित करना बहुत सुगम हो गया है। इन कारणो से बाजार विस्तृत हो गये है।

(3) बैंकिंग, बीमा आदि का तीव्र गति से विकास--आर्थिक विकास ने मुद्रा, बैंकिंग, बीमा आदि क्षेत्रो को पूर्णतया बदल डाला है। आज प्रत्येक देश मे सुदृढ मुद्रा-प्रणाली, बैंकिंग व बीमा व्यवस्था व अन्य सुविधाएँ पायी जाती है, और इनका तेजी से विकास हो रहा है। इससे विदेशी व्यापार की सम्भावनाएँ बढ़ गयी है,जो इनके अभाव मे कम थी।

(4) विश्व में संरक्षणवाद की नीति को सीमित करती है तथा स्वतंत्र व्यापार की नीति इसको बढ़ाती है—यह तो सर्वविदित है कि विभिन्न देशो के बीच स्वतत्र व्यापार की नीति के अपनाये जाने से व्यापार बढ़ता है तथा संरक्षणवाद (protectionism) की नीति से व्यापार घटता है, क्योकि एक देश के द्वारा आयात सीमित करने व आयात शुल्क लगाने से वहाँ दूसरे देशो का माल सीमिल मात्रा मे ही आ पाता है। आज अमरीका व अन्य विकसित देश संरक्षणवाद के मार्ग पर चल रहे है, जिससे विकासशील देशो को अपना माल निर्यात करने मे काफी कठिनाई हो रही है। अतः वस्तुओ का बाजार विकसित देशो की व्यापार नीति से भी प्रभावित होता है।

(5) राजनीतिक/स्थिरता व शान्ति—विभिन्न देशो मे राजनीतिक स्थिरता, कानून व व्यवस्था की सुदृढ स्थिति व आन्तरिक शान्ति के पाये जाने पर ही वस्तुओ के बाजार अधिक विस्तृत होते है। यही नही बल्कि एक देश के किसी भी भाग मे अशान्ति व अराजकता के पाये जाने से वहा का आन्तरिक व्यापार भी खतरे मे पड़ जाता है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि बड़े पैमाने के उत्पादन, विशिष्टीकरण, आधुनिकीकरण, परिवहन-क्रान्ति व आर्थिक विकास की आवश्यकताओ के फलस्वरूप वस्तुओ के बाजारो का विस्तार हुआ है। इस प्रक्रिया के भविष्य में जारी रहने की सम्भावना है। विश्व तेजी से सिमट कर एक छोटी सी इकाई बनता जा रहा है, लेकिन कुछ राष्ट्रो की संकीर्ण भावनाएँ व संरक्षणवादी नीतियाँ इस प्रक्रिया को अपनी चरम सीमा पर नही पहुँचने दे रही है।

बाजारों का वर्गीकरण

(Classification of Markets)

आर्थिक साहित्य मे बाजारो के वर्गीकरण कई आधारो पर देखने को मिलते है । जैसे क्षेत्र के अनुसार (स्थानीय, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय) ; समय के अनुसार (अति अल्पकाल, अल्पकाल, दीर्घकाल व अति दीर्घकाल), कानूनी वैधता के अनुसार (सामान्य बाजार व काला बाजार); वस्तु-बाजार व साधन बाजार, स्वतत्र बाजार व नियन्त्रित बाजार तथा प्रतियोगिता के आधार पर (विक्रेताओ के बीच पूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकार, एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा, अल्पाधिकार, आदि) । इसी प्रकार क्रेताओ के बीच प्रतिस्पर्धा के आधार पर क्रेता-एकाधिकार, क्रेता-अल्पाधिकार, आदि की दशाएँ भी पायी जा सकती है । अत बाजारो मे विभिन्न प्रकार से अन्तर किये जा सकते है और उनका अपना-अपना महत्व होता है । एक देश की अर्थव्यवस्था की प्रकृति का सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए विभिन्न आधारो पर वहा के बाजारो की स्थिति का अध्ययन करना लाभकारी होता है । भारतीय सन्दर्भ मे प्रायः यह कहा जाता है कि यहाँ गैर-कानूनी या काले बाजार का विस्तार हो रहा है। नियोजित अर्थव्यवस्था के कारण सरकारी हस्तक्षेप व नियन्त्रित बाजार-प्रणाली का विस्तार हुआ है तथा आधुनिक औद्योगिक क्षेत्र मे अल्पाधिकार एव कृषिगत क्षेत्र मे बहुत कुछ पूर्ण प्रतियोगिता की दशाएँ पायी जाती है ।

नीचे बाजार के विभिन्न रूपो का विवेचन किया गया है ।

(अ) क्षेत्र के अनुसार वर्गीकरण

जब एक वस्तु की माँग व पूर्ति स्थानीय क्षेत्र तक सीमित होती है तो उसे स्थानीय बाजार कहते है । भूतकाल मे ऐसा प्रायः दूध, फल, सब्जी अदि के सम्बन्ध मे पाया जाता था । आजकल ईंट व पत्थर आदि मे स्थानीय बाजार की स्थिति देखने का मिलती है । स्थानीय दस्तकारो के द्वारा निर्मित मिट्टी के बर्तनों, जूतों, खिलौनो व अन्य घरेलू वस्तुओ की माँग भी प्राय स्थानीय ही होती है।

जब किसी वस्तु की माँग व पूर्ति राष्ट्रव्यापी होती है तो उसका बाजार राष्ट्रीय बाजार कहलाता है । भारत मे गेहूँ ,दालो अनेक उपभोग्य वस्तुओ-साबुन, तेल, टूथपेस्ट, आदि का बाजार राष्ट्रीय माना जाता है । कई वस्तुओ का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय होता है,जैसे भारतीय आमो की माँग विदेशो मे भी होती है । इसी प्रकार भारतीय चाय, सिले-सिलाये वस्त्रो, भारतीय चलचित्रो आदि की माँग भी अन्तर्राष्ट्रीय कहलाती है ।

(आ) समय के अनुसार वर्गीकरण

(1) अति अल्पकाल (Very short period) इसे बाजार की अवधि भी कहते है । इसमे वस्तु की पूर्ति स्थिर रहती है और कीमत पर माँग के

परिवर्तनो का अधिक प्रभाव पड़ता है । माँग के बढ़ने पर कीमत बढ़ जाती है और माँग के घटने पर कीमत घट जाती है । उदाहरण के लिए, किसी भी दिन दूध की सप्लाई स्थिर मानी जायेगी और इसकी कीमत पर माँग का अधिक प्रभाव पड़ेगा । स्मरण रहे कि यहां अवधि की परिभाषा वर्ष, महीने, सप्ताह, दिन अथवा घंटो मे नही की जाती है, बल्कि माँग व पूर्ति की शक्तियो मे होने वाले परिवर्तनो के माध्यम से की जाती है । **अतः अति अल्पकाल में वस्तु की पूर्ति स्थिर रहती है और उसे माँग के अनुसार घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता ।**

(2) अल्पकाल (Short period) –इसमे संयंत्र की वर्तमान उत्पादन-क्षमता का गहरा उपयोग करके कुछ सीमा तक वस्तु की पूर्ति बढ़ायी जा सकती है एवं आवश्यकता पड़ने पर इसका कम मात्रा मे उपयोग करके कुछ सीमा तक पूर्ति घटायी जा सकती है । लेकिन सयंत्र का आकार स्थिर रहता है । अतः मांग के परिवर्तनो के अनुसार कुछ सीमा तक पूर्ति मे परिवर्तन करना सम्भव होता है, लेकिन माग व पूर्ति मे पूरा सामजस्य स्थापित करना सम्भव नही होता । यहां भी दूध के दृष्टान्त को जारी रखते हुये यह कहा जा सकता है कि मांग के बढ़ने पर गाय-भैस आदि दुधारू पशुओ की खुराक मे परिवर्तन करके दूध की सप्लाई बढ़ाने का आवश्यक प्रयास किया जाता है । इसी प्रकार किसी भी औद्योगिक वस्तु की मांग के बढ़ने पर सयंत्र की वर्तमान उत्पादन -क्षमता का अधिक उपयोग करके (जैसे मशीन को ज्यादा शिफ्टो या पालियो मे चलाकर) उत्पादन बढ़ाया जा सकता है । माग के घटने पर संयंत्र का उपयोग कम करने का प्रयास किया गया है ताकि पूर्ति मे कुछ सीमा तक कमी की जा सके ।

अल्पकाल मे पूर्ति मे मांग के परिवर्तनो के अनुसार आवश्यक परिवर्तन करना तो सम्भव नहीं होता, फिर भी यथासम्भव संयत्र की उत्पादन -क्षमता का उपयोग कुछ सीमा तक बढ़ाया या घटाया जा सकता है ।

(3) दीर्घकाल (Long period) दीर्घकाल मे संयत्र का पैमाना व आकार बदला जा सकता है जिससे पूर्ति मे माग के परिवर्तनो के अनुकूल पूरा सामजस्य बैठाया जा सकता है । आधुनिक औद्योगिक टेक्नोलोजी के कारण संयत्र के कई प्रकार के आकार उपलब्ध हो गये है जिससे उत्पादन को मांग के अनुसार व्यवस्थित करना सम्भव हो गया है । अतः दीर्घकाल मे संयंत्र का पैमाना बदल कर उत्पत्ति मे माग के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है । पुनः दूध वाले दृष्टान्त को लेने पर, दीर्घकाल मे दुधारू पशुओ की संख्या बढ़ा कर दूध की सप्लाई बढ़ायी जा सकती है एव आवश्यकता पड़ने पर इनकी संख्या को कम करके इसकी सप्लाई घटायी जा सकती है ।

आधुनिक टेक्नोलोजी के फलस्वरुप औद्योगिक वस्तुओ मे संयंत्र के आकार को बदलकर पूर्ति मे मांग के अनुसार परिवर्तन करना सम्भव हो गया है; लेकिन जिस अवधि मे यह सम्भव हो पाता है, उसे दीर्घकाल एवं उस बाजार को दीर्घकालीन बाजार कहा जाता है ।

(4) अति दीर्घकाल (Very long period) अति दीर्घकाल मे स्वयं टेक्नोलोजी मे भी परिवर्तन हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि इन्पुटो की पहली वाली मात्राएँ पहले की तुलना मे उत्पत्ति की भिन्न मात्राएँ उत्पन्न करने की स्थिति मे आ जाती है। अत दीर्घकाल मे उत्पादन की तकनीक मे परिवर्तन, उत्पादित वस्तुओ के परिवर्तन, तथा इन्पुटो की किस्मो के परिवर्तन वस्तु की सप्लाई के परिवर्तनो को प्रभावित करते है। अभी तक (अल्पकाल व दीर्घकाल मे) हम उत्पादन की दी हुई तकनीक, दी हुई वस्तुएँ व इन्पुटो की दी हुई मात्राओ के दायरे में बधे थे, लेकिन अति दीर्घकाल मे ये सारे बधन टूट जाते है और टेक्नोलोजी के परिवर्तनो क कारण उत्पादन व उत्पादकता व्यापक रूप से प्रभावित होते है। आविष्कारो व नये-नये प्रयोगो के कारण *उत्पादन के क्षेत्र मे काया-पलट हो सकती है।* *आविष्कार का सम्बन्ध* जो किसी नई खोज से होता है, जिसके अन्तर्गत उत्पादन की नई तकनीक, नई प्रक्रिया, व नई वस्तु आदि की शुरुआत की जाती है और नये प्रयोगो का सम्बन्ध अविष्कार को किसी नये उपयोग के लगाने से होता है। इसके लिए *आवश्यक लाभ की सम्भावनाओ व अन्य आर्थिक प्रेरणाओ का होना जरूरी* माना गया है, क्योकि इनके होने पर ही अविष्कार का व्यावसायिक दृष्टि से उद्यमकर्त्ताओ के द्वारा उपयोग किया जाता है। आजकल विज्ञान व टेक्नोलोजी के विकास के फलस्वरूप उत्पादन के क्षेत्र मे नित्य नये परिवर्तन हो रहे है जिनका *समावेश अति दीर्घकाल के अध्ययन मे किया जाता है।*

(इ) कानूनी वैधता के अनुसार बाजार का वर्गीकरण

प्राय कानूनी व गैर-कानूनी बाजारो की भी चर्चा की जाती है। जब किसी वस्तु के उत्पादन, वितरण व मूल्यो पर सरकारी नियत्रण लगे होते है और व्यवहार मे उनकी पालना नही की जाती और काला बाजारी, मुनाफाखोरी व सग्रह आदि की स्थिति पैदा हो जाती है, तो गैर-कानूनी बाजार *या काला बाजार* माना जाता है। काला बाजार अर्थव्यवस्था मे कई प्रकार की विकृतियाँ (distortions) उत्पन्न कर देता है। इससे मुद्रास्फीति, असमानता व सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है, और नियोजन की सफलता मे बाधा पड़ती है। भारत मे इस समस्या ने काफी उग्र रूप धारण कर लिया है।

(ई) वस्तु-बाजार व साधन-बाजार (Product Market and Factor Market)

वस्तु बाजार मे वस्तुओ व सेवाओ का क्रय-विक्रय किया जाता है। इन बाजारो मे विक्रेता प्राय फर्मे होती हैं, एव क्रेता परिवार, अन्य व्यावसायिक फर्मे व सरकारे होती है। कुछ बाजारो मे उत्पादन के साधनो जैसे भूमि, पूँजी, *श्रम, उद्यम व प्रबन्ध का क्रय-विक्रय किया जाता* है और इनके मूल्य जैसे लगान, ब्याज, मजदूरी व लाभ आदि का निर्धारण किया जाता है। साधन-बाजारो में विक्रेता के रूप मे उत्पादन के स्वामी उपस्थित होते है और

क्रेता के रूप मे फर्में व सरकारे अदि उपस्थित होती है। व्यष्टि अर्थशास्त्र मे ज्यादातर वस्तु व साधन बाजारो का ही अध्ययन किया जाता है।

(उ) स्वतंत्र बाजार व नियन्त्रित बाजार

आजकल की अर्थव्यवस्था में बाजार के इस अन्तर को काफी महत्वपूर्ण माना गया है। स्वतत्र बाजार मे सरकारी हस्तक्षेप नही होता और क्रेता व विक्रेता माग व पूर्ति की शक्तियो के स्वतत्र सचालन के माध्यम से माल की मात्राएँ व कीमते निर्धारित करते है। ऐसा प्राय पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे पाया जाता है। नियत्रित बाजार मे सरकार का किसी न किसी रूप मे हस्तक्षेप पाया जाता है; जैसे उत्पादको को लाइसेंस देना, वितरण व मूल्यो पर नियत्रण लगाना जिससे क्रेताओ व विक्रेताओ की स्वतत्रता पर अकुश लग जाता है। नियोजित अर्थव्यवस्था मे नियन्त्रित बाजारो का उपयोग करके उत्पादन, वितरण व मूल्यो को सामाजिक हित मे प्रभावित किया जाता है। लेकिन इनका सचालन न होने पर काला बाजारी को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार व्यवहार मे नियन्त्रित बाजारो व काले बाजारो मे परस्पर सम्बन्ध पाया जाता है।

(ऊ) प्रतिस्पर्धा के आधार पर बाजारों का वर्गीकरण

बाजारो का यह वर्गीकरण सर्वाधिक लोकप्रिय व उपयोगी माना गया है क्योकि इसका उत्पादन की मात्रा व कीमत-निर्धारण से गहर सम्बन्ध होता है। इसे विक्रेता-पक्ष व क्रेता-पक्ष दोनो तरफ से देखा जा सकता है। इस अध्याय के शेष भाग मे इसी वर्गीकरण का विवेचन किया जायेगा ताकि व्यष्टि-अर्थशास्त्र के अन्तर्गत कीमत-निर्धारण ज्यादा अच्छी तरह से समझ मे आ सके।

(i) **विक्रेता-पक्ष की ओर से प्रतिस्पर्धा के आधार पर विभिन्न बाजार**—इसके अन्तर्गत पूर्ण प्रतिस्पर्धा, एकाधिकार, एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा, अल्पाधिकार आदि का विवेचन किया जाता है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे अनेक क्रेता व अनेक विक्रेता होते है तथा वस्तु समरूप या एक-सी मानी जाती है। इसमे एक फर्म के लिए वस्तु की कीमत दी हुई होती है। एकाधिकार मे एक वस्तु का उत्पादन एक अकेली फर्म होती है। एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा मे अनेक विक्रेता होते है, लेकिन उनकी वस्तुओ मे परस्पर अन्तर (product differentiation) पाये जाते है। अल्पाधिकार मे एक वस्तु के थोड़े-से विक्रेता होते है तथा वस्तुए एक-सी या भिन्न किस्म की हो सकती है।

(ii) **क्रेता-पक्ष की ओर से प्रतिस्पर्धा के आधार पर बाजार का वर्गीकरण**—यहा भी क्रेता-एकाधिकार (monopsony), क्रेता-अल्पाधिकार (oligopsony) द्विपक्षीय एकाधिकार (bilateral monopoly), (इसे चाहे तो विक्रेता-पक्ष की ओर भी दिखा सकते हैं) आदि की दशाएँ पायी जाती है।

क्रेता-एकाधिकार की दशा मे कोई उत्पादक किसी वस्तु, सेवा या साधन का अकेला खरीददार होता है। मान लीजिए, सरकार अनाज के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण कर देती है और समस्त अनाज की खरीद भारतीय खाद्य निगम की मार्फत करने लग जाती है तो यह अनाज के व्यापार मे क्रेता-एकाधिकार की दशा मानी जायगी। इसी प्रकार यदि किसी स्थान पर एक खान का मालिक अकेला श्रमिको को काम पर लगाने वाला होता है तो उसकी स्थिति भी क्रेता-एकाधिकारी की मानी जायेगी। जब किसी वस्तु व उत्पादन के साधन के थोड़े-से खरीददार होते है तो उसे क्रेता-अल्पाधिकार अथवा अल्पक्रेताधिकार (oligopsony) की स्थिति कहा जाता है।

द्विपक्षीय एकाधिकार (bilateral monopoly) मे एक विक्रेता (एकाधिकारी) तथा एक क्रेता (क्रेता-एकाधिकारी) होता है। जब मालिकों का सगठन मजदूरो के सगठन से किसी समस्या पर बातचीत करता है तो द्विपक्षीय एकाधिकार की दशा सामने आती है, जैसाकि हम ऊपर बतला चुके है, इस स्थिति को विक्रेता-पक्ष की ओर भी दिखाया जा सकता है। व्यवहार मे यह स्थिति बहुत कम पायी जाती है, फिर भी इसका काफी महत्त्व होता है, क्योकि इसका मजदूरी के निर्धारण व श्रमिको की मोलभाव करने की शक्ति पर प्रभाव पड़ता है।

अब हम प्रतिस्पर्धा के आधार पर पाये जाने वाले बाजारो के विभिन्न रूपो का विस्तृत रूप से विवेचन करते है।

विशुद्ध एव पूर्ण प्रतिस्पर्धा (Pure and Perfect Competition)

विशुद्ध प्रतिस्पर्धा बाजार की वह दशा होती है जिसमे एक वैयक्तिक फर्म की वस्तु की माग पूर्णतया लोचदार होती है। इस स्थिति मे फर्म प्रचलित बाजार भाव पर चाहे जितना माल बेच सकती है, लेकिन वह स्वय कीमत को प्रभावित नही कर सकती। ऐसी स्थिति मे एक फर्म का औसत आय-वक्र क्षैतिज (horizontal) आकार का होता है और X- अक्ष के समानान्तर पाया जाता है। यह नीचे चित्र 1 मे दर्शाया गया है।
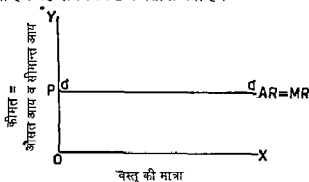
चित्र 1— विशुद्ध प्रतिस्पर्धा मे एक फर्म के समक्ष वस्तु का माग-वक्र

पिछले पृष्ठ पर बताया गये चित्र के अनुसार वस्तु की कीमत **OP** है जो बाजार मे कुल मांग व कुल पूर्ति की शक्तियो से निर्धारित हुई है। यह फर्म **OP** कीमत पर चाहे जितना माल बेच सकती है। यदि वह कीमत तनिक-सी घटा देती है तो उसके पास ग्राहको की भीड़ लग जायेगी जिससे उसका माल शीघ्र बिक जायेगा। यदि वह जरा- भी कीमत बढ़ा देती है तो उसकी कीमत एकदम घटकर शून्य पर आ जायेगी। अत. प्रचलित कीमत पर फर्म की वस्तु की माग पूर्णतया लोचदार (perfectly elastic) होती है। यही फर्म का औसत आय-वक्र (AR) होता है। औसत आय अथवा कीमत के स्थिर रहने से सीमान्त-आय **(MR)** भी स्थिर रहती है और यह औसत-आय के बराबर होती है।

विशुद्ध प्रतिस्पर्धा मे AR=MR एव दोनो का क्षैतिज होना आगे सारणी 1 से स्पष्ट हो जायेगा।

सारणी–1 विशुद्ध प्रतिस्पर्धा में एक फर्म की औसत आय व सीमान्त आय

वस्तु की इकाई (1)	औसत-आय या कीमत (AR or price) (2)	कुल आय (TR) (3)	सीमान्त आय (MR) (4)
1	5	5	5
2	5	10	5
3	5	15	5
4	5	20	5
5	5	25	5

यहा वस्तु की कीमत 5 रु. है जो स्थिर बनी रहती है। कॉलम 3 मे कुल आय दिखायी गई है जो कीमत को वस्तु की मात्रा से गुणा करने से प्राप्त होती है। अन्तिम कॉलम मे सीमान्त आय (MR) दिखायी गई है जो कॉलम (3) मे प्रत्येक बिन्दु पर कुल आय मे से पिछले बिन्दु की कुल आय को घटाने से प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए दो इकाइयो पर कुल आय= 10 रु. है जबकि एक इकाई पर यह 5 रु. है। अतः दूसरी इकाई के लिए सीमान्त आय (10-5) = 5 रु. की होगी। इसी प्रकार आगे भी यह 5 रु. के बराबर बनी रहेगी।

अब हमे यह देखना है कि उत्पादको मे विशुद्ध प्रतिस्पर्धा के अस्तित्व के लिए कौन-सी शर्तें आवश्यक होती हैं।

विशुद्ध प्रतिस्पर्धा की शर्तें (Condition of Pure Competition)

स्टेनियर व हेग के अनुसार विशुद्ध प्रतिस्पर्धा के लिए निम्न तीन शर्तें आवश्यक होती है।

(1) **अनेक फर्में** (Many firms) –एक उद्योग मे विशुद्ध प्रतिस्पर्धा की पहली शर्त यह है कि इसमे अनेक फर्में होती है। इसलिए अकेली फर्म का समस्त उद्योग की उत्पत्ति व कीमत पर कोई प्रभाव नही पड़ता। वह अपनी उत्पत्ति को घटा-बढ़ा सकती है,लेकिन इससे उद्योग मे कोई प्रभाव नही पड़ता है। एक फर्म समस्त उद्योग की कुल उत्पत्ति का इतना थोड़ा-सा अश उत्पन्न करती है कि उसके द्वारा अपनी उत्पत्ति मे काफी मात्रा मे परिवर्तन कर लेने पर भी उद्योग की कुल उत्पत्ति व कीमत पर कोई भी असर नही पड़ता। इस प्रकार एक वैयक्तिक फर्म कीमत को स्वीकार करने वाली (price-taker) होती है, न कि कीमत का निर्धारण (price maker) करने वाली।

(2) **समरूप वस्तुएें** (Homogeneous goods) - विशुद्ध प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत सभी फर्में ऐसी वस्तुएँ बनाती है जिन्हे ग्राहक एक-सी या समरूप मानते है। यही कारण है कि कोई भी उत्पादक अपनी वस्तु की कीमत ऊँची नही रख सकता। यदि वह ऊँची कीमत लेने लगता है तो ग्राहक दूसरे विक्रेताओ के पास चले जाते है। समरूप वस्तुओ के कारण ही समस्त बाजार मे उस वस्तु की एक ही कीमत पायी जाती है। यहा पर यह स्मरण रखना होगा कि उपभोक्ता ही इस बात का निर्णय करता है कि दो वस्तुएँ समरूप हैं अथवा नही। यदि उसके मस्तिष्क मे दो वस्तुओ के बीच वास्तविक या कृत्रिम भेद पैदा हो जाते है तो उनके भावो मे भी अन्तर उत्पन्न हो जायेगा। इन दो मान्यताओ के कारण ही एक फर्म का औसत आय वक्र क्षैतिज हो जाता है, क्योकि अनेक फर्में होने के कारण एक फर्म कीमत को प्रभावित नही कर सकती और वस्तुओ की समरूपता के कारण कीमत का अन्तर उत्पन्न नही हो पाता।

(3) **स्वतन्त्र प्रवेश** (Free entry) –विशुद्ध प्रतिस्पर्धा मे दीर्घकाल मे उद्योग मे कोई भी नयी फर्म प्रवेश कर सकती है। इस पर कोई रोक-टोक नही होती। यही कारण है कि उद्योग मे फर्मों की सख्या विशाल होती है। नयी फर्मों के आगमन से दीर्घकाल मे एक फर्म को केवल सामान्य लाभ ही मिल पाता है। इसी शर्त का दूसरा भाग यह है कि कोई भी फर्म उद्योग छोड़कर जा सकती है। यदि किसी फर्म को घाटा हो रहा हो तो वह उद्योग छोड़ कर बाहर जा सकती है।

इन तीन शर्तों के पूरा होने से इस अर्थ मे विशुद्ध प्रतिस्पर्धा पायी जाती है कि उसमे एकाधिकार का कोई तत्व नही होता। चेम्बरलेन ने विशुद्ध प्रतिस्पर्धा उस प्रतिस्पर्धा को कहा है जिसमे एकाधिकार के कोई भी तत्व नही

होते। इसमे एक फर्म का औसत आय वक्र एक क्षैतिज रेखा बन जाता है।[1]

यहा पर विशुद्ध प्रतिस्पर्धा (pure competition) व पूर्ण प्रतिस्पर्धा (perfect competion) मे भी अन्तर करना होगा। विशुद्ध प्रतिस्पर्धा के साथ निम्न अतिरिक्त शर्तें जुड़ने से पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति बन जाती है। ये वस्तुत पूर्ण बाजार की शर्तें होती है।

(1) बाजार की दशाओं का पूर्ण ज्ञान —पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे सभी क्रेताओ व विक्रेताओ को बाजार की दशाओ की पूरी जानकारी होती है। उन्हे कीमतो का पूरा ज्ञान होता है। इसलिए क्रेता कम-से कम कीमत पर माल खरीदने और विक्रेता ज्यादा से ज्यादा कीमत पर माल बेचने का प्रयास करते है। बाजार की दशाओ का पूर्ण ज्ञान न होने पर वे ऐसा नही कर पाते।

(2) उद्योगों के बीच साधनो की पूर्ण गतिशीलता —पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे विभिन्न उद्योगों के बीच उत्पादन के साधन पूर्णतया गतिशील होते है। एक साधन कम उत्पादकता के स्थान से अधिक उत्पादकता के स्थान पर जा सकता है जिससे उत्पादन के साधनो का विभिन्न उद्योगो के बीच बटवारा अनुकूलतम हो जाता है। इसी प्रकार साधन एक स्थान से दूसरे स्थान की तरफ भी गतिशील होते है। इसे स्थानीय गतिशीलता कह सकते है। साधन की गतिशीलता के फलस्वरूप उसकी कीमत विभिन्न उद्योगो व विभिन्न स्थानो मे एक-सी पायी जाती है।

(3) परिवहन लागत नहीं होती —पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे समस्त उत्पादक परस्पर इतने समीप रहकर काम करते है कि कोई परिवहन लागत नही लगती। परिवहन लागतों के पाये जाने पर कीमतो के अन्तर उत्पन्न हो जाते है जिससे पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा नही रह पाती।

इस प्रकार पूर्ण प्रतिस्पर्धा के लिए अनेक फर्में, समरूप वस्तु, स्वतत्र प्रवेश, बाजार का पूर्ण ज्ञान, साधनो की पूर्ण गतिशीलता एव परिवहन लागतो की अनुपस्थिति की शर्तें मान ली जाती है। इस विवेचन मे अनेक क्रेता भी माने जाते है जो परस्पर प्रतियोगिता करते है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति प्राय कुछ कृषिगत पदार्थों जैसे गेहूँ या कपास आदि के बाजारो मे पायी जा सकती है, जहा अनेक उत्पादक एक-सा माल

---

(1) ईकर्ट व लेफ्टविच ने विशुद्ध प्रतिस्पर्धा मे निम्न चार शर्तें शामिल की है— (1) एक-सी वस्तु (2) बाजार की तुलना मे प्रत्येक क्रेता या विक्रेता का छोटापन (3) वस्तु की माग, पूर्ति व कीमत पर कृत्रिम प्रतिबन्धो, जैसे सरकारी हस्तक्षेप का अभाव (4) साधनो व वस्तुओ की गतिशीलता, जिसका अर्थ यह है कि उत्पादन के साधन एक उपयोग से दूसरे उपयोग में जाने को स्वतत्र होते हैं और विक्रेता अपना माल व सेवाएँ जहा सर्वोच्च कीमते मिले, वहा बेचने को स्वतत्र होते हैं। देखिए Eckert and Leftwich, The Price System and Resource Allocation, 10th ed.1988, pp 44-45

लेकर बाजार मे आते है और अकेला उत्पादक वस्तु की कीमत को दिया हुआ मानकर चलता है। वह अपने कार्यों से कीमत को परिवर्तित नही कर सकता। वह कुल उत्पत्ति का बहुत छोटा- सा अश उत्पन्न करता है जिससे वह कीमत को प्रभावित नही कर पाता।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा के मॉडल मे उत्पत्ति व कीमत के निर्धारण का अध्ययन बहुत सुगम होता है। इसको आधार मानकर हम वास्तविक जगत मे पायी जाने वाली बाजार की दशाओ का अध्ययन ज्यादा अच्छी तरह से कर सकते है। इसीलिए अर्थशास्त्रियो ने पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशाओ के अध्ययन पर काफी बल दिया है। प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से एक छोर पर पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा पायी जाती है तो दूसरे छोर पर एकाधिकार की, जिसमे प्रतिस्पर्धा का पूर्णतया अभाव होता है। स्मरण रहे कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा वाले बाजार को पूर्ण बाजार कहते है तथा शेष सभी बाजारो, जैसे एकाधिकार, एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा व अल्पाधिकार के बाजारो को अपूर्ण बाजार कहते है।

अब हम एकाधिकार वाले बाजार की विशेषताओ का उल्लेख करेगे।

एकाधिकार (Monopoly)

एकाधिकार के अन्तर्गत एक ही फर्म एक दी हुई वस्तु की एकमात्र उत्पादक होती है और उस वस्तु के कोई निकट के प्रतियोगी स्थानापन्न पदार्थ नहीं होते है।[1] एकाधिकार की इस परिभाषा मे दो बातो पर ध्यान आकर्षित किया गया है। (1) एकाधिकार के अन्तर्गत एक उत्पादक एक वस्तु की कुल पूर्ति को नियन्त्रित करता है, (2) वह जिस वस्तु का निर्माण करता है, उसके कोई निकट या समीप के स्थानापन्न पदार्थ नही होते, क्योकि तभी उसका एकाधिकार चल पाता है। एकाधिकार मे फर्म व उद्योग का भेद समाप्त हो जाता है और एक फर्म का औसत आय वक्र (AR curve) नीचे की ओर झुकता है।

इस प्रकार एकाधिकार में एक फर्म की वस्तु के कोई स्थानापन्न पदार्थ नहीं पाये जाते। एक फर्म उस वस्तु के सम्पूर्ण बाजार पर स्वय कब्जा कर लेती है। एकाधिकारी फर्म यह नही सोचती कि इसके कार्यो से अन्य उद्योगो की फर्मों में किसी प्रकार की प्रतिशोध की भावना पैदा होगी। इसी प्रकार स्वय एक एकाधिकारी फर्म अन्य उद्योगो की फर्मों के कार्यों पर भी ध्यान नही देती। एकाधिकारी फर्म अपनी वस्तु की कीमत व उत्पत्ति के बारे में निर्णय लेने में पूर्ण स्वतत्र होती है। टेलीफोन सेवा एकाधिकार का एक सर्वोत्तम दृष्टान्त है। गैस-सर्विस भी एकाधिकार का दूसरा उत्तम दृष्टान्त माना जा सकता है।

---

1 'For a more realistic analysis, we turn to a producer who is called a 'monopolist' in the real world We consider the producer who controls the whole supply of a single commodity which has no close substitutes'
–Stonier and Hague op cit.,p 192.

यहा पर एकाधिकार की एक विशेष स्थिति अर्थात् 'विशुद्ध' एकाधिकार का अर्थ जान लेना उचित होगा । स्टेनियर व हेग के अनुसार, **विशुद्ध एकाधिकार में एक उत्पादक इतना शक्तिशाली होता है कि वह सदैव उपभोक्ताओ की सम्पूर्ण आय को स्वयं ही ले लेने की स्थिति में होता है, उसकी अपनी उत्पत्ति की मात्रा चाहे जितनी हो** । लेकिन 'विशुद्ध एकाधिकार' की यह स्थिति व्यवहार मे नही पायी जा सकती, क्योकि कोई भी एकाधिकारी सदैव उपभोक्ताओ की सम्पूर्ण आय को अपनी तरफ आकर्षित करने मे सफल नही हो सकता । विभिन्न उत्पादक उपभोक्ताओ की सीमित आमदनियो को लेने के लिए आपस मे प्रतिस्पर्धा करते रहते है । अत. विशुद्ध एकाधिकार के अस्तित्व के लिए एक उत्पादक को सभी वस्तुओ का उत्पादन करना होगा जो सम्भव नही होता । व्यवहार मे जो एकाधिकार की दशा पायी जाती है उसमे बहुत निकट की प्रतिस्पर्धा तो नही, लेकिन थोड़ी प्रतिस्पर्धा अवश्य पायी जाती है । 'विशुद्ध एकाधिकार' मे तो जरा भी प्रतिस्पर्धा नही होती । अत यह धारणा अवास्तविक तथा केवल सैद्धान्तिक महत्त्व की मानी गयी है ।[1]

जैसा कि एकाधिकार के विवेचन के शुरू मे कहा गया है वास्तविक जगत का एकाधिकारी एक वस्तु की सम्पूर्ण पूर्ति को नियन्त्रित करता है और उसकी वस्तु के निकट के स्थानापन्न पदार्थ नही होते । ऐसे एकाधिकारी के लिए औसत-आय-वक्र समस्त दूरी तक नीचे की ओर झुकेगा । उसके लिए *सीमान्त आय वक्र (MR) उसके औसत आय-वक्र (AR) से नीचे होगा ।*

नीचे सारणी मे एकाधिकार की दशा मे औसत आय व सीमान्त आय को दर्शाया गया है .

सारणी 2-एकाधिकार में सीमान्त आय तथा औसत आय * (रुपयो मे)

वस्तु की मात्रा	कीमत या औसत आय (AR)	कुल आय (TR)	सीमान्त आय (MR)
(1)	(2)	(3)	(4)
0	20	0	20
1	18	18	18
2	16	32	14
3	14	42	10
4	12	48	6
5	10	50	2
6	8	48	-2
7	6	42	-6

1 लेफ्टविच व ईकर्ट 'विशुद्ध एकाधिकार' को 'एकाधिकार' के अर्थ में ही प्रयुक्त करते हैं ।

* इन्हे सीमान्त आगम व औसत आगम भी कहते हैं ।

एकाधिकारी को माल की अधिक मात्रा बेचने के लिए कीमत घटानी पड़ती है । प्रस्तुत दृष्टात मे एक इकाई बेचने के लिए कीमत 18 रु से घटाकर 7 इकाइयो के लिए 6 रु कर दी जाती है । कॉलम (3) मे कुल आय निकाली गयी है जो pxq के बराबर होती है, जहा q वस्तु की मात्रा होती है । कॉलम (4) मे सीमान्त आय निकाली गयी है । वस्तु की प्रत्येक मात्रा पर कुल आय मे से पिछली मात्रा पर कुल आय घटाने से सीमान्त आय निकल आती है । *औसत आय (AR) घट रही है, और सीमान्त आय (MR) भी घट* रही है । सीमान्त आय औसत आय से नीचे रहती है । वस्तु की 6 इकाइयो पर सीमान्त आय ऋणात्मक हो जाती है जो आगे भी ऋणात्मक ही रहती है ।

यह निम्न चित्र की सहायता से समझाया जा सकता है ।
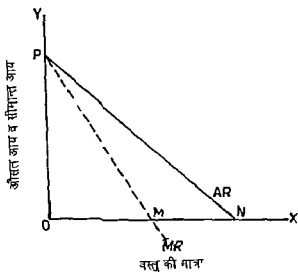
चित्र 2– एकाधिकार मे औसत आय व सीमान्त आय (AR and MR)

चित्र 2 मे एकाधिकार की स्थिति मे औसत आय (AR) व सीमान्त आय (MR) वक्र दर्शाये गये है । ये दोनो नीचे की ओर झुकते है । OP कीमत पर वस्तु की मात्रा शून्य है तथा ON वस्तु की मात्रा पर कीमत शून्य है । MR रेखा AR रेखा से नीचे होती है, जिसका स्पष्टीकरण ऊपर सारणी 2 मे दिया जा चुका है। इस प्रकार जहा पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे AR = MR होती है, वहा अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार की दशा मे AR व MR दोनो घटते है और MR < AR (MR की राशि AR की राशि से कम) होती है । M बिन्दु पर MR शून्य हो जाती है, तथा उसके बाद ऋणात्मक । अत एकाधिकार मे सीमान्त आय की राशि औसत आय अथवा कीमत से नीची होती है । चित्र मे M व N मात्राओ के बीच MR की राशि ऋणात्मक होती है ।

यहा पर सक्षेप मे एकाधिकारी की शक्ति क स्त्रोत एव एकाधिकार के विभिन्न रूपो का भी परिचय दिया जाता है।

एकाधिकारी शक्ति के स्रोत (Sources of Monopoly Power)

एकाधिकार के अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि उद्योग मे नयी फर्मों के प्रवेश पर रोक हो। ऐसा कई तरह से हो सकता है और उसी के आधार पर प्राय तीनो प्रकार के एकाधिकार का उल्लेख किया जाता है—

(1) प्राकृतिक एकाधिकार—यह भौगोलिक दशाओ व उद्योग की प्रकृति के कारण हो सकता है। यदि एक फर्म का कच्चे माल पर नियत्रण हो जाता है तो प्राकृतिक एकाधिकार को जन्म मिलता है। कई बार एक बहुत बड़ी फर्म स्थापित हो जाती है और उसे बड़े पैमाने की किफायते मिलने लगती है। अन्य छोटी फर्में उसके समक्ष प्रतियोगिता मे नही टिक पाती, इसलिए उस फर्म का उत्पादन पर एकाधिकार स्थापित हो जाता है।

(2) वैधानिक या सामाजिक एकाधिकार वाली फर्में—नयी वस्तु या नयी विधि पर एकाधिकार रखने वाली फर्म को पेटेण्ट अधिकार मिल जाने से *वैधानिक एकाधिकार को जन्म मिलता है। रेल, टेलीफोन, विद्युत तथा जल* की पूर्ति के सम्बन्ध मे जो एकाधिकार की दशा पायी जाती है वह वैधानिक *या सामाजिक एकाधिकार की स्थिति होती है।*

(3) ऐच्छिक एकाधिकार—*जब कट्टर प्रतियोगिता से उत्पादको को हानि होने की सम्भावना होती है तो वे ऐच्छिक सहयोग व सगठन स्थापित* कर लेते है जिनके प्राय निम्न रूप होते है

(अ) कीमत के सम्बन्ध में ऐच्छिक समझौता—उत्पादको के बीच न्यूनतम कीमत लेने के बारे मे समझौता कर लिया जाता है। कई बार कुल उत्पत्ति को सीमित करके एव विभिन्न उत्पादको के बीच इसका वितरण निश्चित करके भी कीमते ऊँची रखी जाती है। व्यवहार मे प्राय ऐच्छिक समझौतो को टालने की कोशिश की जाती है।

(आ) सयोजन (pooling) करके प्रत्येक फर्म के अश का निर्धारण—यह मात्रा, किस्म, क्षेत्र व समय के अनुसार हो सकता है। विभिन्न फर्मों का कुल *उत्पत्ति मे अश तय कर दिया जाता है, अथवा माल की किस्म के अनुसार या क्षेत्र व स्थान के अनुसार विभाजन कर दिया जाता है। कई बार उत्पादन का* अलग-अलग समय बाँट लिया जाता है। कुछ स्थितियो मे इन चारो का एक साथ समन्वय स्थापित कर दिया जाता है।

(इ) कार्टेल—कार्टेल को 'बिक्री की व्यवस्था' के लिए बनाया जा सकता है। इसके अधिकार विस्तृत या सीमित हो सकते है। यह बातचीत व आपसी सहयोग पर आधारित होता है। इसमे शामिल होने वाली फर्मों को उत्पादन के क्षेत्र मे काफी स्वतत्रता रहती है। प्राय एक शक्तिशाली बड़ी फर्म कार्टेल के निर्णयो को प्रभावित कर पाती है।

(ई) ट्रस्ट--यह एक स्थायी सगठन होता है जो कई फर्मों को मिलाकर अथवा एक फर्म मे सबको विलीन करके बनाया जाता है । इससे बड़े पैमाने की किफायते बढ़ जाती है तथा लागते कम हो जाती है ।

भारत मे व्यावसायिक समूहो व परिवारो के निर्माण से अर्थव्यवस्था में एकाधिकारी प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला है । एक बड़े व्यावसायिक घराने के अन्तर्गत कई कम्पनिया होती है, जिन पर प्रमुख नियत्रण उसी विशिष्ट व्यावसायिक घराने या औद्योगिक समूह का होता है ।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (Imperfect Competition)

पूर्ण प्रतिस्पर्धा एव एकाधिकार तो बाजार की दो विशेष दशाएँ होती है । व्यवहार मे अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की कई दशाएँ पायी जाती है जिनमे फर्मों की सख्या व वस्तु की समरूपता या वस्तु-भेद को लेकर काफी अन्तर होते हैं । यहा पर हम अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दो प्रमुख दशाओ की चर्चा करेगे । इनमे एक तो एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की दशा है और दूसरी अल्प-विक्रेताधिकार या अल्पाधिकार की । इनका नीचे क्रमश वर्णन किया जाता है–

(1) एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा (Monopolistic competition)- बाजार के इस रूप मे अनेक फर्मे पायी जाती है और साथ मे वस्तु-विभेद या अतर भी पाया जाता है । अनेक फर्मों के होने से प्रतिस्पर्धा की स्थिति पायी जाती है और वस्तु-विभेद के कारण प्रत्येक फर्म का थोड़ा एकाधिकार भी होता है, अर्थात् एक फर्म अपनी वस्तु की कीमत को कुछ सीमा तक प्रभावित कर पाती है । ग्राहक अपनी पसन्द के कारण कुछ विक्रेताओ को उनके माल की थोड़ी ऊँची कीमत भी दे सकते है । कुछ मिठाई बेचने वाले अपने माल की कीमत थोड़ी ऊँची रखकर भी ग्राहको को आकर्षित कर पाते हैं, क्योंकि ग्राहक किसी न किसी कारण से उनकी मिठाई को दूसरो की मिठाई से अधिक उत्तम समझते है । लेकिन ये प्रतिस्पर्धा के भय से कीमत को बहुत ऊँचा भी नही रख सकते, अन्यथा उनके लगभग सभी ग्राहक दूसरी तरफ चले जायेगे । एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा मे विशेषतया अल्पकाल मे फर्म का औसत आय-वक्र प्राय काफी लोचदार होता है जो चित्र 3 मे दर्शाया गया है।

एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा मे एक फर्म के द्वारा कीमत के थोड़ा घटाने से (चित्र 3 मे OP से OP1) उसके माल की माग काफी बढ़ जाती है (OQ से OQ1) क्योकि कई ग्राहक अन्य विक्रेताओ से हटकर इसकी तरफ आने लगते है । यदि यह फर्म कीमत थोड़ी बढ़ा देती है (OP1 से OP) तो इसके काफी ग्राहक अन्य प्रतिस्पर्धी फर्मों की ओर चले जाते है जिससे इसके लिए माग काफी घट जाती है (OQ1 से OQ) । अत कीमत घटाने पर इस फर्म के माल की माग काफी बढ़ जायेगी, हालाँकि अन्य फर्मों मे से प्रत्येक को विशेष हानि नही होगी । इसी तरह कीमत बढ़ाने से इस फर्म के माल की मांग

काफी घट जायेगी, हालाँकि अन्य फर्मों मे से प्रत्येक को कोई विशेष लाभ नही मिल पायेगा, क्योकि इसके ग्राहक अन्य कई फर्मों मे बट जायेगे ।
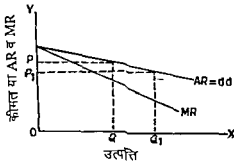
चित्र 3—एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा (अल्पकाल मे) AR व MR

एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की मुख्य विशेषता यह होती है कि इसमे विभिन्न फर्मों के कीमत व उत्पत्ति निर्णय एक दूसरे से स्वतत्र होते है । एक फर्म कीमत निर्धारित करते समय या बदलते समय इस बात की परवाह नही करती कि अन्य फर्मों पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी । कारण यह है कि इसमे फर्मों की सख्या काफी अधिक होती है ।

प्रोफेसर चेम्बरलेन ने एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा का वर्णन अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक The Theory Of Monopolistic Competition मे किया है । अमरीका मे इस तरह के बाजार का रूप काफी विकसित हुआ है । भारत मे भी कई प्रकार के नहाने की साबुनो, हेयर-ऑयल, टूथपेस्ट, ब्रुश, एव सेवाओ के क्षेत्र मे खुदरा व्यापारियो, ड्राइक्लीनरो, टेलरो, हेयर-कटिंग सेलूनो व होटलो तथा विश्रान्ति गृहो के सम्बन्ध मे एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की दशा देखने को मिलती है । पाश्चात्य देशो मे तथा भारत मे भी महानगरो मे प्राय स्त्रियो के होजियरी उद्योग, विभिन्न प्रकार के वस्त्रो तथा सेवा-व्यापारो मे एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा देखने को मिलती है ।

(2) अल्पविक्रेताधिकार या अल्पाधिकार (Oligopoly)—इसमे थोड़े से विक्रेता होते है और वस्तु एक-सी हो सकती है या वस्तु-भेद भी पाया जा सकता है । जब कुछ फर्मे एक-सी वस्तु बेचती हैं तो उसे विशुद्ध अल्पविक्रेताधिकार (pure oligopoly) कहते है । यह स्थिति प्राय सीमेट, एल्यूमीनियम व इस्पात उद्योगो मे पायी जाती है । जब वस्तु-भेद पाया जाता है तो उसे भेदात्मक अल्पविक्रेताधिकार (differentiated oligopoly) कहते है । प्राय यह देखा जाता है कि किसी एक विषय पर बाजार मे तीन-चार प्रमुख पाठ्य-पुस्तके उपलब्ध होती हैं, जिनमे परस्पर कुछ अन्तर भी पाये जाते है । यह वस्तु-विभेद वाले अल्पविक्रेताधिकार का उदाहरण माना जा सकता

है । मोटरगाड़ियाँ, स्कूटर,मोपेड, रेडियो, टी. वी. आदि भेदात्मक अल्पविक्रेताधिकार की स्थिति मे शामिल किये जाते है ।

अल्पविक्रेताधिकार मे प्रतियोगी फर्मों के व्यवहार व प्रतिक्रियाओ का एक फर्म के व्यवहार पर काफी प्रभाव पड़ता है । मान लीजिए, टेलीविजन का निर्माण करने वाली चार बड़ी फर्मे है । उनमे से एक फर्म अपने टी वी के भाव घटा देती है और हम उसकी माग पर उसका प्रभाव देखना चाहते है । इस सम्बन्ध मे कुछ भी निश्चित नही कहा जा सकता, क्योकि इस फर्म की माग पर प्रतियोगी फर्मों की प्रतिक्रियाओ का प्रभाव पड़ेगा । यदि अन्य फर्मे स्वय कीमते घटाकर बदला नही ले तो पहली फर्म अपनी कीमत घटाकर उनके काफी ग्राहक तोड़ लेगी । यदि वे भी उतनी ही कीमते घटाते है तो दूसरा ही प्रभाव पड़ेगा । यह भी सम्भव है कि अन्य फर्मे अपनी कीमते और भी ज्यादा घटाकर इस फर्म को ऐसा मुँहतोड़ जवाब दे कि उसकी माग की मात्रा पहले से भी कम हो जाय । इसलिए अल्पविक्रेताधिकार मे एक फ़र्म का माग-वक्र या औसत आय-वक्र बनाना कठिन होता है क्योकि प्रतिस्पर्धी फर्मों की प्रतिक्रियाओ का पता नही लगाया जा सकता ।

अल्पविक्रेताधिकार फर्म के लिए कीमत-बेलोचता (price-rigidity) की स्थिति मे 'विकुचित' या 'मोड़-युक्त' माग-वक्र (kinked demand curve) की चर्चा की जाती है । यह चित्र 4 मे दर्शायी गयी है ।
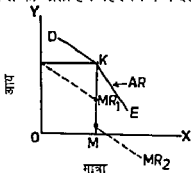
चित्र-4 अल्पविक्रेताधिकार मे मोड़-युक्त या विकुचित माग-वक्र

इसमे K कीमत से ऊपर कीमत बढ़ाने से वस्तु की माग काफी घट जायेगी, क्योकि माग लोचदार है । लेकिन K कीमत से नीची कीमत करने से माग मामूली ही बढ़ेगी, क्योकि माग बेलोच है । फर्म का माग-वक्र या AR वक्र DKE है जिसमे K पर मोड़ पाया जाता है । MR1 तथा MR 2 वक्र के बीच मे रिक्त स्थान होगा ।

सारणी 3 प्रतिस्पर्धा के आधार पर विभिन्न प्रकार के बाजारों में अन्तर का संक्षिप्त परिचय [1]

प्रतिस्पर्धा की किस्म	उत्पादकों की संख्या तथा वस्तु-विभेद का अंश	अर्थव्यवस्था के किस भाग में पायी जाती है?	कीमत पर नियंत्रण का अंश	बिक्री की विधियाँ
1 पूर्ण प्रतिस्पर्धा (Perfect Competition)	अनेक उत्पादक एक-सी वस्तुऐं	कुछ कृषिगत पदार्थों (जैसे गेहूँ या कपास का बाजार)	जरा भी नहीं	बाजार में विनिमय या नीलामी
(2) एकाधिकारात्मक* (Monopolistic competition)	अनेक उत्पादक वस्तु में असली व काल्पनिक भेद (वस्तु भेद)	टूथपेस्ट खुदरा व्यापार कम्पनियाँ		
(3) अल्पविक्रेताधिकार या अल्पाधिकार (Oligopoly)	थोड़े उत्पादक या विक्रेता वस्तु में बहुत थोड़ा भेद या कोई भेद नहीं	इस्पात अल्यूमिनियम	कुछ	विज्ञापन व वस्तु की किस्म के अनुसार प्रतियोगिता
4 पूर्ण एकाधिकार	अकेला उत्पादक विशेष वस्तु जिसके निकट के स्थानापत्र नहीं होते	कुछ सार्वजनिक उपयोगिता के उद्योग (public utilities), (विद्युत गैस जल आदि)	काफी	विकासोन्मुख किस्म का विज्ञापन जिसके द्वारा जनता से सम्पर्क बढ़ाया जाता है।

* सेमुअलसन व नोरदाउस ने यहा पर अपूर्ण प्रतिस्पर्धा शब्द का उपयोग किया गया है।

बाजार के विभिन्न रूपों को उपर्युक्त सारणी मे स्पष्ट किया गया है। प्रस्तुत सारणी मे बाजार के विभिन्न रूपो मे निम्न आधारो पर भेद किया गया है

(i) उत्पादको की सख्या

(ii) वस्तु विभद का अश,

(iii) यह अर्थव्यवस्था के किस भाग मे पाया जाता है ?

(iv) कीमत पर नियत्रण का अश कितना है ?

(v) बिक्री किस तरह की जाती है ?

हमने देखा कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे अनेक उत्पादक होते हैं तथा वस्तुएँ एक-सी होती है। एक उत्पादक कीमत पर जरा भी प्रभाव नही पड़ता। एकाधिकार मे वस्तु के निकट के स्थानापत्र पदार्थ नही पाये जाते और उत्पादक का कीमत पर काफी नियत्रण होता है।

अल्पाधिकार व एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा दोनो अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशाएँ मानी जाती है। विशुद्ध अल्पाधिकार की दशा को पहचानना भी कठिन नही होता, क्योकि इसमे थोड़े से उत्पादक एक-सी वस्तु का उत्पादन करते है। ग्राहक उनमे अन्तर नही करते। ऐसा प्राय सीमेट, चीनी या इस्पात आदि वस्तुओ मे देखा जाता है, बशर्ते कि क्रेता कुछ उत्पादको की सीमेट, चीनी या इस्पात मे परस्पर अन्तर न माने, और वे इनमे से किसी की भी सम्बन्धित वस्तु को खरीदने को उद्यत रहें।

लेकिन व्यवहार मे विभेदात्मक अल्पाधिकार तथा एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा मे अन्तर करने मे कुछ कठिनाई होती है। इन दोनो मे वस्तु भेद तो पाया जाता है, लेकिन एक मे फर्मों की सख्या कम होती है और दूसरे मे ज्यादा होती है। फिर अल्पाधिकार मे विभिन्न फर्मों के कीमत-उत्पत्ति निर्णय परस्पर निर्भर होते है, जबकि एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा मे वे एक-दूसरे से स्वतत्र होते है।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर हम बाजार के विभिन्न वर्गीकरणो का साराश निम्न सारणी मे प्रस्तुत करते है

सारणी — 4 बाजार के विभिन्न रूप

क्षेत्र के अनुसार	समय/अवधि के अनुसार	कानूनी वैधता के अनुसार	वस्तु या साधन का आधार	स्वतत्र या नियत्रित	प्रतिस्पर्धा के अनुसार
(i) स्थानीय (ii) राष्ट्रीय (iii) अन्तर्राष्ट्रीय	(i) अति अल्पकाल (ii) अल्पकाल (iii) दीर्घकाल (v) अति दीर्घ काल	(i) सामान्य बाजार (ii) काला बाजार	(i) वस्तु बाजार (ii) साधन-बाजार	(i) स्वतंत्र बाजार (ii) नियत्रित बाजार	() विक्रेता पक्ष* (i) क्रेता पक्ष+

* विक्रेता पक्ष

(अ) पूर्ण प्रतिस्पर्धा (पूर्ण बाजार)

(ब) एकाधिकार

(स) एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा (अपूर्ण बाजार)

(द) अल्पाधिकार

\+ क्रेता पक्ष

(अ) क्रेता एकाधिकार (monopsony)

(ब) क्रेता अल्पाधिकार

(स) द्विपक्षीय एकाधिकार

(इसे विक्रेता-पक्ष में भी दिखाया जा सकता है।)

विभिन्न प्रकार के बाजारो की पहचान से सम्बन्धित प्रश्न

निम्न दशाओ मे बाजार के ढाचे को पहचानिये और उसके समर्थन मे अपने तर्क दीजिये—

(अ) भारत की मण्डियो मे गेहूँ का बाजार।

(ब) हिन्दुस्तान स्टेण्डर्ड, प्रीमियर ऑटोमोबाइल्स, हिन्दुस्तान मोटर्स लि. तथा मारुति लि. द्वारा कारो का उत्पादन ।

(स) नहाने का साबुन लिरिल ।

(द) भिलाई इस्पात के कारखाने का बिक्री योग्य इस्पात ।

(ए) बड़े शहर मे नगरपालिका निगम द्वारा जल की पूर्ति ।

(ऐ) ओनीडा टी.वी. ।

उत्तर– (अ) भारत की मण्डियो मे गेहूँ का बाजार पूर्ण प्रतिस्पर्धा के समीप माना जा सकता है, क्योकि इसमे अनेक क्रेता व अनेक विक्रेता, समरूप वस्तु, आदि शर्तें पूरी होती है । एक मण्डी मे बहुत से किसान अपना गेहूँ बिक्री के लिए लेते है । एक किसान गेहूँ की कीमत को प्रभावित नहीं कर सकता । वैसे मण्डी मे कई तरह का गेहूँ पाया जा सकता है, लेकिन यहाँ यह कल्पना कर ली गयी है कि एक मण्डी मे ज्यादा मात्रा मे एक से गेहूँ की ही आवन होती है । वैसे भी यदि गेहूँ की कई किस्मो की आवन माने; जैसे कल्याण सोना, लाल गेहूँ, फार्मी गेहूँ, आदि तो भी इनमे से प्रत्येक किस्म के क्रेता-विक्रेता अनेक होते है, जिससे प्रत्येक किस्म के गेहूँ के सम्बन्ध मे पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मानी जा सकती है, अथवा समस्त गेहूँ के बाजार की दृष्टि से गेहूँ की कई किस्मो के होने के कारण एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा (वस्तु-विभेद के कारण) की स्थिति मानी जा सकती है ।

(ब) यहा चार कार-उत्पादको द्वारा भिन्न-भिन्न किस्म की कारो के बनाने की स्थिति होने के कारण भेदात्मक अल्पाधिकार (differentiated oligopoly) की दशा है । कारो के ग्राहक अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार कारे खरीदने का निर्णय लेते है, इसलिए उनके मस्तिष्क मे इनकी कारे एक-सी नही होती ।

(स) लिरिल नहाने का साबुन एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की बाजार-स्थिति मे माना जा सकता है क्योकि इसकी मांग काफी लोचदार होती है । लिरिल की कीमत प्रति टिकिया 5.50 रुपये से घटाकर 5.0 रुपये कर देने से (अन्य नहाने की साबुनो के भाव यथावत् रहने पर) इस ब्राण्ड की मांग काफी बढ़ जायेगी, क्योकि रेक्सोना, गगा, हमाम, लक्स, डेटोल सोप, ओ.के., लाइफबॉय, आदि के ग्राहक सम्भवत- लिरिल की तरफ आकर्षित होने लगेगे । इसी प्रकार लिरिल के दाम बढ़ने पर इसकी माग काफी कम भी हो सकती है क्योकि ग्राहक अन्य साबुन खरीदने लग जाते है ।

चूंकि नहाने की साबुनो के बहुत से ब्राण्ड चल पड़े हैं, इसलिए यह एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की दशा मे भी लिया जा सकता है, अन्यथा यदि केवल तीन-चार ब्राण्डो मे ही परस्पर प्रतिस्पर्धा होती तो यह भेदात्मक अल्पाधिकार की दशा मानी जा सकती थी ।

(द) भिलाई इस्पात के कारखाने का इस्पात अल्पाधिकार (oligopoly) की स्थिति मे शामिल किया जायगा, क्योंकि सार्वजनिक क्षेत्र मे इस्पात के अन्य कारखाने दुर्गापुर, राउरकेला व बोकारो मे है, तथा निजी क्षेत्र मे टाटा का कारखाना है। अत. यह कुछेक उत्पादको की स्थिति है। इस्पात को एक-सा मानने पर यह विशुद्ध अल्पाधिकार के अन्तर्गत लिया जायगा। यदि इनके इस्पात मे अन्तर माने तो भेदात्मक अल्पाधिकार की दशा बन जायेगी। वैसे अर्थशास्त्री इस्पात का दृष्टान्त प्राय विशुद्ध अल्पाधिकार मे ही लिया करते है।

(ए) बड़े शहर मे नगरपालिका निगम द्वारा 'जल की पूर्ति' सार्वजनिक उपयोगिता की वस्तु या सेवा से सम्बन्ध रखने के कारण एकाधिकार की दशा मे आती है।

(ऐ) ओनीडा टी वी भेदात्मक अल्पाधिकार की स्थिति मे लिया जायगा क्योंकि इसे टी.वी. के अन्य उत्पादको से प्रतिस्पर्धा करनी होती है।

भारत में बाजार का कौन-सा रूप सबसे ज्यादा लोकप्रिय है ?

भारत एक विकासशील राष्ट्र है, यहाँ नयी-नयी वस्तुओ के कारखाने खोले जा रहे हैं और देश का औद्योगीकरण किया जा रहा है। देश मे कृषिगत पदार्थों मे तो बहुधा पूर्ण प्रतिस्पर्धा के बाजार की स्थिति देखने को मिलती है और परिवहन, जल की पूर्ति, विद्युत, गैस आदि मे बहुत कुछ एकाधिकार की दशाएँ पायी जाती है। लेकिन अधिकाश औद्योगिक वस्तुओ जैसे सीमेट, कागज, इस्पात, कारो, मशीनो आदि मे प्रत्येक मे थोड़े-से उत्पादको का प्रभाव होने से भारतीय उद्योगो मे अल्पाधिकार की दशा काफी प्रचलित हो गयी है। बम्बई विश्वविद्यालय के औद्योगिक अर्थशास्त्र के प्रोफेसर जे सी सण्डेसरा (J.C. Sandesara) ने बतलाया है कि भारत मे 1970 मे चोटी की 4 फर्मों का इन्जीनियरी व रसायन उद्योगो मे उच्च श्रेणी का नियत्रण पाया गया था। 33% व अधिक का केन्द्रीयकरण, अर्थात् ऊँचा केन्द्रीयकरण, जूतो, रबड़ व रबड़ पदार्थों, पेट्रोल पदार्थों, कोयला, मनोरजन की सेवाओ (सिनेमा वगैरा) मे पाया गया था। अल्पाधिकार की दशा मे उत्पत्ति पर प्रतिबन्ध तथा मुनाफाखोरी को प्रोत्साहन मिलता है।

लेकिन देश का तेजी से औद्योगिक विकास होने तथा वस्तु-विभेद के बढ़ने एव उत्पादको की सख्या के बढ़ने से एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा का वातावरण भी बनता व बढ़ता जा रहा है। औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रो, जैसे अमरीका, कनाडा, जापान आदि मे एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा का अधिक प्रभाव देखने को मिलता है।

प्रश्न

1. पूर्ण प्रतियोगिता एव अपूर्ण प्रतियोगिता बाजारों में अन्तर कीजिए।
(Raj Iyr 1994)

2 एकाधिकार का अर्थ और विशेषताए समझाइये।

3 एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा के लक्षण समझाकर लिखिए। इसमें माग वक्र का परिचय दीजिये।

4 अल्पाधिकार की दशा कब पायी जाती है ? इसमें शुद्ध व भेदात्मक स्थितियो में अन्तर करिये। भेदात्मक अल्पाधिकार व एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में उदाहरण देकर अतर कीजिये।

5 सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ?

(i) एकाधिकारी बाजार (Raj Iyr 1993)

6 निम्नलिखित दशाओं में बाजार के रूप की पहचान कीजिए।

(i) वीडियोकोन वी सी आर,(ii) केल्विनेटर रेफ्रिजरेटर, (iii) सूती वस्त्र की मिले (iv) एक शहर में पेट्रोल के चार डिपो,(v) जयपुर में ड्राइक्लीनर्स (vi) रेलवे (vii) इण्डियन एयरलाइस,(viii) राजस्थान रोडवेज,(ix) बजाज स्कूटर (x) जयपुर दूरदर्शन,(xi) आकाशवाणी।

उत्तर -

(i) भेदात्मक अल्पाधिकार (ii) भेदात्मक अल्पाधिकार,(iii) लगभग एक-सा वस्त्र बनाने वाली मिलों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा,(iv) शुद्ध अल्पाधिकार (v) भेदात्मक अल्पाधिकार,(vi) एकाधिकार (vii) एकाधिकार (viii) राष्ट्रीयकृत मार्ग पर एकाधिकार,जिन मार्गों पर प्राइवेट बसों को परमिट है उनमें प्रतिस्पर्धा की स्थिति, (ix) भेदात्मक अल्पाधिकार,(x) एकाधिकार,(xi) एकाधिकार।

7 बाजार की परिभाषा दीजिए। आप एकाधिकार और पूर्ण प्रतियोगिता में कैसे भेद करेंगे ? (Raj Iyr 1992)

राष्ट्रीय आय व सम्बद्ध अवधारणाएँ
(National Income and Related Concepts)

किसी भी अर्थव्यवस्था की आर्थिक प्रगति की अनुमान उसमे उत्पादित वस्तुओ व सेवाओ के मूल्य से लगाया जाता है । राष्ट्रीय आय की सहायता से दो देशो के आर्थिक विकास की तुलना की जा सकती है । राष्ट्रीय आय के अध्ययन का महत्व अल्पकालीन व दीर्घकालीन दोनो दृष्टियो से होता है । इसके अल्पकालीन उतार चढ़ावो से आर्थिक तेजी मन्दी की दशाओ, अर्थात् व्यापार चक्रो का अध्ययन किया जाता है तथा दीर्घकालीन परिवर्तनो से आर्थिक विकास की दर ज्ञात की जाती है, इसलिए आजकल अर्थशास्त्र मे राष्ट्रीय आय के अध्ययन का महत्व बढ़ गया है । इसका देश के उत्पादन, उपभोग व रोजगार आदि से गहरा सम्बन्ध होता है । जब 1930 की दशाब्दी मे विश्व मे महान आर्थिक मदी छा गई थी तब राष्ट्रीय आय के अध्ययन का महत्व काफी बढ़ गया था । हम इस अध्याय मे राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित विभिन्न मूलभूत अवधारणाओ का अर्थ स्पष्ट करेगे और साथ मे यह भी बतलायेगे कि किस प्रकार राष्ट्रीय उत्पत्ति, राष्ट्रीय आय व राष्ट्रीय व्यय तीनो एक दूसरे के बराबर होते है । राष्ट्रीय उत्पत्ति अथवा राष्ट्रीय आय की चर्चा को भारतीय उदाहरणो से समझाया जायगा, ताकि पाठको को अपने देश की स्थिति का समुचित ज्ञान हो सके ।

हम पहले स्टॉक व प्रवाह की अवधारणाओ के विवेचन मे बतला चुके है कि राष्ट्रीय आय एक प्रवाह होती है, जबकि मुद्रा की पूर्ति एक स्टॉक होती है ।

राष्ट्रीय उत्पत्ति के तीन माप सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (Gross National Product) सकल राष्ट्रीय आय (Gross National Income) तथा सकल राष्ट्रीय व्यय (Gross National Expenditure) ।

1 सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) —यह एक देश मे एक वर्ष की अवधि में उत्पादित समस्त वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य के बराबर होती है । GNP वस्तु-प्रवाह (Goods flow) को व्यक्त करती है । प्रति वर्ष देश मे अनेक वस्तुओ व वस्तुओ जैसे गेहूँ, वस्त्र, कार, कार्यालयो मे कर्मचारियो, तथा बाजार मे नाई, धोबी आदि की सेवाओ का उपयोग किया जाता है । इन

विभिन्न वस्तुओ व सेवाओ का मूल्य बाजार भावो पर लगाया जाता है। **हम आगे चलकर स्पष्ट करेगे कि GNP की गणना मे अन्तिम वस्तुओं का मूल्य ही शामिल किया जाता है,** जैसे डबल रोटी अन्तिम वस्तु होने के कारण इसका मूल्य GNP मे शामिल किया जायेगा और इसको उत्पन्न करने से सम्बन्धित, गेहूँ, आटे, आदि का मूल्य शामिल नही किया जायेगा, क्योंकि ये मध्यवर्ती या बीच की वस्तुएँ होती है। इसी प्रकार GNP मे चीनी का मूल्य लगा लेने पर गन्ने का मूल्य अलग से नही लगाया जायेगा।

2 **सकल राष्ट्रीय आय (GNI) — GNP के उत्पादन से प्राप्त समस्त आमदनियो (मजदूरी, मुनाफा, लगान, ब्याज, आदि) का योग सकल राष्ट्रीय आय (GNI) कहलाता है।** इस प्रकार GNI की धारणा आय-प्रवाह (earnings-flow) को व्यक्त करती है। यह उत्पादन के साधनो की आय जैसे—लगान, ब्याज, मजदूरी, व मुनाफो का जोड़ होती है।

राष्ट्रीय आय मे से फर्मों द्वारा रोके गये मुनाफे व प्रत्यक्ष कर (आयकर) घटाने से प्राप्त राशि खर्च के योग्य आय या प्रयोज्य आय (disposable income) कहलाती है। परिवार इसका उपयोग उपभोग व बचत के रूप मे कर सकते है। इस दृष्टि से विचार करने पर Y=C+S का सम्बन्ध प्राप्त होता है, जहाँ Y = आय, C = उपभोग व S = बचत के सूचक होते है।

3 **सकल राष्ट्रीय व्यय (GNE) — इसमें हम व्यय-पक्ष की ओर से चलते हैं एव वस्तुओ व सेवाओं पर किए गए अन्तिम व्यय को देखते हैं।** वस्तुए दो प्रकार की होती है।

(i) उपभोग्य वस्तुएँ (consumers' goods) तथा (ii) विनियोग वस्तुएँ (investment goods)। उपभोग्य वस्तुएँ चालू उपभोग के लिए व्यक्तियो व सरकार के द्वारा खरीदी जाती है, जिससे राष्ट्र मे कुल उपभोग-व्यय की राशि प्राप्त होती है। विनियोग की वस्तुएँ उसी वर्ष मे काम नही आ जाती, बल्कि ये भविष्य मे उत्पादन बढ़ाने मे योगदान देती हैं। ये भी निजी उद्योगो व सरकार दोनो के द्वारा खरीदी जाती हैं। इसी में हम निर्यात व आयात का अन्तर (E M) भी जोड़ देते है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सकल राष्ट्रीय आय की गणना मे हम राष्ट्रीय उत्पत्ति पर किये गए व्यय पर ध्यान देते है जिसमे उपभोग व्यय + विनियोग व्यय + (निर्यात - आयात) की गणना की जाती है। **इसका अधिक विस्तृत विवरण आगे चलकर किया गया है, जिसमें एक देश में समस्त उपभोक्ताओं द्वारा किए गए व्यय को C, सरकार द्वारा किए गए चालू व्यय को G घरेलू स्थिर पूँजी-निर्माण (निजी व सार्वजनिक दोनों के लिए) जैसे मशीन, फैक्ट्री की इमारत, आदि को I तथा निर्यात के आयात से आधिक्य को (E M) से सूचित करने पर GNE की राशि = C + G + I + (E −M) हो जाती है। चूँकि GNP = GNE होती है, इसलिए ये GNP के भी अग माने जा सकते है।**

व्यय के दृष्टिकोण से चलने पर हमें मूलतः Y = C + I का सम्बन्ध प्राप्त होता है।

एक फर्म का सरल उदाहरण—

मान लीजिए, एक फर्म डबल रोटी बनाती है। वर्ष में डबल रोटी का बाजार मूल्य 1,000 रु. होता है जो GNP कहलाता है और फर्म ने मजदूरी के रूप में 800 रु. बाँटे, किराया 100 रु. चुकाया, ब्याज 25 रु. दिया और शेष 75 रु. उसे लाभ के रूप में प्राप्त हुए। इस प्रकार कुल आमदनी का योग भी 1,000 रु. (GNI) के बराबर हुआ। इसे एक खाते के रूप में नीचे सूचित किया गया है। उपभोक्ता व सरकार डबल रोटी पर 1000 रु. व्यय करते हैं जिससे GNE की राशि प्राप्त होती है। इस प्रकार उत्पादन से आय उत्पन्न होती है तथा आय से व्यय उत्पन्न होता है। आगे चलकर व्यय के फलस्वरूप पुनः उत्पादन होता है। इस प्रकार आय व व्यय के प्रवाह निरन्तर चलते रहते हैं।

एक फर्म की आय का खाता

उत्पत्ति का मूल्य (Value of Output)		आमदनियाँ (Incomes)	
	रु.	उत्पादन की लागत	रु.
डबल रोटी का मूल्य	1000	मजदूरी	800
		किराया	100
		ब्याज	25
		लाभ (शेष राशि)	75
कुल	1000	कुल	1000

इसी उदाहरण को अनेक फर्मों पर लागू करके देखा जा सकता है। मूलतः परिणाम वैसा ही निकलेगा। समस्त फर्मों के लिए भी GNP = GNI होगी। राष्ट्रीय उत्पत्ति के इन दो मापों को अग्रांकित चित्र की सहायता से व्यक्त किया जा सकता है।
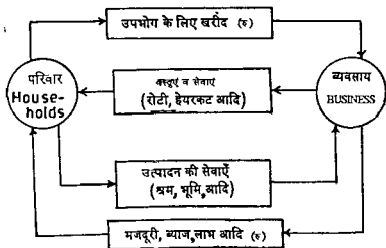
चित्र – 1 राष्ट्रीय उत्पत्ति के माप—वस्तु-प्रवाह व आय-प्रवाह
(Goods-flow and Earnings-flow)

चित्र के ऊपरी घेरे मे लोग अन्तिम वस्तुओ व सेवाओ पर अपनी मुद्रा व्यय करते है। व्यवसायी अपनी वस्तुएँ बेचते है और परिवार इन्हे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए खरीदते है। यह GNP का दृष्टिकोण व्यक्त करता है। चित्र के निचले घेरे मे लोग अपनी सेवाएँ व्यवसायियो या फर्मों को देते है और बदले मे फर्म अथवा व्यवसायी इनको मजदूरी, ब्याज, लगान व लाभाश के रूप मे आमदनी प्रदान करते है। यह घेरा GNI का दृष्टिकोण व्यक्त करता है।

स्मरण रहे कि इस विवेचन मे लाभ की मात्रा एक शेष राशि का काम करती है। इसलिए GNP = GNI होगी, अर्थात् वस्तु-प्रवाह की राशि आय-प्रवाह की राशि के बराबर होती है। हमने दृष्टान्त को सरल रखने के लिए फिलहाल इसमे बचत-विनियोग, विदेशी लेन-देन, आदि का समावेश नही किया है। लेकिन मुख्य बात समझ मे आ जाने पर इनका समावेश भी सरल हो जाता है।

GNP की गणना में उत्पत्ति का मूल्यांकन कैसे किया जाता है ?

हम पहले बतला चुके हैं कि GNP मे अनेक प्रकार की वस्तुएँ व सेवाएँ शामिल होती है। हम इनके 'मूल्य' आकते हैं। यदि एक कार डेढ़ लाख रुपये मे बिकती है तो GNP मे डेढ़ लाख रुपये जुड़ जायेगे। यदि नाई हजामत के दस रुपये लेता है तो GNP मे 10 रुपये जुड़ जायेगे, आदि। इस प्रकार विभिन्न वस्तुएँ व सेवाएँ अपने मूल्य के अनुसार GNP मे शामिल हो जाती हैं। वस्तुओ की मात्रा को उनके मूल्य से गुणा किया जाता है और इसी प्रकार सेवाओ के

लिए भी ऐसा ही किया जाता है। वस्तुओ व सेवाओं के भाव बाजार मे तय होते है, अथवा सरकार के द्वारा निश्चित किये जाते है।

एक से अधिक बार गिनती की समस्या को टालना आवश्यक

सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) की धारणा बड़ी सरल होती है। मान लीजिए 10 कारे बनी और प्रति कार डेढ़ लाख रुपये का मूल्य प्राप्त हुआ तो GNP मे डेढ़ लाख रुपया × 10 = 15 लाख रुपये जुड़ जायेगे। लेकिन यदि कार के उत्पादन मे लगे अन्य पदार्थों जैसे इस्पात, रबड़, आदि का मूल्य अलग से जोड़ दिया गया तो दोहरी गिनती (double counting) की समस्या उत्पन्न हो जायेगी जिससे GNP की राशि अनावश्यक रूप से बढ़ जायगी।

इसे रोटी का उदाहरण देकर समझाया जा सकता है। मान लीजिए एक डबलरोटी 3.50 रुपये मे बिकती है। कल्पना कीजिए कि रोटी बनाने वाले ने इसके लिए आटे की मिल से 2 रुपये मे आटा खरीदा। आटे की मिल वाले ने किसान से गेहूँ 1 50 रुपये मे खरीदा। इसी प्रकार किसान ने खाद, बीज, औजार आदि के रूप मे साधन जुटाये। मान लीजिए, किसान को एक रोटी जितना गेहूँ उत्पन्न करने मे इन साधनों के लिए 50 पैसे देने पड़े। अब यदि हम इन विभिन्न वस्तुओ का मूल्य जोड़ते जाएं तो कुल मूल्य 3.50 + 2 +1.50+0.50 = 7.50 रुपये हो जायगा जो गलत माना जायगा, क्योकि रोटी के मूल्य 3.50 रुपये मे आटे, गेहूँ, बीज आदि सभी के मूल्य पहले ही शामिल हो चुके है। अत. दो बार, तीन बार या अधिक बार की गिनती को टालने के लिए हमे अन्तिम वस्तु का मूल्य ही लगाना चाहिए।

सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) के मूल्यांकन की प्रत्येक उद्योग के द्वारा जोड़े गए मूल्य या वर्धित मूल्य (value added) की विधि—

प्रत्येक उद्योग के द्वारा जोड़ा गया या वर्धित मूल्य निकाल कर भी *सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) का मूल्य निकाला जा सकता है।* जोड़े गये मूल्य की अवधारणा बहुत सरल होती है। यह एक फर्म के बिक्री-मूल्य व इसके द्वारा अन्य फर्मों से खरीदे गये मूल्य के अन्तर के बराबर होती है।

उपर्युक्त रोटी के उदाहरण मे 'जोड़ा गया मूल्य' या वर्धित मूल्य आगे दिया गया है— (रुपयो मे)

वस्तु का नाम	बिक्री-मूल्य	वर्धित मूल्य या जोडा गया मूल्य	उद्योग का नाम
1. रोटी	3.50	3.50-2.00 = 1.50	रोटी-उद्योग
2. आटा	2.00	2.00-1.50 = 0.50	आटा-उद्योग
3. गेहूँ	1.50	1.50-0.50 = 1.00	गेहूँ-उद्योग
4. खाद, बीज, वगैरा	0.50	= 0.50	खाद-बीज उद्योग
कुल	7.50	3.50	

इस प्रकार 'जोड़ा गया मूल्य' बिक्री की राशि मे से खरीद की राशि घटाने से निकल आता है। एक विकसित औद्योगिक समाज मे किसी भी वस्तु का अन्तिम मूल्य विभिन्न उद्योगों के द्वारा प्रदान किया जाता है। प्रत्येक फर्म अन्य फर्मों से कच्चा माल खरीदती है, उन पर अपना कार्य करती है तथा उन्हे अन्य स्थानो पर बेचती है। इस प्रकार वह उनके मूल्य मे वृद्धि करती है।

अतः सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) को 'अन्तिम वस्तु के बाजार मूल्य' अथवा 'प्रत्येक उद्योग के द्वारा जोड़े गये मूल्य' की विधि का उपयोग करके मापा जा सकता है। उदाहरण के लिए रोटी के दृष्टान्त मे अन्तिम वस्तु के रूप मे एक डबल रोटी का मूल्य 3.50 रुपये है, अथवा रोटी से सम्बन्धित सभी उद्योगो जैसे स्वय रोटी उद्योग, आटा उद्योग, गेहूँ उद्योग, खाद-बीज उद्योग, आदि के द्वारा कुल जोड़ा गया मूल्य भी 3.50 रुपये ही है।

GNP में क्या जोड़ें व क्या न जोड़ें ?

स्मरण रहे कि GNP **केवल आर्थिक उत्पत्ति, अर्थात् बाजार के लिए किए गए उत्पादन का ही माप होती है।** लोग अपने घर पर कई प्रकार के कार्य किया करते है जैसे स्त्रियाँ भोजन बनाती है, कपड़े धोती है एवं अपने बच्चो की देखभाल करती है,लेकिन इन कार्यों का मूल्य GNP मे नही जोड़ा जाता, क्योकि ये आर्थिक कार्य नही होते एवं बाजार के लिए नही किए जाते। **अतः गृहिणी की सेवायें GNP में शामिल नहीं होतीं।** यदि ये ही कार्य क्रमशः रसोइए, धोबी व नौकर-नौकरानी द्वारा किए जाते (जिन्हे पारिश्रमिक देना पड़ता) तो इनका मूल्य GNP मे जुड़ जाता। लेकिन कही-कही बाजार का आधार छोड़ना भी पड़ता है। जैसे कृषक के द्वारा अपने खेत पर उगाई वस्तुओ का उपभोग GNP मे जोड़ा जाता है। इस प्रकार स्वय के मकान मे रहने वाले व्यक्ति के लिए उसका 'किराया लगाकर' GNP मे जोड़ना होगा। ऐसा मानना पड़ेगा कि वह व्यक्ति स्वय को अपने ही मकान का 'किराया' दे रहा है। यदि वह उस मकान को किराये पर देता तो उसे किराया मिलता।

पेन्शन व सार्वजनिक ऋणों का ब्याज GNP में नहीं जोड़ते-स्मरण रहे कि GNP में चालू वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य ही शामिल किया जाता है। इसलिए पेन्शन जैसी हस्तान्तरण की राशि (Transfer item) इसमें नहीं जोड़ी जाती, क्योकि पेन्शन का भुगतान चालू वस्तुओ व सेवाओ के बदले मे नही किया जाता, बल्कि भूतकाल की सेवाओ के बदले मे किया जाता है। इसी प्रकार **सार्वजनिक ऋण (सरकार द्वारा जनता से लिया गया कर्ज) का ब्याज भी GNP में शामिल नहीं होता,क्योंकि यह भी वर्तमान में उत्पन्न वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य नहीं होता।** वैसे सार्वजनिक ऋणो के ब्याज की राशि काफी ऊँची होती है।

GNP के विभिन्न अगो पर विचार करने से पूर्व **हमें प्रचलित मूल्यों पर राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP at current prices) एवं स्थिर मूल्यों पर सकल**

राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP at constant prices) के अन्तर को भी समझना होगा । प्रचलित मूल्यो पर GNP को कीमत-सूचनाक (Price index numbers) से डिफ्लेट या समायोजित करके स्थिर मूल्यो पर GNP निकाली जाती है । इसे नीचे एक सरल उदाहरण से समझाया जाता है ।

वित्तीय वर्ष (अप्रेल-मार्च)	(1) मौद्रिक GNP (करोड़ रु मे)	(2) कीमत-सूचनाक	(3) वास्तविक GNP (करोड़ रु मे)
1980-81	120	100	120/100 ×100 = 120
1990-91	180	150	180/150×100 = 120

कॉलम (1) को कॉलम (2) से डिफ्लेट (Deflate) करके हम वास्तविक GNP पर पहुँचते है, जो कॉलम (3) मे दिखाई गई है । कॉलम (1) व (3) के परिणाम काफी भिन्न है । मौद्रिक रूप मे तो GNP ड्योढ़ी हो गई, लेकिन वास्तविक रूप मे यह स्थिर रही है, क्योकि कीमते 1980-81 से 1990-91 के बीच मे ड्योढ़ी हो गई हैं ।

अर्थशास्त्रियो की विशेष रुचि वास्तविक GNP के परिवर्तनो का अध्ययन करने मे होती है, क्योकि एक अर्थव्यवस्था की वास्तविक प्रगति स्थिर मूल्यो पर GNP की सहायता से ही जानी जा सकती है ।

भारत मे राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध मे एक नया सिरीज चालू किया गया है जिसका आधार वर्ष 1980-81 किया गया है । इससे पूर्व का आधार-वर्ष 1970-71 था ।

भारत मे 1992 93 मे प्रचलित भावो (Current Prices) पर साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति अथवा राष्ट्रीय आय लगभग 5449 अरब रुपये तथा इसी वर्ष के लिए 1980 81 के भावो पर यह लगभग 2216 अरब रुपये रही है ।[1] इन दोनो मे अतर का कारण 1980-81 से 1992 93 के बीच मूल्यो का बढ़ जाना है । इस प्रकार 1992 93 मे स्थिर मूल्यो पर राष्ट्रीय आय प्रचलित मूल्यो पर राष्ट्रीय आय का लगभग 41% अश थी, जो यह दर्शाती है कि 1980-81 से 1992 93 की अवधि मे मूल्य-स्तर काफी बढ़ गया है ।

GNE अथवा GNP के अग (Components of GNE or GNP)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि एक देशवासियो द्वारा वर्ष मे

1 Economic Survey 1993 94 p S 3

किये गये अन्तिम 'व्यय' के जोड़ को सकल राष्ट्रीय व्यय (GNE) कहकर पुकारते है। इसमे देश के समस्त उपभोक्ताओ द्वारा किया गया व्यय (C), सरकार द्वारा वस्तुओ व सेवाओ पर किया गया चालू व्यय (G), घरेलू स्थिर पूँजी-निर्माण (I) (निजी क्षेत्र व सार्वजनिक क्षेत्र दोनो का) एवं निर्यात व आयात का अन्तर (E-M) आते है। चूँकि GNP = GNE होती है, इसलिये ये GNP के भी अंग माने जा सकते है। GNE की धारणा मे हम 'व्यय-पक्ष' की ओर से चलकर राष्ट्रीय उत्पत्ति के जोड़ पर पहुंचते है। GNE अथवा GNP के अंगो का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

1. उपभोक्ताओं द्वारा किया गया चालू व्यय(C)– इसमे उपभोक्ता-वर्ग द्वारा टिकाऊ व गैर-टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओ पर किया जाने वाला व्यय आता है। उपभोक्ता-वर्ग सेवाओ पर भी व्यय करता है। उपभोक्ता का व्यय GNE अथवा GNP का एक बड़ा अंश होता है। निर्धन देशो मे आय का काफी बड़ा भाग इसी मद के अन्तर्गत आता है।

2. सरकार द्वारा वस्तुओं व सेवाओं पर किया गया चालू व्यय(G)– आजकल उपभोक्ताओ के अलावा सरकार भी चालू वस्तुओ व सेवाओ की खरीद करती है। इसे G के अन्तर्गत दिखलाया जाता है। सरकार शिक्षा, चिकित्सा, सुरक्षा, कानून व व्यवस्था आदि सार्वजनिक क्रियाओ पर चालू व्यय करती है जिनकी राशि दिनोदिन बढ़ती जा रही है।

3. घरेलू स्थिर पूँजी-निर्माण (I)–एक देश फैक्ट्री की इमारत, मशीनरी, साज-सामान, मकानात, व अन्य उत्पादक परिसम्पत्तियो के निर्माण मे अपने साधन लगाता है। इससे देश मे पूँजी-निर्माण होता है और अर्थव्यवस्था की उत्पादन-क्षमता बढ़ती है। स्वयं के रहने के लिए बनाए गए **मकान भी पूँजी-निर्माण में ही शामिल किये जाते हैं। स्मरण रहे कि घरेलू स्थिर पूँजी-निर्माण या विनियोग के अन्तर्गत निजी विनियोग तथा सार्वजनिक विनियोग दोनों शामिल होते हैं। हम चाहें तो इनको अलग-अलग भी जोड़ सकते हैं।**

प्रतिवर्ष मशीनो व फैक्ट्रियो मे टूट-फूट व घिसावट के कारण मूल्य-ह्रास भी होता है। उत्पादन की नई विधियाँ आने से कुछ चालू साज-सामान पुराना पड़ जाता है। इसलिए पूँजी-निर्माण का एक काम पूँजी के वर्तमान स्टॉक को भी बनाये रखना होता है। अतः सकल विनियोग की राशि के मूल्य-ह्रास के बराबर होने से नया पूँजी-निर्माण शून्य हो जाता है। नये पूँजी-निर्माण के लिए आवश्यक है कि सकल विनियोग की राशि मूल्य-ह्रास की राशि से अधिक हो। दूसरे शब्दो मे शुद्ध विनियोग का धनात्मक होना आवश्यक माना जाता है।

यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा-

(1) सकल विनियोग (Gross Investment)	(2) मूल्य-ह्रास (Depreciation)	(3) शुद्ध विनियोग (Net Investment)	(4) अर्थव्यवस्था की उत्पादन-क्षमता पर प्रभाव
(अ) 100 करोड़ रु	100 करोड़ रु	शून्य	स्थिर
(ब) 100 करोड़ रु	50 करोड़ रु	(+) 50 करोड़ रु	वृद्धि
(स) 100 करोड़ रु	120 करोड़ रु	(-) 20 करोड़ रु	गिरावट

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट होता है कि **शुद्ध पूँजी-निर्माण अथवा शुद्ध विनियोग के धनात्मक होने से ही अर्थव्यवस्था की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि होती है।**

अब प्रश्न उठता है कि GNP कि दृष्टि से उस माल का हिसाब कैसे लगाया जाये जो उत्पादको के पास वर्ष के अन्त मे पड़ा रह जाता है। फर्मों के पास वर्ष के अन्त मे कच्चा माल, अर्द्ध-निर्मित माल व तैयार माल पाया जाता है जो इन्वेन्टरी (Inventry) कहलाता है। इन्वेटरी के परिवर्तन राष्ट्रीय आय को प्रभावित करते है। यदि वर्ष के अन्त मे इन्वेटरी का मूल्य वर्ष के प्रारम्भ की तुलना मे अधिक होता है तो राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होगी, यदि यह कम होता है तो राष्ट्रीय आय मे कमी होगी,एव यदि वह समान मात्रा मे पाया जाता है तो राष्ट्रीय आय स्थिर रहेगी। इस प्रकार वर्ष मे इन्वेटरी कीराशि के परिवर्तन भी राष्ट्रीय आय को प्रभावित करते है।

(4) **शुद्ध निर्यात (Net exports)=(E-M)** शुद्ध निर्यात मे निर्यात (E) व आयात (M) की राशि का अन्तर आता है। यह GNE का अतिम अग होता है। वस्तुओ व राशियो का आयात-निर्यात दोनो होता है;निर्यात की राशि आयात की राशि से अधिक होने पर शुद्ध निर्यात धनात्मक होते है, जो GNE को बढ़ाते है। यदि आयात की राशि निर्यात की राशि से अधिक होती है तो शुद्ध निर्यात ऋणात्मक होते है,जो GNE को कम कर देते है।

विदेशो से ब्याज व लाभ आदि के रूप मे शुद्ध आय हो सकती है जिसे GNE मे जोड़ा जाता है।

इस प्रकार GNE अथवा GNP = C + G + I + (E M) होता है।

राष्ट्रीय आय के तीन मापो का सारांश-उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय आय का माप तीन तरह से किया जा सकता है-

(1) **उत्पत्ति का मूल्य लगाकर**-इनमे सभी उत्पादको की सकल उत्पत्ति के मूल्य मे से अन्य उत्पादको को उनकी मध्यवर्ती या बीच की वस्तुओ की खरीद के लिये दिये गये मूल्य को घटाया जाता है। इसे जोड़े गये मूल्य या

वर्धित-मूल्य (Value added) की विधि भी कहते है । कृषिगत उपज व बड़े उद्योगो की उत्पत्ति का मूल्य इसी विधि से निकाला जाता है ।

(ii) **साधनों की आय को जोडकर**-इसमे उत्पत्ति के साधनों की आय जैस मजदूरी, लगान, ब्याज व मुनाफो को जोड़कर कुल राशि निकाली जाती है ।

(iii) व्यय का हिसाब लगाकर-इसमे उपभोक्ता-वस्तुओ व विनियोग -वस्तुओ के मूल्यो को जोड़कर कुल राशि निकाली जाती है । अत Y=C+I के बराबर होती है, जहा Y आमदनी को, C उपभोग को, तथा I विनियोग को सूचित करते है । राष्ट्रीय आय के इन तीनो मापो में क्रमश एक देश के उत्पादन, आय व व्यय के प्रवाह शामिल होते है । तीनो विधियो से प्राप्त राष्ट्रीय आय के जोड़ परस्पर बराबर होते है । दूसरे शब्दो मे, सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति =सकल राष्ट्रीय आय =सकल राष्ट्रीय व्यय की स्थिति पायी जाती है । ये सकल रूप मे भी बराबर होते है एव मूल्य-ह्रास घटाने पर शुद्ध राशि के रूप मे भी बराबर होते है ।

सारांश

सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति–(GNP) मे कृषि, खनन, उद्योग, बैक, बीमा, परिवहन आदि क्रियाओ से प्राप्त वस्तुओ का मूल्य लगाया जाता है । सेवाओ (डाक्टर, वकील, अध्यापक, नाई, धोबी, घरेलू नौकर आदि का) भुगतान भी इनमे जोड़ा जाता है ।

सकल राष्ट्रीय आय—(GNI) मे जैसा कि ऊपर बतलाया गया है उत्पादन के साधनो की आमदनी जैसे मजदूरी ब्याज, लगान व मुनाफा शामिल किये जाते हैं ।

सकल राष्ट्रीय व्यय-(GNE) मे हम व्यय-पक्ष से प्रारम्भ करते है । पहले निजी उपभोग व सार्वजनिक उपभोग पर किये गये व्यय को जोड़ा जाता है और बाद मे इसमे निजी विनियोग तथा सार्वजनिक विनियोग की राशि जोड़ी जाती है । अत विनियोग व्यय मे व्यक्तियो, फर्मों व सरकार सभी के द्वारा किये गये विनियोग व्यय को शामिल किया जाता है । इसमे विदेशी व्यापार का आधिक्य (E M) भी जोड़ा जाता है और विदेशो से प्राप्त अन्य आय भी जोड़ी जाती है ।

इस प्रकार राष्ट्रीय आय के तीनो जोड़ एक दूसरे के बराबर होते है । वस्तुत इनमे राष्ट्रीय आय तक पहुँचने के तीन मार्ग अपनाये जाते है-पहले मे उत्पत्ति का मूल्य लगाया जाता है, दूसरे मे उत्पादन के साधनो की आय जोड़ी जाती है तथा तीसरे मे उपभोग–व्यय व विनियोग–व्यय तथा निर्यात-आयात का हिसाब लगाया जाता है । व्यवहार मे तीनो विधियो का उपयोग एक देश मे आवश्यक आकड़ो की उपलब्धि पर निर्भर करता है ।

राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अन्य धारणाओं का परिचय

हमने अभी तक सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) की धारणा का ही विस्तृत रूप से विवेचन किया है। यह बाजार भावो (market prices)पर तथा साधन-लागत (factor cost) दोनो पर निकाली जा सकती है। बाजार भावों पर GNP के लिए *अन्तिम वस्तुओं व सेवाओं का बाजार भावों पर मूल्य निकाला* जाता है। इसमे विदेशो से प्राप्त साधन आय भी जोड़ी जाती है। इसके लिए जोड़े गये मूल्य की विधि भी प्रयुक्त की जा सकती है। **साधन-लागत पर GNP निकालने के लिए बाजार भावों पर GNP मे से परोक्ष कर घटाये जाते हैं तथा सब्सिडी की राशि जोडी जाती है, क्योंकि परोक्ष करों की राशि उत्पादन के साधनो को नहीं मिलती, जबकि सब्सिडी की राशि उनको मिलती है।** समष्टि अर्थशास्त्र मे GNP की धारणा बहुत लोकप्रिय मानी गई है। GNP के अलावा राष्ट्रीय आय से जुड़ी अन्य प्रचलित धारणाएँ भी हैं जिनका नीचे वर्णन किया जाता है।

(i) बाजार मूल्य पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति-(NNP at market prices) -बाजार मूल्य पर GNP मे से मूल्य-ह्रास निकालने के बाद जो राशि बचती है उसे बाजार मूल्य पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति कहते है। इसकी गणना मे मूल्य-ह्रास के आंकड़ो के कारण बड़ी कठिनाई होती है। देश मे अनेक प्रकार की पूँजीगत वस्तुओ के वार्षिक मूल्य-ह्रास का अनुमान लगानाआसान नही होता। इस कठिनाई के कारण बहुधा सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति, अर्थात् GNP के आकड़ो का ही उपयोग किया जाता है और उसके परिणाम लाभप्रद होते है। बाजार मूल्यो पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति नाम इसलिए पड़ा कि इसमे गणना करते समय बाजार मूल्यो का उपयोग किया जाता है।

उदाहरण

मान लीजिए

बाजार-भावो पर सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP at market price)	=100 करोड़ रु
मूल्य-ह्रास की राशि	=2 करोड़ रु
अत. बाजार भावो पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (NNP at market price)	=98 करोड़ रु.

(ii) साधन-लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (NNP at factor cost) अथवा राष्ट्रीय आय (NI) -व्यवहार मे इसे ही राष्ट्रीय आय कह कर पुकारते है। यही **राशि श्रम, भूमि, पूँजी आदि उत्पादन के साधनों को प्राप्त होती है।** बाजार

1. राष्ट्रीय आय के आकड़ो मे आजकल स्थायी पूँजी की खपत (**consumption of fixed capital** नामक मद दिखलाई जाती है, जो मोटे तौर पर मूल्य-ह्रास का ही सूचक होती है।

भावो पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति मे से परोक्ष कर (indirect taxes) (जैसे उत्पादन-शुल्क,बिक्री कर आदि) घटाने एवं सब्सिडी की राशि को जोड़ने से साधन-लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति अथवा राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है। **परोक्ष कर इसलिए घटाये जाते हैं कि इनकी राशि उत्पादन के साधनो को प्राप्त नहीं होती। यह सरकारी खजाने में जाती है। सब्सिडी की राशि इसलिए जोड़ी जाती है कि वह उत्पादन के साधनों को प्राप्त होती है और सरकार अपने बजट में से इसकी पूर्ति करती है।** परोक्ष करो की राशि सरकार को प्राप्त होती है। सब्सिडी की राशि सरकार द्वारा दी जाती है,जैसे भारत मे खाद्यान्नों, उर्वरको व निर्यातो आदि पर काफी सब्सिडी दी जाती है। इसके अन्तर्गत सरकार अपने खजाने मे से अनुदान की राशि देती है जो उत्पादन के साधनो को प्राप्त होती है।

उदाहरण :

बाजार भावो पर NNP	=98 करोड़ रु
परोक्ष कर	=(-) 5 करोड़ रु
सब्सिडी या आर्थिक सहायता की राशि	*=(+) 2 करोड़ रुपये*

यहां साधन लागत पर NNP अथवा राष्ट्रीय आय = 98-5+2=95 करोड़ रु. होगी। विभिन्न देशो मे आय के स्तरो की तुलना करने मे इसका उपयोग किया जाता है।

(iii) साधन-लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पत्ति (Net domestic product at factor cost) शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति व शुद्ध घरेलू उत्पत्ति (NNP or NDP) मे भी भेद किया जाना चाहिए। राष्ट्रीय उत्पत्ति मे घरेलू उत्पत्ति के साथ साथ **विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय भी शामिल की जाती है। विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन-आय को निकालने के लिए विदेशों में लगे भारतीय श्रमिकों व भारतीय पूँजी, आदि से प्राप्त आय में से भारत में काम कर रहे विदेशी श्रमिकों व भारत में लगी विदेशी पूँजी आदि का भुगतान घटाना होगा।** इसीलिए इसे *विदेशो से प्राप्त शुद्ध साधन-आय (net factor income from abroad) कह कर* पुकारा जाता है। मान लीजिए साधन-लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पत्ति (NDP) 95 करोड़ रु. तथा विदेशो से प्राप्त शुद्ध साधन आय 5 करोड़ रु. है तो साधन-लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (NNP) = 95+5 = 100 करोड़ रु. होगी। यदि विदेशो से प्राप्त शुद्ध साधन-आय ऋणात्मक (Negative) होती जैसे (-) 5 करोड़ रु., तो शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति *(NNP) = 95-5 =90* **करोड़ रु. होती। ऐसी दशा में NDP की राशि NNP से अधिक होगी।**

भारत मे (1980-81 के भावों पर) 1990-91 मे साधन-लागत पर NDP की राशि लगभग 1885 अरब रुपये थी एव विदेशो से प्राप्त शुद्ध साधन-आय ऋणात्मक अर्थात् (-) 21 अरब रुपये थी। इस प्रकार साधन-लागत पर NNP *अथवा NI = 1885+(-21)=1864 अरब रुपये थी। इस स्थिति मे NDP की* राशि का NNP की राशि से अधिक होना स्वाभाविक है। प्रारम्भिक अध्ययन मे

इसको भलीभाँति समझ लेना चाहिए ताकि आगे कठिनाई न हो।

(iv) निजी आय (Private income)-किसी देश मे घरेलू आय दो क्षेत्रो से प्राप्त होती है। सर्वप्रथम,यह निजी क्षेत्र जैसे, निजी खेतो, खानो, कारखानो, दुकानो व निजी परिवहन आदि से प्राप्त होती है,एवं द्वितीय,यह सार्वजनिक क्षेत्र से जैसे सरकारी विभागो व उपक्रमो से प्राप्त होती है। मोटे तौर पर निजी क्षेत्र की घरेलू उत्पत्ति से उपार्जित आय में राष्ट्रीय ऋणों का ब्याज व हस्तान्तरण भुगतान जैसे पेन्शन आदि जोड़े जाने पर निजी आय प्राप्त होती है। इसे प्राप्त करने के लिए विदेशो से प्राप्त शुद्ध साधन आय का भी हिसाब लगाया जाता है।

उदाहरण

निजी क्षेत्र की घरेलू उत्पत्ति से उत्पन्न आय	=90 करोड़ रु.
राष्ट्रीय ऋणो का ब्याज	=(+) 5 करोड़ रु.
पेन्शन के रूप मे हस्तान्तरण	=(+) 5 करोड़ रु.
निजी आय (private income)	=100 करोड़ रु..

यहां विदेशो से प्राप्त शुद्ध साधन आय शून्य मानी गयी है।

(v) वैयक्तिक आय (Personal income)-निजी आय मे से निजी कम्पनियो की बचतो और निगम कर (ये कम्पनियो पर लगे होते है) घटाने से वैयक्तिक आय निकल आती है। यह एक देश मे व्यक्तियो को प्राप्त होती है।

उदाहरण

निजी आय (private income)	= 100 करोड़ रु.
निजी कम्पनी की बचते	= (-) 5 करोड़ रु.
कम्पनियो पर लगे आय कर	=
(अथवा निगम कर)	=(-) 5 करोड़ रु.
वैयक्तिक आय (personal income)	=90 करोड़ रु.

(vi) वैयक्तिक खर्च के लायक या प्रयोज्य आय (personal Disposable Income)अथवा PDI-वैयक्तिक आय में प्रत्यक्ष कर व फीस तथा जुर्माने आदि घटाने से वैयक्तिक खर्च के लायक आय या प्रयोज्य आय निकल आती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है,इसका उपयोग उपभोग्य व्यय व बचत के रूप मे किया जाता है। अत. PDI=C+S होती है। लोगों का जीवन स्तर PDI की वास्तविक वृद्धि पर निर्भर करता है। अतः एक देश मे उपभोग के स्तर की जानकारी करने के लिए प्रयोज्य आय के आकड़ो का उपयोग किया जाता है।

उदाहरण

वैयक्तिक आय (Personal Income)	=90 करोड़ रु.
व्यक्तियो पर लगे प्रत्यक्ष कर	=(-) 5 करोड़ रु.
फीस व जुर्माने, आदि	=(-) 2 करोड़ रु.
वैयक्तिक खर्च के लायक आय या प्रयोज्य आय (Personal Disposable Income) या PDI	= 83 करोड़ रु.

प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय (Per Capita NI)

राष्ट्रीय आय मे देश की जनसख्या का भाग देने से प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है।

सूत्र के रूप मे

प्रति व्यक्ति आय = कुल राष्ट्रीय आय / जनसख्या = NI/p होती है।

यह भी प्रचलित मूल्यो व स्थिर मूल्यो दोनो पर ज्ञात की जाती है। उदाहरण के लिये भारत मे 1950-51 मे प्रति व्यक्ति आय वार्षिक आय (1980-81 के भावो पर) लगभग 1127 रुपये थी जो 1992 93 मे (1980-81 के भावो पर) लगभग 2216 रुपये हो गई। इस अवधि मे प्रचलित भावो (Current Prices) पर प्रति व्यक्ति आय लगभग 239 रुपये से बढ़कर 6249 रुपये हो गई। प्रति व्यक्ति आय को स्थिर मूल्यो पर तेज गति से बढ़ाने के लिए दो उपाय आवश्यक होते हैं। (i) कुल राष्ट्रीय आय मे तेज गति से वृद्धि की जाये (स्थिर भावो पर), (ii) जनसख्या की वृद्धि पर नियत्रण किया जाय। इसके लिए जन्म दर मे कमी लायी जाये।

विभिन्न आय सम्बन्धी धारणाओ को ठीक से समझने के लिए निम्न प्रश्न के उत्तर पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए-

प्रश्न-निम्नलिखित का GNP मे समावेश होता है या नहीं ?

(i) डाक्टर द्वारा कार के रख-रखाव पर किया गया व्यय
(ii) घर मे पत्नी द्वारा की गई सेवाएँ
(iii) घर मे किचनगार्डन मे उगाई गई सब्जियो का मूल्य
(iv) सार्वजनिक ऋणो पर चुकाया गया ब्याज
(v) पेन्शन
(vi) विदेशो से प्राप्त आय
(vii) लॉटरी मे निकला इनाम
(viii) अवितरित लाभ
(ix) माल के स्टॉक या इन्वेण्टरी के मूल्यो मे हुआ परिवर्तन
(x) अप्रत्यक्ष कर

उत्तर- (i) डॉक्टर के द्वारा कार के रख-रखाव पर किया गया व्यय एक प्रकार का मध्यवर्ती या बीच का व्यावसायिक व्यय होता है। अत इसे GNP मे शामिल नही किया जाता।

(ii) घर मे पत्नी की सेवाओ को GNP मे शामिल नही किया जाता क्योकि ये बाजार मे बेची जाने वाली सेवाओ मे नही आती।

(iii) घर के किचनगार्डन मे उगाई गई सब्जियो का मूल्य भी GNP मे शामिल नही किया जायेगा क्योकि ये बाजार मे बेचने के लिए नही बल्कि स्वय के उपभोग के लिए उत्पन्न की गई है।

(iv) सार्वजनिक ऋणो पर चुकाया गया ब्याज भी GNP मे शामिल नही होगा, क्योकि यह वर्तमान वस्तुओ व सेवाओ का मूल्य नही होता (जो GNP मे शामिल होने की एक आवश्यक शर्त है)

(v) पेन्शन एक हस्तान्तरण-भुगतान की राशि है । इसलिए यह GNP का अग नही हो सकती । लेकिन यह वैयक्तिक आय मे शामिल होती है ।

(vi)विदेशो से प्राप्त आय GNP का अंग होती है । अत यह NI का भी अग होती है ।

(vii) लॉटरी मे निकला इनाम भी सरकार की तरफ से जनता की तरफ किय गया हस्तान्तरण-भुगतान होता है । अत यह GNP का अग नही होता ।

(viii) अविलरित लाभ राष्ट्रीय आय के अग होते है, लेकिन ये वैयक्तिक आय मे शामिल नही होते ।

(ix) माल के स्टॉक के मूल्यो मे हुआ परिवर्तन राष्ट्रीय आय मे शामिल होता है । यदि वर्ष के अन्त मे इन्वेंटरी का मूल्य बढ़ जाता है तो उतनी राशि से राष्ट्रीय आय बढ़ जाती है।

(x)अप्रत्यक्षकर साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति या राष्ट्रीय आय मे शामिल नही होते, लेकिन ये बाजार भावो पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति मे शामिल होते है ।

GNP, NNP, NI व NDP का अर्थ व परस्पर सम्बन्ध सुगमतापूर्वक याद रखा जा सकता है । इसके लिए निम्नाकित सक्षिप्त सारणी का उपयोग किया जा सकता है ।[1]

उदाहरण 1:—

(1980-81 के भावो पर (अर्थात् स्थिर भावो पर)
भारत मे वर्ष 1990-91 के लिये
(अरब रुपयो मे)

(1)	बाजार भावो पर GNP		2361 1
	–परोक्ष कर + सब्सिडी	(–)	277 2
(2)	– साधन–लागत पर GNP		2083 9
	–मूल्य ह्रास (स्थिर पूँजी की खपत)	( )	219 6
(3)	– साधन-लागत पर NNP=NI		1864 3
	–विदेशो से प्राप्त शुद्ध साधन-आय	(–) (–) 21	=(+) 21 0
(4)	–साधन-लागत पर NDP		1885 3

इस प्रकार हम बाजार-भावो पर सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP at Market Prices) से प्रारम्भ करके साधन-लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पत्ति NDP

1 राष्ट्रीय लेखा साख्यिकी (National Accounts Statistics)1992 केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन, पृ 3

at factor cost) तक पहुच जाते है । स्मरण रहे कि साधन-लागत पर NNP या NI मे से विदेशो से प्राप्त शुद्ध साधन-आय घटाने से साधन-लागत पर NDP निकल आती है । जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है विदेशो से प्राप्त शुद्ध साधन-आय निकालने के लिए हम पहले यह पता करते है कि भारतीयो को उनकी विदेशो मे लगी पूँजी व विदेशो मे काम कर रहे भारतीय श्रमिको से कितनी आय प्राप्त होती है । उसमे से हम भारत मे लगी विदेशी पूँजी व विदेशी श्रमिको को दिये गये भुगतान घटा देते है, जिससे हमे विदेशो से प्राप्त शुद्ध साधन-आय का पता चल जाता है, जो हमारे देश मे ऋणात्मक (negative) पायी जाती है । यदि विदेशो से प्राप्त शुद्ध साधन-आय धनात्मक होती तो साधन-लागत पर NNP की राशि NDP से अधिक होती । यदि विदेशो से प्राप्त शुद्ध साधन-आय ऋणात्मक होती है तो NNP की रा NDP से कम होती है, जैसा कि 1990-91 वर्ष के लिए ऊपर दर्शाया गया है । **इस प्रकार भारत मे साधन-लागत पर NDP की राशि साधन-लागत पर NNP की राशि से अधिक पायी जाती है ।**

यहाँ राष्ट्रीय आय व समग्र राशियो से सम्बद्ध सख्यात्मक उदाहरण और दिये जाते हैं ताकि इनकी जानकारी बढ़ सके ।

उदाहरण—2 भारत के लिए 1987-88 से सम्बन्धित निम्न सूचना का उपयोग करके वैयक्तिक प्रयोज्य आय (Personal disposable income) (PDI) ज्ञात कीजिए ।

(प्रचलित मूल्यों पर)

		(अरब रुपयों में)
1.	साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति या राष्ट्रीय आय	2579
2.	परोक्ष-कर	500
3.	सब्सिडी	118
4.	शेष ससार से प्राप्त अन्य चालू हस्तान्तरण	35
5.	विदेशो से प्राप्त शुद्ध साधन-आय	(-)26
6.	सरकारी प्रशासनिक विभागो की उद्यम व प्रोपर्टी की आय	40
7.	गैर-विभागीय उपक्रमो की बचते	21
8.	सार्वजनिक कर्ज पर ब्याज	96
9.	सरकारी प्रशासनिक विभागो से चालू हस्तान्तरण	100
10.	निजी कम्पनी क्षेत्र की बचत	4
11.	निगम पर	34
12.	परिवारो द्वारा प्रत्यक्ष कर	44
13.	सरकारी प्रशासनिक विभागो द्वारा विविध प्राप्त राशियाँ	12

हल :- साधन-लागत पर NNP — 2579
घटाओ विदेशो से प्राप्त शुद्ध साधन-आय — (−) (−) 26=26
साधन-लागत पर NDP — = 2605

घटाओ (i) सरकारी प्रशासनिक विभागो की उद्यम व प्रोपर्टी की आय	40	
तथा (ii) गैर-विभागीय उपक्रमो की बचते	21	61
घरेलू उत्पत्ति से निजी क्षेत्र की आय		2544
जोड़े		
(i) सार्वजनिक कर्ज पर ब्याज	96	
(ii) सरकारी प्रशासनिक विभागो से चालू हस्तान्तरण	100	
(iii) शेष ससार से प्राप्त अन्य चालू हस्तान्तरण	35	
(iv) विदेशो से प्राप्त शुद्ध साधन-आय	(-) 26	205
निजी आय (Private Income)		= 2749
घटाओ—		
(i) निजी कम्पनी क्षेत्र की बचत	4	
(ii) निगम कर	34	38
वैयक्तिक आय (Personal Income)		2711
घटाओ—		
(i) परिवारो पर प्रत्यक्ष कर	44	
(ii) सरकारी प्रशासनिक विभागो द्वारा विविध प्राप्त-राशियाँ	12	56
वैयक्तिक प्रयोज्य आय (PDI)	=	2655

अत. दिये हुए आकड़ो के आधार पर वैयक्तिक प्रयोज्य आय 2655 अरब रुपये होगी।

उदाहरण—3— निम्न आकड़ो की सहायता से व्यय-विधि का उपयोग करके साधन-लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति अथवा राष्ट्रीय आय ज्ञात कीजिए.—

		(करोड़ रु. में)
1.	निजी उपभोग-व्यय	500
2.	निजी स्थिर विनियोग (सकल)	250
3.	इन्वेण्टरी मे (माल की मात्रा मे) परिवर्तन	200
4	सरकारी उपभोग व्यय	150
5.	सरकारी स्थिर विनियोग	100
6.	निजी स्थिर पूँजी की खपत	50
7.	सरकारी स्थिर पूँजी की खपत	25
8.	शुद्ध विदेशी विनियोग	100
9.	परोक्ष कर	100
10.	सब्सिडी	75

उत्तर– चूंकि यहाँ विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन-आय नहीं दी गयी है इसलिए बाजार भावों पर GDP = बाजार भावों पर GNP

बाजार भावो पर GNP = मद संख्या (1) + (4) + (2) + (3) + (5) + (8) = 500 + 150 + 250+ 200 + 100 –100 = 1100

साधन-लागत पर GNP = 1100- मद संख्या (9) + मद संख्या (10) = 1100-100 +75=1075

साधन-लागत पर NNP = 1075- मद संख्या (6)-मद संख्या (7) = 1075-50-25 = 1000 करोड़ रुपये

भारत में राष्ट्रीय आय के माप की विधि
(Method of Estimation of National Income in India)

भारत मे सर्वप्रथम राष्ट्रीय आय समिति ने राष्ट्रीय आय के अनुमान तथा उनकी विधिया अपनी प्रथम व अन्तिम रिपोर्टों (क्रमशः 1951 व 1954) मे प्रस्तुत की थी। उसके बाद भारत सरकार का केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन (Central Statistical Organisation) नियमित रूप से राष्ट्रीय आय के वार्षिक आंकड़े प्रकाशित करता रहा है। आजकल इस वार्षिक प्रतिवेदन का नाम 'राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी' (National Accounts Statistics) (NAS) हो गया है, तथा स्थिर मूल्यो पर राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए अब 1980-81 का आधार वर्ष लागू हो गया है। इससे पूर्व यह 1970-71 था। अब 1950-51 से 1992-93 तक के राष्ट्रीय आय के आंकड़े 1980-81 के भावो पर उपलब्ध हो गये है। इस प्रकार काफी लम्बी अवधि के लिए एक पूरा सिरीज तैयार हो गया है जो एक बड़ी उपलब्धि है।

भारत मे राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए मुख्यतया उत्पत्ति-विधि एव आय-विधि (Product-method and income-method) का प्रयोग किया गया है।[1] इन दोनो विधियो का प्रयोग विभिन्न क्षेत्रो के लिए

1. बाजार मे प्रचलित पुस्तको मे प्रायः व्यय-विधि (expenditure method) एव सामाजिक लेखा-विधि (social accounting method) आदि का भी उल्लेख मिलता है, लेकिन उनके विवेचन की सार्थकता अन्य प्रसगों मे अधिक होती है। राष्ट्रीय आय के अनुमानों के लिए तो प्रारम्भिक अध्ययन में उत्पत्ति-विधि पर ही पूरा जोर दिया जाना चाहिए।

विद्यार्थियो को प्रत्यक्ष किस्म की आय-विधि व परोक्ष किस्म की आय-विधि का अन्तर भी ध्यान से समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में पाठ्य-पुस्तकों में विवेचन बहुत भ्रमपूर्ण, अधूरा व त्रुटिपूर्ण देखने को मिलता है, जिससे स्नातकोत्तर स्तर तक भी विद्यार्थी इन विधियों का सही अर्थ नहीं लगा पाते। अधिकाश विद्यार्थी प्रायः यहा तक लिख देते हैं कि राष्ट्रीय आय लोगों की व्यक्तिगत आय का जोड़ होती है, जो गलत है।

विभिन्न प्रकार के मूलभूत आकड़ो की उपलब्धि के कारण सम्भव हो सका है। कुछ आर्थिक क्षेत्रो से आय का पता लगाने के लिए उत्पत्ति-विधि अपनाई गई है, कुछ के लिए प्रत्यक्ष किस्म की आय-विधि (income method of the direct form) तथा शेष के लिए परोक्ष किस्म की आय-विधि (income method in the indirect form) अपनाई गई है। नीचे इन विधियो का सरल व स्पष्ट विवरण प्रस्तुत किया गया है जिसे विशेष ध्यानपूर्वक पढ़ा जाना चाहिए।

(1) उत्पत्ति-विधि (Product Method) – इसे 'जोड़े गये मूल्य' की विधि या इन्वेन्टरी-विधि भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम कुल उत्पत्ति का सकल मूल्य निकाला जाता है, फिर उसमे उत्पादन मे लगाये गये साधनो का कुल मूल्य घटाया जाता है, तथा साथ मे मूल्य-ह्रास की राशि भी घटायी जाती है। इन्पुटो के अन्तर्गत कच्चे माल का मूल्य, ईंधन, पावर, आदि के खर्च घटाये जाते है। कुल उत्पत्ति के मूल्यो मे से इन्पुटो का मूल्य व मूल्य-ह्रास घटाने से शुद्ध जोड़ा गया मूल्य निकल आता है, जो उस क्षेत्र का राष्ट्रीय आय मे योगदान माना जाता है।

भारत मे कृषि (पशु-पालन सहित), वनोद्योग तथा लट्ठे बनाने, मछली उद्योग, खनन तथा, पजीकृत क्षेत्र मे (कारखानो आदि मे) विनिर्माण (registered manufacturing) मे आय का अनुमान उत्पत्ति-विधि से लगाया जाता है। इसके लिए उत्पत्ति व इन्पुट की मात्राओ तथा उनके मूल्यो के आकड़ो की आवश्यकता होती है जो व्यवहार मे प्राप्त हो जाते है।

(2) प्रत्यक्ष किस्म की आय-विधि (income method in its direct form) — यह विधि उन आर्थिक क्षेत्रो मे प्रयुक्त की जाती है जिनमे कर्मचारियो के प्रतिफल, ब्याज, लगान, लाभ व मूल्य-ह्रास वगैरा के आकड़े विभिन्न उपक्रमो के वार्षिक लेखो मे नियमित रूप से प्रकाशित किये जाते है। इसलिए उत्पादन के विभिन्न साधनो की आय को जोड़कर उन क्षेत्रो का राष्ट्रीय आय से योगदान प्राप्त कर लिया जाता है।

यह विधि रेलो, विद्युत उपक्रमो, हवाई परिवहन, सगठित सड़क व जल-परिवहन, सचार, बैंकिंग, व बीमा, स्थावर सम्पदा, (real estate), सरकारी प्रशासन व प्रति रक्षा जैसे क्षेत्रों से आय का अनुमान लगाने मे प्रयुक्त की जाती है, क्योकि इनके वार्षिक लेखो मे मजदूरी, ब्याज, लगान व लाभ आदि के आकड़े दिये जाते है।

(3) परोक्ष रूप में आय-विधि (Income method in its indirect form) — इस विधि के अन्तर्गत सर्वप्रथम सम्बन्धित क्षेत्र के लिए श्रम-शक्ति का पता लगाया जाता है तथा सेम्पल सर्वेक्षण के आधार पर प्रति व्यक्ति औसत आय की सूचना एकत्र की जाती है। फिर श्रम-शक्ति को प्रति व्यक्ति आय से गुणा करके उस क्षेत्र का राष्ट्रीय आय मे योगदान निकाला जाता है।

यह विधि गैर-पंजीकृत विनिर्माण (कुटीर उद्योग आदि), गैस व जल-पूर्ति, असंगठित सड़क व जल-परिवहन, स्टोरेज, व्यापार, होटल व अन्य सेवाओ से आय का अनुमान लगाने के लिए प्रयुक्त की जाती है । इस प्रकार **आय-विधि (प्रत्यक्ष व परोक्ष दो रूपों में) काम में ली जाती है** । तत्पश्चात् घरेलू उत्पत्ति मे विदेशो से प्राप्त शुद्ध साधन-आय को जोड़कर राष्ट्रीय आय ज्ञात की जाती है ।

अल्पविकसित देशों में राष्ट्रीय आय की गणना में कठिनाइयाँ

राष्ट्रीय आय की गणना मे काफी आंकड़ो की आवश्यकता होती है जिनका अल्पविकसित देशो मे प्रायः अभाव पाया जाता है । इसलिए इनमे राष्ट्रीय आय के अनुमान अधिक विश्वसनीय नही होते । इस सम्बन्ध मे निम्न कठिनाइयो का उल्लेख किया जा सकता है—

(1) गैर-मुद्रीकृत क्षेत्र का पाया जाना—पिछड़े हुए देशो की अर्थव्यवस्था मे गैर-मुद्रीकृत क्षेत्र (non-monetised sector) पाया जाता है । उत्पादक उत्पादन का एक भाग स्वयं के उपभोग के लिए रख लेता है, अथवा अन्य लोगो से वस्तु-विनिमय कर लेते है, जिसका कोई हिसाब-किताब नही रखा जाता । इस प्रकार राष्ट्रीय आय का सही अनुमान लगाने मे कठिनाई होती है । जीवन-निर्वाह कृषि मे तो अधिकांश उपज स्वयं के उपभोग के लिए ही की जाती है । अतः पिछड़े देशो मे गैर-मुद्रीकृत क्षेत्र का पाया जाना राष्ट्रीय आय के अनुमानो मे काफी बाधा डालता है ।

(2) आर्थिक क्रिया में विशिष्टीकरण का अभाव—पिछड़े देशो मे बहुत से व्यक्तियो का व्यवसाय सुनिश्चित नही होता । उन्हे अपनी आय बढ़ाने के लिए कई तरह के कामो मे लगना पड़ता है । औद्योगिक वर्गीकरण का अभाव पाये जाने से राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना कठिन होता है । राष्ट्रीय आय का हिसाब लगाते समय इस सूचना की आवश्यकता पड़ती है कि अमुक व्यवसाय मे अमुक मात्रा मे लोग लगे हुए है । लेकिन विशिष्टीकरण के अभाव मे यह सूचना ठीक से नही मिल पाती ।

(3) लोग आय-व्यय का हिसाब नहीं रखते जिससे कठिनाई बढ़ जाती है । भारतीय कृषक अशिक्षित होने के कारण प्रायः कुछ भी हिसाब नही रख सकते जिससे खेती की उपज की मात्रा व मूल्य के अनुमान लगाने मे कठिनाई होती है । सरकारी अधिकारियो को सेम्पल आधार पर उत्पत्ति की मात्रा व मूल्य का हिसाब लगाना होता है जिससे आकड़ो की विश्वसनीयता कम हो जाती है ।

(4) अल्पविकसित देशों में उत्पादन क्षेत्र में छोटी इकाइयों की भरमार होती है जिनकी आय का अनुमान लगाना सुगम नहीं होता । देश मे अनेक लघु व कुटीर उद्योग पाये जाते है । असंगठित क्षेत्र मे हिसाब भी ठीक से नही

रखा जाता, इसलिए राष्ट्रीय आय मे इनका योगदान निकालना मुश्किल होता है।

उपर्युक्त कारणो से अल्पविकसित देशो मे राष्ट्रीय आय के आकड़े कम विश्वसनीय होते है। प्रो अशोक रुद्र ने भारत मे राष्ट्रीय आय के आकड़ो की कमियो को देखकर एक बार कहा था कि इनको बन्द क्यो नहीं कर दिया जाता। उन्होने सुझाव दिया था कि राष्ट्रीय आय का अनुमान प्रति वर्ष न लगाकर प्रति पाँच वर्ष मे एक बार लगाया जाना चाहिए ताकि आकड़े अधिक विश्वसनीय हो सके।

विभिन्न कठिनाइयो के बावजूद आजकल राष्ट्रीय आय के आकड़े चालू मूल्यो व स्थिर मूल्यो पर नियमित रूप से प्रतिवर्ष पेश किये जाते है और इनमे धीरे-धीरे सुधार किया जा रहा है। भविष्य मे भी राष्ट्रीय आय के आकड़ो मे निरन्तर सुधार करने की आवश्यकता बनी रहेगी। अब हमे प्रचलित मूल्यो पर तथा 1980-81 के मूल्यो पर राष्ट्रीय आय के आंकड़े सम्पूर्ण योजनाकाल के लिए उपलब्ध हो गये है जो एक उल्लेखनीय बात है। इससे भारतीय अर्थव्यवस्था के ढाचे मे दीर्घकालीन परिवर्तनो का अध्ययन सुगम हो गया है।

राष्ट्रीय आय व आर्थिक कल्याण का सम्बन्ध

प्राय. यह कहा जाता है कि जिस देश की प्रति व्यक्ति आय दूसरे देश की प्रति व्यक्ति आय से अधिक होती है उसका आर्थिक कल्याण भी दूसरे देश से अधिक होता है, अर्थात् वहाँ के निवासी ज्यादा सुखी व समृद्ध होते है। इसी प्रकार यदि एक देश मे पहले की अपेक्षा प्रति व्यक्ति आय बढ़ जाती है तो वहाँ के निवासी अधिक सुखी व अधिक सुन्तुष्ट माने जाते है, एव उनका जीवन स्तर पहले से बेहतर माना जाता है। हम यहां इस बात की जाच करेगे कि राष्ट्रीय आय का आर्थिक कल्याण से किस प्रकार का सम्बन्ध होता है।

हम पहले बतला चुके है कि राष्ट्रीय आय मे एक वर्ष की अवधि मे उत्पन्न अन्तिम वस्तुओ व सेवाओ का मूल्य शामिल होता है। इसलिए **वास्तविक राष्ट्रीय आय के बढ़ने का अर्थ है देश मे वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा मे वृद्धि का होना**। अमेरिका, जापान व रूस आदि मे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हुई है जिससे वहाँ के नागरिको का जीवन-स्तर ऊँचा हुआ है। जापान की आर्थिक प्रगति अभूतपूर्व तेज गति से हुई है। राष्ट्रीय आय व आर्थिक कल्याण का सम्बन्ध स्पष्ट करने से पूर्व पुन इस बात पर जोर देना उचित होगा कि राष्ट्रीय आय का सही माप करने मे कई प्रकार की कठिनाइया आती है, जैसे, पिछड़े देशो मे गैर-मुद्रीकृत क्षेत्र पाया जाता है जिससे सम्पूर्ण उत्पादन की गणना राष्ट्रीय आय मे नही हो पाती। इसलिए राष्ट्रीय आय के आकड़े पूर्णतया विश्वसनीय नही होते। लेकिन यदि राष्ट्रीय आय के आकड़े अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय व सही हो तो प्रश्न उठता है कि उनका आर्थिक कल्याण

से क्या सम्बन्ध होगा ? इसके लिए निम्न बातो पर विचार करना होगा—

(1) आय के वितरण का प्रभाव—राष्ट्रीय आय के वितरण का कल्याण पर प्रभाव पड़ता है। यदि राष्ट्रीय आय का वितरण अधिक समान होता है तो समाज मे समानता, न्याय व विकास का मार्ग खुलता है और कल्याण मे वृद्धि होती है। यदि वितरण की असमानता बढ़ती है तो राष्ट्रीय आय के बढ़ने पर भी सामाजिक असन्तोष बढ़ सकता है तथा कल्याण मे भी कमी आ सकती है, क्योकि धनी व्यक्ति अधिक धनी हो जाते है और निर्धन या तो निर्धन रह जाते है अथवा अधिक निर्धन हो जाते है। इससे सामाजिक तनाव मे वृद्धि होती है।

(2) काम की परिस्थितियों व काम के घण्टो का प्रभाव—इस विषय मे सर्वप्रथम यह स्मरण रखना होगा कि राष्ट्रीय आय की मात्रा के साथ-साथ मानवीय कल्याण पर इस बात का भी प्रभाव पड़ता है कि आय को प्राप्त करने के लिए लोगो को किस प्रकार की परिस्थितियो व वातावरण मे काम करना पड़ा है। यदि देशवासियो को पहले से अधिक मेहनत करनी पड़ी है एव अधिक घण्टो तक काम करना पड़ा है तो कल्याण पर विपरीत प्रभाव भी पड़ सकता है। अत काम के घण्टे समान रहने पर राष्ट्रीय आय के बढ़ने पर यह आशा की जा सकती है कि देशवासियो के कल्याण मे वृद्धि हो रही है।

(3) आर्थिक कल्याण विशेषतया उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन पर निर्भर करता है जिनसे लोगों का जीवन-स्तर निर्धारित होता है—हम जानते है कि वस्तुए दो प्रकार की होती है, यथा, पूँजीगत वस्तुए जैसे मशीनरी, औजार, फैक्ट्री की इमारत, आदि एव उपभोग्य वस्तुएँ जैसे खाद्यान्न, मक्खन, दवा वस्त्र, आदि। देश के कुल उत्पादन मे उपभोग्य वस्तुओ का अनुपात अधिक होने से लोगो का कल्याण वर्तमान मे बढ़ेगा, जबकि पूँजीगत वस्तुओ का अनुपात अनुपात ज्यादा होने से उन्हे वर्तमान मे अपने उपभोग का त्याग करना होगा जिससे उनके कल्याण मे कमी आ जायगी।

(4) उपभोग्य वस्तुओं की सरचना (Composition) का भी कल्याण पर गहरा प्रभाव पड़ता है—उपभोग्य वस्तुएँ प्राय दो भागो मे बाँटी जाती है जैसे आम जनता के लिए आवश्यक वस्तुएँ जिन्हे मजदूरी वस्तुएँ (wage-goods) कहते है, जैसे साधारण वस्त्र, साबुन, खाद्य तेल, नमक आदि एव विलासिता की वस्तुएँ जैसे सोने-चाँदी के आभूषण, शानदार वस्त्र मोटर कारे, वीडियो, रेफ्रिजरेटर, एयर कण्डीशनर, आदि। जब कुल उत्पत्ति मे मजदूरी-वस्तुओ का अनुपात बढ़ता है तो सर्वसाधारण का कल्याण बढ़ता है। विलासिता की वस्तुओ का अनुपात बढ़ने पर समाज मे सम्पन्न वर्ग का कल्याण ज्यादा बढ़ता है। अत समस्त देशवासियो के कल्याण मे वृद्धि करने की दृष्टि से कुल उपभोग्य वस्तुओ मे अनिवार्य वस्तुओ के अनुपात को बढ़ाना ज्यादा लाभकारी माना जायेगा।

(5) नागरिक वस्तुओं व सुरक्षा वस्तुओं का अनुपात भी कल्याण को प्रभावित करता है—नागरिक वस्तुओ मे वस्त्र, तेल, जूते, दवा आदि आते है तथा सुरक्षा वस्तुओ मे गोला-बारूद, बन्दूके, अस्त्र-शस्त्र, वगैरा आते है। निर्धन देशो मे सुरक्षा का ज्यादा सामान बनाने से लोगो को नागरिक वस्तुओ का परित्याग करना पड़ता है जिससे उनके कल्याण मे कमी आती है। अत सुरक्षा-व्यय सीमित करके नागरिक वस्तुओ का उत्पादन बढ़ाने से देशवासियो के कल्याण मे अधिक वृद्धि की जा सकती है।

अत आर्थिक कल्याण पर राष्ट्रीय आय के अलावा देश मे आय के वितरण, काम के घण्टो, वस्तुओ की सरचना—आवश्यक बनाम विलासिता की वस्तुओ, तथा उपभोग बनाम पूँजीगत तथा नागरिक बनाम सुरक्षा वस्तुओ—का गहरा प्रभाव पड़ता है।

हमे यह भी स्मरण रखना है कि कल्याण की धारण बड़ी जटिल होती है क्योकि इसका सम्बन्ध मानवीय भावनाओ व आशाओ, आदि से अधिक होता है। इसको मापना आसान नही होता। प्रोफेसर पीगू ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना—Economics of Welfare मे सर्वप्रथम 1920 मे लिखा था कि **हमारी जाँच सामाजिक कल्याण के उस भाग तक सीमित होती है जिसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे मुद्रा के मापदण्ड से जोड़ा जा सकता है।** कल्याण का यह अश आर्थिक कल्याण कहलाता है। अत कल्याण को भी आर्थिक व गैर-आर्थिक दो भागो मे बाटा गया है।

प्रोफेसर पीगू ने कहा था कि कोई आर्थिक तत्त्व आर्थिक कल्याण को एक तरह से प्रभावित कर सकता है और गैर-आर्थिक कल्याण को दूसरी तरह से प्रभावित कर सकता है और कई बार इससे आर्थिक कल्याण पर पड़ने वाला प्रभाव समाप्त हो जाता है। इसको स्पष्ट करने के लिए पीगू ने शहरीकरण और औद्योगीकरण के प्रभावो का कार्य की दशाओ के सम्बन्ध मे विवेचन किया था। औद्योगीकरण से जहाँ एक ओर उत्पादन बढ़ा है, वहाँ दूसरी तरफ वातावरण सम्बन्धी (जल व वायु का प्रदूषण) व श्रम-सम्बन्धी समस्याएँ (आवास की समस्या, हड़ताले आदि) भी बढ़ी है।

अमरीकी अर्थशास्त्री आर्थर ओकुन (Arthur Okun) का मत है कि एक राष्ट्र बिना वास्तविक GNP बढ़ाये अधिक खुशहाल व सुखी हो सकता है, बशर्ते कि वहाँ शान्ति, अवसर की समानता, अन्याय व हिंसा की समाप्ति, नागरिकों में भाईचारे की भावना की वृद्धि, माता-पिता व सन्तान में परस्पर ज्यादा स्नेह तथा पति-पत्नी में बेहतर सम्बन्ध पाये जाए।

इसलिए केवल GNP के बढ़ने से ही सब कुछ नही होता, सामाजिक कल्याण को बढ़ाने के लिए अन्य बातो पर भी ध्यान देना चाहिए।

नोरढाउस व टोबिन ने GNP मे कुछ मदे जोड़कर व कुछ मदे घटाकर

आर्थिक कल्याण का एक माप निकाला है जो GNP की तुलना मे ज्यादा उपयोगी माना गया है।

इसके लिए GNP मे निम्न मदो के लिए राशियाँ जोड़ी जाती है–

1. **अवकाश**–इसकी मात्रा के बढ़ने से कल्याण मे वृद्धि होती है,

2 घर की देख-भाल मे लगाई गई सेवाएँ व बगीचे आदि मे लगाया गया समय,

3 सार्वजनिक व निजी पूँजी से प्राप्त सेवाएँ–सार्वजनिक पूँजी मे सार्वजनिक इमारतो, सड़को, अस्पतालो, स्कूलो, पार्को, आदि की सेवाएँ आती है।

GNP मे से घटायी जाने वाली मदे इस प्रकार होती है–(i) सुरक्षा व्यय, (ii) शहरीकरण व भीड़-भाड़ तथा पर्यावरण के प्रदूषण (जल व वायु के प्रदूषण) से होने वाली असुविधाएँ।

GNP मे इन मदो को जोड़कर व घटाकर आर्थिक कल्याण का एक नया माप निकाला गया है जो अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसे शुद्ध आर्थिक कल्याण (net economic welfare) का नाम दिया गया है।

सामाजिक सूचको (Social Indicators) पर अधिक जोर

आर्थिक कल्याण के अध्ययन मे कुछ विद्वान सीधे सामाजिक सूचको की जानकारी पर जोर देते है जैसे, अस्पताल मे बिस्तरो की सख्या, शिशु मृत्यु-दर, हत्याएँ, आत्म-हत्याएँ, सड़क-दुर्घटनाएँ, टेलीफोनो की सख्या, शिक्षण सस्थाओ मे विद्यार्थियो की भरती के अनुपात, सामाजिक समानता का अश, आदि। यदि इन सूचको मे सुधार होता है, तो कल्याण मे वृद्धि होती है, अन्यथा नही। यदि इसका अर्थ यह है कि GNP की जगह आर्थिक व सामाजिक कल्याण का सम्बन्ध इन विभिन्न प्रकार के सूचको से जोड़ने का प्रयास किया गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार यदि शिशु-मृत्यु दर घटती है एव आत्म-हत्याएँ कम होती है तो सामाजिक कल्याण मे वृद्धि मानी जाती है।

प्रोफेसर सेमुअल्सन व नोरढाउस ने भी कहा है कि GNP की धारण की अपेक्षा **शुद्ध आर्थिक कल्याण (NEW) की धारणा ज्यादा वास्तविक व अधिक सार्थक होती है। GNP मे कुछ मदें जोड़कर व कुछ मदें घटाकर हम NEW की धारणा पर आ सकते हैं।** जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है जोड़ने की दृष्टि से अवकाश का महत्त्व है। हमे वस्तुओ व सेवाओ की सन्तुष्टि की भाँति ही अवकाश से भी सन्तुष्टि मिलती है। लेकिन अवकाश से प्राप्त सुख GNP मे शामिल नही होता क्योकि उसका माप नही किया जा सकता।

इसी प्रकार आजकल शहरो मे जल तथा वायु के प्रदूषण से होने वाली हानि GNP मे से घटायी जानी चाहिए। समाज मे अपराधियो के बढ़ने से

पुलिस बढ़ानी पड़ती है। चोर-डाकुओ व आतंक के बढ़ने के कारण सुरक्षा की व्यवस्था करनी पड़ती है और पड़ौस मे शत्रु राष्ट्रो की नीतियो के कारण युद्ध-सामग्री व सुरक्षा पर व्यय बढ़ाना पड़ता है। कहने का आशय यह है कि GNP कुछ मदो के कारण कमी करके हम 'शुद्ध आर्थिक कल्याण' की धारणा पर पहुँचते है।

हम ऊपर बतला चुके है कि विलियम नोरढाउस व जेम्स टोबिन ने भी आर्थिक कल्याण का अनुमान लगाया है और उन्होने आधुनिक शहरीकरण की असुविधाओ के कारण GNP को घटाया है। इस प्रकार प्रति व्यक्ति NEW की वृद्धि और प्रति व्यक्ति GNP की वृद्धि मे कुछ अन्तर पाये जाते है। इन दोनो मे आजकल शुद्ध आर्थिक कल्याण (NEW) का विचार ज्यादा सार्थक माना जाने लगा है। अत हाल के वर्षों मे GNP से ध्यान हटाकर NEW पर लगाया जाने लगा है। इसके अलावा कुछ विद्वान कई प्रकार के सामाजिक सूचको की गणना पर जोर देने लगे है ताकि उनको देखकर सामाजिक कल्याण का अनुमान लगाया जा सके। इन सबका अपना महत्त्व है। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त सुप्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री प्रोफेसर अमरत्या सेन ने भी सामाजिक सूचकों के महत्त्व को स्वीकार किया है, जैसे जीने की औसत आयु साक्षरता, समाज मे स्त्रियो का स्थान, सफाई की व्यवस्था आदि। इनके बढ़ने से समाज के कल्याण मे वृद्धि होती है।

लेकिन इन सबके कारण राष्ट्रीय आय के आकड़े निरर्थक नहीं हो जाते। आज भी सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक राष्ट्र अपनी GNP व प्रति व्यक्ति GNP के आकड़े नियमित रूप से प्रकाशित करता है तथा विकास दर का अनुमान लगाने के लिए राष्ट्रीय आय के आकड़ो का ही उपयोग किया जाता है। अत NEW के विचार उपयोगी होते हुए भी गणना की कठिनाइयो के कारण व्यवहार मे ज्यादा लोकप्रिय नही हो पाया। आज भी GNP व इससे सम्बद्ध धारणाएँ ही अर्थशास्त्र मे अधिक प्रचलित है। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शुद्ध आर्थिक कल्याण (NEW) की अवधारणा व सामाजिक सूचको की चर्चा ने आर्थिक कल्याण के अध्ययन को नयी दिशाये प्रदान की है और भविष्य मे इनका महत्त्व बढ़ेगा।

कल्याण का विषय काफी दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक किस्म का माना गया है। इसमे शान्ति, सहिष्णुता, पड़ौसी से स्नेह, पारिवारिक जीवन, अपने काम व वातावरण से सन्तोष, न्याय व अनेक ऐसी मदें शामिल होती हैं जिन्हे मुद्रा के मापदण्ड से नहीं मापा जा सकता। मनुष्य का सुख भौतिक साधनों के अलावा अनेक बातो पर निर्भर करता है। अत कल्याण का प्रश्न काफी जटिल है। इसकी वृद्धि के लिए मानवीय व्यवहार व मानवीय सम्बन्धो को भी बेहतर बनाना आवश्यक है।

प्रश्न

1 राष्ट्रीय आय की अवधारणाओं की व्याख्या कीजिये। क्या प्रति व्यक्ति आय आर्थिक कल्याण को श्रेष्ठ सूचक है? (Ajmer Iyr 1992)

2 आर्थिक कल्याण व प्रति व्यक्ति आय के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए। उस स्थिति को स्पष्ट कीजिए जब प्रति व्यक्ति आय बढ रही हो, लेकिन आर्थिक कल्याण घट रहा हो। *(Raj Iyr 1993)*

3 निम्नांकित पर लगभग 100 शब्दों में संक्षिप्त टिप्पणिया लिखिये

(i) 'शुद्ध आर्थिक कल्याण' (N E W) अवधारणा से आप क्या समझते हैं? (Ajmer Iyr 1993)

4 निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणिया लिखिए

(अ) साधन लागत पर GNP एव बाजार भावों पर GNP (सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति)

(ब) साधन लागत पर NNP एव बाजार भावो पर NNP (शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति)

(स) सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) = सकल राष्ट्रीय व्यय (GNE) = सकल राष्ट्रीय आय (GNI),

(द) व्यक्तिगत खर्च योग्य आय (PDI) (Raj Iyr 1994)

5 निम्न अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिए

(i) सकल राष्ट्रीय उत्पाद एव विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद

(ii) साधन लागत पर विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन तथा बाजार कीमत पर विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन

(iii) व्यक्तिगत आय एव व्यय योग्य आय

(iv) प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय एव आर्थिक कल्याण के मध्य सम्बन्ध। (Ajmer Iyr 1994)

6 निम्न आकडों की सहायता से शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (NNP) व शुद्ध घरेलू उत्पत्ति (NDP) को ज्ञात कीजिए—

(1) सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति = 10000 करोड रु, (2) मूल्य ह्रास = 50 करोड रु, (3) विदेशों से प्राप्त साधन आय की राशि = 150 करोड रु, (4) विदेशों को दी जाने वाली साधन भुगतान की राशि = 165 करोड रु

[उत्तर- शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (NNP) = 9950 करोड रु
शुद्ध घरेलू उत्पत्ति (NDP) = 9965 करोड रु

7 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए -

(i) राष्ट्रीय आय और आर्थिक कल्याण।

(ii) बाजार भाव पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद और साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (Raj Iyr 1992)

8 निम्न सूचना के आधार पर बाजार भावों पर सकल घरेलू उत्पत्ति निकालिए- (अरब रुपयों में)

(1) साधन लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पत्ति 2605

(2) स्थिर पूजी की खपत 339

(3) परोक्ष कर 500

(4) सब्सिडी 118

[उत्तर- (1) + (2) + (3) (4) = 3326 अरब रु.]

9 निम्न सूचना के आधार पर सकल घरेलू उत्पत्ति पर व्यय ज्ञात कीजिए— (अरब रुपयों में)

(i) सरकार द्वारा अन्तिम उपभोग व्यय 410

(ii) निजी अन्तिम उपभोग व्यय 2210

(iii) सकल स्थिर पूजी निर्माण 675

(iv) स्टॉक के परिवर्तन 87

(v) वस्तुओं व सेवाओं के निर्यात 204

(vi) वस्तुओं व सेवाओं के आयात 254

(vii) विसगंतिया (discrepencies)(-) 6

[उत्तर- (i) + (ii) + (iii) + (iv) + (v)-(vi) + (vii) = 3326 अरब रुपये]

10 एक अर्थव्यवस्था की 'सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति को निकालने के लिए क्या क्या शामिल करेंगे ? दोहरी गणना की समस्या को कैसे टालेंगे ?(Raj Iyr 1992)

राष्ट्रीय लेखों की अवधारणा
(Concept of National Accounts)

राष्ट्रीय आय के साख्यिकीय अध्ययनो से राष्ट्रीय आय के लेखो (National income account) का नया क्षेत्र विकसित हुआ है। राष्ट्रीय लेखो मे वे सब सौदे व लेन-देन शामिल किये जाते है जिनका सम्बन्ध राष्ट्रीय आय के सृजन व वितरण से होता है। इनसे हमको यह पता लगता है **कि देश में राष्ट्रीय उत्पत्ति कैसे व कितनी होती है, और इसका वितरण किस प्रकार होता है। इसमें एक राष्ट्र के समस्त आर्थिक लेन-देनों का सारांश आ जाता है।** इससे एक देश की अर्थव्यवस्था के बारे मे काफी ज्ञान प्राप्त होता है जिससे उसकी कार्यकुशलता को सुधारने के लिए आवश्यक आर्थिक नीतियो को लागू करने मे सहूलियत हो जाती है।

एक देश के राष्ट्रीय आय के विभिन्न खातो की सहायता से निम्न दिशाओ मे नीति-निर्धारण मे मदद मिलती है:–

(i) **आर्थिक विकास की दिशा व रफ्तार** मे किस प्रकार सुधार किया जा सकता है,

(ii) राष्ट्रीय आय की मात्रा व वितरण मे सुधार करके किस प्रकार देशवासियो के **आर्थिक कल्याण में वृद्धि की** जा सकती है,

(iii) देश मे **आर्थिक उतार-चढ़ाव** कैसे कम किये जा सकते है और इसके लिए कीमतो, रोजगार व भुगतान-संतुलन को प्रभावित करने वाले तत्वो को कैसे नियत्रित व नियमित किया जा सकता है, तथा

(iv) **सरकार अपनी राज्य व व्यय नीति के माध्यम से** अर्थव्यवस्था को किस तरह प्रभावित कर सकती है। अतः राष्ट्रीय आय लेखा प्रणाली अथवा सामाजिक लेखा प्रणाली का अध्ययन बहुत उपयोगी हो गया है। आगे राष्ट्रीय आय सम्बन्धी लेखो की जानकारी से यह बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

राष्ट्रीय लेखों की प्रमुख विशेषताएं

(i) ये दोहरी प्रविष्टि-विधि (double entry system) **पर आधारित होते हैं। इसका अर्थ यह है कि एक खाते में जो प्रविष्टि नामे** (debit) **या बायीं तरफ दिखाई जाती है, वही दूसरी खाते में जमा** (Credit)या दायीं तरफ दिखाई जाती है। प्रत्येक खाता सतुलन मे होता है, अर्थात् बायीं तरफ का जोड़ दायी तरफ के जोड़ के बराबर होता है।

(ii) **राष्ट्रीय लेखो में अर्थव्यवस्था का 'वास्तविक' (real) चित्र मिलता है क्योंकि इनके द्वारा राष्ट्रीय उत्पत्ति के सृजन व वितरण पर प्रकाश डाला जाता है।** विभिन्न प्रकार के माल व सेवाओ का मूल्याकन करके उनका जोड़ निकाला जाता है, और उत्पादन के साधनो की सेवाओ के प्रतिफल ज्ञात किये जाते है। इसी प्रकार इनमे बचत, विनियोग, मूल्य-ह्रास (depreciation) व निर्यात तथा आयात आदि का समावेश किया जाता है।

स्मरण रहे कि राष्ट्रीय लेखो मे विभिन्न आर्थिक इकाइयो के बीच के मौद्रिक लेन-देन शामिल नही होते, जैसे लोग-बाग अपनी बचत का क्या उपयोग करते है, जैसे सग्रह करना (hoarding), पुराने कर्ज चुकाना, शेयर, बाड या सिक्यूरिटी खरीदना, आदि का विवेचन राष्ट्रीय लेखो में नही किया जाकर **कोष-प्रवाह-खातों/लेखों** (Flow-of-funds accounts) मे किया जाता है। अत राष्ट्रीय लेखो से हमे अपूर्ण जानकारी ही मिल पाती है। इनमे विभिन्न आर्थिक इकाइयो के बीच उधार लेने व उधार देने से उत्पन्न सूचनाए नही होतीं। यही कारण है कि उच्चतर अध्ययन मे राष्ट्रीय लेखो व कोष-प्रवाह लेखो दोनो का व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है ताकि अर्थव्यवस्था का पूर्ण चित्र सामने आ सके।

(iii) **अत राष्ट्रीय आय-लेखों से हमें यह पता चलता है कि अर्थव्यवस्था कितनी कार्यकुशलता से कार्य कर रही है।** ये अर्थव्यवस्था की अन्तिम उपलब्धि से सरोकार रखते है, जैसे उत्पादन, उपभोग, बचत, विनियोग, आदि। ये हमे बतलाते हैं कि उत्पादन के लाभ विभिन्न आर्थिक इकाइयो मे किस तरह वितरित होते है, तथा बचत व विनियोग की मात्राए कितनी है। **लेकिन राष्ट्रीय लेखों से यह पता नहीं चलता कि जो भी विनियोग किया गया है वह किस प्रकार से किया गया है,** अर्थात् इसके स्रोत क्या है, कितना बचत करके किया गया है और कितना उधार लेकर किया गया है। यह जानकारी दूसरी प्रकार के लेखों से मिलती है जिन्हे कोष-प्रवाह लेखे (flow-of-funds accounts) कहा जाता है।

इस प्रकार राष्ट्रीय आय के लेखो मे वार्षिक प्रवाह-सम्बन्धी लेन-देन (flow transactions) शामिल होते हैं और इनसे हमे राष्ट्रीय उत्पत्ति/आय, उपभोग, बचत व विनियोग के प्रवाहो की जानकारी होती है।

भारत में राष्ट्र के चार समेकित लेखों (Consolidated Accounts of the Nation) का परिचय[1]

हम राष्ट्रीय लेखों के विवेचन में हमारे देश के लिए तैयार किये जाने वाले चार लेखों–लेखा 1, लेखा 3, लेखा 5, व लेखा 6 का विवरण प्रस्तुत करते हैं ताकि इनकी विस्तृत जानकारी हो सके। हम प्रारम्भ मे इन लेखो/खातो के दोनो तरफ पायी जाने वाली प्रविष्टियो का स्पष्टीकरण देंगे, और बाद मे दी हुई सूचना के आधार पर इन चारो खातो को तैयार करने के सम्बन्ध मे सख्यात्मक उदाहरण देगे।

लेखा 1- सकल घरेलू उत्पत्ति एवं व्यय (प्रचलित भावों पर)
Account 1- Gross Domestic Product and Expenditure (as current Prices)

बायीं तरफ की मदें अथवा नामें (Debits)	दायीं तरफ की मदें अथवा जमा (Credits)
(i) साधन-लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पत्ति	(iv) सरकारी अन्तिम उपभोग-व्यय
(ii) स्थिर पूँजी की खपत या मूल्य-ह्रास	(v) निजी अन्तिम उपभोग-व्यय
(iii) परोक्ष कर-सब्सिडी=शुद्ध परोक्ष कर	(vi) सकल स्थिर पूँजी-निर्माण
	(vii) स्टॉक मे परिवर्तन
	(viii) वस्तुओ व सेवाओ के निर्यात
	(ix) घटाओ वस्तुओ व सेवाओं के आयात
	(x) अतर या विसगतियो (discrepancies)
योग = सकल घरेलू उत्पत्ति (बाजार भावो पर) (Gross Domestic Product)	योग = सकल घरेलू उत्पत्ति पर व्यय (बाजार भावो पर) (Expenditure on Gross Domestic product)

स्पष्टीकरण : ऊपर लेखा 1 के बायी तरफ बाजार भावो पर सकल घरेलू उत्पत्ति (GDP) ज्ञात करने के लिए साधन-लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पत्ति (NDP) मे स्थिर पूँजी का मूल्य-ह्रास जोड़ा जाता है। तत्पश्चात् परोक्ष कर जोड़े जाते है एव सब्सिडी की राशि घटायी जाती है (अथवा परोक्ष कर-सब्सिडी की राशि जोड़ी जाती है)।

1 National Accounts Statistics, 1992, C S O , pp15–23.

दायीं तरफ व्यय-विधि से चलकर उपभोग-व्यय (सरकारी व निजी) मे सकल स्थिर पूँजी-निर्माण व स्टॉक के परिवर्तन जोड़े जाते हैं । बाद मे निर्यात-आयात की राशि जोड़ी जाती है। अन्तिम मद अतर या विसगतियो को सूचित करती है । इसमे अन्य चार मदो की राशियाँ आती हैं जो इस प्रकार होती हैं

(i) लेखा 3 से *'साख्यिकीय विसगतियाँ'* (बायी तरफ से)
(ii) लेखा 5 से 'भूल-चूक' (errors and omissions) (बायी तरफ से)
(iii) लेखा 6 से 'स्वामित्व के आधार के परिवर्तन से वस्तु-निर्यातो मे समायोजन' (adjustment of merchandise exports to the chagge of ownership-basis) (रिर्जव बैक व वाणिज्यिक सूचना व साख्यिकी निदेशालय, DGCI&S, के आकड़ो का अतर) (बायी तरफ)
(iv) लेखा 6 से स्वामित्व-आधार के परिवर्तन से वस्तु-आयातो मे समायोजन (दायी तरफ), इनमे (i) से (iii) के योग मे से (iv) को घटाया जाता है ।

इस प्रकार लेखे 1 मे दायीं तरफ विसगतियो (discrepancies) की मद को ज्ञात करने के लिए लेखे 3, लेखे 5 व लेखे 6 (दो मदे) काम मे ली जाती हैं ।

लेखा-3 राष्ट्रीय प्रयोज्य आय व उसका प्रयोग
(National Disposable Income and its Appropriation)

बायीं तरफ		दायीं तरफ	
(i)	*सरकारी अन्तिम उपभोग-व्यय*	(v)	साधन-लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पत्ति
(ii)	निजी अन्तिम उपभोग-व्यय	(vi)	शेष ससार से कर्मचारियो का पारिश्रमिक, (शुद्ध)
(iii)	बचत	(vii)	शेष ससार से प्रोपर्टी व उद्यम की आय (शुद्ध)
(iv)	साख्यिकीय विसगति	(viii)	परोक्ष कर- सब्सिडी = शुद्ध परोक्ष कर
		(ix)	शेष ससार से अन्य चालू हस्तान्तरण, (शुद्ध)
योग =	प्रयोज्य आय का प्रयोग (appropriation)	योग =	प्रयोज्य आय

स्पष्टीकरण · इस लेखे के बायी तरफ उपभोग-व्यय (सरकारी व निजी) तथा बचत आते हैं । दायी तरफ साधन-लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पत्ति

मे निम्न मदे जोड़ी जाती है–

मद सख्या–

(vi) इसमे शेष ससार से प्राप्त कर्मचारियो के पारिश्रमिक मे से शेष ससार के कर्मचारियो को दिया गया पारिश्रमिक घटाया जाता है। (लेखा 6 के चालू लेन-देन (current transactions) के बाये व दाये की सूचना)

(vii) इसी प्रकार शेष ससार से प्रोपर्टी व उद्यम की प्राप्त आय मे से चुकायी गयी आय का अतर लिया जाता है (लेखा 6 के चालू लेन-देन के बाये व दाये की सूचना)

(viii) परोक्ष कर - सब्सिडी = शुद्ध परोक्ष कर दिखाया जाता है और,

(ix) शेष ससार से अन्य चालू हस्तान्तरणो मे प्राप्त राशि मे से दी गयी राशि घटायी जाती है (लेखा 6 के चालू लेन-देन के बाये व दाये की सूचना)

स्मरण रहे कि ऊपर मद (vi) व मद (vii) का जोड़ **शेष संसार से प्राप्त शुद्ध साधन-आय** (net factor income from abroad) कहलाती है। इसलिए इस सूचना के दिये होने पर यह ऊपर लेखा 3 के दायी तरफ तथा आगे लेखा 6 के चालू लेन-देन के भाग मे बायी तरफ दिखायी जायगी।

लेखा-5 पूँजीगत वित्त (Capital Finance)

बायीं तरफ	दायीं तरफ
(i) सकल घरेलू पूँजी-निर्माण	(v) बचत
(अ) सकल घरेलू स्थिर पूँजी-निर्माण	(vi) स्थिर पूँजी की खपत या मूल्य-ह्रास
(ब) स्टॉक के परिवर्तन	(vii) शेष ससार से पूँजीगत-हस्तान्तरण, शुद्ध
(ii) भूल-चूक (अवशेष)	
(iii) शेष ससार से अमूर्त परिसम्पत्तियो की खरीद (जिनका अन्यत्र वर्गीकरण नही), शुद्ध	
(iv) शेष ससार को शुद्ध उधार की राशि (net lending)	
योग = सकल सचय (Gross accumulation)	योग = सकल सचय की वित्त-व्यवस्था (finance of gross accumulation)

स्पष्टीकरण :—बायीं तरफ सकल संचय अथवा पूँजी-निर्माण दिखाया जाता है और दायीं तरफ इसकी वित्तीय व्यवस्था दिखायी जाती है।

बायीं तरफ भूल-चूक की राशि निकालने के लिए घरेलू बचत में विदेशों से शुद्ध पूँजी का आन्तरिक प्रवाह जोड़कर उसमें से घरेलू पूँजी-निर्माण घटाया जाता है।

लेखा 6 - बाह्य लेन-देन (external Transactions) इसके दो भाग हाते है –

(अ) चालू लेन-देन (Current transactions)

(आ) पूँजीगत लेन-देन (capital transactions)

चालू लेन-देन मे वस्तुओ व सेवाओ के आयात-निर्यात तथा विदेशो से प्राप्त शुद्ध साधन-आय व शेष ससार से प्राप्त चालू हस्तान्तरण-राशियाँ आती है तथा चालू लेन-देनो पर राष्ट्र का अधिशेष (surplus of the nation on current transactions) पूँजीगत लेन-देनो मे शेष ससार से पूँजीगत हस्तान्तरण व विदेशी देनदारियो तथा वित्तीय परिसम्पत्तियों की वृद्धियाँ आती है।

चालू लेन-देन व पूँजीगत लेन-देन की विभिन्न मदे नीचे दिखायी जाती है :—

बाह्य-लेन-देन :

लेखा-6 (अ) चालू लेन-देन (Current transactions)

बायीं तरफ		दायीं तरफ	
(i)	वस्तुओ व सेवाओ के निर्यात	(vi)	वस्तुओ व सेवाओ के आयात
(ii)	शेष ससार से प्राप्त कर्मचारियो का पारिश्रमिक	(vii)	शेष ससार के कर्मचारियो को दिया गया पारिश्रमिक
(iii)	शेष ससार से प्रोपर्टी व उद्यमकर्ता की प्राप्त आय	(viii)	शेष ससार को प्रोपर्टी व अद्यम के लिए दी गयी आय
(iv)	शेष ससार से अन्य चालू हस्तान्तरण की राशियाँ	(ix)	शेष ससार को अन्य चालू हस्तान्तरण
(v)	स्वामित्व-आधार मे परिवर्तन से वस्तु-निर्यातो मे समायोजन	(x)	स्वामित्व-आधार मे परिवर्तन से वस्तु-आयातो मे समायोजन
		(xi)	चालू लेन-देन से राष्ट्र का अधिशेष
योग =	चालू प्राप्तियाँ (Current receipts)	योग =	चालू प्राप्तियो का निपटान (disposal of current receipts)

स्पष्टीकरण :बाह्य लेन-देन के चालू खाते की बायी तरफ वस्तुओ व सेवाओ के निर्यात व उत्पादन के साधनो से प्राप्त विदेशी आय दिखायी जाती

है। इन सबसे देश को विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है।

दायी तरफ वस्तुओ व सेवाओ के आयात पर तथा शेष ससार को साधनो के लिए दिये गये भुगतान शामिल किये जाते है। **दायीं तरफ अन्तिम मद चालू लेन-देन से राष्ट्र का अधिशेष होती है, जो भारत के लिए चालू खाते में घाटा होने से ऋृणात्मक** (negative) **होती है।**

(आ) पूँजीगत लेन-देन (Capital transactions)

बायीं तरफ		दायीं तरफ	
(i)	चालू लेन-देन से राष्ट्र का अधिशेष	(iv)	शेष ससार से अमूर्त परिसम्पत्तियो की खरीद (जो अन्यत्र वर्गीकरण नही की गई है), शुद्ध
(ii)	शेष ससार से पूँजीगत हस्तान्तरण, (शुद्ध)	(v)	विदेशी वित्तीय परिसम्पत्तियो की शुद्ध प्राप्ति (net acquisition)
(iii)	विदेशी देनदारियो मे शुद्ध वृद्धिया		
योग =	प्राप्तियाँ (Receipts)	योग =	सवितरण (Disbursements)

स्पष्टीकरण :—इसमे बायी तरफ पूँजीगत प्राप्तियाँ आती है। प्रथम मद भारत के लिए ऋृणात्मक होती है, क्योकि इसमे भुगतान के चालू खाते का अधिशेष आता है। दूसरी मद शेष ससार से पूँजीगत हस्तान्तरण की राशि होती है तथा तृतीय मद मे विदेशी देनदारियो (foreign liabilities) की शुद्ध वृद्धि दर्शायी जाती है।

दायी तरफ शेष ससार से अमूर्त परिसम्पत्तियो की खरीद व विदेशी वित्तीय परिसम्पत्तियो (assets) की शुद्ध प्राप्ति आती है।

निष्कर्ष :—हमने देखा कि राष्ट्र के उपर्युक्त चार समेकित लेखे/खाते (Consolidated accounts) होते है। **इनमें लेखा 1 मे सकल घरेलू उत्पत्ति व इसका व्यय आता है, लेखा 3 में राष्ट्रीय प्रयोज्य आय व उसका प्रयोग आता है लेखा 5 में पूँजीगत वित्त आता है तथा लेखा 6 में बाह्य लेन-देन का हिसाब (चालू लेन-देन व पूँजीगत लेन-देन) आता है।** इस प्रकार चारो खाते मिलकर राष्ट्रीय आय के सृजन, प्रयोज्य आय के प्रयोग, पूँजी-निर्माण व बाह्य लेन-देन का विवरण प्रस्तुत करते है।

प्रारम्भ मे विद्यार्थियो को इनकी विभिन्न मदो को याद रखने मे कठिनाई हो सकती है, लेकिन आगे सख्यात्मक उदाहरणो का अध्ययन करने व अभ्यास करने से उनको स्मरण रखना सुगम हो जायगा।

राष्ट्रीय खातों के सख्यात्मक उदाहरण

उदाहरण 1 निम्न सूचना के आधार पर लेखा 1- सकल घरेलू उत्पत्ति व व्यय; लेखा 3- राष्ट्रीय प्रयोज्य आय व उसका प्रयोग; लेखा 5- पूँजीगत वित्त तथा लेखा 6- बाह्य लेन-देन (अ) चालू लेन-देन व (आ) पूँजीगत लेन-देन तैयार करे।

		करोड़ (रु)
(1)	सरकारी अन्तिम पूँजीगत व्यय	50
(2)	स्टॉक के परिवर्तन	35
(3)	स्थिर पूँजी की खपत या मूल्य ह्रास	5
(4)	वस्तुओ व सेवाओ का निर्यात	20
(5)	स्वरोजगार प्राप्त लोगो की मिश्रित आय	85
(6)	शेष ससार से अन्य चालू हस्तान्तरण (शुद्ध)	2
(7)	सब्सिडी	5
(8)	वस्तुओ व सेवाओ के आयात	35
(9)	शेष ससार से प्रोपर्टी व उद्यमशीलता की आय, शुद्ध	(-) 6
(10	शेष ससार से कर्मचारियो के प्रतिफल, शुद्ध	(-) 1
(11)	सचालन-अधिशेष (Operating surplus) (ब्याज कर व मूल्य-ह्रास से पूर्व लाभ)	55
(12)	कर्मचारियो का पारिश्रमिक	80
(13)	परोक्ष कर	20
(14)	सकल स्थिर पूँजी निर्माण	80
(15)	निजी अन्तिम उपभोग व्यय	90
(16)	शेष ससार से पूँजीगत हस्तान्तरण, शुद्ध	5
(17)	शेष ससार से अमूर्त परिसम्पत्तियो की खरीद, शुद्ध	(-) 15

उत्तर— लेखा 1- सकल घरेलू उत्पत्ति व व्यय

नामें (debits)		जमा (credits)	
कर्मचारियो का पारिश्रमिक	80	निजी अन्तिम उपभोग-व्यय	90
सचालन-अधिशेष	55	सरकारी अन्तिम उपभोग-व्यय	50
मिश्रित आय	85	सकल स्थिर पूँजी निर्माण	80
परोक्षकर-सब्सिडी (20 5)	15	स्टॉक के परिवर्तन	35
मूल्य ह्रास	5	निर्यात-आयात (20 35)	-15
	-----		-----
सकल घरेलू उत्पत्ति =	240	सकल घरेलू उत्पत्ति पर व्यय =	240
	-----		-----

लेखा 3- राष्ट्रीय प्रयोज्य आय व उसका प्रयोग

नामें (debits)		जमा (credits)	
निजी अन्तिम उपभोग-व्यय	90	कर्मचारियो को पारिश्रमिक	80
सरकारी अन्तिम उपभोग-व्यय	50	सचालन-अधिशेष	55
बचत	90	मिश्रित आय	85
		परोक्ष-सब्सिडी = शुद्ध परोक्ष कर = (20-5)	15
		शेष ससार से प्रोपर्टी व उद्यम -शीलता की आय (शुद्ध)	(-)6
		शेष ससार से कर्मचारियो का प्रतिफल (शुद्ध)	(-)1
		शेष ससार से अन्य चालू हस्तान्तरण (शुद्ध)	(+)2
राष्ट्रीय प्रयोज्य आय का प्रयोग =	230	प्रयोज्य आय =	230

लेखा 5 - पूँजीगत वित्त

नामें		जमा	
सकल स्थिर पूँजी-निर्माण	80	बचत	90
स्टॉक के परिवर्तन	35	मूल्य-ह्रास	5
शेष ससार से अमूर्त परिसम्पत्तियो की खरीद, शुद्ध	-15	शेष ससार से पूँजीगत हस्तान्तरण, शुद्ध	5
सकल सचय =	100	सकल सचय की वित्त-व्यवस्था =	100

लेखा 6 बाह्य लेन-देन

(अ) चालू लेन-देन (Current Transactions)

नामे		जमा	
निर्यात	20	आयात	35
शेष ससार से कर्मचारियो के प्रतिफल (शुद्ध),	(-)1	चालू खाते से राष्ट्र का अधिशेष (अवशिष्ट राशि)	-20
शेष ससार से प्रोपर्टी व उद्यम की आय (शुद्ध),	(-)6		
शेष ससार से चालू हस्तान्तरण (शुद्ध)	+ 2		
चालू प्राप्तिया =	15	चालू प्राप्तियो का निपटान =	15

(आ) पूँजीगत लेन-देन

नामें		जमा	
चालू खाते से राष्ट्र का अधिशेष	−20	शेष ससार से अमूर्त परिसम्पत्तियों की खरीद	−15
ससार से पूँजीगत हस्तान्तरण शुद्ध	5		
प्राप्तियाँ=	−15	सवितरण	= −15

उदाहरण 2 : निम्न तालिका मे वर्ष 1989-90 के लिए भारत के राष्ट्रीय आय लेखो की कुछ सूचनाऐं दी गई हैं। इनका उपयोग करके राष्ट्र के चार समेकित लेखे (Four consolidated accounts of the nation) तैयार कजिए[1]

इसका क्या प्रमाण है कि आपके लेखे सही हैं ?

		(करोड़ रु.) (प्रचलित भावों पर)
1.	साधन-लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पत्ति	356023
2.	स्थिर पूँजी की खपत या मूल्य-हास	45546
3.	परोक्ष कर	66875
4.	सब्सिडी	17843
5.	सरकारी अन्तिम उपभोग-व्यय	54319
6.	निजी अन्तिम उपभोग-व्यय	289639
7.	सकल स्थिर पूँजी-निर्माण	96408
8.	स्टॉक के परिवर्तन	9463
9.	वस्तुओं व सेवाओ के निर्यात	34632
10.	वस्तुओ व सेवाओ के आयात	40300
11.	बचत	54925
12	शेष ससार से कर्मचारियों का पारिश्रमिक (शुद्ध)	(−) 219
13.	शेष ससार से प्रोपर्टी व उद्यम की आय (शुद्ध)	(−) 3954
14.	शेष ससार से अन्य चालू हस्तान्तरण (शुद्ध)	3798
15	शेष ससार को शुद्ध उधार	(−) 9824
16.	विदेशी देनदारियो मे शुद्ध वृद्धि	9432
17.	विदेशी वित्तीय परिसम्पत्तियो की शुद्ध प्राप्ति	(−) 392
18	शेष ससार से पूँजीगत हस्तान्तरण	897
19	स्वामित्व-आधार के परिवर्तन से वस्तु-निर्यातो मे समायोजन	548
20.	स्वामित्व-आधार के परिवर्तन से वस्तु-आयातो में समायोजन	5226

1 National Accounts Statistics, 1992 pp 15 23 इन वास्तविक आकड़ो पर अभ्यास करने से अर्थव्यवस्था की सरचना को समझने में मदद मिलेगी। लेखों में निशान की मदे सतुलनकारी मदें (balancing items) हैं।

उत्तर-लेखा 1-सकल घरेलू उत्पत्ति व व्यय

नामें (debits)		जमा (Credits)	
साधन लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पत्ति	356023	सरकारी अन्तिम उपभोग-व्यय	54319
स्थिर पूँजी की खपत/मूल्य-ह्रास	45546	निजी अन्तिम उपभोग-व्यय	289639
परोक्ष कर-सब्सिडी	49032	सकल स्थिर पूँजी-निर्माण	96408
		स्टॉक मे परिवर्तन	9463
		निर्यात (वस्तु व सेवा) 34632	
		आयात (वस्तु व सेवा) 40300	(–) 5668
		अन्तर या विसगतियाँ*	6440
सकल घरेलू उत्पत्ति	450601	सकल घरेलू उत्पत्ति पर व्यय	450601

लेखा 3-राष्ट्रीय प्रयोज्य आय व उसका प्रयोग

नामें		जमा	
सरकारी अन्तिम उपभोग व्यय	54319	साधन-लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पत्ति	356023
निजी अन्तिम उपभोग व्यय	289639	शेष ससार से कर्मचारियो का पारिश्रमिक (शुद्ध)	(–) 219
बचत	54925	शेष ससार से प्रोपर्टी व उद्यम की आय (शुद्ध)	(–)3954
सांख्यिकीय विसगति*	5797	परोक्ष कर-सब्सिडी	49032
		शेष ससार से अन्य चालू हस्तान्तरण	3798
प्रयोज्य आय का प्रयोग	404680	प्रयोज्य आय	404680

लेखा 5 पूँजीगत वित्त

नामें		जमा	
सकल घरेलू स्थिर पूँजी निर्माण	96408	बचत	54925
स्टॉक के परिवर्तन	9463	स्थिर पूँजी की खपत	45546
भूल-चूक*	5321	शेष ससार से पूँजीगत हस्तान्तरण, शुद्ध	897
शेष ससार को शुद्ध उधार	(–)9824		
सकल सचय	101368	सकल सचय की वित्त-व्यवस्था	101368

लेखा -6 बाह्य लेन-देन (अ) चालू लेन-देन

नामे		जमा	
वस्तुओ व सेवाओ के निर्यात	34632	वस्तुओ व सेवाओं के आयात	40300
शेष ससार से अन्य चालू हस्तान्तरण (शुद्ध)	3798	शेष ससार को कर्मचारियो का पारिश्रमिक (शुद्ध)	219
स्वामित्व आधार पर परिवर्तन से माल के निर्यातो मे समायोजन	548	शेष ससार को प्रोपर्टी व उद्यम की आय (शुद्ध)	3954
		स्वामित्व आधार पर परिवर्तन से माल के आयातो मे समायोजन	5226
		चालू लेन-देन मे राष्ट्र का अधिशेष (अवशिष्ट राशि)*	(–) 10721
चालू प्राप्तियाँ	38978	चालू प्राप्तियो का निपटान	38978

(आ) पूँजीगत लेन-देन

नामे		जमा	
चालू लेन-देन मे राष्ट्र का अधिशेष	(–) 10721	विदेशी वित्तीय परिसम्पत्तियो की शुद्ध प्राप्ति	(–) 392
शेष ससार से पूँजीगत हस्तान्तरण, शुद्ध	897		
विदेशी देनदारियो में शुद्ध वृद्धि	9432		
प्राप्तियाँ	(–)392	सवितरण (disbursements)	(–) 392

लेखे-के सही होने का प्रमाण

लेखे 1 मे विसगतियो (discrepancies) की राशि बराबर होनी चाहिए :

(i) लेखे 3 की बायीं ओर साँख्यिकीय विसगति

+(ii) लेखे 5 की बायीं ओर भूल-चूक

+(iii) लेखे 6 की स्वामित्व-आधार मे परिवर्तन से माल-निर्यात का समायोजन -

(iv) लेखे 6 की स्वामित्व-आधार मे परिवर्तन से माल-आयात का समायोजन ।

दिये हुए आकड़ो के मतानुसार

(i)	5797
(ii)	5321
(iii)	548
(iv)	(–) 5226
कुल	6440

जो लेखे 1 मे विसगतियो के बराबर है ।

प्रश्न ऊपर उदाहरण 2 को ध्यान से बढ़कर भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षण लिखिए ।

उत्तर उदाहरण 2 के आकडो के आधार पर भारतीय अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध मे निम्न निष्कर्ष ध्यान देने योग्य हैं -

(i) निजी अन्तिम उपभोग पर व्यय सकल घरेलू उत्पत्ति का 64 3% (लगभग 2/3) है ।

(ii) सरकारी अन्तिम उपभोग पर व्यय सकल घरेलू उत्पत्ति का 12 0% है ।

(iii) सकल स्थिर (fixed) पूँजी-निर्माण सकल घरेलू उत्पत्ति का 21 4% है । (तीनो परिणाम लेखा 1 से प्राप्त)

(iv) बचत का अश राष्ट्रीय प्रयोज्य आय का 13 6% है (लेखा 3 से)

(v) चालू लेन-देन से राष्ट्र को 1989-90 मे 10721 करोड रु का घाटा हुआ । इस प्रकार यह घाटा सकल घरेलू उत्पत्ति का 2 4% रहा, जो काफी ऊँचा माना जा सकता है । (लेखा 6 अ व लेखा 1 से प्राप्त)

प्रश्न

1 राष्ट्रीय आय के लेखो से आप क्या समझते हैं ? इनके निर्माण का क्या आर्थिक महत्त्व होता है ?

2 भारत मे राष्ट्रीय आय के चार लेखो मे मुख्य-मुख्य मदे क्या होती हैं ? इनका स्पष्ट विवेचन कीजिए ।

3 निम्न सूचना के आधार पर वर्ष 1980-81 के लिए भारत के चार राष्ट्रीय आय लेखे तैयार करिए तथा अपने परिणामों की सत्यता की जाँच करके बताइए ।

		(करोड़ रु.) (प्रचलित भावों पर)
1.	साधन-लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पत्ति	110139
2.	स्थिर पूँजी पर मूल्य-ह्रास	12087
3.	परोक्ष कर	16746
4.	सब्सिडी	3160
5.	सरकारी अन्तिम उपभोग-व्यय	13084
6.	निजी अन्तिम उपभोग-व्यय	97919
7.	सकल स्थिर पूँजी-निर्माण	26276
8.	स्टॉक मे परिवर्तन	4740
9.	वस्तुओ व सेवाओ के निर्यात	9029
10.	वस्तुओं व सेवाओं के आयात	13596
11.	बचत	16686
12.	शेष संसार से कर्मचारियो का पारिश्रमिक (शुद्ध)	(-)29
13.	शेष संसार से प्रौपर्टी व उद्यम की आय (शुद्ध)	374
14.	शेष ससार से अन्य चालू हस्तान्तरण (शुद्ध)	2257
15.	शेष ससार को शुद्ध उधार	(-)1656
16.	विदेशी देनदारियो मे वृद्धि (शुद्ध)	1864
17.	विदेशी वित्तीय परिसम्पत्तियो की शुद्ध प्राप्ति	208
18.	शेष ससार से पूँजीगत हस्तान्तरण	438
19.	स्वामित्व-आधार के परिवर्तन से वस्तु-निर्यातों मे समायोजन	(-)135
20.	स्वामित्व-आधार के परिवर्तन से वस्तु-आयातो मे समायोजन	(-)6

[उत्तर-परिणाम—संकेत: लेखे 1 मे विसगतियें की राशि 1640 करोड़ रु
लेखे 3 में सांख्यिकी-विसंगतिया (-) 1362 करोड़ रु
लेखे 5 मे भूल-चूक (-) 149 करोड़ रु
लेखे 6 मे (चालू खाते मे) चालू लेन-देनो से राष्ट्र को अधिशेष (-) 2094 करोड़ रु]

4. उपर्युक्त आकड़ो के आधार पर 1980-81 के लिए निम्नांकित का आकलन कीजिए।

(i) निजी अन्तिम उपभोग पर व्यय सकल घरेलू उत्पत्ति के अश के रूप मे।
(ii) सरकारी अन्तिम उपभोग पर व्यय सकल घरेलू उत्पत्ति के अश के रूप मे।
(iii) सकल स्थिर पूँजी-निर्माण सकल घरेलू उत्पत्ति का अश।
(iv) बचत का अश राष्ट्रीय प्रयोज्य आय का।
(v) चालू लेन-देन से राष्ट्र को 1980-81 मे घाटा सकल घरेलू उत्पत्ति के अश के रूप मे।

उत्तर — (i) 72%, (ii) 9 6%, (iii) 19 3% (iv) 13 2% तथा
(v) 2094 करोड़ रु का घाटा जो सकल घरेलू उत्पत्ति का 1 54%)

8

आय का वृत्ताकार प्रवाह

(Circular Flow of Income)

किसी भी अर्थव्यवस्था मे आमदनी परिवारो व फर्मों के बीच मे घूमती रहती है। यदि हम यह मान लेते है कि (1) परिवार अपनी समस्त आमदनी फर्मों के द्वारा उत्पादित वस्तुओ व सेवाओ को खरीदने मे व्यय कर देते है, (2) फर्में उत्पादन की मात्रा कुल बिक्री की मात्रा के बराबर रखती है जिससे उनके पास माल के स्टॉक मे कोई परिवर्तन नही होता और (3) फर्में वस्तुओ व सेवाओ की बिक्री से प्राप्त समस्त मुद्रा परिवारो को मजदूरी, लगान, ब्याज व मुनाफो के रूप मे बाट देती है, तो ऐसी अर्थव्यवस्था मे उत्पादन के साधनो को किया गया समस्त भुगतान चालू उत्पादन के मूल्य के बराबर होगा। ऐसी **अवस्था में फर्मों की आमदनी व परिवारो की आमदनी सदैव बराबर रहती है।** फर्मों ने जो मुद्रा परिवारो को दी है वह फर्मों के पास वापस लौट आती है। यह स्पष्ट है कि *आय का यह वृत्ताकार या चक्रीय प्रवाह (Circular flow)* एक बार प्रारम्भ होकर निरन्तर इसी स्तर पर चलता जाता है। इसमे उपर्युक्त मान्यताओ के कारण कोई परिवर्तन नही होता।

इस स्थिति के सम्बन्ध मे हम कह सकते हैं कि अर्थव्यवस्था एक प्रकार के तटस्थ सन्तुलन (neutral equilibrium) में बनी रहती है। मान लीजिए, फर्मों ने 1,000 रुपये मजदूरी, लगान, ब्याज व मुनाफे के रूप मे वितरित किये जो परिवारो को उत्पादन के साधनो की आय के रूप मे प्राप्त हुए। ये 1,000 रुपये पुन फर्मों के पास आ जाते है, क्योकि परिवार फर्मों द्वारा उत्पन्न माल व सेवाऐं खरीद लेते हैं। इस प्रकार आय के वृत्ताकार प्रवाह का यह सरल मॉडल लिया जा सकता है। यह प्रवाह चाहे 100 रुपयो का हो, या 1,000 रुपयो का, या 10,000 रुपयो का हो, इससे इसके वृत्ताकार प्रवाह की प्रक्रिया मे कोई अन्तर नही पड़ता। इस प्रवाह की निरन्तर जारी रहने की प्रक्रिया अत्यन्त सरल किस्म की होती है।

आय के वृत्ताकार प्रवाह की परिभाषा—हम पहले स्पष्ट कर चुके है कि किस प्रकार राष्ट्रीय उत्पत्ति के तीन माप वस्तु-प्रवाह, आय-प्रवाह व व्यय-प्रवाह परस्पर बराबर होते हैं, अर्थात् GNP = GNI= GNE होते हैं। यहाँ पर हम आय के वृत्ताकार प्रवाह को प्रभावित करने वाले तत्त्वो का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

रिचर्ड जी. लिप्से के अनुसार, **''आय का वृत्ताकार प्रवाह साधन-सेवाओं व वर्तमान में उत्पादित वस्तुओं के लिए भुगतानों व प्राप्तियों का एक प्रवाह होता है जो घरेलू (न कि विदेशी) फर्मों व परिवारों के बीच में पाया जाता है ।''**[1] एक देश मे पाई जाने वाली फर्में व वहाँ के परिवार घरेलू (domestic) माने जाते है । जब तक घरेलू परिवार प्राप्त मुद्रा को घरेलू फर्मों से वस्तुएँ व सेवाएँ खरीदने पर व्यय करते जाते है, और जब तक फर्में प्राप्त मुद्रा को घरेलू परिवारो को वापस लौटाती जाती है, तब तक वृत्ताकार प्रवाह समान स्तर पर बना रहता है । इस प्रकार प्रवाह मे कभी कुछ नही जोड़ा जाता (no injections) और इसमे से कुछ निकाला भी नही जाता (no withdrawals) । हमने अध्ययन की दृष्टि से एक सरल मॉडल मे तो प्रवाह मे जोड़ना व घटाना नही माना है, लेकिन वास्तविक जगत् मे यह जोड़ना व घटाना निरन्तर चलता रहता है । इसलिए अब हम आय के वृत्ताकार प्रवाह मे जोड़ने व घटाने की प्रमुख मदो पर अपना ध्यान केन्द्रित करते है जिससे पता चलेगा कि यह वृत्ताकार प्रवाह किन तत्वो के कारण बढ़ता है, और किन तत्वो के कारण घटता है ।

रिचर्ड जी. लिप्से ने आय के वृत्ताकार प्रवाह का वर्णन निम्न चार परिस्थितियो मे किया है—

1. अपव्ययी या खर्चीली अर्थव्यवस्था (Spendthrift Economy)- यह एक ऐसी अर्थ व्यवस्था होती है जो अत्यधिक खर्चीली होती है । लोग जितना कमाते है उतना ही खर्च कर देते है । इसमे केवल दो समूह, अर्थात् फर्में व परिवार ही होते है । परिवार अपनी समस्त आय उपभोग की वस्तुओ व सेवाओ पर व्यय कर देते है, तथा फर्में अपनी सारी आमदनी परिवारो को मजदूरी, ब्याज, लगान, व लाभ के रूप मे वापस लौटा देती है । इस प्रकार इस अर्थव्यवस्था मे कोई बचत व विनियोग नही किया जाता । ऐसी परिस्थिति मे स्थिर आमदनी फर्मों व परिवारो के बीच घूमती रहती है ।

2. मितव्ययी या किफायती अर्थव्यवस्था (Frugal Economy)-इस अर्थव्यवस्था मे लोग बचत करते है एवं किफायत से खर्च करते है । इस प्रकार इसमे बचत व विनियोग होने लगते है । बचत व विनियोग के बराबर होने पर, राष्ट्रीय आय सतुलन मे रहती है । इनमे अतर पाये जाने पर राष्ट्रीय आय मे असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है । यदि बचत की राशि विनियोग की राशि से अधिक होती है तो राष्ट्रीय आय कम हो जाती है और यदि विनियोग की राशि बचत की राशि से अधिक होती है तो राष्ट्रीय आय बढ़ जाती है । विनियोग के बढ़ने से आय मे अनुपात से अधिक वृद्धि होती है । इस प्रकार मितव्ययी अर्थव्यवस्था मे बचत व विनियोग मे अन्तर होने से आमदनी समान स्तर पर नही बनी रह सकती । यह परिवर्तित होती रहती है । परिवर्तन की दिशा पर बचत व विनियोग की राशियो का प्रभाव पड़ता है ।

1. *Richard G. Lipsey, AN INTRODUCTION TO POSITIVE* ECONOMICS, 7th edition 1989, pp.469-470

3. सरकारी प्रशासन के द्वारा संचालित अर्थव्यवस्था (Governed Economy)-इसमें सरकार का प्रवेश व हस्तक्षेप पाया जाता है। इसलिए सरकार फर्मों व वस्तुएँ तथा परिवारो से साधनो की सेवाएँ खरीदने लगती है। *इस प्रकार आय-प्रवाह मे सरकारी आय तथा व्यय का भी प्रवेश हो जाता है।* सरकार करो के द्वारा अपनी आय प्राप्त करने लगती है। ये कर वस्तुओ पर, फर्मों पर तथा व्यक्तियो पर लगाये जाते है। अतः इस अर्थव्यवस्था मे करो व सरकारी व्यय का समावेश हो जाता है। कर राष्ट्रीय आय को कम करते है तथा सरकारी व्यय से राष्ट्रीय आय बढ़ती है। यदि करो की राशि सरकारी व्यय की राशि से अधिक होती है तो आय का प्रवाह घट जाता है, और सरकारी व्यय के करो से अधिक होने पर यह बढ़ जाता है।

4. *खुली अर्थव्यवस्था (Open Economy)*-इसमे *विदेशी व्यापार का* भी समावेश हो जाता है। निर्यात-आयात राष्ट्रीय आय की राशि को प्रभावित करने लगते है। निर्यात राष्ट्रीय आय को बढ़ाते है तथा आयात इसको घटाते है। निर्यातो के आयातो से अधिक होने पर राष्ट्रीय आय बढ़ती है; तथा आयातो के निर्यातो से अधिक होने पर राष्ट्रीय आय घटती है।

हम नीचे खुली अर्थव्यवस्था मे आय के वृत्ताकार प्रवाह का विवेचन करते है ताकि एक साथ बचत व विनियोग, कर व सरकारी व्यय, तथा *आयात व निर्यात, आदि सभी प्रकार की क्रियाओ का प्रभाव राष्ट्रीय आय* पर देखा जा सके।

आय के वृत्ताकार प्रवाह का वास्तविक मॉडल

खुली अर्थव्यवस्था (Open Economy)

(अ) आय के प्रवाह को घटाने वाले या कम करने वाले तत्व या घटक—*आय का वृत्ताकार प्रवाह बचतो, आयातो व करो के प्रभाव से कम* होता है। इनका वर्णन आगे किया जाता है।

(1) बचतें (Savings)-परिवार और फर्में दोनो बचत कर सकते है। परिवार उस स्थिति मे बचत करते हुए माने जा सकते है जब वे प्राप्त आय की समस्त राशि वस्तुओ व सेवाओ पर व्यय नही करते। पारिवारिक बचत की कुछ मात्रा तो वृत्ताकार प्रवाह में वापस जुड़ जाती है, क्योकि परिवार इन बचतो को फर्मों को उधार दे देते है और फर्में इनका उपयोग करके नये कल कारखाने स्थापित कर लेती हैं, अथवा अन्य किसी तरह से अपने कारोबार मे प्रयुक्त कर देती है। लेकिन परिवार जिस बचत का सग्रह या अपसंचय कर *लेते है, वह राशि वृत्ताकार प्रवाह मे वापस नही लौट पाती और उस सीमा* तक वह वृत्ताकार प्रवाह से बाहर रह जाती है। अतः बचते राष्ट्रीय आय को घटाती है। लेकिन विनियोग की क्रिया से यह प्रभाव बदल जाता है और आय बढ़ने लगती है।

इसी प्रकार फर्में भी कुछ बचते कर सकती है, जैसे वे प्रायः कुछ मुनाफो को शेयर-होल्डरो मे नही बाटती हैं। इन्हे अवितरित या रोके गये

लाभ कहते है। ये व्यावसायिक बचते होती हैं। यदि फर्में इन अवितरित लाभो का उपयोग नयी फैक्ट्री की स्थापना या पुरानी फैक्ट्री के विस्तार में करती है तो ये बचते वृत्ताकार प्रवाह मे पुन प्रवेश कर लेती है और यदि फर्में भी इनका सग्रह कर लेती है तो यह प्रक्रिया भी आय के वृत्ताकार प्रवाह को कम कर देती है।

(ii) आयात (Imports)-आयात की राशि भी आय के वृत्ताकार प्रवाह को घटाती है, क्योंकि यदि विदेशी माल का आयात किया जाता है तो इसका भुगतान स्वदेशी फर्मों को न मिलकर विदेशी फर्मों को मिलता है। इसलिए इससे विदशी फर्मों की आय बढ़ती है। मान लीजिए, किसी देश के निवासी अपनी सम्पूर्ण आय को विदेशी माल के आयात पर व्यय करने का निर्णय करते हैं तो इस कदम से घरेलू फर्मों की आय शून्य हो जायेगी और फलस्वरूप वहा के नागरिको की आय भी शून्य हो जायेगी। अत आयात की क्रिया से वृत्ताकार प्रवाह का आकार घटता है।

(iii) कर (Taxes)-आजकल सरकारे विविध प्रकार के कर लगाती है। जब फर्मों पर कर लगाया जाता है तो फर्मों के पास मुद्रा का एक भाग परिवारो की तरफ न जाकर सरकार की ओर चला जाता है। इसी प्रकार परिवारो पर कर लगाने से इनके पास से कुछ मुद्रा फर्मों की ओर न लौटकर सरकार की ओर चली जाती है। वस्तुओ पर कर लगाये जाते है जिससे सरकार का राजस्व बढ़ता है। सरकार करो से एकत्र राशि खर्च करती है, तब वह राशि पुन: आय के वृत्ताकार प्रवाह मे जुड़ जाती है। लेकिन जिस सीमा तक सरकार करो से प्राप्त राशि अपने पास रख लेती है उस सीमा तक आय का वृत्ताकार प्रवाह कम हो जाता है।

अत बचत, आयात व करो से आय का वृत्ताकार प्रवाह घटता है।

(आ) आय के प्रवाह को बढ़ाने वाले तत्व या घटक

(i) **विनियोग** (Investment)-विनियोग के दो रूप होते हैं-एक तो, माल के स्टॉक अथवा इन्वेण्टरी मे वृद्धि एव दूसरा पूँजीगत माल जैसे मशीनरी, फैक्ट्री की इमारत, साज-सामान, वगैरा मे वृद्धि। विनियोग के लिए उधार ली गई उधार मुद्रा का प्रयोग किया जाता है। फर्में बैक से रुपया उधार लेकर विनियोग कर सकती हैं। सरकार घाटे की वित्त व्यवस्था या नई मुद्रा का प्रयोग करके विकास कार्यों पर खर्च कर सकती है। इस प्रकार विनियोग से आय के वृत्ताकार प्रवाह मे वृद्धि होती है। यदि फर्में अपनी पुरानी बचतो का उपयोग विनियोग के लिए करती है तो भी आय मे वृद्धि होती है। अत विनियोग की क्रिया से आय-प्रवाह बढ़ता है।

(ii) **निर्यात** (Exports)- निर्यात से आय के वृत्ताकार प्रवाह मे वृद्धि होती है क्योंकि निर्यात करने वाले देश को विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। निर्यात सम्बन्धी उद्योगो मे साधनो की माग बढ़ती है जिससे उनमे काम करने

वाले परिवारो की आमदनी बढ़ती है । इस प्रकार निर्यात से वृत्ताकार प्रवाह मे वृद्धि होती है । जो देश निर्यात बढ़ाकर अपना आर्थिक विकास करने की नीति अपनाते है उनमे निर्यातो का आय-प्रवाह को बढ़ाने की दृष्टि से ऊँचा स्थान होता है जैसाकि दक्षिण कोरिया, जापान् आदि मे पाया जाता है । भारत भी निर्यात बढ़ाकर अपनीआय बढ़ाना चाहता है ।

(iii) सरकारी व्यय (Government Expenditures)- **सरकारी व्यय से आय का वृत्ताकार प्रवाह बढ़ता है** । सरकारी व्यय के कई रूप होते है । सर्वप्रथम,सरकार रेल, डाक-तार विभाग आदि पर व्यय करती है और इनकी सेवाएँ खरीदने के लिए जनता को कीमत देनी होती है । जो व्यक्ति यात्रा करना चाहते है या पार्सल व तार लगाना चाहते है उनको इन कार्यों के लिए आवश्यक कीमत चुकानी पड़ती है । सरकार अपने अवकाश प्राप्त कर्मचारियो को पेन्शन व अन्य सामाजिक सहायता दे सकती है । ये हस्तान्तरण भुगतान (transfer payments) कहलाते है । **सरकार कुछ वस्तुएँ व सेवाएँ मुफ्त भी प्रदान कर सकती है, जैसे शिक्षा, दवा, सुरक्षा, न्याय, आदि । ये सार्वजनिक वस्तुएँ कहलाती हैं** । *इस प्रकार सरकारी व्यय का जो भी रूप हो, वह आय के वृत्ताकार प्रवाह को बढ़ाने वाला ही होता है ।*

आगे आय के वृत्ताकार प्रवाह को बढ़ाने वाले तत्व धनात्मक (+) निशान से एव इनको घटाने वाले तत्व ऋणात्मक (−) निशान से सूचित किये गये है ।

आगे के चित्र से स्पष्ट होता है कि आय के वृत्ताकार प्रवाह को घटाने वाली मदे बचत (S), आयात (M) व कर (T) है । अत. कुल कमी या घटत की राशि S+M+T से सूचित की जा सकती है ।
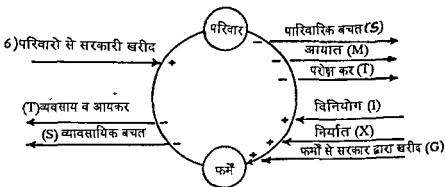
चित्र-1 खुली अर्थव्यवस्था मे आय के वृत्ताकार प्रवाह को बढ़ाने वाली व घटाने वाली मदे ।

इसी प्रकार वृत्ताकार प्रवाह को बढ़ाने वाली मदे विनियोग (I), निर्यात (X) व सरकारी व्यय (G) होती है। कुल बढ़त या जोड़ की राशिया I+X+G होती है।

यहा पर ध्यान देने की एक विशेष बात यह है कि आय-प्रवाह को बढ़ाने वाले तत्व इसको घटाने वाले तत्वों से पूर्णतया स्वतत्र होते है। इसलिए दोनो की कुल मात्राएँ एक दूसरे से भिन्न हो सकती है और प्राय होती भी है। इम हमे यह स्मरण रखना है कि प्राय बचत व विनियोग मे अन्तर पाया जाता है। इसी प्रकार आयात की राशि व निर्यात की राशि मे भी अन्तर पाया जाता है और सरकारी करो व सरकारी व्यय की राशियो मे भी अन्तर पाया जाता है। अत आय के वृत्ताकार प्रवाह पर इस बात का प्रभाव पड़ता है कि इसको घटाने वाले तत्वो या घटको का जोर ज्यादा है, अथवा इसको बढ़ाने वाले तत्वो या घटको का जोर ज्यादा है।

इस सम्बन्ध मे निम्न निष्कर्ष सरलतापूर्वक याद रखे जा सकते है–

1 यदि S+M+T = I+X+G हो, तो कुल घटाव = कुल जोड़ होगा, और आय का प्रवाह स्थिर बना रहेगा। इससे राष्ट्रीय आय सन्तुलन मे रहेगी, *अर्थात् इसमे कोई वृद्धि या कमी नही होगी।*

2. यदि S+M+T की मात्रा I+X+G से कम हो, अर्थात् कुल घटाव कुल जोड़ से कम हो, तो आय का प्रवाह बढ़ेगा, क्योकि यहा आय को बढ़ाने वाले तत्वो का प्रभाव अधिक होता है।

3 यदि S+M+T की मात्रा I+X+G से अधिक हो, अर्थात् कुल घटाव कुल जोड़ सेअधिक हो तो आय काप्रवाह घटेगा। यहा आय को घटाने वाले तत्वो का प्रभाव अधिक होता है।

कहने का आशय यह है कि आय को घटाने वाले या इसको बढ़ाने वाले तत्वो मे एक प्रकार की होड़-सी चलती रहती है और जिन तत्वो का वजन अधिक हो जाता है उसी के अनुरूप आय के प्रवाह पर प्रभाव पड़ता है।

आय के वृत्ताकार प्रवाह के इस मॉडल की सीमाएँ
(Limitations of the Circular flow of Income Model)

हमने ऊपर आय के वृत्ताकार प्रवाह सम्बन्धी जिस मॉडल का विवेचन किया है उसकी कुछ सीमाएँ भी है जो विशेषतया भारत जैसे विकासशील देशो मे देखने को मिलती है। ये इस प्रकार है–

1. **इनमे विभिन्न फर्मों के आपसी लेन-देन तथा विभिन्न परिवारों के आपसी लेन-देन शामिल नहीं किये गये हैं**–वास्तविक जगत मे विभिन्न फर्में भी आपस मे क्रय-विक्रय करती हैं, जैसे कच्चे माल के स्वामी इसे फैक्ट्रियो के उत्पादकों को बेचते है, उत्पादक थोक-विक्रेताओ को एव थोक-विक्रेता इसे खुदरा विक्रेताओ को बेचते है। परिवारो के बीच मे भी परस्पर लेन-देन होते है जिन पर व्यक्तिगत व सामाजिक तत्वो का प्रभाव पड़ता रहता है। इन सबको आय के वृत्ताकार प्रवाह मे शामिल नही किया गया है।

2 **बाजार मे न होने वाले गैर-मौद्रिक (वस्तुओं व सेवाओ के रूप मे) लेन-देन शामिल नहीं होते**—भारत जैसे देश मे कृषक अपनी उपज का काफी बड़ा भाग स्वय के उपभोग मे लगा देता है। यह वृत्ताकार प्रवाह मे शामिल नही होता क्योकि यह बाजार मे नही आता। इसी प्रकार वह स्वय उत्पादन के साधन प्रदान करता है, लेकिन उनका प्रतिफल अलग से नही चुकाया जाता। उसके द्वारा किराये पर लिये गये साधनो का प्रतिफल चुकाया जाता है। इसके अलावा भारतीय गाँवो मे वस्तु-विनिमय प्रणाली (barter system) भी पायी जाती है। कृषक दूसरो से प्राप्त सेवाओ का भुगतान वस्तु-रूप मे करते है। **अत गैर-बाजार व गैर-मुद्रा के सौदे वृत्ताकार प्रवाह से बाहर रह जाते हैं**। इसलिए अल्पविकसित देशो के लिए वृत्ताकार प्रवाह के मॉडल की उपयोगिता कुछ सीमा तक कम हो जाती है।

इन मर्यादाओ के बावजूद आय का वृत्ताकार प्रवाह अर्थव्यवस्था मे फर्मों व परिवारो के बीच लेन-देन की प्रक्रिया पर काफी प्रभाव डालता है।

हम आगे चलकर यह देखेगे कि किस प्रकार बचत, विनियोग व सरकारी व्यय आदि राष्ट्रीय आय के निर्धारण को प्रभावित करते है। यहाँ पर इतना जानना ही पर्याप्त होगा कि आय के वृत्ताकार प्रवाह को बढ़ाने वाली प्रमुख राशियाँ विनियोग, निर्यात व सरकारी व्यय मानी जाती है और इनको घटाने वाली प्रमुख राशियाँ, बचत, आयात व कर मानी जाती हैं। **जब कभी हम राष्ट्रीय आय को बढ़ाना चाहें तब हमें विनियोग, निर्यात व सरकारी व्यय को बढ़ाने पर ध्यान देना होगा और जब कभी आय को कम करने की आवश्यकता पडे तो बचत, आयात व करो में वृद्धि करनी होगी।**

आय के प्रवाह के अलावा एक अर्थव्यवस्था मे मुद्रा-प्रवाह (money-flows) भी पाये जाते है। परिवारो, फर्मों, पूँजी-बाजार, तथा विदेशी लेन-देन के कारण आजकल मुद्रा के लेन-देन बहुत बढ़ गये है। **इन मुद्रा-प्रवाहों की कुल राशि राष्ट्रीय आय की कुल राशि से काफी अधिक होती है**। उदाहरण के लिए, एक फैक्ट्री का मालिक थोक व्यापारी को माल देता है, थोक व्यापारी खुदरा व्यापारी को तथा खुदरा व्यापारी अन्तिम उपभोक्ता को। इस प्रकार मुद्रा के प्रवाह की दृष्टि से तीन सौदे हुए, लेकिन आय-सृजन की दृष्टि से केवल अन्तिम वस्तु का मूल्य ही देखा जायगा। इसी प्रकार पूँजी-बाजार मे परिवार, फर्में व वित्तीय सस्थाएँ अपनी बचतो को मुद्रा के रूप मे पहुँचाती है, तथा वहाँ से व्यक्ति व सस्थाएँ उस मुद्रा को उधार लेते है, जिससे मुद्रा के प्रवाह उत्पन्न होते है। अत मुद्रा-प्रवाह व आय-प्रवाह मे काफी भेद होता है। इनमे सम्बन्ध जरूर होता है, लेकिन इनको एक-सा समझना भूल होगी। यह अवश्य है कि मुद्रा-प्रवाह की कुछ धाराओ को जोड़कर राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया जा सकता है।

प्रश्न

1 आय के वृत्ताकार प्रवाह को परिभाषित कीजिए। इस प्रवाह को बढाने वाली तथा घटाने वाली चलराशियों की व्याख्या कीजिए। (Raj Iyr 1993)

2 रेखा चित्र की सहायता से अर्थशास्त्र के चक्राकार आय प्रवाह को समझाइये। एक खुली अर्थव्यवस्था के इस प्रवाह को कौन से तत्त्व (प्रत्याहार तथा अन्त क्षेपण) प्रभावित करते हैं ? (Ajmer Iyr 1993)

3 सरकार को आय के वृत्ताकार प्रवाह में वृद्धि के लिए क्या करना होगा ?

4 बचत व विनियोग का आय के वृत्ताकार प्रवाह पर प्रभाव बताइये। समझाकर लिखिए।

5 सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(i) आयात निर्यात व आय का वृत्ताकार प्रवाह

(ii) कर व सरकारी व्यय तथा आय का वृत्ताकर प्रवाह

(iii) आय के वृत्ताकार प्रवाह को बढाने के उपाय

(iv) आय प्रवाह व मुद्रा प्रवाह में मूलभूत अन्तर।

9

मुद्रा की प्रकृति, कार्य व महत्त्व
(Nature,Functions, and Importance of Money)

आधुनिक अर्थव्यवस्था मे मुद्रा का केन्द्रीय स्थान होता है। कीमत-प्रणाली का कार्य मुद्रा के माध्यम से ही संचालित होता है। फर्में उत्पादन के साधनो को मजदूरी, ब्याज, लगान व मुनाफे के रूप मे प्रतिफल देती है और जनता फर्मों से वस्तुएँ व सेवाएँ खरीदकर वापस मुद्रा उनके पास पहुँचा देती है। इस प्रकार मुद्रा को अर्थव्यवस्था की रक्तवाहिनी धारा माना सकता है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर मे रक्त घूमता रहता है उसी प्रकार अर्थव्यवस्था मे मुद्रा घूमती रहती है।

इस अध्याय मे मुद्रा की प्रकृति, कार्य व महत्त्व पर प्रकाश डाला जायेगा।

मुद्रा का अर्थ-विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने मुद्रा की कई परिभाषाएँ दी है। उनमे से मुद्रा की कोई भी सरल व सही परिभाषा स्वीकार की जा सकती है। कुछ अर्थशास्त्रियो ने मुद्रा की विस्तृत परिभाषा दी है तो कुछ ने सकीर्ण। **एफ.ए. वाकर के शब्दों में ''मुद्रा वह है जो मुद्रा का काम करे''** (Money is what money does)। इस परिभाषा के अनुसार मुद्रा मे सिक्के, नोट व साख-मुद्रा आदि शामिल होते है। **हार्टले विदर्स** का कहना है कि **'मुद्रा वह पदार्थ है जिसकी सहायता से हम वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते हैं।''** **रोबर्टसन के अनुसार ''मुद्रा वह वस्तु है जो वस्तुओं के भुगतान में, अथवा व्यावसायिक दायित्वों को चुकाने मे व्यापक रूप से स्वीकार की जाती है।** इन दोनो परिभाषाओ के अनुसार मुद्रा को पदार्थ तक सीमित करने मे इसमे केवल धातु-मुद्रा ही आ पाती है। अत. ये मुद्रा की पुरानी व सकीर्ण परिभाषाएँ मानी जाती है।

लिप्से व सहयोगी लेखको के अनुसार अर्थशास्त्र मे मुद्रा को प्राय. **इस तरह परिभाषित किया जाता है कि यह विनिमय के माध्यम के रूप मे सामान्यतया स्वीकृत होती है।**[1]

1. **In Economics money usually has been defined as any generally accepted medium of exchange; Lipsey, Steiner, Purvis and Courant, ECONOMICS, Ninth edition, 1990, p, 639.**

यह कोई भी ऐसी वस्तु होती है जो वस्तुओं व सेवाओं के लिए विनिमय में लगभग सभी के द्वारा स्वीकृत होती है। रोबर्टसन, मार्शल, क्राउथर आदि ने भी इसी प्रकार की मुद्रा की परिभाषा प्रस्तुत की है। मुद्रा की इस परिभाषा मे दो बातो पर बल दिया गया है (i) यह वस्तुओं व सेवाओं के विनिमय में काम में आती है और (ii) यह विनिमय में लगभग सभी व्यक्तियों के द्वारा सामान्यतया स्वीकार की जाती है। इस प्रकार मुद्रा कहलाने के लिए किसी भी वस्तु में भुगतान के माध्यम के रूप में सामान्य स्वीकृति का पाया जाना आवश्यक है। कुछ अर्थशास्त्री ऋणो के रूप मे मुद्रा की सामान्य स्वीकृति को भी जोड़ देते है। अतः चाहे वस्तुओ व सेवाओं का भुगतान करना हो, अथवा कर्ज का भुगतान करना हो, मुद्रा की सर्वग्राह्यता या सामान्य स्वीकृति पर जोर देना उचित है।

नैप व हाट्रे ने मुद्रा के वैधानिक स्वरूप (legal nature) पर बल दिया है। नैप के अनुसार कोई भी वस्तु राज्य के द्वारा मुद्रा घोषित होने पर मुद्रा होती है। अत. उसने मुद्रा के लिए कानूनी स्वीकृति को आवश्यक माना है। लेकिन मुद्रा के विकास का अध्ययन करने से पता चलता है कि मुद्रा के लिए कानूनी स्वीकृति से ज्यादा जनता के विश्वास की आवश्यकता होती है। 1923 मे जर्मनी में भीषण मुद्रास्फीति के कारण वहा की मुद्रा मे जनता का विश्वास उठ गया था जिससे कानूनी मान्यता के होते हुए जर्मन मार्क की आम जनता के द्वारा सामान्य स्वीकृति समाप्त हो गई थी। इसलिए मुद्रा के अस्तित्व के लिए भुगतान की सामान्य स्वीकृति पर बल देना उचित माना जाता है।

मुद्रा की आवश्यकता क्यों पड़ी ?

मुद्रा की आवश्यकता वस्तु-विनिमय (barter) की निम्न कठिनाइयो को दूर करने के लिए पड़ी।

1. आवश्यकताओं के दोहरे संयोग का अभाव-वस्तु-विनिमय प्रणाली के लिए यह आवश्यक था कि दो ऐसे व्यक्तियो का ताल-मेल बैठे जो कि एक दूसरे की वस्तु चाहते हों। कल्पना कीजिए कि मोहन के पास गेहूँ है और सोहन के पास कपड़ा है। इन दोनो मे लेन-देन तभी हो सकता है जबकि मोहन गेहूँ देकर कपड़ा लेना चाहे और सोहन कपड़ा देकर गेहूँ लेना चाहे। इस व्यवस्था मे कोई कमी रह जाने से दोहरे सयोग का अभाव माना जाता है जिससे लेन-देन मे बाधा पड़ती है। यह समझना आसान है कि समाज मे इनी गिनी वस्तुएँ होने पर तो यह सयोग आसानी से बैठ सकता है। लेकिन वस्तुओ व सेवाओ की सख्या बढ़ने से दोहरे सयोग की कठिनाई काफी बढ़ जाती है।

मुद्रा के आगमन से यह कठिनाई दूर हो गई है। अब प्रत्येक व्यक्ति अपनी वस्तु या सेवा के बदले मे पहले मुद्रा प्राप्त करता है और फिर मुद्रा देकर अपनी आवश्यकताओं की वस्तु या सेवा प्राप्त करता है।

2. मूल्य के मापक का अभाव-वस्तु-विनिमय प्रणाली की दूसरी कठिनाई एक वस्तु/सेवा का मूल्य दूसरी वस्तु/सेवा मे आकने की मानी जाती

है। यदि समाज मे A, B व C तीन वस्तुएँ होतीं तो तीन भाव (A का B मे, B का C मे एव A का C मे) रखने पड़ते। लेकिन चार वस्तुएँ होने पर 4×3/1×2=6 भाव याद रखने पड़ते। इसी प्रकार 100 वस्तुएँ होती तो 100×99/2=4,950 भाव होते, जब कि मुद्रा के प्रयोग से केवल 100 भाव ही पर्याप्त होते। इससे उत्पन्न कठिनाइयो का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है।

3. वस्तुओं की अविभाज्यता या विभाजनशीलता की कमी- वस्तु-विनिमय प्रणाली की तीसरी कठिनाई यह है कि कुछ वस्तुओ का विभाजन करना असम्भव होता है। मान लीजिए एक व्यक्ति के पास एक गाय है और वह जूतो की एक जोड़ी खरीदना चाहता है तो गाय की अविभाज्यता के कारण उसे जूतो की एक जोड़ी मिलनी कठिन होगी। जब तक गाय के मूल्य के बराबर वस्तुएँ नही मिल जाती, तब तक गाय का स्वामी इसे बदले मे देने का तैयार नही होगा।

4. भविष्य के लिए मूल्य-सग्रह की कठिनाई-वस्तु-विनिमय प्रणाली मे व्यक्ति के लिए धन-सग्रह करना कठिन होता है क्योकि वस्तुओ के रूप मे धन-सग्रह करना जोखिम से भरा होता है। वस्तुएँ नाशवान हो सकती है, जैसे, पशु, आदि एव वे खराब हो सकती है जैसे अनाज, वस्त्र आदि। इनका मूल्य अस्थिर हो सकता है। अत इन कठिनाइयो को दूर करने के लिए मनुष्य ने काफी प्राचीन समय से ही मुद्रा का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया था। यह बात अलग है कि भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न समयो मे भिन्न-भिन्न वस्तुएँ मुद्रा के रूप मे प्रयुक्त हुई है जिनका परिचय मुद्रा के विकास के प्रकरण मे दिया गया है।

मुद्रा के कार्य (Functions of Money)

मुद्रा के प्रधान कार्य चार माने जा सकते है।

(1) विनिमय का माध्यम, (2) मूल्य या धन का सग्रह, (3) लेखे की इकाई एव (4) विलम्बित भुगतान का आधार। इनका सक्षिप्त विवरण आगे दिया जाता है।

(1) विनिमय का माध्यम (A Medium of exchange) -मुद्रा ने विनिमय के कार्य को सरल बना दिया है। आजकल की पेचीदा अर्थव्यवस्था जिसमे विशिष्टीकरण, श्रम-विभाजन, बड़े पैमाने का उत्पादन, विस्तृत बाजार, आदि सामान्य बाते हो गई है, यह सब मुद्रा के अभाव मे असम्भव थीं। विनिमय का माध्यम बनकर मुद्रा मानव की स्वतत्रता को बढ़ाने मे सहायक सिद्ध हुई है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, अब वस्तुओ व सेवाओ के बदले मे पहले मुद्रा प्राप्त की जाती है और फिर मुद्रा देकर अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ व सेवाएँ प्राप्त की जाती हैं। इस प्रकार वस्तुओ व सेवाओ के आगे-पीछे मुद्रा रहती है, जो विनिमय के माध्यम का काम करती

है। मुद्रा विनिमय के माध्यम के रूप मे अच्छी तरह से तभी कार्य कर सकती है, जबकि इसे आसानी से स्वीकार किया जाय, थोड़े वजन मे इसका मूल्य ऊँचा हो, यह विभाज्य हो ताकि इसके द्वारा छोटे भुगतान भी किये जा सके एव इसे आसानी से जाली न बनाया जा सके। इन लक्षणो के अभाव मे यह विनिमय के माध्यम का कार्य सफलता पूर्वक नही कर सकती। कुछ लेखक केवल इसे ही मुद्रा का प्राथमिक कार्य मानते है और अन्य कार्यों को सहायक या गौण मानते है।

2. मूल्य-संग्रह अथवा धन-संग्रह (A Store of value or a Store of Wealth) -मुद्रा के रूप मे भविष्य के लिए मूल्य-सग्रह या धन-सग्रह का कार्य सुगम हो जाता है। इससे भविष्य मे वस्तुएँ व सेवाएँ खरीदने की शक्ति का सग्रह हो जाता है। लेकिन इस कार्य की सफलता भी इस बात पर निर्भर करती है कि मुद्रा का मूल्य स्थिर बना रहे, अर्थात् वस्तुओ के मूल्य स्थिर रहे। यदि वस्तुओ के मूल्य बढ़ते है तो मुद्रा का मूल्य घटता है। ऐसी स्थिति मे मुद्रा सग्रह करने वाले व्यक्ति को यह पता नहीं रहता कि उसने जो मुद्रा-सग्रह की है उसका वस्तुओ व सेवाओ के रूप मे कितना मूल्य है। अत सामान्य कीमत-स्तर मे वृद्धि होने से मुद्रा की उपयोगिता धन-सग्रह के रूप मे घट जाती है। धन-सग्रह का कार्य बॉड या शेयर खरीदकर भी किया जा सकता है, अथवा बैक मे बचत-जमा के रूप मे भी जमा किया जा सकता है। लेकिन मुद्रा पूर्ण रूप से तरल होती है और इसका इच्छानुसार उपयोग किया जा सकता है।

यहा यह बात ध्यान देने योग्य है कि मुद्रा अकेले व्यक्ति के लिए तो सचित धन के सम्बन्ध में सन्तोषजनक सग्रह का काम कर सकती है, लेकिन *सारे समाज के लिए वह ऐसा नहीं कर सकती। यदि अकेला व्यक्ति मुद्रा का सग्रह करता है तो व्यय करने पर उसे दूसरे व्यक्ति का माल प्राप्त हो जाता है। लेकिन यदि समस्त समाज मे मुद्रा की बचत की जाती है और वह आगे चलकर उसका उपयोग करना चाहता है तो उपभोग के लिए माल कहाँ से आयेगा। इस प्रकार जो बात एक व्यक्ति के लिए सही होती है वह समस्त समाज के लिए सही नही होती है। समस्त समाज द्वारा बचत किये जाने से राष्ट्रीय आय मे गिरावट की आशा उत्पन्न हो जाती है।*

मूल्य-सग्रह के रूप मे मुद्रा के इस कार्य की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि भविष्य मे जब वस्तुओ व सेवाओ की आवश्यकता हो तब वे उपलब्ध हो सके। यदि भविष्य मे आवश्यकता पड़ने पर वस्तुएँ व सेवाएँ उपलब्ध नहीं होती है तो मुद्रा अपने इस कार्य मे विफल हो जाती है।

स्मरण रहे कि मुद्रा के मूल्य -संग्रह वाले कार्य के फलस्वरूप ही विभिन्न देशों में आय की असमानताएँ उत्पन्न होती हैं, क्योंकि कुछ लोग मुद्रा का संग्रह कर लेते हैं और शेष लोग कम आमदनी के कारण ऐसा नहीं कर पाते हैं।

3 लेखे की इकाई (A Unit of Account) -मुद्रा हिसाब-किताब की इकाई के रूप मे भी प्रयुक्त की जाती है, क्योकि सभी प्रकार की वस्तुओ व सेवाओ का मूल्य मुद्रा मे आका जाता है। ऐसा पूँजीवादी व साम्यवादी दोनो

तरह की अर्थव्यवस्थाओ मे होता है। लेकिन यहा पर ध्यान देने की बात यह है कि मुद्रा हिसाब की इकाई के रूप मे अपना कार्य बिना अपने वास्तविक अस्तित्व के भी कर सकती है। साम्यवादी समाज मे यह सम्भव है कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रति माह सरकारी भण्डार से एक निश्चित मुद्रा राशि तक माल खरीदने की इजाजत दे दी जाए। भण्डार मे वस्तुओ के मूल्य दिये हुए होते है, और प्रत्येक व्यक्ति निर्धारित मुद्रा-राशि तक वस्तुओ की खरीद करता जाता है, और एक सीमा तक पहुँच कर अपने आप रुक जाता है। इस स्थिति मे **मुद्रा विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयुक्त नहीं हुई, बल्कि केवल हिसाब-किताब की इकाई के रूप मे प्रयुक्त होकर रह गई। सरकारी भण्डार के खातो मे यह केवल हिसाब के लिए ही काम मे ली गई।**

इसी प्रकार विभिन्न परियोजनाओ की लागत-लाभ की तुलना करके उनमे से चुनाव करने के लिए भी मुद्रा का उपयोग हिसाब लगाने मे किया जात' है। मुद्रा का यह कार्य आजकल बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया है। ध्यान देने की बात है कि विनिमय के माध्यम के रूप मे काम करने के लिए तो मुद्रा मे सामान्य स्वीकृति, विभाज्यता व वहनीयता आदि गुणो की आवश्यकता होती है। लेकिन हिसाब-किताब के लिए इन गुणो की आवश्यकता नही होती। **इस प्रकार साम्यवादी समाज को भी मुद्रा का उपयोग लेखे की इकाई के रूप में अवश्य करना होगा, हालाकि साम्यवादी साधारणतया मुद्रा-विरोधी माने गये हैं और वे इसको समाप्त करने का दावा भी करते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि आधुनिक अर्थव्यवस्था मुद्रा को विनिमय के माध्यम के रूप में त्यागने की बात तो सोच सकती है, लेकिन लेखे की इकाई के रूप मे इसका त्याग कर सकना सम्भव नहीं होगा। अत मुद्रा का यह कार्य सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।**

4 **विलम्बित भुगतान का आधार (A Standard of Deferred payments)** -मुद्रा का उपयोग करके वस्तुओ व सेवाओ का भुगतान स्थगित कर सकना सम्भव हो गया है। इस प्रकार यह ऋणो के भुगतान का आधार बन जाती है। यहा लेखे की इकाई मे 'समय-तत्त्व' और जुड़ जाता है क्योकि भुगतान भविष्य मे किया जाना है। आधुनिक समाज मे ऋणो का अत्यधिक विस्तार हुआ है और इसका अधिकाश श्रेय मुद्रा के आविष्कार को ही दिया जा सकता है। सरकार व व्यवसाय काफी मात्रा मे ऋण लेते है। उपभोक्ता वर्ग भी ऋण लेता है। अत· मुद्रा ने ऋणो के लेन-देन को बड़े पैमाने पर सम्भव व सुगम बना दिया है।

मुद्रा के अन्य सहायक या गौण कार्य- कुछ लेखक मुद्रा के अन्य कार्यों मे मूल्य के हस्तान्तरण, साख के आधार, राष्ट्रीय आय के वितरण का आधार, एव उपभोक्ता व उत्पादको द्वारा साधनो के सर्वोत्तम उपयोग की भी चर्चा करते है। इनका सक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है। सच पूछा जाये तो इन अतिरिक्त कार्यों का उल्लेख मुद्रा के बढ़ते हुए महत्त्व को प्रकट करता है। मुद्रा

के प्रमुख कार्य तो चार है जिन पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है ।

5. मूल्य का हस्तान्तरण (Transfer of Value)- मुद्रा केवल मूल्य-संग्रह का ही कार्य नही करती, बल्कि यह मूल्य अथवा क्रय-शक्ति का हस्तान्तरण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को, एव एक स्थान से दूसरे स्थान मे, सुगमतापूर्वक कर सकती है । इसमे विनिमय का क्षेत्र काफी विस्तृत हो जाता है । मुद्रा का यह कार्य पूर्ववर्णित कार्यों से ही निकला हुआ है । अन्तर केवल इतना है कि आधुनिक अर्थव्यवस्थाओ मे लेन-देन के बढ़ने से मूल्य का हस्तान्तरण काफी बड़े पैमाने पर होने लगा है ।

6. मुद्रा साख का आधार है (Money is a Basis of Credit)- आजकल व्यापारिक बैक साख का निर्माण करते है । वे नकद जमा के प्राप्त होने पर उसकी कुछ गुनी राशि उधार दे सकते है । यहा पर ध्यान देने की बात केवल यह है कि व्यापारिक बैंक जिस साख का निर्माण करते हैं, **उसका आधार नकद जमा ही होती है** । वे हवा मे साख का निर्माण नही करते । मान लीजिए किसी बैक मे 100 रुपये की राशि जमा के रूप मे आई और 20% रिजर्व अनुपात के आधार पर 20 रुपये बैक अपने पास रख लेता है तो शेष 80 रुपयों के आधार पर वह 80×5= 400 रुपये की नई साख या नई जमा का निर्माण कर देता है । **इस प्रकार मुद्रा ही साख के निर्माण का आधार बनती है** ।

7. राष्ट्रीय आय के वितरण का आधार (Basis of Distribution of National Income) -उत्पादन के साधनो का प्रतिफल मुद्रा मे सुगमतापूर्वक चुकाया जाता है । यदि मुद्रा न होती तो लगान, ब्याज मजदूरी व मुनाफो का भुगतान करना कठिन होता । अत राष्ट्रीय आय का वितरण मुद्रा के आधार पर ही सम्भव हो सका है । साधनो के प्रतिफल साधनो की कीमतो से निर्धारित होते है और इसमे मुद्रा अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है ।

8. उपभोक्ताओ व उत्पादकों द्वारा साधनो का सर्वोत्तम उपयोग (Optimum Utilisation of Resources by Consumers and Producers)—मुद्रा के द्वारा उपभोक्ता व उत्पादक साधनो का सर्वोत्तम उपयोग कर पाते है । मुद्रा के बिना यह सम्भव नही था । एक उपभोक्ता अपने सीमित साधनो के व्यय से अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करने के लिए वस्तुओ की सीमात उपयोगिताओ का अनुपात उनकी कीमतो के अनुपात के बराबर करता है ।[1] इसी प्रकार एक उत्पादक अपना लाभ अधिकतम करने के लिए उत्पादन के विभिन्न साधनो की सीमात उत्पादकताओ के अनुपात को साधन-कीमतो के अनुपात के बराबर करता है ।[2] लेकिन सन्तुलन की इन दशाओ को प्राप्त करने मे मुद्रा कीमत-प्रणाली के माध्यम से सहायता देती है।

(1) $\frac{MUx}{MUy} = \frac{Px}{Py}$ (उपभोग के क्षेत्र मे)

(2) $\frac{MPPl}{MPPc} = \frac{Pl}{Pc}$ (उत्पादन के क्षेत्र मे)

अत:हम यह कह सकते हैं कि मुद्रा साधनों के सर्वोत्तम आवटन में सहायक होती है।

मुद्रा का महत्त्व

''**मुद्रा वह धुरी है जिसके चारों तरफ आर्थिक विज्ञान चक्कर लगाता है।**'' **मार्शल** का यह कथन मुद्रा के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। आधुनिक अर्थव्यवस्था के सम्पूर्ण ढाचे में मुद्रा का अपना केन्द्रीय स्थान होता है। अत *व्यय, बचत, विनियोग, रोजगार, उत्पादन, उपभोग, कीमतो तथा* सरकारी करो व कर्जों, आयात-निर्यात आदि के वर्णन मे मुद्रा का समावेश होता है। मुद्रा ने मानवीय स्वतंत्रता को बढ़ाया है, क्योकि हम अपनी इच्छानुसार इसका उपयोग कर सकते है। यह क्रय-शक्ति को सामान्य रूप प्रदान करती है। इसने पूँजी को अधिक गतिशील व उत्पादक बनाया है। पूँजीपति अपनी पूँजी कम लाभ की दिशाओ से निकालकर अधिक लाभ की दिशाओ मे लगा सकते है, और इस कार्य मे मुद्रा सहायक होती है। मुद्रा के इतने अधिक उपयोग हो गये है कि उन्हे एक सूची मे बाधने की कोशिश करना व्यर्थ होगा। हमे इतना कहकर सन्तोष करना होगा कि यह आधुनिक आर्थिक जीवन का प्राण है। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा के बिना आधुनिक अर्थव्यवस्था की कल्पना भी नही की जा सकती।

मुद्रा का महत्त्व आर्थिक क्रिया के सभी क्षेत्रो मे पाया जाता है। इसके महत्त्व के प्रमुख बिन्दु नीचे दिये जाते है।

(1) उपभोक्ता के लिए मुद्रा का महत्त्व-उपभोक्ता मुद्रा का प्रयोग अपनी इच्छानुसार कर सकता है। विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का चुनाव करके वह अधिकतम सतुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करता है। वह इसे वर्तमान मे व्यय न करके भविष्य मे व्यय कर सकता है। वर्तमान मे व्यय करके अधिकतम सतुष्टि प्राप्त करने में मुद्रा उसे काफी मदद देती है।

(2) उत्पादक के लिए मुद्रा का महत्त्व —मुद्रा के बिना उत्पादक की विभिन्न क्रियाओ का सचालन असम्भव होगा। कच्चा माल खरीदने, श्रमिको व कर्मचारियो का वेतन चुकाने, विज्ञापन करने एव माल की बिक्री व वास्तविक भुगतान के बीच की अवधि मे भुगतान की प्रतीक्षा करने, आदि के लिए मुद्रा की आवश्यकता होती है। मुद्रा की सहायता से न्यूनतम लागत पर उत्पादन किया जा सकता है। मुद्रा के अभाव मे श्रम-विभाजन करना कठिन होता है। *श्रम-विभाजन से श्रम की कार्यकुशलता बढ़ती है। इस प्रकार मुद्रा* ने कुल उत्पादन मे वृद्धि की आवश्यक दशाएँ उत्पन्न की हैं।

(3) बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव-मुद्रा ने उत्पादन का पैमाना बढ़ाने, विशिष्टीकरण व श्रम-विभाजन के लाभ प्राप्त करने तथा व्यापार का क्षेत्र बढ़ाने मे मदद की है। मुद्रा ने ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सम्भव बनाया है। एक देश दूसरे देश को सहायता भी प्राय मुद्रा मे ही देता है। यदि सहायता वस्तु रूप मे ही दी जाती है तो उसका मूल्य भी मुद्रा मे ही आका जाता है।

(4) **वितरण में महत्त्व** -उत्पादन के साधनो के प्रतिफल मुद्रा मे ही चुकाये जाते है। आधुनिक समाज मे लगान, ब्याज, मजदूरी व मुनाफा मुद्रा मे ही दिये जाते है। मुद्रा के अभाव मे राष्ट्रीय आय का वितरण करना काफी कठिन हो जाता है।

(4) **सार्वजनिक वित्त में महत्त्व**-सरकार द्वारा करारोपण, देश की जनता से प्राप्त सार्वजनिक ऋण, विदेशी ऋण, घाटे की वित्त व्यवस्था, सार्वजनिक व्यय आदि का सचालन भी मुद्रा के माध्यम से ही हो पाता है।

(6) **जीवन स्तर की वृद्धि में सहायता**-मुद्रा ने भौतिक कल्याण की वृद्धि मे योगदान दिया है। जीवन स्तर को ऊँचा करने मे भी मुद्रा की अपनी भूमिका होती है।

मुद्रा का सामाजिक महत्त्व-आज के भौतिक युग मे विशेषतया पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे मुद्रा का सामाजिक महत्त्व बहुत बढ़ गया है। मुद्रा क्रय-शक्ति होने के कारण व्यक्तियो के पास वस्तुओ व सेवाओ को खरीदने की शक्ति की सूचक होती है। इसलिए अधिक मुद्रा के कारण व्यक्ति अपनी अधिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे समर्थ हो जाता है। यही कारण है कि भौतिकवादी पाश्चात्य देशो एवं भारत जैसे परम्परावादी व धार्मिक देश, दोनो मे, जन साधारण मे अधिकाधिक मुद्रा प्राप्त करने की होड़ लगी रहती है। मुद्रा सामाजिक व राजनैतिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने मे सहायक होती है। अत आजकल मुद्रा सम्पूर्ण मानव जीवन पर छायी हुई है। यह जीवन के विभिन्न क्षेत्रो को प्रभावित करती है।

सच पूछा जाये तो मुद्रा का प्रभाव इतना व्यापक हो गया है कि अब ऐसे समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमे इसका उपयोग समाप्त किया जा सके। बल्कि दिनोदिन परम्परागत व पिछड़े समाज मे भी मुद्रीकरण (monetization) की प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही है। उदाहरण के लिए आजकल भारत के देहातो मे मुद्रा का प्रयोग अधिक मात्रा मे होने लगा है जिससे अर्थव्यवस्था उत्पादन, विनियोग व उपभोग के ऊँचे स्तर प्राप्त करने लगी है और इनका निरन्तर विस्तार होता जा रहा है। जनसख्या के बढ़ने से भी मुद्रा का प्रयोग बढ़ा है।

मुद्रा का आधुनिक अर्थव्यवस्था मे उच्च स्थान होने पर भी इसके कुछ सम्भावित खतरे या दोष बतलाये गये है जो आगे दिये जाते है।

मुद्रा के खतरे या दोष (Dangers or defects of Money)

मुद्रा ने कई प्रकार के आर्थिक व सामाजिक अपराधो को जन्म दिया है। तस्करी, कालाबाजारी, सग्रह, मुनाफाखोरी व करो की चोरी के विरुद्ध अभियान ने भारत मे यह सिद्ध कर दिया है कि देश मे दो प्रकार की अर्थव्यवस्थाएँ साथ साथ चल रही हैं। एक तो सफेद या कानूनी अर्थव्यवस्था है जिसके लेन-देन का हिसाब-किताब रखा जाता है और दूसरी काली अर्थ-

व्यवस्था है जिसका समस्त लेन-देन गैर-कानूनी होता है । काली मुद्रा की एक अलग किस्म की अर्थ-व्यवस्था होती है इसे ''अण्डर-ग्राउण्ड अर्थव्यवस्था'' भी कहा जाता है । इस प्रकार की अर्थव्यवस्था मे सलग्न लोगो मे पाये जाने वाले दुर्गुण जैसे लोभ, लालच, धोखाधडी, जालसाजी, हत्या, कर की चोरी व शोषण समाज की सुख-शान्ति को भंग कर देते है । सार्वजनिक वित्त व नीति पर राष्ट्रीय सस्थान (National Institute of Public Finance and Policy) (NIPFP) ने ''भारत मे काली अर्थव्यवस्था के पहलुओ'' पर मार्च, 1985 मे अपनी रिपोर्ट भारत सरकार को पेश की थी । उसमे बतलाया गया था कि भारत मे 1983-84 मे काली आमदनी की मात्रा लगभग 32 हजार करोड रु से 37 हजार करोड़ रु के बीच थी, जो (GDP) का 18% से 21% थी । इस प्रकार देश की कुल आय का लगभग 1/5 अश काली आमदनी वाला माना जा सकता है । काली अर्थव्यवस्था काले धन व काली मुद्रा ने भारत मे आर्थिक नियोजन को काफी खोखला व निरर्थक किस्म का बना डाला है । मुद्रा ने इसमे काफी योगदान दिया है ।

मुद्रा के प्रमुख आर्थिक दोष नीचे दिये जाते हैं

(1) मुद्रा का मूल्य अस्थिर होता है-मुद्रास्फीति के दौरान मुद्रा का मूल्य घट जाता है जिससे आय की असमानता बढ़ जाती है । धनी अधिक धनी हो जाते है और निर्धन अधिक निर्धन हो जाते है । भारत मे निरन्तर बढ़ती हुई महँगाई केन्द्रीय सरकार के लिए भारी सिर-दर्द बनी हुई है । मार्च 1994 मे भारत में रुपये का मूल्य 1960 की तुलना मे घट कर लगभग 76 पैसे रह गया है ।* पिछले वर्षों मे माग को नियन्त्रित करने के विभिन्न उपायो को अपनाने के बावजूद इसका कोई स्थायी व सन्तोषजनक हल नही निकाला जा सका है । वर्तमान सरकार भी मुद्रा-स्फीति पर काबू पाने के लिए प्रयत्नशील है । स्मरण रहे कि मुद्रा का मूल्य बढ़ना भी खतरनाक होता है । इसमे कीमते अनावश्यक रूप मे गिरती है, तथा मुद्रा-सकुचन होता है जो बेरोजगारी बढ़ाता है । यह मुद्रा-स्फीति से भी बदतर होता है ।

(2) मुद्रा व्यापार-चक्रो को जन्म देती है-अर्थव्यवस्था के उतार-चढ़ावो को बढ़ाने मे मुद्रा का योगदान होता है । आर्थिक तेजी-मन्दी की अवस्थाओ को उत्पन्न करने तथा इनको नियन्त्रित करने मे मुद्रा की काफी प्रभावशाली भूमिका होती है । यही कारण है कि व्यापार-चक्रो पर काबू पाने के लिए राजकोषीय नीति का भी सहारा लिया जाता है ।

---

* मार्च 1994 में औद्योगिक श्रमिकों का सूचकांक 1960 के आधार पर 1315 8 हो गया था । इसका अर्थ यह है कि 1960 में जो माल व सेवाए 100 रुपयों में आती थी उनके लिए मार्च 1994 में 1315 8 रुपये लगने लगे हैं ।
आधार वर्ष 1982 लेने पर मार्च 1994 में सूचकाक 267 रहा, जिसे परिवर्तन-फैक्टर 4 928 से गुणा करने पर यह 1960 के आधार पर 1315 8 आता है ।

(3) मुद्रा व पूँजीवाद-मुद्रा पूँजीवाद को मजबूत करती है। इसमे मुद्रा कुछ व्यक्तियो के हाथो मे होती है। इसमे वित्त पूँजीवाद का उदय होता है। जिसमें वित्त के स्रोतो पर चन्द पूँजीपतियों का नियत्रण हो जाता है। यदि देशवासी दूसरे देशो मे मुद्रा भेजना चालू कर देते है, तो जिस देश से मुद्रा बाहर जाती है उसको कठिनाई का सामना करना पड सकता है। भारतीय व्यक्तियो व फर्मों की विदेशी बैको मे काफी धनराशि जमा हो गई है। उस पर रोक लगाना आवश्यक है। जुलाई 1991 मे भारत से मुद्रा के बहिर्गमन को रोकने तथा भारतीय अर्थव्यवस्था मे विश्वास बढ़ाने के लिए रुपये का लगभग 18% अवमूल्यन करना पड़ा था।

(4) विभिन्न देशों के बीच भ्रमणशील मुद्रा (hot money) -आजकल भ्रमणशील मुद्रा (हॉट मनी) के कारण भी समस्या उत्पन्न हो गई है। यदि एक देश में ब्याज की दर दूसरे देश की तुलना में ऊँची हो जाती है तो वहां विदेशो से मुद्रा आने लगती है। लेकिन यदि आगे चलकर कहीं दूसरे देश में पुन ब्याज की दरें बढ़ती हैं तो यह मुद्रा उन देशों में जाने का प्रयास करने लगती है। इसे भ्रमणशील मुद्रा कहते है। इस प्रकार की भ्रमणशील मुद्रा से एक देश के भुगतान सतुलन तथा विनिमय की दरो पर प्रभाव पड़ सकता है। भारत के लिए प्रवासी भारतीयो की जमा-राशियाँ (deposits of non resident Indians) भ्रमणशील मुद्रा का ही रूप मानी जा सकती है। प्राय इनके भारत से निकालकर दूसरे देश मे ले जाने का भय बना रहता है। कई बार सुरक्षा (safety) की तलाश मे भी मुद्रा भ्रमणशील मुद्रा का रूप ग्रहण कर लेती है। अत मुद्रा का यह स्वरूप भी कभी-कभी कठिनाई उत्पन्न कर सकता है।

इस प्रकार मुद्रा के अपने गुण-दोष होते है। नैतिक आचरण मे सुधार करके तथा समाजवादी समाज की स्थापना करके मुद्रा के अधिकाश अवगुणो पर नियत्रण करने का प्रयास किया गया है। मुद्रा को साधन न मानकर साध्य मानने से कई प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है। जब मुद्रा जीवन का आदि व अन्त हो जाती है, तो वह समाज मे विष का काम करती है। मुद्रा का अर्जन करने वाला व्यक्ति अन्त मे स्वय दु खी होता है और वह अपने कार्य-कलापो से समस्त समाज को भी दुखी कर डालता है।

मुद्रा का विकास (Evolution of Money)

हम पहले बतला चुके है कि वस्तु विनिमय प्रणाली की कठिनाइयो से बचने के लिए मुद्रा का आविष्कार किया गया था। समय समय पर कई प्रकार की वस्तुएँ मुद्रा के रूप मे प्रयुक्त हुई है, जैसे पशु, चाय, चीनी, नमक, कौड़िया,आदि। लेकिन कीमती वस्तुओ ने मुद्रा के रूप मे अपना प्रभुत्व काफी समय तक रखा है। कीमती धातुओ को आभूषण के रूप मे भी मूल्य रहा है। इन्हे अधिकाश व्यक्ति भुगतान मे स्वीकार कर लेते है और इनको बहुत छोटे अशो मे विभाजित करना भी सम्भव होता है।

(i) धातु- मुद्रा-अत. शुरू मे धातुमुद्रा का प्रचलन हुआ । प्रारम्भ मे सिक्को पर अकित मूल्य उनके धातु-मूल्य के बराबर होता था, जिससे काफी धातु की आवश्यकता पड़ती थी । लेकिन बाद मे सिक्कों का अकित मूल्य उनके धातु मूल्य से अधिक कर दिया गया । इसका अर्थ यह हुआ कि उसमे शुद्ध धातु का अश क्रमश घटता गया । सिक्के चलाने वाली सस्था के विश्वास पर सिक्के व्यवहार मे चलने लगे । इस व्यवस्था ने आगे चलकर पत्र-मुद्रा के लिए भूमिका तैयार कर दी ।

(ii) पत्र-मुद्रा-पत्र-मुद्रा के पीछे शुरू मे शत-प्रतिशत स्वर्ण कोष रखे जाते थे जिनका उपयोग आवश्यकता पड़ने पर पत्र-मुद्रा को बदलने मे किया जा सकता था । तब देश स्वर्ण- मान पर माना जाता था ।

बाद मे यह महसूस किया जाने लगा कि पत्र-मुद्रा के पीछे आशिक रूप से कोष रखना ही पर्याप्त होगा । जैसे यदि 10% के आशिक कोष के नियम को माना जाये तो 100 रुपये की कागजी मुद्रा के पीछे 10 रुपये का स्वर्ण कोष ही रखा जायेगा और 5% के आशिक कोष को मानने पर 5 रुपये का स्वर्ण रखा जायेगा । आशिक कोष की विधि के पीछे यह मान्यता थी कि सारी निर्गमित पत्र-मुद्रा स्वर्ण मे परिवर्तन के लिए एक साथ प्रस्तुत नही की जायेगी । पत्र-मुद्रा सरकार मे जनता का विश्वास होने से चलेगी और जनता इसे स्वर्ण मे बदलना आवश्यक नही समझेगी । इसलिए आशिक धातु कोष की व्यवस्था चलती रही और इस व्यवस्था मे पत्र-मुद्रा चलाने वाली सस्था पर भी थोड़ा अकुश रहता था ।

लेकिन बाद मे पत्र-मुद्रा की स्वर्ण मे परिवर्तनशीलता बन्द कर दी गई जिससे अपरिवर्तनशील करेसी या सरकार के विश्वास पर आश्रित करेसी (fiat currency) का जन्म हुआ । अब पत्र-मुद्रा सरकार के विश्वास पर चलती है । आज का कागजी नोट इसलिए मूल्यवान होता है कि यह सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है । प्रत्येक व्यक्ति इसे मूल्यवान मानता है, इसलिए यह मूल्यवान होता है । इस बात से इसके विनिमय के माध्यम के रूप मे होने वाले कार्य पर कोई प्रभाव नही पड़ता कि यह अन्य किसी पदार्थ मे परिवर्तनीय नही रहा । लेकिन इस परिस्थिति का दुरुपयोग भी हो सकता है, क्योकि पत्र-मुद्रा सरकार की इच्छानुसार निकाली जा सकती है जिससे मुद्रास्फीति का भय उत्पन्न हो जाता है । कई देशो मे पत्र-मुद्रा का अनियन्त्रित विस्तार मुद्रास्फीति का प्रमुख कारण माना गया है ।

(iii) जमा-मुद्रा—आजकल व्यापारिक बैक जमा-मुद्रा का सृजन करते है । चैक के द्वारा भुगतान का प्रचलन बढ़ने से यह सम्भव हो गया है कि वे नकद जमा के आने पर साख-जमा का निर्माण कर सकें । चैक स्वयं मुद्रा नहीं

होता, और न यह मुद्रा का स्थानापन्न (substitute) ही होता है। बैंक अपने ग्राहक को ऋण दे देते हैं जिसका उपयोग वह चैक के द्वारा भुगतान करने में कर सकता है। चैक के द्वारा मुद्राराशि एक खाते से निकाल कर दूसरे खाते मे जमा कर दी जाती है। अत बैंक जमा-मुद्रा होती है, न कि चैक।

चैक प्राय दो प्रकार के होते हैं (1) वाहक चैक (bearer cheque) (2) आज्ञा चैक (order cheque) चैक वह आदेश पत्र है जो जमाकर्त्ता अपने बैंक पर जारी करता है ताकि उसमे लिखी रकम स्वय को अथवा किसी अन्य व्यक्ति को दी जा सके।

(1) वाहक चैक (bearer cheque) वह चैक होता है जिसमे लिखी रकम बैंक की खिड़की पर किसी भी व्यक्ति को मिल सकती है। इस प्रकार के चैक का लाभ यह है कि इससे किसी भी व्यक्ति को नकद राशि बैंक से शीघ्र मिल सकती है। लेकिन ऐसे चैक के खो जाने पर इसका भुगतान गलत व्यक्ति भी ले सकता है। इसलिए ऐसे चैक का प्रयोग काफी सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए।

(2) आज्ञा चैक (order cheque) का रुपया उस व्यक्ति को मिलता है जिसका नाम चैक पर लिखा रहता है, अथवा उससे आज्ञा प्राप्त करके तीसरे व्यक्ति को मिल सकता है। मान लीजिए, राम के पास एक चैक आया जो आज्ञा चैक था। वह चाहे तो श्याम को इसका भुगतान दिलवा सकता है। इसके लिए उसे चैक की पीठ पर श्याम के पक्ष मे बेचान (endorsement) करनी होगी।

व्यवहार मे आज्ञा-चैक पर दो आड़ी रेखाएँ डाल दी जाती हैं और उनमे (account payee only) (प्राप्तकर्त्ता के खाते मे) या (and co) लिख दिया जाता है, अथवा केवल दो आड़ी रेखाएँ खीच दी जाती हैं। जिससे वह चैक रेखांकित चैक (crossed cheque) बन जाता है और उसका रुपया आज्ञा प्राप्त व्यक्ति के खाते मे ही जमा होता है। उसे बैक के काउण्टर से सीधे नकद राशि नही मिल पाती। सुरक्षा व सुविधा की दृष्टि से व्यवहार मे रेखांकित चैकों का महत्व काफी बढ़ गया है। साख-पत्रो मे विनिमय बिलो, प्रोमिसरी नोटो, हुण्डियो आदि का भी काफी महत्त्व होता है। ये लेन-देन को सरल व सुविधाजनक बनाते है और आधुनिक आर्थिक जीवन मे बहुत उपयोगी बन गये है।

बैक थोड़ी राशि के आधार पर अधिक मात्रा मे जमा-मुद्रा उत्पन्न करते हैं। जमाएँ दो प्रकार की होती है—माग-जमाएँ (demand deposits) जिन्हे बैंक ग्राहक के मागने पर वापस करता है और अवधि-जमाएँ (time deposits) जो किसी निश्चित अवधि के बाद ही वापस की जाती हैं। अवधि जमाओं को "मुद्रा के समीप'' (Near money) माना गया है और प्राय मुद्रा मे सिक्कों, पत्र

-मुद्रा व माग-जमाओ को शामिल किया जाता है । सिक्को व पत्र-मुद्रा को करेसी कहते है और माग-जमाओ को 'साख' (credit)मे शामिल करते है । इनका विवेचन मुद्रा के वर्गीकरण के अन्तर्गत आगे चलकर किया जायेगा ।

मुद्रा की प्रकृति (Nature of Money)

मुद्रा के प्रकृति के सम्बन्ध मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह एक साधन है न कि साध्य । यह मानवीय आवश्यकताओ की सन्तुष्टि का एक साधन मात्र है । मुद्रा का अपने आप मे कोई मूल्य नही होता । मुद्रा मे वस्तुओ व सेवाओ को खरीदने की शक्ति होती है । लोग मुद्रा को जुटाने मे इसलिए लगे रहते है कि वे अधिक मात्रा मे वस्तुओ व सेवाओ का उपयोग करने की शक्ति प्राप्त कर सके ।

आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार एक अर्थव्यवस्था के सचालन मे मुद्रा का केन्द्रीय स्थान होता है । मुद्रा की पूर्ति के आर्थिक जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ते है । यहा पर यह कहना आवश्यक है कि **केन्स व उसके बाद की विचारधारा मे मुद्रा को आर्थिक क्रिया का निर्धारक-तत्व** माना गया है । मुद्रास्फीति व मुद्रा-सकुचन मूलतया मौद्रिक दशाएँ होती है । प्रोफेसर डी एच रोबर्टसन ने ठीक ही कहा है, ***''मुद्रा जो मानव के लिए कई वरदानो का स्रोत है,वह नियत्रण के अभाव मे सकट व भ्रम का कारण भी बन सकती है।'*** *यही कारण है कि आजकल विकसित व विकासशील देशो मे मौद्रिक नीति तथा मौद्रिक प्रबन्ध का महत्व काफी बढ़ गया है ।* भारत मे मौद्रिक नीति पर प्रकाश डालते समय 1985 मे चक्रवर्ती पेनल ने भी मौद्रिक नियोजन पर बल दिया था जिसके अन्तर्गत मुद्रा की पूर्ति को नियमित करने पर जोर दिया गया था । मुद्रा की पूर्ति तथा वास्तविक राष्ट्रीय आय मे परस्पर ताल-मेल अवश्य होना चाहिए, अन्यथा कीमतो मे वृद्धि की समस्या जटिल हो सकती है ।

स्मरण रहे कि मुद्रा अर्थव्यवस्था मे वास्तविक साधन जैसे कोयला धात आदि तो उत्पन्न नही कर सकती, लेकिन वह उन साधनो को जुटाने मे तथा उनका सदुपयोग करने मे मदद अवश्य कर सकती है ।

मुद्रा का वर्गीकरण

विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने विभिन्न आधारो पर मुद्रा के वर्गीकरण किये है। ये वर्गीकरण मुद्रा की प्रकृति, कानूनी मान्यता व वस्तु के आधार पर किये गये है । इनका सरल परिचय आगे दिया जाता है-

(क) मुद्रा का प्रकृति के आधार पर वर्गीकरण

केन्स ने मुद्रा की प्रकृति के आधार पर निम्न वर्गीकरण किये हैं-

(i) वास्तविक मुद्रा तथा(ii) हिसाब की मुद्रा

(i) वास्तविक मुद्रा- यह देश मे प्रचलित मुद्रा होती है जिसमे लेन-देन सम्पन्न किये जाते है । इसमे क्रय शक्ति का सग्रह भी किया जाता है । भारत मे

एक रुपया व पांच पैसा दोनों वास्तविक मुद्रा में आते हैं ।

(ii) हिसाब की मुद्रा-इस मुद्रा मे देश के खाते या हिसाब-किताब रखे जाते है । भारतीय रुपया हिसाब या लेखे की मुद्रा है । अमेरिका मे डॉलर, रूस मे रूबल,जर्मनी मे ड्यूश मार्क तथा जापान मे येन लेखे की मुद्रा कहलाती है ।

प्रायः वास्तविक मुद्रा व हिसाब की मुद्रा एक ही होती है । लेकिन कभी कभी ये अलग-अलग भी हो सकते है । प्रथम विश्व युद्ध के बाद मुद्रास्फीति के कारण जर्मनी मे वास्तविक मुद्रा तो जर्मन मार्क था, लेकिन हिसाब की मुद्रा फ्रांस का फ्रैंक या अमरीकी डालर थे, क्योकि इनका मूल्य अपेक्षाकृत ज्यादा स्थिर था । इसलिए ये हिसाब की दृष्टि से ज्यादा उपयुक्त माने जाते थे ।

(ख) कानूनी मान्यता के आधार पर वर्गीकरण

(i) वैध मुद्रा

(ii) ऐच्छिक मुद्रा

(i) वैध मुद्रा-(legal Tender Money)-वैध मुद्रा कानून की दृष्टि से मान्य होती है । इसके भी दो भेद होते है-

(अ) सीमित वैध मुद्रा (Limited Legal Tender)-यह सीमित मात्रा तक वैध होती है और उस सीमा तक किसी भी व्यक्ति को इसे स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जा सकता है । इसकी सीमा सरकार द्वारा निश्चित की जाती है । आजकल भारत मे 5,10, 20 व 25 पैसे के सिक्के 25 रुपये तक वैध मुद्रा माने जाते है । कोई भी व्यक्ति इन्हे 25 रुपये से ज्यादा राशि के लेने से इन्कार कर सकता है । लेकिन किसी भी लेनदार को इन छोटे सिक्को को 25 रुपये तक कानून की दृष्टि से लेने के लिए बाध्य किया जा सकता है । व्यवहार मे इस सम्बन्ध मे प्रायः कोई विवाद नहीं पाया जाता ।

(आ) असीमित वैध मुद्रा (Unlimited Legal Tender) -यह वह मुद्रा है जिसे असीमिल मात्रा तक लेने के लिए बाध्य किया जा सकता है । भारत मे एक रुपये का सिक्का, 50 पैसे का सिक्का तथा समस्त कागजी मुद्रा असीमित वैध मुद्रा मे आते है । किसी भी लेनदार को उसका देनदार इन्हे किसी भी सीमा तक स्वीकार करने के लिए कानून की दृष्टि से बाध्य कर सकता है । लेकिन यहां भी व्यवहार मे कोई विवादास्पद समस्या उत्पन्न नहीं होती ।

(ii) ऐच्छिक मुद्रा(Optional Money) -इस मुद्रा को स्वीकार करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है, इसे लेने के लिए किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता । चैक, हुण्डी तथा विनिमय बिल ऐच्छिक मुद्रा कहलाते हैं ।

वस्तु के आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण

(i) धात्विक मुद्रा और

(ii) पत्र-मुद्रा

(1) धात्विक मुद्रा के प्रमुख दो भेद होते है-

(अ) मानक मुद्रा (Standard Money)

(आ) प्रतीक मुद्रा (Token Money)

(अ) प्रामाणिक या मानक मुद्रा (Standard Money) -यह देश की प्रधान मुद्रा होती है। प्रामाणिक या मानक सिक्के स्वर्ण या चांदी के होते है। प्रामाणिक मुद्रा विनिमय का माध्यम तथा लेखे की मुद्रा दोनो होती है। मानक सिक्के पर अंकित मूल्य इसके धातु-मूल्य के बराबर होता है। इसका सिक्के के रूप मे बाजार मे जो मूल्य होता है वही गला कर धातु के रूप मे बेचने पर होता है। इस व्यवस्था मे सिक्का ढलाई नि.शुल्क होती है। लोग धातु ले जाकर टकसाल से सिक्के ढलवा कर ला सकते है। सिक्का ढलाई की फीस हो भी सकती है और नही भी। मानक मुद्रा असीमित वैध मुद्रा होती है।

(आ) सांकेतिक या प्रतीक मुद्रा (Token Money)-यह छोटे भुगतानो के काम आती हैं। यह प्रामाणिक मुद्रा की सहायक होती है। इसके सिक्के तांबे या निकल आदि के होते हैं। सांकेतिक या प्रतीक मुद्रा की स्वतत्र व नि.शुल्क ढलाई नही होती। इस पर अकित मूल्य इसके वास्तविक मूल्य से अधिक होता है। यह सीमित वैध मुद्रा होती है।

भारतीय रुपया देश की प्रधान मुद्रा है, तथा यह असीमित वैध मुद्रा है। लेकिन इसका वास्तविक मूल्य कम व अंकित मूल्य अधिक होता है और रुपये की ढलाई स्वतंत्र नहीं होती। इसलिए इसे प्रामाणिक-साकेतिक सिक्का (Standard Token Coin) कहा गया है।

(ii) पत्र-मुद्रा

इसके तीन भेद किये जा सकते हैं-

(अ) प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा (आ) परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा

(इ) अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा।

(अ) प्रतिनिधि पत्र मुद्रा (Representative Paper Money)-इस प्रकार की पत्र-मुद्रा के पीछे पूर्णतया सोने व चांदी के कोष पाये जाते हैं। इस व्यवस्था मे मुद्रास्फीति का भय नही होता और धातु के सिक्के चलाने की आवश्यकता नही होती। लेकिन यह बड़ी महंगी पद्धति होती है। इसमे धातु की बचत नही होती। यह बेलोच होती है और मुद्रा की पूर्ति आसानी से नहीं बढ़ाई जा सकती।

(आ) परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Convertible Paper Money)-यह धारक की इच्छानुसार मानक सिक्को मे परिवर्तनीय होती है। लेकिन इसमे धातु के कोष पत्र-मुद्रा की कुल राशि के बराबर नही रखे जाते क्योंकि यह माना जाता है कि सभी धारक पत्र-मुद्रा को धातु मे नही बदलना चाहेगे। इसमे कोष के दो भाग होते है। (i) धातु रूप मे सोना, चादी व मानक सिक्के, तथा (ii) प्रत्ययी अश (fiduciary portion) जिसमे प्राय सरकारी प्रतिभूतिया आती हैं। इस पद्धति मे कीमती धातु की बचत होती है। यह पद्धति लोचदार होती है और जनता मे विश्वास भी उत्पन्न करती है। लेकिन इससे अधिक पत्र-मुद्रा निकलने का भय रहता है।

(इ) अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Inconvertible Paper Money)— इसमें मौद्रिक अधिकारी पत्र-मुद्रा को सिक्के या धातु में बदलने की कोई गारन्टी नहीं देते। यह पत्र-मुद्रा सरकार के विश्वास पर चलती है। इस पद्धति मे धातु की किफायत हो जाती है। यह लोचदार होती है, क्योंकि इसमे आवश्यकतानुसार मुद्रा की पूर्ति बढ़ाई जा सकती है। लेकिन इसमे मुद्रास्फीति का निरंतर भय बना रहता है और इससे देशवासियो को मुद्रा के मूल्य मे गिरावट का सामना करना पड़ता है। **भारत में आजकल अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का ही प्रचलन है।** एक रुपये के नोट तो भारत सरकार के वित्त मत्रालय द्वारा चलाये गये हैं। रिजर्व बैंक के नोटो पर जो वायदा लिखा रहता है, उसका यह अर्थ है कि बैंक उस पर लिखी रकम के बराबर दूसरे नोट दे सकेगा। लेकिन उसके बदले मे कोई सोना या चादी आदि धातु देने की कोई प्रतिज्ञा नहीं होती। भारतीय रिजर्व बैंक भारत सरकार के चाहने पर चाहे जितनी पत्र-मुद्रा निकाल सकता है। इस सम्बन्ध मे कोई ऊपरी सीमा नही है।

मुद्रा के अध्ययन मे एक लाभदायक अन्तर कानूनी वैध मुद्रा (Legal tender) या आदेशाश्रित मुद्रा (fiat Money) व विश्वासाश्रित मुद्रा (fiduciary money) मे किया जाना चाहिए। **सिक्के व करेंसी नोट आदेशाश्रित मुद्रा कहलाते हैं, क्योंकि ये सरकार के आदेश (fiat) के आधार पर मुद्रा का काम करते हैं। ये कानूनी वैध मुद्रा (legal tender) होते हैं। इनको सभी तरह के भुगतानो में स्वीकार करना होता है।**

इसके विपरीत **बैंको की मांग-जमाएँ (demand deposits) विश्वासाश्रित मुद्रा होती है क्योंकि यह विश्वास के आधार पर स्वीकार की जाती है। ये कानूनी दृष्टि से वैध नहीं मानी जा सकतीं।** कोई व्यक्ति चैक लेने से इन्कार कर सकता है और नकद भुगतान माग सकता है, क्योंकि चैक के भुगतान की सदैव गारण्टी नही होती।

इस प्रकार आदेशाश्रित मुद्रा कानूनी दृष्टि से वैध मुद्रा होती है। जबकि विश्वासाश्रित मुद्रा कानूनी दृष्टि से वैध मुद्रा नहीं होती। अत ''फिएट मनी'' का मुख्य गुण इसकी कानूनी वैधता (legal tender) माना गया है।

आधुनिक युग पत्र-मुद्रा का युग है। यदि इस पर सरकार का उचित रूप से नियंत्रण बना रहे तो यह निर्धन व धनी सभी प्रकार के देशो के लिए उपयुक्त मानी जा सकती है। लेकिन विकासशील देशो मे अत्यधिक मात्रा मे पत्र-मुद्रा के जारी होने से काफी सकट उत्पन्न हुए है। इसलिए पत्र-मुद्रा एक प्रबल अस्त्र है जिसका उपयोग अत्यत सावधानी से किया जाना चाहिए। मुद्रा की पूर्ति व वस्तुओ की पूर्ति मे आवश्यक तालमेल बैठाया जाना चाहिए, अन्यथा मुद्रास्फीति की समस्या कठिनाइयाँ उत्पन्न कर सकती है। आजकल नियोजन मे मौद्रिक नियोजन पर भी बल दिया जाने लगा है जिसके अन्तर्गत मुद्रा की पूर्ति की वार्षिक वृद्धि-दर सीमित कर दी जाती है। भारत मे मुद्रा की वार्षिक वृद्धि-दर को वर्तमान मे 17% से घटाकर 10% पर लाने की आवश्यकता पर जोर दिया जा रहा है ताकि मुद्रास्फीति पर नियत्रण स्थापित किया जा सके।

करेंसी व साख (currency and credit)

मुद्रा की पूर्ति एक स्टॉक होती है जो वर्ष के किसी दिन के लिए सूचित की जाती है। भारत मे मुद्रा की पूर्ति के सम्बन्ध मे चार अवधारणाये M_1, M_2, M_3, M_4, प्रचलित हैं जिनका विस्तृत विवरण अगले अध्याय मे दिया जायेगा। यहा करेसी व साख (माग-जमाओ) के सम्बन्ध मे M_1 का परिचय आवश्यक है।

M_1 मुद्रा की पूर्ति के सम्बन्ध मे 'सकुचित मुद्रा' (narrow money) का सूचक माना गया है। इसके तीन अग इस प्रकार है।

(अ) जनता के पास करेसी (currency with the public)

(आ) बैको के पास माग-जमाएँ (demand deposits with banks)

(इ) भारतीय रिर्जव बैंक के पास 'अन्य' जमाएँ (other deposits with RBI)

भारत में मार्च 1993 को अन्तिम रिपोर्टिंग शुक्रवार को सकी बकाया राशिया इस प्रकार थी[1]

	(कराड़ रुपयो में)	M_1 का % अश
(अ) जनता के पास करेसी	68 512	55 6
(आ) बैंकों के पास माग-जमाएँ	53 263	43 2
(इ) भारतीय रिर्जव बैंक के पास 'अन्य' जमाएँ*	1 503	1 2
M_1 की मात्रा	1 23 278	100 0

* ये विदेशी सरकारों, अन्य केन्द्रीय बैंकों व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक की भारतीय रिजर्व बैंक के पास की गई माग-जमाएँ (demand deposits) होती हैं।

1 Report on Currency and F nance 1992 93 Vol I p 121

करेंसी-करेंसी में सिक्के व करेंसी नोट (कागजी मुद्रा) शामिल होते हैं। एक रुपये के नोट भारत सरकार का वित्त मत्रालय चलाता है और शेष नोट भारतीय रिर्जव बैंक द्वारा जारी किये जाते हैं। करेंसी का नियमन भारत सरकार व भारतीय रिजर्व बैंक मिलकर करते हैं।

उपर्युक्त तालिका से पता चलता है कि M_1 मे जनता के पास करेंसी की मात्रा मार्च 1993 को अन्तिम रिपोर्टिंग शुक्रवार (last reporting friday) के अनुसार लगभग 55 6% थी। इस प्रकार M_1 में आज भी आधे से ज्यादा अश करेसी का है।

चलन में करेंसी का विस्तृत विवरण (Details of Currency in Circulation)

करेंसी में कागजी नोट, एक रुपये के सिक्के व छोटे सिक्के शामिल होते हैं। आजकल भारत में करेंसी में कागजी नोटों का अनुपात 96-97 प्रतिशत पाया जाता है। इस प्रकार सिक्कों का अनुपात बहुत कम पाया जाता है। यह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है

वित्तीय वर्ष (अन्तिम रिपोर्टिंग शुक्रवार से सम्बद्ध)	(करोड रु) प्रचलन में कुल करेंसी की बकाया मात्रा	प्रचलन मे नोटो का अश (% में)
1970-71	4,557	91 6
1992 93	71,299	97 5

इस प्रकार मार्च 1993 के अत मे अन्तिम शुक्रवार की रिपोर्ट के अनुसार बैंक नोटों का अनुपात कुल करेसी में 97 5% रहा। स्मरण रहे कि जनता के पास करेसी (Currency with the public) निकालने के लिए प्रचलन मे करेसी की मात्रा मे से बैंको के पास नकद-राशि घटायी जाती है।

करेंसी की मात्रा को प्रभावित करने वाले तत्व - उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि भारत में मुद्रा की पूर्ति M_1 में करेसी एक महत्वपूर्ण अग है। इसका निर्धारण भारत सरकार व भारतीय रिजर्व बैंक मिलकर करते हैं, और इस पर नोट निर्गमन की प्रचलित प्रणाली का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। चूँकि भारत में इस समय नोट-निर्गमन की न्यूनतम रिजर्व प्रणाली चल रही है, इसलिए नोट निकालने की कोई ऊपरी सीमा नहीं है। अत सरकार देश की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार नोट जारी करती है। करेंसी पर निम्न कारकों का विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है।

(i) **राष्ट्रीय उत्पादन व व्यापार की मात्रा**- देश में उत्पादन व व्यापार के बढने से मुद्रा की पूर्ति व करेंसी में वृद्धि की जाती है। लेकिन करेंसी की मात्रा के उत्पादन व व्यापार की मात्रा से ज्यादा बढ़ जाने के कारण मुद्रास्फीति को बढ़ावा मिलता है।

(ii) व्यापार की प्रकृति-देश मे थोक व्यापार के बढ़ने से बड़े नोटो की मांग बढ़ती है तथा बैंक-साख का उपयोग भी बढ़ता है । खुदरा व्यापार मे छोटे नोटो व सिक्को का उपयोग किया जाता है ।

(iii) कीमत स्तर-देश मे निरंतर कीमत स्तर के बढ़ने से मुद्रा की पूर्ति बढ़ायी जाती है । कीमतों व करेंसी में वृत्ताकार सम्बन्ध होता है । करेसी के बढ़ने से कीमतो मे वृद्धि की प्रवृत्ति होती है और कीमतो के बढ़ने से पुन. करेसी का विस्तार आवश्यक हो जाता है ।

(iv) बैंकिंग का प्रचार- जनता मे बैंकिंग का प्रचार बढ़ाने से करेंसी का प्रयोग घटता है, तथा बैंक-जमाओं व चैको का उपयोग बढ़ता है । यही कारण है कि विकसित देशों में मुद्रा की पूर्ति में करेसी का अनुपात बहुत नीचा (अमरीका में 20% से भी कम) पाया जाता है । भारत में भी यह योजनाकाल में काफी घटा है । यह 1960-61 में 73% से घटकर 1992-93 में (अन्तिम शुक्रवार) 55.6% पर आ गया है (जनता के पास करेसी का M_1 से अनुपात) । भविष्य में ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग का प्रचार-प्रसार बढ़ने से यह भारत मे और कम हो जायेगा ।

(v) राष्ट्रीय आय का वितरण-राष्ट्रीय आय का समान वितरण होने से बड़े नोटो का प्रचलन अधिक पाया जाता है जो धनिक वर्ग के लेन-देन के लिए आवश्यक होता है । आय के समान वितरण से छोटे नोटो का महत्त्व बढ़ जाता है ।

इस प्रकार करेंसी का मुद्रा की पूर्ति मे अंश देश के आर्थिक विकास की अवस्था, बैंकिंग की आदतो के विस्तार, राष्ट्रीय आय व व्यापार की वृद्धि, मूल्य-स्थिति, राष्ट्रीय आय के वितरण, आदि तत्वो से प्रभावित होता है ।

साख अथवा मांग-जमाएँ (demand deposits) –मुद्रा की पूर्ति, M_1 का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग बैको की मांग-जमाएँ माना गया है । माग-जमाएँ वे जमाएँ होती है जो ग्राहको द्वारा मांगने पर बैको को वापस करनी होती हैं । जनता व फर्में अपनी नकद मुद्रा बैको मे जमा कराते है जिन्हे उनके द्वारा मागे जाने पर बैको को लौटाने की व्यवस्था करनी पड़ती है । आजकल चैक्स से बैक जमाएँ एक खाते से दूसरे खाते, व एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरित की जाती है ।

हम पहले बतला चुके हैं कि व्यापारिक बैंकों के पास माग-जमाए मुख्यतः विश्वासाश्रित मुद्रा (fiduciary money proper) कहलाती हैं क्योंकि ये आपसी विश्वास पर निर्भर करती हैं । ये कानूनी दृष्टि से वैध नहीं मानी जाती हैं । फिर भी ये सामान्यतया लेन-देन में स्वीकृत होने के कारण मुद्रा कहलाती हैं । स्मरण रहे कि मांग-जमाएं मुद्रा होती हैं, न कि स्वयं चैक । चैक जमाओ का हस्तान्तरण मात्र करते है और स्वयं मुद्रा नही होते । अमरीका में मुद्रा की पूर्ति का आधे से ज्यादा अंश मॉग-जमाओं का होता है, जबकि भारत में यह मार्च 1993 के अंत में लगभग 43% पाया गया था ।

यह योजनाकाल मे बैंकिंग के प्रचार-प्रसार के कारण काफी बढ़ गया है। भविष्य मे यह और बढ़ेगा और करेसी का अनुपात घटेगा। बैंको की मांग-जमाओ व रिजर्व बैक के पास 'अन्य जमाओं' को मिलाकर जनता के पास 'जमा-मुद्रा' (deposit money) कहते है।

मौद्रिक प्रचलन अथवा प्रचलन में मुद्रा (Monetary circulation or money in circulation)

हमे यह स्मरण रखना होगा कि प्रचलन में जो मुद्रा की मात्रा होती है वह देश में पाये जाने वाले मुद्रा के कुल स्टॉक से सदैव कम होती है। प्रचलन में मुद्रा (Money in circulation) को जनता द्वारा रखी जाने वाली मुद्रा का स्टॉक (stock of money held by the public) भी कहते हैं।

यहाँ जनता शब्द मे परिवार, फर्मे व सस्थाए शामिल होती है, लेकिन मुद्रा-निर्गमन करने वाली इकाइयाँ, जैसे सरकार व बैंकिंग-प्रणाली इसमे शामिल नही की जाती। सरकार से यहाँ आशय केन्द्रीय सरकार व समस्त राज्य सरकारो से लगाया जाता है, और बैंकिंग प्रणाली मे भारतीय रिजर्व बैक व समस्त बैक आते है, जो माग-जमाए स्वीकार करते है।

अतः जनता मे निम्न आर्थिक इकाइयाँ शामिल होती है। स्थानीय सस्थाएं, गैर-बैंक वित्तीय सस्थाए, गैर-विभागीय सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम (जैसे तेल व प्राकृतिक गैस आयोग, भारतीय इस्पात प्राधिकरण लि., इण्डियन एयर लाइन्स, आदि), विदेशी केन्द्रीय बैक व सरकारे तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) जो भारत मे रिजर्व बैक के पास भारतीय मुद्रा जमाओ के रूप मे रखते है।

दूसरे शब्दों में, प्रचलन में मुद्रा की मात्रा में वह मुद्रा शामिल नहीं मानी जाती जो सरकार व बैंकिंग प्रणाली द्वारा (रोककर) अपने पास रखी जाती है। बैंक अपनी जमाओ का एक निश्चित अनुपात रिजर्व के रूप में वैधानिक रूप से केन्द्रीय बैंक तथा स्वय अपने पास रखने को बाध्य होते हैं। जमाओं को सहारा देने के लिए ऐसा करना आवश्यक होता है। व्यापारिक बैंक अपनी जमाओं का जो अनुपात केन्द्रीय बैंक के पास रखते हैं उसे नकद रिजर्व अनुपात (Cash Reserve Ratio) (CRR) कहते हैं जिसे 14% से बढ़ाकर पुनः 15% कर दिया गया है (तीन चरणों में, अन्तिम 15% का चरण 6 अगस्त, 1994 से)। व्यापारिक बैंक जमा का जो अश अपने पास नकद-राशि, सोना या स्वीकृत प्रतिभूतियों के रूप में रखते हैं वह वैधानिक तरलता अनुपात (statutory liquidity ratio) (SLR) कहलाता है, जिसे 34 75% से घटाकर 33 75% किया गया है (दो चरणों मे, अन्तिम 33 75% लागू 17 सितम्बर, 1994 से)।

अस्तित्व में मुद्रा के कुल स्टॉक व प्रचलन में मुद्रा के स्टॉक में अन्तर क्यों किया जाता है ?

मुद्रा के कुल स्टॉक व प्रचलन में मुद्रा के स्टॉक में अन्तर करने का कारण यह है कि इससे हमें यह पता चल जाता है कि मुद्रा का निर्गमन करने वालों व

मुद्रा के धारकों (holders)या मांग करने वालों के पास अलग-अलग कितनी-कितनी मुद्रा की मात्राएँ हैं । मुद्रा की माग करने वालो के पास की मुद्रा अथवा प्रचलन की मुद्रा सक्रिय (active) मानी जाती है, और सरकार व बैंको (केन्द्रीय बैक सहित) के पास जमाओ को सहारा देने के लिए रोकी गयी मुद्रा निष्क्रिय मुद्रा राशि (idle balance) कहलाती है । मौदिक विश्लेषण व मौद्रिक नीति के निर्धारण मे इस अतर का काफी महत्व होता है । सरकार प्रचलन मे मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करके मुद्रा-स्फीति पर मौदिक नियत्रण स्थापित करने का प्रयास किया करती है ।

प्रश्न

1 मुद्रा की आधुनिक परिभाषा दीजिए। एक अर्थव्यवस्था में मुद्रा द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कार्यां का विवेचन कीजिए। (Raj Iyr 1994)

2 निम्नलिखित में अन्तर कीजिए
   (अ) करेंसी एव साख
   (ब) आदेशाश्रित मुद्रा एव विश्वासाश्रित मुद्रा,
   (स) मुद्रा का कुल स्टॉक तथा प्रचलन में मुद्रा,
   (द) वास्तविक मुद्रा तथा लेखे की इकाई। (Raj Iyr 1993)

3 'मुदा जो मानवता के लिए अनेक वरदानों का स्रोत है, वह नियत्रण के अभाव में भ्रम व सकट का कारण भी बन सकती है।' समझाइये।

4 आधुनिक समाज में 'मुद्रा के स्वभाव, कार्य और महत्त्व' पर एक लेख लिखिए। (Raj Iyr 1992)

10

मुद्रा की मांग व पूर्ति

(Demand and Supply of Money)

मुद्रा के सिद्धान्त मे मुद्रा की माग व मुद्रा की पूर्ति का बड़ा महत्त्व होता है । मुद्रा की माग आम जनता के द्वारा की जाती है । इसमे मुद्रा का सृजन करने वालो की माग शामिल नही होती । मुद्रा की पूर्ति इसका सृजन करने वालो, सरकार व बैंकिग व्यवस्था के द्वारा की जाती है । इस प्रकार मुद्रा-बाजार वह बाजार होता है जिसमे मुद्रा की माग करने वाले व इसकी पूर्ति करने वाले शामिल होते है ।

पुस्तक के प्रारम्भिक अध्यायो मे बतलाया जा चुका है कि मुद्रा की अवधारणा एक स्टॉक की अवधारणा होती है । यह समय के किसी बिन्दु पर मुद्रा की माग को सूचित करती है । इसका स्पष्टीकरण इसी अध्याय मे भारत मे मुद्रा की पूर्ति के विवेचन मे हो जायेगा ।

मुद्रा की माग(Demand for money)[1]

मुद्रा की माग के सम्बन्ध मे दो दृष्टिकोण विशेष रूप से उल्लेखनीय है । (i) नव क्लासिकल (neo-classical) और (ii) केंस का (keynesian) इनका विवरण नीचे दिया जाता है ।

(i) नवक्लासिकल दृष्टिकोण-यह केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियो-मार्शल व पीगू ने प्रस्तुत किया था । इस दृष्टिकोण के अनुसार मुद्रा की माग निम्न समीकरण से प्रकट होती है ।

$M^d = KPY$ जहा M^d = मुद्रा की माग,

Y = *वास्तविक उत्पत्ति या वास्तविक आय*

(real income) तथा P = औसत मूल्य-स्तर है ।

K एक स्थिर राशि (constant) है । यहा K मौद्रिक आय का वह अश होता है जिसे जनता मुद्रा के रूप मे रखना चाहती है ।

---

1 Suraj B Gupta, Monetary Economics, Institutions, Theory and Policy, Second Edition 1988, chapter 11, फिशर के सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की माग PT है, जहाँ P सामान्य कीमत स्तर को तथा T सौदो या व्यापार की मात्रा को सूचित करते हैं।

समीकरण 1 के अनुसार,

$K = M^d/PY$, इसमे M^d समय के किसी बिन्दु पर मुद्रा की माग की मात्रा है, और यह एक स्टॉक है । लेकिन PY मौद्रिक आय है, जो एक समयावधि से जुड़ी होने के कारण एक प्रवाह है । अत यहा अश (numerator) मे स्टॉक की अवधारणा है और हर (denominator) मे प्रवाह की अवधारणा है ।

इसलिए K भी समयावधि से जुड़ जाता है । इसे एक उदाहरण की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है । मान लीजिए M^d=500 करोड़ रु है और मौद्रिक आय प्रति वर्ष 2000 करोड़ रु है । ऐसी स्थिति मे K= 500/2000 वर्ष= 1/4 वर्ष होगा ।

यहा K का आर्थिक अभिप्राय ठीक से समझ लेना चाहिए । इसका अर्थ यह है कि जनता जो मुद्रा अपने पास रखना चाहती है वह इसकी वार्षिक आमदनी का 1/4 है । इस प्रकार K को समय की इकाइयो, अर्थात् वर्ष, महीनो, सप्ताहो, अथवा दिनो मे व्यक्त किया जाता है । यदि हम उपर्युक्त दृष्टात मे वार्षिक आमदनी की जगह मासिक आमदनी पर विचार करते है तो भी K = 1/4 वर्ष ही आयेगा । उस स्थिति मे मासिक आमदनी 2000/12= 166 66 करोड़ रु होगी, और मुद्रा की माग एक स्टॉक चलराशि होने के कारण पहले की भाँति 500 करोड रु ही रहेगी । मुद्रा की माग को मासिक आमदनी से सम्बद्ध करने पर K का मूल्य 500/166 66 महीने=3 महीने आयेगा,जो 1/4 वर्ष के बराबर होगा ।

इस प्रकार केम्ब्रिज समीकरण की मुख्य विशेषता यह है कि इसमे मुद्रा की माग मौद्रिक आय का फलन होती है, अर्थात् यह मौद्रिक आय पर आश्रित होती है ।

M^d=KPY समीकरण को निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है ।
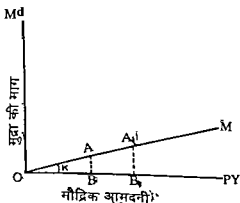
केम्ब्रिज दृष्टिकोण के अनुसार मुद्रा की माग

चित्र-1

स्पष्टीकरण - चित्र 1 मे क्षैतिज अक्ष पर मौद्रिक आमदनी तथा OM^d अक्ष पर मुद्रा की माग मापी गयी है । केम्ब्रिज दृष्टिकोण के अनुसार मुद्रा की माग केवल मौद्रिक आमदनी पर आश्रित होती है । OM रेखा मुद्रा की माग को सूचित करती है । यह क्षैतिज रेखा के साथ जो कोण बनाती है वह K के बराबर होता है । इस कोण की स्पर्श रेखा (tangent) का माप, अर्थात् K = AB/OB = 1/4 है । अत मौद्रिक आमदनी के बढ़ने के साथ-साथ मुद्रा की माग रेखीय रूप मे बढ़ती जाती है । **स्पष्ट है कि केम्ब्रिज दृष्टिकोण में मुद्रा की मांग का सम्बन्ध केवल मौद्रिक आमदनी से किया गया है** । इसमे मुद्रा की माग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वो जैसे ब्याज की दर आदि का समावेश नही किया गया है । यह भी ध्यान देना होगा कि M^d = KPY मुद्रा की माग का सरलतम फलन है । हम अगले अध्याय मे देखेंगे कि इसने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है ।

(ii) मुद्रा के माग के सम्बन्ध में केन्स का दृष्टिकोण

केन्स ने मुद्रा की माग का सिद्धान्त अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक The General Theory of Employment Interest and Money (1936) मे प्रस्तुत किया था । बाद मे केन्स की विचारधारा वाले अर्थशास्त्रियो ने उसे आगे विकसित किया । इनका नीचे विवेचन किया जाता है ।

केन्स ने इस बात पर प्रकाश डाला कि मुद्रा की माग क्यो की जाती है तथा इस पर प्रमुखतया किन तत्वो का प्रभाव पड़ता है ।

मुद्रा की माग के प्रयोजन -

केन्स ने मुद्रा की माग पर तीन प्रयोजनो (motives) का प्रभाव माना है जो इस प्रकार है (1) लेन-देन या सौदो का उद्देश्य या प्रयोजन (Transactions motive) (ii) सतर्कता का उद्देश्य (*Precautionary* motive) और (iii) सट्टे का उद्देश्य (Speculative motive) मुद्रा की माग को प्रभावित करने वाले ये तीन उद्देश्य आज भी मौद्रिक अर्थशास्त्रियो द्वारा स्वीकार किये जाते है । इनका क्रमश नीचे विवेचन किया जाता है ।

(1) लेन-देन या सौदों का उद्देश्य -(Transactions motive)

लोग लेन-देन के उद्देश्य से अपने पास नकद राशि रखना चाहते है । आय की प्राप्ति व उसके व्यय के बीच समय का काफी अन्तर रहता है, इसलिए परिवारो को लेन-देन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने पास नकद राशि रखनी पड़ती है । व्यावसायिक फर्मे कच्चे माल, श्रम आदि पर व्यय करने के लिए अपने पास नकद राशि रखती है । लेन-देन के उद्देश्य के लिए मुद्रा की माग पर व्यावसायिक दशाओ व वस्तुओ की कीमतो का अधिक प्रभाव पड़ता है । राष्ट्रीय आय के एक दिये हुए स्तर पर मुद्रा की यह माग ब्याज की दर से स्वतत्र मानी जाती है और यह अल्पकाल मे स्थिर रहती है । अत सौदो के उद्देश्य के लिए मुद्रा की माग पर आय का प्रभाव पड़ता है न कि ब्याज की दर का ।

लेन-देन के उद्देश्य के लिए मुद्रा की माग मे मुद्रा विनिमय के माध्यम के रूप मे कार्य करती है । इसका राष्ट्रीय आय से सीधा सम्बन्ध होता है । राष्ट्रीय उत्पादन अथवा राष्ट्रीय आय के बढ़ने से लेन-देन के उद्देश्य के लिए मुद्रा की माग बढ़ती है । इसे भी पूर्व वर्णित चित्र 1 की सहायता से ही समझाया जा सकता है, जहा क्षैतिज अक्ष पर मौद्रिक आय तथा लम्बवत अक्ष पर मुद्रा की माग लिये गये हैं,और मुद्रा की मांग की रेखा OM ऊपर की ओर जाती है । यहा OB आमदनी पर मुद्रा की माग AB है तथा OB_1 पर यह A_1B_1 हो जाती है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्यो-ज्यो आय बढ़ती है, त्यो-त्यो जनता व फर्में लेन-देन के उद्देश्य के लिए अधिक मात्रा मे मुद्रा की माग करते जाते है ।

अब प्रश्न उठता है कि लेन-देन के उद्देश्य के लिए मुद्रा की माग पर किन तत्वो या कारको का प्रभाव पड़ता है । यहा हम यह मान लेते है कि आमदनी एक निश्चित अवधि, जैसे एक महीने या एक सप्ताह के बाद मिलती है, और उसे नियमित रूप से एक निश्चित क्रम या रफ्तार से व्यय किया जाता है, ताकि अवधि के अत तक वह पूरी तरह समाप्त हो जाती है । ऐसी स्थिति मे किसी भी समय, बिना खर्च की गई मुद्रा की मात्रा लेन-देन के लिए मुद्रा की माग को सूचित करती है ।

लेन-देन के उद्देश्य के लिए मुद्रा की माग पर निम्न तत्वो का प्रभाव पड़ता है ।

(1) **आमदनी प्राप्त होने की अवधि**-आमदनी प्राप्त होने की अवधि का मुद्रा की माग पर गहरा प्रभाव पड़ता है । कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति को 6000 रुपये मासिक मिलते है,और वह इन्हे 30 दिन मे नियमित रूप से व्यय करता जाता है और महीने के अत मे ये सारे व्यय हो जाते है । ऐसी स्थिति मे महीने के बीच मे उसके पास 3000 रुपये बिना व्यय किये रह जायेगे, जो उसकी मुद्रा की माग को सूचित करेगे । मान लीजिए, उसे यही भुगतान 6000/30 =200 रुपये प्रति दिन के हिसाब से किया जाता तो उसकी मुद्रा की माग 200/2=100 रुपये मानी जाती ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आमदनी प्राप्त होने की अवधि जितनी अधिक होगी लेन-देन के उद्देश्य के लिए मुद्रा की माग उतनी ही अधिक होगी । आमदनी प्राप्त होने की अवधि कम होने पर मुद्रा की माग भी कम हो जायेगी ।

इसे अग्र चित्र की सहायता से समझाया जा सकता है ।
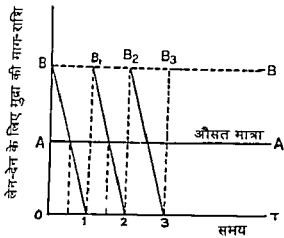
चित्र-2
मुद्रा की लेन-देन की माग

स्पष्टीकरण—चित्र 2 मे OT- अक्ष पर समय तथा OM- अक्ष पर मुद्रा की लेन-देन् के लिए राशिया मापी गयी है। क्षैतिज अक्ष OT पर एक अवधि की दूरी 0-1 है। दूसरी अवधि 1-2 है। प्रति अवधि मौद्रिक आय लम्बवत् अक्ष OM पर OB से मापी गयी है। अवधि के आरम्भ मे यह लेन-देन के लिए रखी जानी वाली अधिकतम राशि है। यह राशि नियमित क्रम मे व्यय की जाती है। 0-1 के बीच मे लेन-देन के लिए रखी जाने वाली मुद्रा की मात्रा B1 रेखा के द्वारा दर्शायी जाती है। अवधि के अत मे यह शून्य हो जाती है। अवधि के बीच मे यह OA के बराबर होती है। OA राशि OB की आधी है। इस प्रकार AA रेखा लेन-देन के लिए मुद्रा की औसत मात्रा को सूचित करती है। अत मुद्रा की माग अवधि के प्रारम्भ मे मुद्रा की कुल राशि का आधा होती है। ऐसा अवधि 1-2 व 2-3 के बीच मे होता है।

यह एक अत्यत सरल मॉडल है, क्योकि इसमे यह मान लिया गया है कि प्राप्त मौद्रिक आय नियमित रूप से व्यय की जाती है, ताकि अवधि के अत मे यह सम्पूर्ण रूप से व्यय हो जाये, और दूसरी अवधि के प्रारम्भ मे पुन उतनी ही नई आमदनी प्राप्त हो जाये। व्यवहार मे वस्तुओ व सेवाओ के भुगतान इतने नियमित ढग से नही होते। पानी, बिजली, टेलीफोन, आदि के बिलो का भुगतान एक निश्चित अवधि के बाद किया जाता है। टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओ जैसे स्कूटर, रेफ्रीजरेटर आदि का भुगतान एक साथ व अनियमित रूप से होता है। दवाई के बिलो के भुगतान की भी कोई निश्चित अवधि नही होती।

(ii) भुगतानों की व्यवस्था–जिस अर्थव्यवस्था मे मौद्रिक भुगतान ज्यादा चरणो मे होते है, जैसे उत्पादको, थोक विक्रेताओ, खुदरा विक्रेताओ व उपभोक्ताओ की बीच मुद्रा घूमती रहती है,तो मुद्रा की माग अधिक होती है। यदि इसके स्थान पर उत्पादको व उपभोक्ताओ के बीच सीधा सम्बन्ध हो तो मुद्रा की माग कम होगी, क्योकि यहा थोक व खुदरा विक्रेताओ के न होने से मुद्रा की माग कम हो जायेगी। अत भुगतान के लिए जितने अधिक चरण होते है मुद्रा की लेन-देन के उद्देश्य की माग उतनी ही अधिक होती है। सरल किस्म की ग्रामीण अर्थव्यवस्था मे मुद्रा की माग कम पायी जाती है।

(iii) साख का उपयोग- जहा साख या उधार की प्रणाली का अधिक उपयोग होता है वहा मुद्रा की माग कम होती है। उधार के सौदे या लेन-देन जितने अधिक होते है, मुद्रा की माग उतनी ही कम होती जाती है। मान लीजिए, A अपना माल B को उधार देता है, B देता है C को और C देता है D को,आदि,आदि। इस व्यवस्था मे कम मुद्रा से काम चलाया जा सकता है जिससे मुद्रा की लेन-देन के उद्देश्य के लिए माग कम हो जाती है। स्मरण रहे कि केन्स के अनुसार ब्याज के परिवर्तनो का प्रभाव मुद्रा की लेन-देन के प्रयोजन के लिए की जाने वाली माग पर बिल्कुल नही पड़ता।

(2) सतर्कता का उद्देश्य –(Precautionary motive) -अप्रत्याशित या भावी परिस्थितियो का सामना करने के लिए भी कुछ लोग अपने पास मुद्रा रखना पसन्द करते है। एक गृहस्थी बीमारी के दिनो के लिए अपने पास कुछ मुद्रा रखना चाहता है। इसी प्रकार फर्मे भी आकस्मिक व्ययो के लिए अपने पास नकद राशि रखती है। मुद्रा की यह माग भी व्यावसायिक दशाओ व आमदनी पर अधिक मात्रा मे निर्भर करती है। यह भी ब्याज की दर से स्वतत्र मानी जाती है,और अल्पकाल मे स्थिर रहती है। इस पर व्यय की प्रकृति, साख की सुविधा, ब्राण्डो को नकद रूप मे बदलने की सुविधा, आदि का प्रभाव पड़ता है।

चूँकि प्रथम व द्वितीय उद्देश्यो के लिए की जाने वाली मुद्रा की माग विशेषतया आय पर निर्भर करती है , इसलिए हम इसे $M_1 = f(Y)$ के रूप मे व्यक्त कर सकते है, जहा M_1 दोनो उद्देश्यो के लिए की जाने वाली मुद्रा की माग का सूचक है, और Y आय का और f फलन सम्बन्ध का द्योतक है। इसका अर्थ है कि M_1 की मात्रा Y की मात्रा पर निर्भर करती है। इस प्रकार केन्स के अनुसार लेन-देन व सतर्कता के उद्देश्यो से रखी जाने वाली मुद्रा की मात्रा राष्ट्रीय आय पर निर्भर करती है। ब्याज की दर के परिवर्तन इसे प्रभावित नही करते।

(3) सट्टे का उद्देश्य (Speculative motive) -लोग ब्याज की दर के परिवर्तनो का लाभ उठाने के लिए भी अपने पास नकद राशि रखना पसन्द करते है। **सट्टे के उद्देश्य के लिए मुद्रा की माग का ब्याज की दर से गहरा सम्बन्ध होता है।** यदि एक विनियोगकर्ता यह सोचता है कि भविष्य मे ब्याज की दर बढ़ेगी तो वह आज अपने पास नकद राशि रख सकता है,ताकि भविष्य मे ब्याज के बढ़ने पर वह बॉण्ड कम कीमतो पर खरीद सके। इसके विपरीत यदि वह सोचता है कि भविष्य मे ब्याज की दर कम हो जायेगी और बॉण्डो की कीमत बढ़ेगी तो वह आज बॉण्ड

खरीद सकता है ताकि भविष्य मे इन्हे बेचकर लाभ कमा सके। इस प्रकार सट्टे के उद्देश्य का ब्याज की दर से गहरा सम्बन्ध होता है।

ब्याज की दर व बॉण्ड की कीमतों का सम्बन्ध— यहां पर ब्याज की दर व बॉण्ड की कीमतो का सम्बन्ध सख्यात्मक उदाहरण देकर स्पष्ट करना उचित रहेगा। बॉण्ड मे पूँजी लगाने से स्थिर वार्षिक आमदनी (fixed annual income) प्राप्त होती है। मान लीजिए 100 रु के बॉण्ड पर 6% की वार्षिक आय प्राप्त होती है। यदि वह बॉण्ड 120 रु बाजार भाव पर मिलने लगे तो ब्याज की दर $(6/120\times100)$ =5% पर आ जायगी। **अत बॉण्ड के भाव बढ़ने से ब्याज की दर घटेगी।** इसी प्रकार यह स्पष्ट किया जा सकता है कि बॉण्ड का बाजार भाव 80 रु हो जाने पर ब्याज की दर $(6/80\times100)$ = 7 5% हो जायेगी। अत यदि विनियोगकर्ता सोचता है कि भविष्य मे बॉण्ड का भाव गिरेगा तो वह आज अपने पास नकद राशि रखेगा, ताकि भविष्य मे कम कीमतो पर बॉण्ड खरीदकर अधिक ब्याज कमा सके। इसी प्रकार भविष्य मे बॉण्ड के भाव के बढ़ने की सम्भावना होने पर वह आज बाण्ड खरीदेगा और अपने पास कम नकद राशि रखेगा। इस प्रकार ब्याज की दर तथा बॉण्ड की कीमतों मे विपरीत सम्बन्ध पाया जाता है।

यदि सट्टे के उद्देश्य के लिए मुद्रा की माग को M_2 से सूचित करे और ब्याज की दर को i से, तो $M_2 = f(i)$ दूसरा सम्बन्ध स्थापित हो जायेगा, अर्थात् यहा M_2 की मात्रा ब्याज की दर पर निर्भर करती है।

अध्ययन की सुविधा के लिए हमने लेन-देन के उद्देश्य व सतर्कता के उद्देश्य के लिए मुद्रा की मांग को M_1 से और सट्टे के उद्देश्य के लिए की जाने वाली मुद्रा की माग को M_2 से सूचित किया है। इस प्रकार मुद्रा की कुल माग $M = M_1 + M_2$ होगी। इसमें M_1 की मात्रा व्यवसाय की दशाओ व राष्ट्रीय आय (Y) पर निर्भर करती है, और M_2 की मात्रा ब्याज की दर (i) पर निर्भर करती है।

इन दोनो को मिलाने पर मुद्रा की माग का निम्न समीकरण बनता है।

$$M^d = f(Y) + f(i)$$

इस प्रकार केन्स के अनुसार मुद्रा की माग राष्ट्रीय आय और ब्याज की दर से प्रभावित होती है। राष्ट्रीय आय की मात्रा लेन-देन के उद्देश्य व सतर्कता के उद्देश्य के लिए रखी जाने वाली मुद्रा की माग को प्रभावित करती है और सट्टे के उद्देश्य के लिए की जाने वाली मुद्रा की माग ब्याज की दर के परिवर्तनो से प्रभावित होती है। इसे निम्न चित्र की सहायता से समझाया गया है।
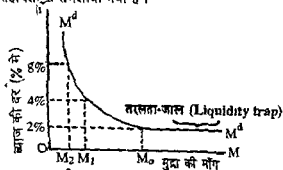
चित्र 3— सट्टे के उद्देश्य के लिए

स्पष्टीकरण–चित्र 3 मे सट्टे के उद्देश्य के लिए मुद्रा की माग को दर्शाया गया है। OM अक्ष पर मुद्रा की माग व O_1 अक्ष पर ब्याज की दर मापे गये हैं। इसमे M^dM^d वक्र सट्टे के उद्देश्य के लिए मुद्रा की माग का सूचक है। इसमें 8% ब्याज की दर पर मुद्रा की माग OM_2 होती है। इसके घट कर 4% हो जाने पर मुद्रा की माग बढ़कर OM_1 हो जाती है। 2% ब्याज की दर पर मुद्रा की माग बढ़कर OM_0 व अधिक हो जाती है। अत M_0 के **बाद केन्स के अनुसार तरलता–जाल** (Liquidity trap) आ जाता है। इसका अर्थ यह है कि M_0 के बाद मुद्रा का माग–वक्र क्षैतिज हो जाता है और यह पूर्णतया लोचदार बन जाता है। ऐसी स्थिति मे मुद्रा को बाड में लगाना बिल्कुल पसद नहीं किया जाता। इस प्रकार 2% ब्याज की वह न्यूनतम दर है जिससे नीचे जाने की आवश्यकता नही रहती क्योंकि इस पर मुद्रा की माग अनत हो जाती है। अत M_0 के बाद मुद्रा के माग–वक्र पर तरलता का जाल आ जाता है।

स्मरण रहे कि सट्टे के उद्देश्य के लिए मुद्रा की माग मे मुद्रा मूल्य-सचय (store of value) का कार्य करती है, जब कि लेन-देन व सतर्कता के उद्देश्यो मे यह विनिमय के माध्यम (medium of exchange) का कार्य करती है। सट्टे के उद्देश्य की मुद्रा की माग परिसम्पत्ति माग (asset-demand) भी कहलाती है।

केन्स के समीकरण मे सुधार–केन्स की मुद्रा की माग के सिद्धान्त मे बोमल व टोबिन (Baumol & Tobin) ने महत्त्वपूर्ण सुधार किये है। उनका मत है कि लेन-देन के उद्देश्य व सतर्कता उद्देश्य के लिए दी जाने वाली मुद्रा की माग पर राष्ट्रीय आय के अलावा ब्याज की दर के परिवर्तनो का भी प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार सट्टे के उद्देश्य के लिए की जाने वाली मुद्रा की माग ब्याज की दर के अलावा आय से भी प्रभावित होती है।

इन तर्कों के आधार पर केन्स का मुद्रा की माग का फलन $M^d=f(Y)+f(i)$ से बदलकर $M^d=f(Y,i)$ हो जाता है। पहले के रूप मे यह जोड के रूप मे था, जब कि सशोधित रूप मे यह आय का बढ़ता हुआ फलन व ब्याज की दर का घटता हुआ फलन मात्र बन जाता है और इसका पहले का जोड का स्वरूप नहीं रहता। पाठक उच्चतर अध्ययन मे देखेगे कि यह परिवर्तन मौद्रिक सिद्धान्त मे एक अत्यत क्रान्तिकारी परिवर्तन माना गया है।

मिल्टन फ्रीडमैन का मुद्रा की माग का विवेचन

सुप्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री मिल्टन फ्रीडमैन (Milton Friedman) ने मुद्रा की माग का आधुनिक विवेचन प्रस्तुत किया है। **फ्रीडमैन ने मुद्रा को एक प्रकार की परिसम्पत्ति (asset) माना है। इसका धारक इससे कई प्रकार की उपयोगिताएँ प्राप्त कर सकता है जो मुद्रा के कार्य पर निर्भर करती है।** अत मुद्रा अपने स्वामी को कई प्रकार की सेवाएँ प्रदान करती है, जैसे वह इससे बाड, शेयर, मकान, टिकाऊ उपभोक्ता-माल, आदि खरीद सकता है।

इसके स्वामी अर्थात् धन रखने वाली इकाइया व व्यावसायिक उपक्रम, इससे कई प्रकार की सेवाएँ प्राप्त करते है । अत फ्रीडमैन के अनुसार **मुद्रा को रखने के उद्देश्यों का कोई महत्त्व नहीं होता बल्कि उन सेवाओ का महत्त्व होता है जो मुद्रा अपने धारको को प्रदान करती है ।**

फ्रीडमैन के अनुसार मुद्रा की माग पर निम्न तत्वो का प्रभाव पड़ता है मुद्रा की माग करने वाली इकाई के पास धन या सम्पत्ति (Wealth) कितनी है, इस धन का मानवीय व गैर मानवीय रूपो मे विभाजन कैसा है धन को रखने के विभिन्न रूपो जैसे मुद्रा (करेसी व बैक जमा), बाड शेयर से सापेक्ष प्रतिफल कितने मिलते है तथा लोगो की रुचियाँ व अधिमान कैसे है । व्यावसायिक उपक्रमो के लिए मुद्रा की माग पर प्रमुखतया निम्न तत्वो का प्रभाव पड़ता है। उधार लेकर प्राप्त किये गये कोषो की लागत कितनी है मुद्रा उनकी उत्पत्ति के मूल्य मे उत्पादन के साधन के रूप मे क्या योगदान देती है आदि ।

स्मरण रहे कि जहा M^d मुद्रा की (मौद्रिक) माग का सूचक है वहा M^d/p मुद्रा की वास्तविक माग (real demand for money) का सूचक होगा क्योकि यहा हमने P अर्थात् मूल्य स्तर का भाग दे दिया है जिससे हमे मुद्रा की वास्तविक माग ज्ञात हो जाती है ।

फ्रीडमैन ने मुद्रा का निम्न माग फलन प्रस्तुत किया है [1]

$M^d/p-f(i_m\ i_b\ i_e\ \dot{p}/p\ W\ n)$

यहा i_m= मुद्रा पर प्रतिफल की दर

i_b= बाड पर प्रतिफल की दर (इनके भावो मे प्रत्याशित परिवर्तनो सहित)

i_e= शेयरो पर प्रतिफल की दर (इनके भावो मे प्रत्याशित परिवतनो सहित)

P= कीमत स्तर

$\dot{p}/p=1/p(dp/dt)$= मुद्रा-स्फीति की दर (rate of inflation)

W= धन

n= गैर-मानवीय धन का मानवीय धन से अनुपात तथा M^d/p= मुद्रा की वास्तविक माग के सूचक है । मुद्रा के माग-फलन मे i_m i_b i_e तथा $\dot{p}/p$ मुद्रा की माग पर विभिन्न प्रतिफल की दरो के प्रभाव को दर्शाते है । W धन का **माप है, जो परिसम्पत्ति के स्वामी के लिए एक प्रतिबध का काम करता है, ठीक उसी प्रकार से जैसे कि उपभोक्ता माग मे आय का प्रतिबध करता है ।** n कुल धन मे मानवीय पूँजी के अश का माप होता है ।। **फ्रीडमैन का मत है कि एक व्यक्ति के कुल धन में मानवीय धन का अंश जितना अधिक होगा, उसकी मुद्रा की माग उतनी ही अधिक होगी ।**

फ्रीडमैन के मुद्रा के माग के सम्बन्ध मे कुछ स्पष्टीकरण आगे दिये जाते है [2]

---

1 Raghbendra Jha Contemporary Macroeconomic Theory and Policy 1990, p 182.

2. Suraj B Gupta Monetary Economics 2nd ed, 1988 pp 212 213

(1) जैसा कि ऊपर बतलाया गया है फ्रीडमैन के सिद्धान्त में कुल धन एक प्रतिबंध का काम करता है। इसके दो भाग-गैर-मानवीय या भौतिक धन व मानवीय धन-होते है। मानवीय धन में स्वयं की प्रत्याशित आय का वर्तमान मूल्य लगाया जाता है। फ्रीडमैन ने चालू आय की जगह 'स्थायी आय' (permanent income) की अवधारणा पर बल दिया है।

(2) कुल धन में गैर-मानवीय धन का अनुपात अधिक होने से मुद्रा की मांग कम होती है,क्योंकि मानवीय धन की अपेक्षा गैर-मानवीय या भौतिक धन को खरीदने व बेचने में ज्यादा आसानी होती है।

(3) केन्स ने केवल बांड के प्रतिफलों पर विचार किया था,जब कि फ्रीडमैन ने मुद्रा, बांड व शेयरों सभी के प्रतिफलों की दरों पर विचार किया है। साथ मे उसने इनके मूल्यो के प्रत्याशित परिवर्तनों पर भी ध्यान दिया है ताकि इनसे सम्बन्धित पूँजीगत लाभो व हानियो पर भी विचार किया जा सके।

फ्रीडमैन का मुद्रा की माग का सिद्धान्त सामान्यतया स्वीकार किया गया है। लेकिन कुछ अर्थशास्त्रियो ने इसमे चालू आय की जगह 'कुल धन' को प्रतिबंध मानने पर आपत्ति उठाई है। इसके अलावा इस सिद्धान्त मे विभिन्न तत्त्वो या कारको का सापेक्ष महत्त्व भी स्पष्ट नही किया गया है।

सक्षेप में हम कह सकते है कि मुद्रा की माग पर राष्ट्रीय आय, ब्याज की दर, मुद्रास्फीति की दर, राष्ट्रीय आय मे कृषिगत आय के बदलते हुए अश आदि का प्रभाव पड़ता है जिनके सम्बन्ध मे व्यावहारिक व साख्यिकीय अध्ययन भी किये जा रहे है।

मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money)

इस खण्ड मे हम मुद्रा की पूर्ति, रिजर्व मुद्रा व मुद्रा-गुणक (money multiplier) के सरल रूप का विवेचन भारतीय उदाहरणो सहित करेगे।

प्राय यह मान लिया जाता है कि मुद्रा की पूर्ति सरकार तथा देश के केन्द्रीय बैक द्वारा निर्धारित होती है। लेकिन यह सही नही है। हम देखेगे कि वास्तविक जगत मे मुद्रा की पूर्ति के निर्धारण पर देश के मौद्रिक अधिकारी के अलावा बैको व जनता का भी प्रभाव पड़ता है। इसमे तो सन्देह नही है कि मुद्रा की पूर्ति पर मौद्रिक अधिकारी का प्रमुख प्रभाव पड़ता है। लेकिन बैको व जनता के योगदान को भुलाया नही जा सकता।

मुद्रा की पूर्ति के अध्ययन मे दो प्रकार की मुद्रा मे अतर किया जाना चाहिए, यथा, (i) साधारण मुद्रा (M) और (ii) उच्च शक्तिवाली मुद्रा (H) जिसे रिजर्व मुद्रा या मौद्रिक आधार (monetary base) कहकर पुकारते है। हम आगे चलकर देखेगे कि मुद्रा की पूर्ति पर उच्च शक्तिवाली मुद्रा का विशेष प्रभाव पड़ता है।

भारत में मुद्रा की पूर्ति की चार अवधारणाएँ[1]

(M_1, M_2, M_3 तथा M_4)

1 Report on Currency and Finance 1992 93 Vol I p 121

(i) M_1 इसे 'सकीर्ण मुद्रा' (narrow money) भी कहते है । इसमे तीन बाते शामिल होती हैं (अ) जनता के पास करेसी (आ) बैंकों के पास माग-जमाए तथा (इ) भारतीय रिर्जव बैंक के पास अन्य जमाएँ (इसमे विदेशी सरकारो, अन्य केन्द्रीय बैंको व अर्न्तराष्ट्रीय मुद्राकोष व विश्व बैंक की माग जमाएँ शामिल होती है ।

मार्च, 1993 के अन्तिम रिपोर्टिंग शुक्रवार को बकाया राशि

	(करोड रुपयो मे)
M_1 (अ+आ+इ)	1,23,278
(अ) जनता के पास करेसी (करेंसी नोट + जनता के पास सिक्के)	68,512
(आ) बैंकों के पास माग-जमाएँ	53,263
(इ) रिर्जव बैंक के पास 'अन्य जमाएँ	1,503

(ii) M_2 - M_1 मे पोस्ट ऑफिस बचत बैंक की जमाओ को जोड़ने से M_2 की राशि प्राप्त होती है ।

M_1 = 1 23,278 करोड रुपये
+ पोस्ट ऑफिस बचत बैंक ही जमाएं = 4,675 करोड रुपये
अत M_2 = 1,27,953 करोड रुपये

(iii) M_3 - M_1 बैंकों की अवधि जमाओ (time deposits) को शामिल करने से M_3 की राशि प्राप्त होती है, जो मार्च 1993 के अन्तिम रिपोर्टिंग शुक्रवार को इस प्रकार थी ।

M_1 = 1,23,278 करोड रुपये
+ बैंको की अवधि-जमाए = 2,39,387 करोड रुपये
अत M_3 = 3 62,665 करोड रुपये

M_3 को 'व्यापक मुद्रा' (broad money) या समग्र मौद्रिक साधन (aggregate monetary resources) भी कहा जाता है ।

(iv) M_4 - इसमे M_3 में कुल इसमे पोस्ट ऑफिस जमाएँ शामिल की जाती हैं ।

M_3 = 3,62,665 करोड रुपये
+ कुल पोस्ट ऑफिस जमाएँ 21,142 करोड रुपये
M_4 = 3 83,807 करोड रुपये

इस प्रकार भारत मे मुद्रा की पूर्ति के सम्बन्ध में चार अवधारणाएँ प्रचलित हैं । इसमे से M_1 व M_3 का ही विशेष रूप से उपयोग किया जाता है । M_1 का उपयोग सकीर्ण अर्थ मे मुद्रा की पूर्ति को सूचित करने में तथा M_3 का उपयोग विस्तृत अर्थ मे मुद्रा की पूर्ति को सूचित करने में किया जाता है ।

भारत में प्रति वर्ष मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होती है । 29 अप्रैल, 1994 को समाप्त होने वाले सप्ताह के अत मे देश मे M_3 की मात्रा 4,47,199 करोड रुपये हो गयी थी ।

1970-71 से 1992-93 की अवधि मे M_1 व M_3 के परिवर्तन निम्न तालिका मे दर्शाये गये हैं।[1]

(करोड़ रु.) बकाया राशि (out standing)

31 मार्च अथवा अन्तिम शुक्रवार (मार्च)	जनता के पास करेंसी	बैंकों के पास माग-जमाएँ	रिर्जव बैंक के पास 'अन्य' जमाएँ	M_1	बैंकों के पास अवधिजम-एँ (time deposit)	M_3
अवधि	(1)	(2)	(3)	(4)= (1+2+3)	(5)	(6)= (4+5)
1970-71	4371	2943	60	7374	3646	11020
1992-93	68,512	53,263	1,503	1,23,278	2,39,387	3,62,665

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि 1970 71 मे M_1 की मात्रा 7,374 करोड रु थी, जो 1992 93 में 1,23,278 करोड रु हो गई, जो 1970 71 की तुलना मे लगभग 16 7 गुना थी। इसी अवधि में M_3 की मात्रा 11,020 करोड रुपये से बढकर 3,62,665 करोड रुपये हो गई जो पहले की तुलना में 32 9 गुनी थी। इस प्रकार M_3 की मात्रा में M_1 की तुलना मे अधिक तेज गति से वृद्धि हुई है। 1992-93 में M_3 की मात्रा में पिछले वर्ष की तुलना में 14 2% वृद्धि हुई।

भारत मे रिजर्व मुद्रा उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा (H) वह होती है जो भारतीय रिजर्व बैंक व भारत सरकार द्वारा उत्पन्न की जाती है, और जनता व बैंको के द्वारा रखी जाती है। सरकार एक रुपये के नोट सिक्के व छोटे सिक्के चलाती है, जबकि रिजर्व बैंक एक रुपये के नोट को छोड़कर बाकी के सभी करेंसी नोट चलाता है। रिजर्व बैंक की मुद्रा में इसके चलाये गये करेंसी नोट, बैंकों की भारतीय रिजर्व बैंक के पास जमाएँ व रिजर्व बैंक के पास 'अन्य' जमाए शामिल होती हैं।

रिजर्व मुद्रा के अग (Components) इस प्रकार होते हैं :

(1) जनता के पास करेंसी
(2) भारतीय रिजर्व बैंक के पास 'अन्य जमाएँ'
(3) बैंकों के पास नकद-राशियाँ
(4) भारतीय रिजर्व बैंक के पास बैंकों की जमा-राशियाँ

1 Report on Currency and Finance 1992 93 Vol II pp 50 51

1970-71 तथा 1992-93 के लिए इनकी राशियां निम्न तालिका में दर्शायी गयी है।[1]

31 मार्च अथवा अन्तिम शुक्रवार को बकाया राशि (मार्च)	जनता के पास करेंसी	रिजर्व बैंक के पास 'अन्य' जमाएँ	बैंकों के पास नकद राशियाँ*	रिजर्व बैंक के पास बैंकों की जमा राशियाँ*	रिजर्व मुद्रा (Reserve Money)
	(1)	(2)	(3)	(4)	(5) = (1+2+3+4)
1970-71	4371	60	186	205	4822
1992-93	68,512	1,503	2,788	38,140	1,10,943

1992-93 में कुल रिजर्व मुद्रा में जनता के पास करेंसी का स्थान 61 8% तथा भारतीय रिजर्व बैंक के पास बैंकों की जमा राशियों का अंश 34 4% था। ये रिजर्व मुद्रा के दो प्रमुख अंग माने जाते हैं।

भारत में रिजर्व मुद्रा के स्रोत (Sources of Reserve Money In India)

रिजर्व मुद्रा के स्रोत निम्न होते हैं :

(i) रिजर्व बैंक द्वारा सरकार को शुद्ध उधार

(ii) रिजर्व बैंक द्वारा व्यापारिक व सहकारी बैंकों को उधार

(iii) रिजर्व बैंक द्वारा नाबार्ड (कृषि व ग्रामीण विकास के राष्ट्रीय बैंक) को उधार

(iv) रिजर्व बैंक द्वारा व्यापारिक क्षेत्र को उधार (वित्तीय संस्थाओं के बांड/शेयर में विनियोग, उनको कर्ज, आन्तरिक बिलों की खरीद, आदि)

(v) शुद्ध विदेशी विनिमय परिसम्पत्तियाँ (रिजर्व बैंक की) इनके बढ़ने से रिजर्व मुद्रा बढ़ती है।

(vi) सरकार की जनता के प्रति करेंसी देयताएँ-सरकार एक के नोट व सिक्के तथा छोटे सिक्के जारी करती है जिससे रिजर्व मुद्रा का विस्तार होता है।

1 Report on Currency and Finance 1992 93 Vol II p 52, स्मरण रहे कि बैंक-रिजर्व में बैंकों के पास नकद-राशियां तथा रिजर्व बैंक के पास बैंकों की जमा राशियां (स्तम्भ संख्या 3, व 4) शामिल होती हैं।

(vii) **रिजर्व बैंक की शुद्ध गैर-मौद्रिक देयताएँ (इसमें भारतीय रिजर्व बैंक के स्वयं के कोष जैसे पूँजी + रिजर्व + राष्ट्रीय कोषों में इसके अंशदान की राशियाँ** एवं जनता की अनिवार्य जमाशियाँ (Compulsory deposits) शामिल होती हैं।

रिजर्व मुद्रा का स्रोतों के अनुसार अनुमान लगाने का सूत्र

रिजर्व मुद्रा = (i) + (ii) + (iii) + (iv) + (v) + (vi) - (vii), अर्थात् यह (i) से (vi) के जोड़ में से (vii) को घटाने से प्राप्त परिणाम के बराबर होती है। भारतीय रिजर्व बैंक की शुद्ध गैर-मौद्रिक देयताओं को इसलिये घटाया जाता है कि इनकी मात्रा के अधिक होने पर रिजर्व बैंक को नई रिजर्व मुद्रा के सृजन पर कम मात्रा में निर्भर करना पड़ता है। इसलिए (vii) मद ऋणात्मक (Negative) रूप मे दिखायी जाती है।

निम्न तालिका मे रिजर्व मुद्रा की मात्रा स्रोतो (Sources) के अनुसार दर्शायी गई है।[1]

रिजर्व बैंक के दावे(Claims of RBI on) (करोड़ रु में)

अन्तिम शुक्रवार बकाया राशि	सरकार (शुद्ध)	व्यापारिक व सहकारी बैंक	नाबार्ड	व्यापारिक क्षेत्र	रिजर्व बैंक की शुद्ध विदेशी विनिमय परिसम्पत्तियाँ	सरकार की करेंसी देयताएँ (जनता के प्रति)	रिजर्व बैंक की शुद्ध गैर-मौद्रिक देयताएँ	रिजर्व मुद्रा (RM) (i) से (vi) का जोड़ ( ) vii
	(i)	(ii)	(iii)	(iv)	(v)	(vi)	(vii)	(viii)
1970-71	4000	642	-	132	530	384	866	4822
1992-93	98,449	5,555	4,330	6,220	22,647	1,798	28,056	1,10,943

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि रिजर्व मुद्रा का प्रमुख स्रोत रिजर्व बैंक के द्वारा सरकार को दी जाने वाली शुद्ध उधार की राशि होती है। 1992-93 में यह रिजर्व मुद्रा का 88 7% थी। अत रिजर्व मुद्रा के सृजन में भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा सरकार को दी जाने वाली शुद्ध उधार की राशि प्रमुख स्थान रखती है।

इस प्रकार हमने मुद्रा का विवेचन दो प्रकार से किया है, पहला इसके विभिन्न अंगों के अनुसार, दूसरा इसके उत्पन्न होने के विभिन्न स्रोतों के अनुसार। दोनों के परिणाम एक से होते हैं।

मुद्रा की पूर्ति M_1 व M_3 का रिजर्व मुद्रा से सम्बन्ध

मुद्रा की पूर्ति (M_1 अथवा M_3) व रिजर्व मुद्रा (RM) का सम्बन्ध मुद्रा-गुणक (Money multiplier) की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

1 RBI Report on Currency and Finance, Vol II, 1992 93 p 52

M_1 को लेने पर मुद्रा-गुणक का सूत्र M_1/RM होगा और M_3 को लेने पर मुद्रा-गुणक= M_3/RM होगा। इसलिए मुद्रा की पूर्ति पर दो तत्वो या कारको का प्रभाव पड़ता है, पहला रिजर्व मुद्रा का तथा दूसरा मुद्रा-गुणक का। यदि मुद्रा-गुणक को m से सूचित करे तो निम्न सबध स्थापित होगे,

$m_1=M_1/RM$ जिससे $M_1=m_1 \times RM$

$m_3=M_3/RM$ जिससे $M_3=m_3 \times RM$

यहा m_1 मुद्रा-गुणक M_1 मुद्रा की पूर्ति के सदर्भ मे है, तथा m_3 मुद्रा-गुणक M_3 मुद्रा की पूर्ति के सदर्भ मे है।

स्मरण रहे कि M_1 व M_3 मुद्रा की पूर्तियो के लिए मुद्रा-गुणक की मात्राएँ अलग अलग होगी। उदाहरण के लिए (वर्ष मे अप्रेल-मार्च के महीनो के सभी रिपोर्टिंग शुक्रवारो के औसत लेने पर) 1991 92 मे मुद्रा गुणक m_1 की मात्रा 1 342 रही थी, तथा मुद्रा गुणक m_3 की मात्रा 3 353 रही थी। इसका अर्थ यह हुआ कि M_1 के सन्दर्भ मे मुद्रा गुणक 1 3 के समीप तथा M_3 के सन्दर्भ मे 3 4 के समीप पाया गया था।

अत अब हमे मुद्रा के सृजन को समझने के लिए मुद्रा- गुणक (Money multiplier) का अध्ययन करना चाहिए। **यहा पर प्रारम्भिक विद्यार्थियो के लिए इसका सरलतम रूप प्रस्तुत किया जाता है। उच्चतर अध्ययन में मुद्रा-गुणक के अधिक विकसित रूप प्रस्तुत किये जाते हैं।**

मुद्रा-गुणक का सरल रूप[1]

मुद्रा-गुणक के सरलतम रूप मे हम मान लेते है कि मुद्रा की पूर्ति मे करेसी और माग-जमाएँ ही होती है, अर्थात् **अवधि-जमाएँ (Time-Deposits) नहीं होती हैं।** दूसरी मान्यता यह है कि **बैंक कानूनी रिजर्व से अधिक मात्रा नहीं रखते हैं** (no excess legal reserves)। यदि उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा अथवा मौद्रिक आधार को H से सूचित करे तो यह व्यापारिक बैको के कुल रिजर्व (R) व प्रचलन मे करेसी (C) के जोड़ के बराबर होगा।

अत, $H=R+C$ (1)

यदि माग-जमाओ पर RR_d कानूनी रिजर्व माने जाएँ और r माग जमाओ पर औसत कानूनी रिजर्व आवश्यकता हो तो

$RR_d= rDD$ होगा (2)

लेकिन अतिरिक्त कानूनी रिजर्व न होने पर, $R=RR_d$ होगा।

अत $R=RR_d=rDD$ होगा।

$\therefore H= rDD+C$ (3)

समीकरण (3) यह स्पष्ट करता है कि उच्च शक्ति-प्राप्त मुद्रा अथवा मौद्रिक आधार मौद्रिक आधिकारी निर्धारित करते है, लेकिन इसकी बनावट पर जनता का भी प्रभाव पड़ता है।

समीकरण (3) से $rDD = H \ C$

$\therefore DD = (1/r) (H \ C)$ .. (4)

1 **Raghbendra Jha Contemporary Macroeconomic Theory and Policy, first edition, 1991 pp 184-186.**

मांग जमाओं के परिवर्तनों को मौद्रिक आधार (H) व करेंसी (C) के परिवर्तनों से सम्बद्ध करने पर समीकरण (4) से

$\Delta DD = \frac{1}{r} (\Delta H - \Delta C)$ आयेगा .. (5)

अब हम करेंसी व मांग-जमा का अनुपात s मान लेते हैं, अर्थात् बैंक में जो प्रत्येक रुपया जमा कराया जाता है उसका *s* अंश लोग करेंसी के रूप में रखना चाहते हैं।

$C = s\,DD$ होगा, अथवा $\Delta C = s \Delta DD$ होगा।

समीकरण (3) इस प्रकार लिखा जा सकता है:

$$\Delta H = r \Delta DD + \Delta C$$

$= r \Delta DD + s \Delta DD$ ($\because \Delta C = s \Delta DD$ होता है)

$$= (r+s) \Delta DD$$

अथवा $\Delta DD = \left(\frac{1}{r+s}\right) \Delta H$ होगा (6)

पुन $\Delta C = s \Delta DD$ से प्रारम्भ करने पर, समीकरण (5) के अनुसार,

$\Delta C = s \left(\frac{1}{r+s}\right) \Delta H$ होगा

$= \left(\frac{s}{r+s}\right) \Delta H$ (7)

मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि करेंसी की वृद्धि व मांग-जमाओं की वृद्धि के बराबर होती है अर्थात्

$\Delta M = \Delta C + \Delta DD$ ($M = C + DD$)

समीकरण (6) व (7) के आधार पर

$\Delta M = \left(\frac{s}{r+s}\right) \Delta H + \left(\frac{1}{r+s}\right) \Delta H$ होगा (8)

$$= \left(\frac{1+s}{r+s}\right) \Delta H$$

इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति M व उच्च शक्ति प्राप्त या मौद्रिक आधार H में परस्पर सम्बन्ध $\frac{1+s}{r+s}$ के माध्यम से स्थापित होता है। अत इसे मुद्रा-गुणक (money multiplier) कहा जाता है। समीकरण (8) में इसके दो भाग भी स्पष्ट हो जाते हैं। $\frac{s}{r+s}$ को करेंसी गुणक (currency multiplier) कह सकते हैं, तथा $\frac{1}{r+s}$ को *मांग-जमा गुणक* कह सकते हैं। ये परिणाम बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें *r* व *s* में मूल्य प्रतिस्थापित करके जमा गुणक व मुद्रा गुणक निकाले जा सकते हैं।

मान लीजिए व्यापारिक बैंकों को अपनी मांग जमाओं का 10% (अथवा 0 1) वैधानिक रिजर्व के रूप में रखना होता है तथा करेंसी-मांग जमा अनुपात 50% (अथवा 0.5) होता है तो

जमा गुणक $= \frac{1}{r+s} = \frac{1}{0\,1 + 0\,5} = \frac{1}{0\,6} = \frac{5}{3} = 1\,667$ होगा।

तथा मुद्रा-गुणक $= \frac{1+s}{r+s} = \frac{1+0.5}{0.1+0.5} = \frac{1.5}{0.6} = \frac{15}{6} = 2.5$ होगा।

ऊपर हमने मुद्रा-गुणक प्राप्त करने की जिस विधि का उपयोग किया है उससे जमा-गुणक (deposit multiplier) भी प्राप्त हो जाता है और इन दोनों की परस्पर कड़ी भी स्पष्ट हो जाती है।

मौद्रिक विश्लेषण में मुद्रा-गुणक व जमा-गुणक दोनों का महत्व होता है।

प्रश्न—यदि व्यापारिक बैंकों की माग जमाओं के पीछे औसत कानूनी रिजर्व की आवश्यकता 15% हो, तथा करेंसी का मांग-जमा से अनुपात 60% हो, तो मुद्रा-गुणक व जमा गुणक ज्ञात करें। साथ में यह मान्यता भी स्वीकार की जाती है कि अवधि-जमाएँ शून्य है तथा, अतिरिक्त कानूनी रिजर्व नहीं रखे जाते।

उत्तर—मुद्रा-गुणक $= \frac{1+s}{r+s} = \frac{1+0.6}{0.15+0.6} = \frac{1.6}{0.75} = 2.133$

जमा-गुणक $= \frac{1}{r+s} = \frac{1}{0.15+0.6} = \frac{1}{0.75} = \frac{4}{3} = 1.333$

हम अपनी मान्यताओं में परिवर्तन करके अन्य प्रकार का मुद्रा-गुणक निकाल सकते हैं, जिसकी राशि पहले से भिन्न होगी। **प्रायः मांग-जमाओं के साथ अवधि-जमाओं को शामिल करके (लेकिन अतिरिक्त कानूनी रिजर्व शून्य मानकर) मुद्रा-गुणक निकाला जाता है। इसी प्रकार अवधि-जमाओं को शामिल करके तथा अतिरिक्त कानूनी रिजर्व (Excess legal reserves) को मानकर मुद्रा-गुणक निकाला जाता है।** मुद्रा गुणक के इन रूपों का अध्ययन उच्चतर पाठ्यक्रम में आवश्यक होता है, लेकिन इससे पूर्व उपर्युक्त सरल माडॅल पर पूरा अभ्यास हो जाना चाहिए। मुद्रा-गुणक के अध्ययन से मुद्रा की पूर्ति (M) व उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा (H) का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इसलिए मुद्रा की पूर्ति के विवेचन में मुद्रा-गुणक का उल्लेख किया जाता है। इससे M=mH की बात समझ में आ जाती है, जहां M= मुद्रा की पूर्ति, M= मुद्रा-गुणक तथा H= मौद्रिक आधार या उच्चशक्ति प्राप्त मुद्रा **या आधार-मुद्रा हैं।**

मुद्रा की मांग व मुद्रा की पूर्ति में संतुलन

मुद्रा की पूर्ति = मुद्रा की कुल मांग को लेकर हम आय का संतुलन निकाल सकते हैं। यहा पर इसका सरल विवेचन प्रस्तुत किया जाता है ताकि उच्चतर अध्ययन में आसानी होगी।

हम जानते हैं कि मुद्रा की मांग पर प्रमुखतया दो तत्वों का प्रभाव पड़ता है, प्रथम, आमदनी का और द्वितीय ब्याज की दर का। केन्स के अनुसार मुद्रा की सौदों या लेन-देन की मांग आमदनी पर निर्भर करती है और मुद्रा की परिसम्पत्ति-मांग (asset-demand) या सट्टे के प्रयोजन की मांग ब्याज की दर पर निर्भर करती है। इन दोनों को जोड़कर मुद्रा की कुल मांग निकाली जाती है। उसे मुद्रा की पूर्ति के बराबर रख कर ब्याज की विभिन्न दरों पर संतुलन आय का अनुमान लगाया जा सकता है।

उदाहरण 1 मान लीजिए मुद्रा की पूर्ति 200 करोड रुपये है और मुद्रा की लेन-देन की माग $M^d_1 = 0.10Y$ है और मुद्रा की सट्टे की मांग $M^d_2 = 80-500i$ है, जहां Y

आय को तथा i ब्याज की दर को सूचित करते हैं।10% ब्याज की दर पर आय का संतुलन स्तर ज्ञात कीजिए।

उत्तर — संतुलन की स्थिति में मुद्रा की पूर्ति - मुद्रा की कुल मांग अर्थात्

$M^s = M^d_1 + M^d_2$

$200 = 0.10\,Y + 80 - 500i$

$500i + 200 - 80 = 0.10\,Y$

अथवा $(500 \times .10) + 120 = 0.10\,Y$ या $170 = 0.10Y$

$Y = 170 \times 10 = 1700$ करोड़ रुपये।

इस प्रकार यहां मुद्रा की पूर्ति मुद्रा की मांग व ब्याज (i) दर दिये होने पर संतुलन आय ज्ञात की गयी है।

उदाहरण 2— मान लीजिए मुद्रा की पूर्ति 100 करोड़ रु है और $M^d_1 = 0.05\,Y$ है और $M^d_2 = 40 - 500i$ है और संतुलन स्तर की आमदनी 2700 करोड़ रु है तो ब्याज की दर ज्ञात कीजिए।

उत्तर—मुद्रा की पूर्ति = मुद्रा की कुल मांग (संतुलन में)

$100 = 0.05Y + 40 - 500i$

$500i = (0.05 \times 2700) - 60$

$= 135 - 60 = 75$

$i = \frac{75}{500} \times 100 = 15\%$

अतः ब्याज की दर 15% होगी

इस प्रकार यहां मुद्रा की पूर्ति मुद्रा की मांग व आमदनी के दिये हुए होने पर ब्याज की दर ज्ञात की गयी है।

प्रश्न

1. मुद्रा की मांग किन तत्वों पर निर्भर करती है ? संक्षेप में फिशर का मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त लिखिये। (Raj Iyr 1992)
2. भारत के संदर्भ में मुद्रा की पूर्ति की अवधारणाओं M_1 M_2 M_3 M_4 को स्पष्ट कीजिए। मुद्रा की पूर्ति (M) तथा उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा (H) को स्पष्ट कीजिये। (Raj Iyr 1993)
3. निम्नांकित पर लगभग 100 शब्दों में संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये -
   (i) क्लासिकल अर्थशास्त्रियों तथा केन्ज की मुद्रा की मांग सम्बन्धित अवधारणाओं में क्या अन्तर है ?
   (ii) मुद्रा की पूर्ति सम्बन्धी M_1 तथा M_3 अवधारणाओं को भारतीय सन्दर्भ में स्पष्ट कीजिये। (Ajmer Iyr 1993)
4. मुद्रा की मांग क्यों की जाती है ? मुद्रा की मांग के विभिन्न उद्देश्यों को स्पष्ट कीजिए। (Ajmer Iyr 1994)
5. रिजर्व मुद्रा किसे कहते हैं ? इसके विभिन्न अंग कौन से होते हैं ? रिजर्व मुद्रा की अवधारणा का मौद्रिक विश्लेषण में क्या महत्त्व है ?
6. मुद्रा गुणक किसे कहते हैं ? यह कैसे ज्ञात किया जाता है ? इसका मौद्रिक

विश्लेषण में क्या योगदान है ? समझाकर लिखिए।

7 यदि अवधि जमाएँ शून्य हों तथा अतिरिक्त कानूनी रिजर्व न हों तो कानूनी रिजर्व अनुपात के 10% होने व करेंसी माग जमा अनुपात के 55% होने पर मुद्रा गुणक ज्ञात करें। इस स्थिति में जमा गुणक का भी आकलन करें।

मुद्रा गुणक = 2.385
जमा गुणक = 1 5381

8 यदि मुद्रा की पूर्ति 200 करोड़ रु हो, मुद्रा की लेन-देन की माग M^d_t =0 10Y तथा मुद्रा की परिसम्पत्ति माग M^d_a =80-500ı हो तो ब्याज की 15% दर पर सतुलन-आय ज्ञात कीजिए।
[Y= 1950 करोड़ रु]

9 यदि पूर्व प्रश्न मे ब्याज की दर 10% होती तो सतुलन-आय अधिक होती या कम ?

[Y= 1700 करोड़ रु, पहले से कम]

10 सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–

(ı) मुद्रा की माग के तीन प्रयोजन,
(ıı) मिल्टन फ्रीडमैन के अनुसार मुद्रा की माग को प्रभावित करने वाले घटक,
(ııı) मुद्रा की माग के केम्ब्रिज समीकरण मे K का अर्थ,
(ıv) भारत मे M_1 व M_3 मे अतर,
(v) मुद्रा गुणक का अर्थ व महत्व,
(vı) भारत मे रिजर्व मुद्रा के स्रोत (sources),
(vıı) भारत मे रिजर्व मुद्रा के अग (components),
(vııı) बैक रिजर्व का अर्थ,
(ıx) माग जमाएँ।

11 मुद्रा की माग एव मुद्रा की पूर्ति की अवधारणाओ से आप क्या समझते हैं ?
(Ajmer I yr 1992)

11

मुद्रा की पूर्ति, उत्पत्ति व कीमतों में परस्पर सम्बन्ध एवं मुद्रा का बाह्य मूल्य

(Relation between Money Supply, output and Prices And The External Value of Money)

अर्थशास्त्रियों में मुद्रा की पूर्ति, उत्पत्ति व कीमतों के सम्बन्ध को लेकर काफी विवाद रहा है। मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त के समर्थकों ने कीमतों पर मुख्य प्रभाव मुद्रा की पूर्ति का माना है। उनके अनुसार मुद्रा की पूर्ति के परिवर्तन मूल्य-स्तर को प्रभावित करते हैं। केन्स ने आय-व्यय दृष्टिकोण, अथवा बचत-विनियोग दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है जिसमें *आय के परिवर्तनों का महत्त्व स्वीकार किया गया है।* इस अध्याय में हम मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त व आधुनिक सिद्धान्त का विवेचन करेंगे।

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money)—

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने कीमत-स्तर के परिवर्तनों के लिए मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों को कारण माना था। यही नहीं बल्कि मुद्रा-परिमाण-सिद्धान्त अपने कठोर रूप में तो *यह कहता है कि जिस अनुपात में मुद्रा की मात्रा बढ़ती है उसी* अनुपात में कीमत-स्तर बढ़ता है। **यदि मुद्रा की मात्रा दुगुनी कर दी जायगी तो कीमत-स्तर भी दुगुना हो जायगा (अर्थात् मुद्रा का मूल्य आधा हो जायगा)। इसके विपरीत यदि मुद्रा की मात्रा आधी कर दी जायगी तो कीमत-स्तर भी आधा हो जायगा (अर्थात् मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जायगा)।** इस प्रकार *क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने कीमत-स्तर के परिवर्तन का कारण मुद्रा की मात्रा के परिवर्तन को माना था।*

अपने कठोर रूप में, मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त निम्न तालिका की सहायता से व्यक्त किया जा सकता है—

विभिन्न स्थितियां	मुद्रा की मात्रा (Quantity of Money)	सामान्य मूल्य-स्तर (General Price Level)	मुद्रा का मूल्य (Value of Money)
(1)	दुगुनी	दुगुना	आधा
(2)	आधी	आधा	दुगुना
(3)	चौगुनी	चौगुना	चौथाया
(4)	चौथाई	चौथाया	चौगुना

मौद्रिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त सदैव लोकप्रिय रहा है।

मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त के दो रूप हैं जिन्हें क्रमश सौदों का दृष्टिकोण [1] (transactions approach) तथा नकद-बकाया दृष्टिकोण (cash balance approach) कहा गया है। सौदों का दृष्टिकोण मुख्यतया इरविंग फिशर (Irving Fisher) के नाम से जुड़ा हुआ है, जबकि नकद-बकाया दृष्टिकोण केम्ब्रिज विचारधारा से जुड़ा हुआ है जिसे मार्शल, पीगू, रोबर्टसन तथा केन्स (शुरू में) ने प्रस्तुत किया था। हम इन दोनों का वर्णन नीचे देते हैं।

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त सौदों का दृष्टिकोण (The Quantity Theory : Transactions Approach)—

परिमाण-सिद्धान्त के इस रूप का समर्थन ह्यूम एडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो आदि ने किया था, लेकिन इसका सबसे अच्छा व विस्तृत विवेचन इरविंग फिशर ने अपनी पुस्तक The Purchasing Power of Money में किया है। इसलिए मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त का विशेष सम्बन्ध प्राय फिशर के विचारों से ही किया जाता है।

फिशर का समीकरण - फिशर ने मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त के निम्न सूत्र का उपयोग किया था। $MV + M^1V^1 = PT$, अथवा $P = \frac{MV + M^1V^1}{T}$

इस सूत्र में M करेंसी (सिक्के व पत्र-मुद्रा) की वह मात्रा है जो बैंकों व केन्द्रीय बैंक के बाहर होती है, और वस्तुओं, सेवाओं, भूमि व प्रतिभूतियों आदि खरीदने के लिए उपलब्ध होती है।[2] V मुद्रा का प्रचलन-वेग अथवा संचलन वेग (Velocity of Circulation of Money) है। **इसे मुद्रा का आय-प्रचलन-वेग** (Income Velocity of Money) **भी कहते हैं।* मुद्रा की एक इकाई एक वर्ष में औसत रूप से जितने हाथों में से गुजरती है उसे मुद्रा का आय प्रचलन-वेग कहते हैं।** मान लीजिए, मुद्रा की एक इकाई एक वर्ष में दस हाथों में से गुजरती है तो V = 10 होगा। हम आगे चलकर V को प्रभावित करने वाले तत्त्वों का उल्लेख करेंगे। यह भारत में 1992 93 में संकीर्ण-मुद्रा (M_1) के संदर्भ में लगभग 5 8 तथा व्यापक-मुद्रा (M_3) के संदर्भ में लगभग 2 रही थी।[3]

---

1. Transactions approach को व्यापार या लेन-देन का दृष्टिकोण भी कह सकते हैं।

2 M stands for the average amount of pocket book money outside the banks and the central banks available to be spent for goods, services, land and securities of various kinds.

- Hiram L Jome, **Principles of Money And Banking**, 1957, p 440

* एक देश मे मुद्रा का आय प्रचलन-वेग (Income-Velocity of Money) निकालने के लिए वहाँ की सकल घरेलू उत्पत्ति (GDP) (प्रचलित मूल्यो पर) मे संकीर्ण-मुद्रा (narrow money), अर्थात् (M_1) का भाग देना होगा। उदाहरण के लिए, भारत में 1992 93 में प्रचलित मूल्यों पर GDP 7,03,000 करोड रुपये थी (औसत) एव उसी वर्ष जनता की पास M_1 = 1,20,182 करोड रुपये थी। अत मुद्रा का आय प्रचलन वेग 7,03,000/1,20,182 = 5 849 था। यह 1987 88 में 6 282 रहा था। इस प्रकार मुद्रा के आय प्रचलन वेग में थोडी कमी हुई है।

---

3 Report on Currency and Finance 1992 93 Vol I p 127

सूत्र में M^1 साख-मुद्रा या मांग-जमाराशियों को सूचित करता है। ये जमाएं भी व्यय की जा सकती हैं, और कीमतों को प्रभावित करती हैं। V^1 इन जमा-राशियों या साख-मुद्रा का एक वर्ष में प्रचलन-वेग बतलाता है। कल्पना करें कि $M = 200$ रुपये, $V = 10, M^1 = 900$ रुपये एवं $V^1 = 20$ है तो देश में कुल क्रय-शक्ति (total purchasing power) अथवा मुद्रा की पूर्ति की मात्रा $= (200 \times 10) + (900 \times 20) = 2000 + 18{,}000 = 20{,}000$ रुपये होगी। इस प्रकार सूत्र में $MV + M^1V^1$ की मात्रा मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति को सूचित करती है।

PT मुद्रा की माँग (demand for money) का द्योतक है। यह मांग का द्योतक क्यों है, क्योंकि P= सामान्य कीमत-स्तर होती है और T= वस्तुओं व सेवाओं आदि के सौदों की मात्रा, अथवा वर्ष में निर्मित वस्तुओं, सेवाओं, भूमि व प्रतिभूतियों की कुल मात्रा का सूचक होती है। इस प्रकार सौदों की मात्रा × कीमत = मुद्रा की मांग होती है।

अत फिशर के समीकरण में एक तरफ मुद्रा की पूर्ति $(MV + M^1V^1)$ होती है, और दूसरी तरफ मुद्रा की मांग (PT) होती है, और सन्तुलन $MV + M^1V^1 = PT$, अर्थात् मुद्रा की पूर्ति = मुद्रा की मांग होती है। इस सूत्र के अनुसार—

$$P = \frac{MV + M^1V^1}{T} \text{ होगा।}$$

समीकरण में V, V^1 की मात्राएं तथा M व M^1 का आनुपातिक सम्बन्ध व T को स्थिर मान लेने पर यह कहा जा सकता है कि P में परिवर्तन M के अनुसार ही होंगे। यदि M दुगुना तो P दुगुना और यदि M चौगुना तो P चौगुना हो जायगा।

यह निम्न चित्र की सहायता से समझाया जा सकता है —

मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त का प्रथम चित्र
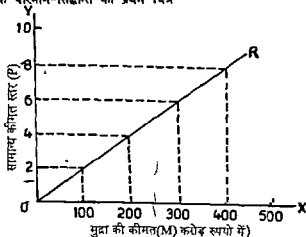
चित्र —1 मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त में M और P का प्रत्यक्ष व आनुपातिक सम्बन्ध

चित्र में OX-अक्ष पर मुद्रा की मात्रा (M) मापी गयी है और OY-अक्ष पर सामान्य कीमत-स्तर (P) मापा गया है। OR सरल रेखा M और P के सम्बन्ध को बतलाती है। M के 100 से 200 करोड़ रुपये हो जाने पर P=2 से 4 हो जाता है।* M के 100 से 400 करोड़ रुपये हो जाने पर P=2 से 8 हो जाता है। इस प्रकार $P = f(M)$, अर्थात् P (कीमत-स्तर), M (मुद्रा की मात्रा) का फलन (function) होता है। अत P और M का परस्पर सम्बन्ध होता है, और M की मात्रा P की मात्रा को निर्धारित करती है। दूसरे शब्दों में P की मात्रा M की मात्रा पर निर्भर करती है।

मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त का द्वितीय चित्र —

पहले कहा जा चुका है कि P के परिवर्तन मुद्रा के मूल्य को सूचित करते हैं। P के दुगुना होने पर मुद्रा का मूल्य आधा और P के आधा हो जाने पर मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जाता है। मुद्रा की मात्रा के दुगुना हो जाने से P दुगुना हो जायेगा, लेकिन मुद्रा का मूल्य आधा हो जायेगा। इसी प्रकार मुद्रा की मात्रा के चौगुना हो जाने से मुद्रा का मूल्य चौथाया हो जायेगा। यह बात चित्र-2 से भी स्पष्ट हो जायेगी।
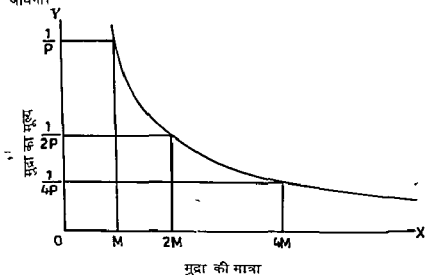
चित्र -2
मुद्रा की मात्रा व मुद्रा के मूल्य का सम्बन्ध

---

*स्मरण रहे कि OY-अक्ष पर सामान्य कीमत-स्तर मापा जाता है, इसलिए इस पर 2, 4, 6 आदि अंकित किये गये हैं। इस पर 100%, 200%, 400% आदि अंकित करना गलत व भ्रमात्मक है, जैसा कि कुछ पुस्तकों में देखने को मिला है। अत पाठक आवश्यक सावधानी बरतें।

चित्र 2 में OX-अक्ष पर मुद्रा की मात्रा व OY-अक्ष पर मुद्रा का मूल्य मापा गया है। M से बढ़कर 2M हो जाने से मुद्रा का मूल्य $\frac{1}{P}$ घट कर $\frac{1}{2P}$ हो जायेगा और M के बढ़कर 4M के हो जाने पर मुद्रा का मूल्य $\frac{1}{4P}$ हो जायेगा। सम्बन्धित बिन्दुओं को रेखाचित्र पर दिखलाने से जो वक्र बनेगा उसे चित्र 2 में प्रस्तुत किया गया है। यह माँग-वक्र की भाँति नीचे की ओर जाता है। यह एक आयताकार हाइपरबोला (rectangular hyperbola) कहलाता है। इसके प्रत्येक बिन्दु पर कुल क्षेत्र समान (total area constant) रहता है, जैसे M बिन्दु पर आयताकार का कुल क्षेत्र $M \times \frac{1}{P} = \frac{M}{P}$ होगा, तथा 2M पर $2M \times \frac{1}{2P} = \frac{M}{P}$ होगा, इस प्रकार अन्य सभी आयताकारों के कुल क्षेत्र भी समान होंगे।

फिशर के सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए संख्यात्मक उदाहरण :—

मान लीजिए देश में वर्ष में $M = 200$ रुपया

$$V = 10$$
$$M^1 = 900$$
$$V^1 = 20$$

$T = 20{,}000$ रु है तो M के 400 हो जाने से P भी दुगुना हो जायेगा।

$$P = \frac{MV + M^1V^1}{T} = \frac{(200 \times 10) + (900 \times 20)}{20000} = \frac{20000 \text{ रु}}{20000} = 1 \text{ रु}$$

M के 200 से बढ़कर 400 (दुगुना) होने पर

$$P = \frac{(400 \times 10) + (1800 \times 20)}{20000} = \frac{(4000 + 36000) \text{ रु}}{20000}$$
$$= \frac{40000 \text{ रु}}{20000} = 2 \text{ रु}$$

इस प्रकार दी हुई मान्यताओं के अनुसार, M के दुगुना होने पर P भी दुगुना हो जायेगा और मुद्रा का मूल्य पहले से आधा हो जायेगा।

फिशर ने M व M^1 में आनुपातिक परिवर्तन माना है। जब M बढ़ता है तो इसकी कुछ मात्रा बैंकों में जमा करायी जाती है, जिसके आधार पर व्यापारिक बैंक साख-सृजन करते हैं। इस प्रकार दीर्घकाल में M^1 में M के अनुसार बदलने की *प्रवृत्ति पायी जाती है। M व M^1 का अनुपात स्थिर इसलिए रहता है कि* साख-सृजन (M^1) बैंकों में नकद-रिजर्व अनुपात (cash-reserve ratio) पर निर्भर करता है जिसे सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक निर्धारित करते हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट होना आवश्यक है कि $M = 100$ तथा रिजर्व-अनुपात के 20% होने पर नई साख की मात्रा $M^1 = 80 \times 5 = 400$ इकाई होगी, इसलिए M व M^1 का अनुपात 1 : 4

हुआ। अब M=200 तथा रिजर्व अनुपात 20% होने पर नई साख की मात्रा M^1 = 160×5=800 इकाई होगी। पुन M व M^1 का अनुपात 1 4 ही रहा।

मुद्रा के प्रचलन-वेग (V) को प्रभावित करने वाले तत्त्व (Factors Affecting Velocity of Circulation of Money) — मुद्रा के प्रचलन-वेग अथवा आय प्रचलन वेग पर कई तत्त्वों का प्रभाव पड़ता है। इनमें से कुछ तत्त्वों का वर्णन नीचे किया जाता है —

(1) भुगतान की अवधि— सर्वप्रथम इस पर भुगतान की अवधि का प्रभाव पड़ता है। मान लीजिए मासिक भुगतान मिलता है तो V=12 होगा यदि साप्ताहिक भुगतान कर दिया जाय तो V=52 हो जायेगा। इस प्रकार जितनी जल्दी भुगतान किया जायगा समाज में V की मात्रा उतनी ही अधिक होगी। यदि प्रतिदिन भुगतान होने लगे तो V=365 हो जायेगा।

(2) आर्थिक तेजी-मन्दी का प्रभाव— आर्थिक तेजी के समय V अधिक और आर्थिक मन्दी के समय यह कम होता है। जब व्यवसाय तेज गति से होता है तो मुद्रा अधिक हाथों में से गुजरती है। जर्मनी में 1923 की भीषण मुद्रा-स्फीति के समय मजदूर मजदूरी मिलते ही फैक्टरी के दरवाजे पर आ जाते थे जहाँ वे अपने परिवार के सदस्यों को मुद्रा राशि व्यय करने के लिए दे देते थे। परिवार के सदस्य तुरन्त मुद्रा लेकर उसे व्यय करने के लिए बाजार में चले जाते थे। ऐसी स्थिति में V बहुत ऊँचा हो गया था। मुद्रा प्राप्त होते ही वह खर्च करदी जाती थी क्योंकि मुद्रा-स्फीति अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुकी थी। आर्थिक मन्दी के समय V भी मन्द पड़ जाता है। 1930 से प्रारम्भ होने वाली दशाब्दी में यह काफी नीचा हो गया था।

(3) व्यापारियों से उधार की सुविधा— व्यापारियों से उधार की सुविधा मिलने पर मुद्रा का प्रचलन वेग बढ़ता है क्योंकि लोग अपने पास नकद रखने की अधिक परवाह नहीं करते और मुद्रा को व्यय करते जाते हैं। यदि उधार की सुविधा कम मिलती है तो लोगों को नगद राशि अधिक रखनी पड़ती है जिससे V कम हो जाता है।

(4) आर्थिक विकास की अवस्था— *आर्थिक विकास होने पर* V की मात्रा बढ़ती है और पिछड़े हुए समाज में यह नीची रहती है। अत एक देश के आर्थिक विकास की वर्तमान अवस्था को देखकर उनमें पायी जाने वाली V की मात्रा का *अनुमान लगाया जा सकता है।*

(5) लोगों की तरलता-पसंदगी या नकद-राशि रखने की इच्छा— इसका भी V पर प्रभाव पड़ता है। किसी कारण से यदि लोग करेंसी या मुद्रा अपने पास ज्यादा मात्रा में रखना चाहते हैं तो V की मात्रा कम हो जाती है। यदि किसी कारण से तरलता पसंदगी घटती है तो V की मात्रा बढ़ जाती है।

(6) बैंकिंग की सुविधाएँ— बैंकों का विस्तार होने से V की मात्रा बढ़ेगी क्योंकि इससे, बैंकों से मिलने वाले कर्ज की सुविधाएँ बढ़ जायेंगी। यदि बैंकिंग

प्रणाली अधिक कार्यकुशल हो जाती है तो भी V की मात्रा बढ़ती है, क्योंकि बैंक में रुपया शीघ्र एकत्र हो जाता है और वह काम में लिया जा सकता है।

(7) *ब्याज की दर व मुद्रा का प्रचलन-वेग*— *समाज में प्रचलित ब्याज की* दर V की मात्रा को प्रभावित करती है, लेकिन इसका प्रभाव कई प्रकार का हो सकता है जैसे ब्याज की दर के कम होने पर लोग मुद्रा अपने पास पड़े रहने दे सकते हैं, जिससे V की मात्रा कम हो सकती है। दूसरा प्रभाव इसके विपरीत भी हो सकता है। कम ब्याज की दर पर प्राय विनियोग या पूँजी-निवेश अधिक होता है, जिससे V की मात्रा में बढ़ने की प्रवृत्ति पायी जा सकती है। इस प्रकार ब्याज की दर एक प्रकार से मुद्रा के प्रचलन-वेग को घटाती है और दूसरी प्रकार से बढ़ाती है।

(8) मुद्रा की मात्रा— मुद्रा का प्रचलन वेग स्वयं मुद्रा की मात्रा पर निर्भर करता है। यदि किसी समय मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से कम होती है तो प्रचलन-वेग अधिक होगा। इसके विपरीत यदि मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से अधिक होती है तो प्रचलन-वेग घट जाता है।

(9) उपभोग की प्रवृत्ति— यदि उपभोक्ता की प्रवृत्ति अधिक होती है तो मुद्रा का प्रचलन-वेग अधिक होगा और इसके कम होने पर प्रचलन-वेग भी घट जायेगा।

(10) कीमतों की भावी सम्भावनाएँ—यदि भविष्य में कीमतों के बढ़ने की सम्भावनाएँ हैं तो V बढ़ेगा, क्योंकि लोग आज अपनी खरीद बढ़ा देंगे। यदि भविष्य में कीमतों के गिरने की आशा हो तो वर्तमान में V घट जायगा, क्योंकि लोग अपनी खरीद कम कर देंगे। इस प्रकार कीमतों के सम्बन्ध में भावी प्रत्याशाएँ भी V को प्रभावित करती हैं।

T पर व्यवसाय की कार्यकुशलता व समाज के ढांचे का प्रभाव—

परिमाण-सिद्धान्त के समर्थक कहते हैं कि M व M^1 एक साथ परिवर्तित होते हैं और V व V^1 स्थिर रहते हैं। लेकिन T, अर्थात् वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा पर मुद्रा की मात्रा का प्रभाव कम और अन्य तत्त्वों का प्रभाव अधिक पड़ता है। अन्य तत्त्व जो T को प्रभावित करते हैं वे इस प्रकार हैं व्यवसाय की कार्यकुशलता, जनसंख्या, लोगों की वस्तुओं को संग्रह करने की इच्छा, वस्तु-विनिमय की मात्रा, एकाधिकार, आदि। व्यवसाय की कार्यकुशलता के बढ़ने से T की मात्रा बढ़ती है। श्रम की पूर्ति के बढ़ने से, अप्रयुक्त आर्थिक साधनों की दशा में, उत्पादन बढ़ सकता है।

फिशर के समीकरण में V, V^1 व T की मात्राएं एवं M व M^1 के अनुपात को स्थिर मान लेने पर M और P ही बच जाते है। इसमें M सक्रिय रहता है, और P निष्क्रिय हो जाता है। इस प्रकार मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त में मुद्रा की मात्रा को सक्रिय व सर्वोपरि माना गया है।

मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त : नकद-बकाया दृष्टिकोण या केम्ब्रिज दृष्टिकोण (Quantity Theory Cash-Balance Approach or Cambridge Approach)

जैसा कि पहले कहा जा चुका है इसे केम्ब्रिज विचारधारा भी कहते हैं। परिमाण-सिद्धान्त के इस रूप का समर्थन मार्शल, पीगू, रोबर्टसन व स्वयं जे एम केन्स ने (शुरू में) किया था। इसमें मुद्रा की मांग (demand for money) पर अधिक बल दिया गया है। लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मुद्रा की मांग करते हैं। इस पर प्रारम्भिक चर्चा पिछले अध्याय में भी प्रस्तुत की जा चुकी है।

नकद बकाया दृष्टिकोण में मुद्रा की मांग व पूर्ति को समय के एक विशिष्ट बिन्दु (a particular point of time) **पर देखा जाता है, जब कि सौदों के दृष्टिकोण में मुद्रा की मांग व पूर्ति पर एक समयावधि** (a period of time) **में विचार किया जाता है। दूसरे शब्दों में, केम्ब्रिज विचारधारा में मुद्रा एक स्टॉक होती है, न कि प्रवाह। इन्होंने मुद्रा की मांग का भी फिशर से भिन्न अर्थ लगाया है। फिशर के अनुसार मुद्रा विनिमय का माध्यम** (a medium of exchange) **होती है। केम्ब्रिज विचारधारा के अनुसार लोग अपनी वास्तविक आय का कुछ भाग नकद रूप में रखने की इच्छा प्रकट करते हैं। इस प्रकार ये मुद्रा के मूल्य-संग्रह** (a store of value) **कार्य पर जोर देते हैं।** मुद्रा की मांग लोगों की तरलता पसन्दगी पर निर्भर करती है। लेकिन केम्ब्रिज दृष्टिकोण में *तरलता पसन्दगी के उद्देश्य में सट्टे का प्रयोजन (speculative motive) शामिल नहीं* किया गया था। इसमें सौदों का प्रयोजन व आकस्मिक घटना का प्रयोजन ही शामिल किये गये थे। **इस प्रकार केम्ब्रिज विचारधारा में मुद्रा की मांग, मुद्रा को रखने की मांग** *(demand to hold money)* **मानी गई है।** इस पर सौदों के लिए मुद्रा की मांग के अलावा व्यक्ति के पास धन (wealth) की मात्रा ब्याज की दर, भावी घटनाओं की प्रत्याशाएँ, आदि का भी प्रभाव पड़ता है।[1] **इस प्रकार फिशर की** *विचारधारा में तो मुद्रा का उपयोग केवल सौदों के विनिमय में किया जाता है,*

---

1 "The Cambridge approach of the theory of the demand for money amounts to saying that, if one looks at the problem of money holding in an economy from the point of view of individual choice-making behaviour, one will consider the convenience an individual gets for money holding for the making of transaction, his wealth, the rate of interest, the expectation he holds about the future course of events and so on, as being potentially important influences upon the demand for money."
David E W. Laidler, The Demand for Money : Theories and Evidence, First Indian Edition, 1972, p 49

जबकि कैम्ब्रिज विचारधारा में 'मुद्रा की माँग' शब्द को अधिक व्यापक रूप में देखा गया है। मुद्रा की मांग मुद्रा की वह राशि है जिसे लोग अपने पास रखना चाहते हैं। (*Want to hold*)। इसे वास्तविक आय के किसी अंश के रूप में व्यक्त किया जाता है—

हम नीचे पीगू व केन्स के समीकरण देकर केम्ब्रिज विचारधारा को स्पष्ट करते हैं।

(1) पीगू का समीकरण—पीगू के अनुसार

$P = \frac{M}{KR}$ होगा, जहाँ P= कीमत-स्तर,

M= मुद्रा का कुल स्टॉक,

R= किसी विशिष्ट वस्तु के रूप में समाज की **कुल वास्तविक आय** (*Total real income*)

K= कुल वास्तविक आय का वह भाग है जिसे जनता नकद-बकाया के रूप में अपने पास रखना चाहती है।

मान लीजिए—

M = 10,000 रुपये

R = 5,000 इकाई-वस्तुएँ

$K = \frac{1}{10}$

तो $P = \frac{10000}{\frac{1}{10} \times 5000} = \frac{10000}{500} = 20$ रु

K व R के स्थिर रहने पर M के दुगुना होने पर P दुगुना हो जायेगा।

पीगू ने अपने समीकरण में बैंक-जमाओं का समावेश करके इसे बढ़ा दिया है, जिसे उच्च अध्ययन में लिया जा सकता है।

(2) केन्स का समीकरण[1]—केन्स ने अपनी पुस्तक Tract on Monetary Reform में मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त का नकद बकाया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था।

प्रारम्भिक समीकरण इस प्रकार है—

$$n = pk$$

जहाँ n= प्रचलन में करेंसी की कुल मात्रा,

p= उपभोग्य वस्तुओं का कीमत-स्तर,

k= उपभोग की इकाइयों की वह संख्या जिसे लोग-मौद्रिक बकाया के रूप में अपने अधिकार में रखना चाहते हैं।

1. G. K. Shaw, An Introduction to the Theory of Macro-Economic Policy, 1971, pp. 32-33.

$\therefore P = \frac{n}{k}$; अत k के स्थिर रहने पर p में n के अनुसार परिवर्तन होंगे।

बैंक-मुद्रा को शामिल करने पर समीकरण इस प्रकार हो जायगा—

$$n = p\,(k + rk^1)$$

जहां k^1 उपभोग-इकाइयों की वह संख्या है जो बैंक-जमा के रूप में रखी जाती है और r बैंकों का रिजर्व-अनुपात है।

पुन k, k^1 व r के स्थिर रहने पर p में n के अनुपात में परिवर्तन होंगे।

संख्यात्मक उदाहरण —

मान लीजिए n = 300 रु

k = 25 उपभोग-इकाइयाँ

$r = \frac{1}{5}$

व $k^1 = 25$ उपभोग-इकाइयाँ हैं ताकि उपभोग-इकाइयों की कुल संख्या 50 हो जाती है जिस पर समाज अपना अधिकार रखना चाहता है।

उपर्युक्त समीकरण के अनुसार,

$$P = \frac{n}{k + rk^1}$$

$$= \frac{300}{25 + \frac{1}{5} \times 25} = \frac{300}{30} = 10 \text{ रुपये}$$

यदि मुद्रा के स्टॉक में 20% वृद्धि कर दी जाय तो n = 360 रु हो जायगा।

$\therefore p = \frac{360}{30} = 12$ रु होगा, अर्थात् p में भी 20% वृद्धि हो जायगी।

इस प्रकार केन्स का नकद बकाया समीकरण मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त को व्यक्त करता है।

स्मरण रहे कि केन्स ने उपभोग की समस्त वस्तुओं पर विचार किया है, जबकि पीगू ने एक विशिष्ट वस्तु ली है। दोनों में k बहुत महत्त्वपूर्ण है।

मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त की मान्यताएं (Assumptions)—

मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त बतलाता है कि मुद्रा की मात्रा के परिवर्तन कीमतों में समानुपातिक परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। लेकिन यह सम्बन्ध निम्न मान्यताओं पर आधारित है।

(i) **V व K स्थिर माने गये हैं** :—परिमाण-सिद्धान्त के सौदों के दृष्टिकोण में मुद्रा का प्रवचन-वेग V तथा नकद बकाया दृष्टिकोण में K स्थिर रहते हैं।

(ii) **मुद्रा की पूर्ति बाहर से दी हुई मानी गई है** :—मुद्रा की पूर्ति बाहर से दी हुई राशि होती है जिसे केन्द्रीय बैंक निश्चित करते हैं। बाह्य चल-राशि वह राशि होती है जो मॉडल में बाहर से दी हुई रहती है, और बाहरी अधिकारी हीं इसे परिवर्तित कर सकते हैं।

(iii) **पूर्ण रोजगार की मान्यता** :— यह सिद्धान्त पूर्ण रोजगार (*full employment*) को मानकर चलता है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार 'पूर्ण-रोजगार' की स्थिति अर्थव्यवस्था की एक स्वाभाविक अवस्था होती है, और उत्पादन की क्षमता स्थिर होती है। इस अवस्था से उतार-चढ़ाव अल्पकालिक होते हैं और अपने आप ठीक हो जाते हैं। कुल उत्पत्ति प्राय पूर्ण रोजगार की उत्पत्ति होती है। ऐसी स्थिति में समग्र मांग (aggregate demand) के बढ़ने से कुल उत्पत्ति नहीं बढ़ पाती। अत मांग के बढ़ने से कीमतें बढ़ जाती हैं, जिससे मौद्रिक रूप में कुल मॉग = कुल पूर्ति हो जाती है। यदि मॉग कम हो जाती तो कीमत-स्तर गिर जाता है और पुन कुल मॉग = कुल पूर्ति हो जाती है।

(iv) **मुद्रा की मांग का मुद्रा की पूर्ति के बराबर होना** :— यदि मुद्रा की पूर्ति इसकी मॉग से अधिक हो जाती है तो अतिरिक्त-मुद्रा वस्तुओं व सेवाओं पर व्यय की जाती है और ऐसा उस समय तक होता है तब तक की मुद्रा की रखी जाने वाली मात्रा केवल सौदों के लायक न रह जाय (परिमाण-सिद्धान्त के सौदों के दृष्टिकोण में)। इसके विपरीत यदि मुद्रा की पूर्ति इसकी मॉग से कम हो जाती है तो *लोग अपना व्यय कम कर देंगे और पुन सौदों के लायक* मुद्रा रखने के स्तर पर पहुंच जायेंगे। इस प्रकार मुद्रा की मॉग इसकी पूर्ति के बराबर हो जायगी।

मुद्रा की पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव (सिद्धान्त के सौदों के दृष्टिकोण में)

उपर्युक्त सरल मान्यताओं के आधार पर हम कह सकते है कि यदि मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है (सोने की नई खानों के ढूंढे जाने के कारण, अथवा अन्य कारणों से) तो फर्म व परिवार इसे व्यय करेंगे। **इससे पूर्ण रोजगार पर कुल मांग बढ़ जायेगी जो कीमतों को बढ़ा देगी।** कीमतों के बढ़ने पर सौदों के उद्देश्य के लिए अधिक मुद्रा की आवश्यकता होगी। अन्त में कीमतें इतनी बढ़ जायेंगी कि समस्त अतिरिक्त मुद्रा सौदों की राशियों में लग जायगी और कीमतों का आगे बढ़ना रुक जायगा।

कल्पना कीजिए कि मुद्रा की पूर्ति घटायी जाती है। परिमाण-सिद्धान्त के *अनुसार सब लोग अपना व्यय घटा देंगे इससे समग्र मांग घटेगी और* फलस्वरूप कीमतें घटेंगी। अन्त में कीमतें इतनी गिर जायेंगी कि मुद्रा की पूर्ति लोगों की सौदों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त रहेगी। इससे कीमतों का आगे गिरना रुक जायगा।

मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त की आलोचना (विशेषतया फिशर के सौदों के दृष्टिकोण की)

1. यह अल्पकाल में लागू नहीं होता— मौद्रिक इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त दीर्घकाल *(long period)* में *अवश्य* लागू होता है। दूसरे शब्दों में, काफी लम्बी अवधि को लेने पर मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों व कीमत-स्तर के परिवर्तनों में एक कड़ी (link) स्थापित की जा सकती है। केन्स का कहना है कि दीर्घकाल में तो हम सब मर जायेंगे। अत हमारे लिए ऐसे सिद्धान्त का क्या महत्व जो केवल दीर्घकालीन परिवर्तनों को ही समझाये।

यह सिद्धान्त अल्पकाल में वार्षिक परिवर्तनों (year-to-year changes) को समझाने में असमर्थ पाया गया है। अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी या मुद्रास्फीति के पाये जाने पर हम इसे एक-दो वर्ष में दूर करने की बात सोचते हैं। ऐसी स्थिति में हमारी रुचि उस सिद्धान्त में नहीं होती जो 15-20 वर्षों में मुद्रा की मात्रा व कीमत-स्तर में सम्बन्ध बतलाये। अत मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त अल्पकालीन परिवर्तनों को समझाने में असमर्थ पाया गया है। अल्पकाल में K अथवा V प्रतिवर्ष बदलते हुए पाये गये हैं। अत M और P का सरल सम्बन्ध भंग हो जाता है। इसीलिए अल्पकाल में M के दुगुना हो जाने पर P दुगुना नहीं होता।

2. इस सिद्धान्त की मान्यताएँ अवास्तविक हैं— यह सिद्धान्त इस मान्यता पर टिका हुआ है कि V पर M के परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। लेकिन आधुनिक सिद्धान्त से पता चला है कि **M के परिवर्तन V में भी परिवर्तन उत्पन्न करते हैं।** V, V^1 व T को स्थिर मानना भी सही नहीं कहा जा सकता। अर्थव्यवस्था में M के बढ़ने से T भी बढ़ता है, क्योंकि फालतू पड़े हुए अथवा *अप्रयुक्त उत्पादन के साधनों का उपयोग किया जाता है।* **इस प्रकार M व M_1 का अनुपात भी स्थिर नहीं रहता।** इसलिए परिमाण-सिद्धान्त की विभिन्न मान्यताएँ अवास्तविक है, जिससे इसके परिणाम भी अवास्तविक हो जाते हैं।

3. यह सिद्धान्त पूर्ण रोजगार की स्थिति को मानकर चलता है जिससे इसका उपयोग सीमित हो जाता है। साधनों के अपूर्ण उपयोग अथवा साधनों की बेकारी की दशा में इसके निष्कर्ष लागू नहीं होते। साधनों के अप्रयुक्त या बेकार पाये जाने पर M के बढ़ने से T भी बढ़ाया जा सकता है, जिससे कीमतें उतनी नहीं बढ़ती जितनी अन्यथा बढ़ती, अथवा कभी-कभी कीमतें नहीं बढ़ती है। मान लीजिए किसी देश में नई भूमि पर खेती करके उत्पादन बढ़ाया जाता है तो M के बढ़ने पर कृषिगत उत्पादन बढ़ेगा जिससे कीमतें सम्भवत न बढ़ें, अथवा कम बढ़ें।

4. इस सिद्धान्त में M के परिवर्तन का प्रभाव तो P पर बतलाया गया है, लेकिन P के परिवर्तन का प्रभाव M पर नहीं बतलाया गया है जिससे इसकी उपयोगिता सीमित हो जाती है। आजकल यह भी देखने को मिलता है कि कीमतों की वृद्धि के कारण भी मुद्रा की मात्रा बढ़ायी जाती है। इस प्रकार P का परिवर्तन भी M के परिवर्तन का कारण बन सकता है, जिसे इस सिद्धान्त में नहीं माना गया है। इससे यह सिद्धान्त संकुचित हो जाता है।

5. इस सिद्धान्त में मुद्रा की मात्रा के परिवर्तन का सीधा प्रभाव कीमत के परिवर्तन पर देखा जाता है, लेकिन आधुनिक मत इससे भिन्न हैं। केन्स के सिद्धान्त में मुद्रा की पूर्ति (supply of money) के बढ़ने से सर्वप्रथम ब्याज की दर घटती है जिससे विनियोग बढ़ता है। विनियोग के बढ़ने से उत्पत्ति व आय बढ़ते है। उत्पत्ति का उत्पादन-लागत से सम्बन्ध होता है और लागत का कीमतों से। इस प्रकार आधुनिक मत में मुद्रा की पूर्ति का प्रभाव कई घुमावदार रास्तों से होता हुआ कीमतों पर पहुंचता है, जबकि परिमाण-सिद्धान्त में मुद्रा की मात्रा व कीमतों का प्रत्यक्ष व आनुपातिक सम्बन्ध माना गया है जो व्यवहार में सही नहीं निकलता।

6. कीमतों की वृद्धि पर एकाधिकार की दशाओं, लागत-वृद्धि नियम व अन्य कारणों का भी प्रभाव पड़ता है, लेकिन मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त में इन पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है।

7. इस सिद्धान्त में मुद्रा के प्रचलन-वेग को स्वीकार किया गया है, लेकिन वस्तुओं के प्रचलन-वेग (velocity of circulation of commodities) को नहीं माना गया है। जिस प्रकार मुद्रा की एक इकाई एक वर्ष में कई हाथों में से गुजरती है, उसी प्रकार वस्तुएं भी उत्पादकों से थोक विक्रेताओं और उनसे खुदरा विक्रेताओं आदि के हाथों में से गुजरती हैं। इसलिए इस पक्ष पर भी विचार किया जाना चाहिए।

8. एक देश में वस्तुओं के मूल्यों पर किसी देश या देशों में प्रचलित मूल्यों का भी प्रभाव पड़ता है जिसके लिए इस सिद्धान्त में कोई स्थान नहीं है। पिछले वर्षों में भारत में उर्वरकों, खाद्यानों व खनिज तेल के मूल्यों पर विश्व के बाजारों में प्रचलित ऊंचे मूल्यों का प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार मुद्रास्फीति एक विश्वव्यापी समस्या बन गई है।

9. सामान्य मूल्य-स्तर या देश में मूल्य-स्थिति पर माल के संग्रह का भी प्रभाव पड़ता है। उत्पादन बढ़ने पर भी यदि (व्यापारी) माल का अनुचित रूप से संग्रह करके कृत्रिम अभाव उत्पन्न करने में सफल हो जाते हैं तो मूल्य बढ़ जाते हैं। भारत का पिछले वर्षों का अनुभव यह सिद्ध करता है कि माल का संग्रह मुद्रास्फीति व महंगाई का एक प्रबल कारण बन सकता है, लेकिन परिमाण-सिद्धान्त में इसकी कोई चर्चा नहीं की गई है।

10. फिशर का समीकरण तो एक स्वयंसिद्ध बात है कि मुद्रा की पूर्ति=मुद्रा की मांग है। इसे एक तत्समक (identity) कहा गया है। इसका विशेष महत्त्व नहीं माना गया है।

मिल्टन फ्रीडमैन द्वारा मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त का समर्थन

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त में कई कमियां हैं। यह अल्पकालीन उतार-चढ़ावों को समझाने में असमर्थ रहा है। 1936 के बाद केन्स के अनुयायियों ने मुद्रा के प्रभाव को कम महत्त्व दिया है। लेकिन पिछले कुछ वर्षों में शिकागो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर मिल्टन फ्रीडमैन ने कीमत-स्तर को प्रभावित करने के सम्बन्ध में मुद्रा की मात्रा पर पुनः बल दिया है।

उनका कहना है कि मूल्य-स्तर के परिवर्तनों को समझाने में मुद्रा का प्रमुख स्थान होता है। इस विचारधारा के समर्थक 'मुद्रावादी' (monetarists) कहलाते हैं।

फ्रीडमैन ने बतलाया है कि भारत में लोग लगभग सात सप्ताह की आय के बराबर करेंसी की मात्रा (बैंक जमा छोड़कर मुद्रा की मात्रा) रखते हैं। यदि किसी कारण से मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है (कल्पना कीजिए कि लोग आठ सप्ताह की आय के बराबर करेंसी रखने लगते हैं) तो ऐसी स्थिति में क्या परिणाम निकलेगा? लोग अपनी नकद बकाया राशियां (Cash balances) कम करने का प्रयास करेंगे। लोग जितनी राशि प्राप्त कर रहे हैं उससे ज्यादा व्यय करने के प्रयास में सभी प्रकार की वस्तुओं व सेवाओं की कीमतें बढ़ा देंगे। इससे उनकी वास्तविक नकद राशियां कम हो जायेंगी और ये 8 सप्ताह की आय के बराबर राशियों से घट कर 7 सप्ताह की आय के बराबर आ जायेंगी। इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति कीमत-स्तर को प्रभावित करेगी। अत मुद्रा का महत्त्व पुन सर्वोपरि माना जाने लगा है।

मुद्रा का आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of money)*— मुद्रा के आधुनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन केन्स ने किया था। इसे आय-दृष्टिकोण (income approach) अथवा बचत विनियोग दृष्टिकोण (Saving investment approach) भी कहते है। इसमें दो बातों पर बल दिया गया है— (i) सर्वप्रथम मुद्रा की मांग सौदो के उद्देश्य (*transaction motive*) के अलावा अन्य उद्देश्यों जैसे सतर्कता-उद्देश्य (precautionary motive) एवं सट्टे के उद्देश्य (speculative motive) से भी प्रभावित होती है। (ii) मुद्रा की पूर्ति के परिवर्तन पहले ब्याज की दर को प्रभावित करते है और बाद में अर्थ-व्यवस्था के अन्य अंगों को प्रभावित करते हैं। हम पिछले अध्याय में मुद्रा की मांग को प्रभावित करने वाले तीन उद्देश्यों पर विस्तार से प्रकाश डाल चुके है। इसलिए यहाँ पर इस बात को स्पष्ट किया जायगा कि मुद्रा की पूर्ति के परिवर्तनों का प्रभाव उत्पत्ति व कीमत-स्तर पर किस प्रकार पड़ता है।

मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि का प्रभाव उत्पत्ति व कीमतों पर निम्न विधि से पड़ता है -

मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि
↓
(मुद्रा की माँग के यथास्थिर रहने पर)
ब्याज की दर में गिरावट
↓
विनियोग की मात्रा में वृद्धि
↓
समग्र व्यय की रेखा के ऊपर की ओर खिसकने से
वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि
↓
समग्र माँग वक्र का दायीं ओर खिसकना
↓
मांग व समग्र पूर्ति-वक्रों के कटान से कीमत-स्तर का निर्धारण
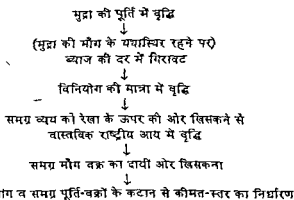
* इसे प्रारम्भिक अध्ययन में छोड़ा जा सकता है।

समान्यतया मुद्रा की पूर्ति से बढ़ने से उत्पत्ति व कीमतो मे वृद्धि की प्रवृत्ति - उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रा की पूर्ति के बढ़ने पर (मुद्रा की माग के यथावत रहने पर) केन्स के तरलता-पसदगी सिद्धान्त के अनुसार पहला प्रभाव ब्याज की दर के घटने के रूप मे सामने आता है। ब्याज की दर व विनियोग की मात्रा मे विलोम सम्बन्ध पाया जाता है। ब्याज की दर के घटने पर विनियोग की मात्रा बढ़ती है, और ब्याज की दर बढ़ने से यह घटती है। अत ब्याज की दर व विनियोग की मात्रा का सम्बन्ध विनियोग की सीमान्त कार्यकुशलता (marginal efficiency of investment) वक्र के घटते हुए रूप मे दर्शाया जाता है।
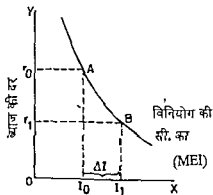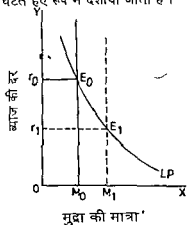
चित्र 3 (i) मुद्रा की माँग व पूर्ति से ब्याज का निर्धारण

चित्र 3 (ii) ब्याज की दर के घटने से विनियोग में वृद्धि
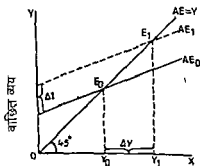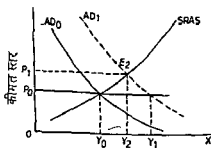
चित्र 3 (iii) विनियोग में वृद्धि से राष्ट्रीय आय में वृद्धि

चित्र 3 (iv) समग्र मांग व समग्र पूर्ति से राष्ट्रीय आय (उत्पत्ति) व कीमत पर प्रभाव

विनियोग के बढ़ने से समग्र व्यय का वक्र ऊपर की ओर खिसक जाता है जिससे वास्तविक राष्ट्रीय आय मे विनियोग-गुणक की मात्रा के अनुसार वृद्धि होती है। इससे पूर्ववत् कीमत पर समग्र माग-वक्र दायीं तरफ खिसक जाता है और अत मे समग्र माग वक्र तथा अल्पकालीन समग्र पूर्ति वक्र से वास्तविक राष्ट्रीय आय (उत्पत्ति) व कीमत का निर्धारण होता है।

इन्ही प्रक्रियाओ को पहले क्रमश चार चित्रो (चित्र 3(i) से 3 (iv)) तक की सहायता से समझाया गया है।1

स्पष्टीकरण :-

चित्र 3 (i) मे मुद्रा की मॉग व पूर्ति से ब्याज का निर्धारण बतलाया गया है। LP वक्र मुद्रा की मॉग को सूचित करता है। OM_0 मुद्रा की पूर्ति पर ब्याज की दर or_0 होती है। मुद्रा की पूर्ति के बढ़ कर OM_1 हो जाने पर तथा मुद्रा की माग के स्थिर रहने पर, ब्याज की दर घट कर or_1 हो जाती है।

चित्र 3 (ii) मे r_0 ब्याज की दर पर विनियोग I_0 तथा ब्याज की दर के घट कर r_1 हो जाने पर विनियोग बढ़कर I_1 हो जाता है, अर्थात् विनियोग कीमात्रा मे वृद्धि होती है।

चित्र 3 (iii) मे AE=Y रेखा *सूचित करती है कि समग्र व्यय – समग्र आय है।* यह 45° पर खींची जाती है। विनियोग के बढ़ने पर समग्र व्यय की रेखा AE_0 से बढ़कर AE_1 हो जाती है जिससे वास्तविक राष्ट्रीय आय Y_0 से बढ़कर Y_1 हो जाती है, अर्थात् राष्ट्रीय आय मे ΔY वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार इसमे विनियोग के बढ़ने का प्रभाव राष्ट्रीय आय पर बतलाया गया है। $\frac{\Delta Y}{\Delta I}$ - गुणक (multiplier) है। यह विनियोग-गुणक कहलाता है।

चित्र 3(iv) मे दो बाते दर्शायी गयी हैं। सर्वप्रथम, समग्र माग वक्र दायीं और AD_0 से खिसक कर AD_1 पर आता है, अर्थात् P_0 कीमत पर वास्तविक राष्ट्रीय आय Y_0 से बढ़ कर Y_1 हो जाती है।

इसमे दूसरी व अन्तिम स्थिति यह दर्शायी गयी है कि नये समग्र माग-वक्र AD_1 व अल्पकालीन समग्र पूर्ति-वक्र (SRAS) के सतुलन E_2 पर वास्तविक राष्ट्रीय आय Y_2 होती है, जो Y_1 से कम है, तथा कीमत P_1 होती है जो P_0 से अधिक है।

1 Lipsey, Steiner, Purvis and Courant, ECONOMICS, Ninth Edition, *1990, pp 679 681*

इस प्रकार अल्पकालीन समग्र पूर्ति-वक्र के प्रभाव से पहले की स्थिति की तुलना में राष्ट्रीय आय कुछ कम व कीमतें कुछ अधिक होती हैं।

इस प्रकार चित्र (i) से चित्र 3 (iv) तक विभिन्न प्रक्रियाओं में से गुजरने पर मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि M_0M_1 का प्रभाव राष्ट्रीय आय में वृद्धि Y_0Y_2 तथा मूल्य में वृद्धि P_0P_1 के रूप में प्रगट हुआ है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि मुद्रा की पूर्ति का प्रभाव उत्पत्ति व कीमतों पर एक घुमावदार तरीके से प्रगट होता है। मुद्रा की पूर्ति के बढ़ने से ब्याज की दर कम होती है, जिससे विनियोग (investment) में वृद्धि होती है; तत्पश्चात् समग्र व्यय-वक्र के ऊपर की ओर जाने से वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। बाद में समग्र माँग-वक्र दायीं ओर खिसक जाता है और अंत में अल्पकालीन समग्र पूर्ति-वक्र व नये समग्र माँग के संयोग से राष्ट्रीय उत्पत्ति व कीमत के संतुलन-स्तर निर्धारित होते हैं। इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति, उत्पत्ति व कीमतों का परस्पर सम्बन्ध देखा जा सकता है।

भारत में मुद्रा की पूर्ति, वास्तविक राष्ट्रीय आय व कीमतों के सम्बन्ध में व्यावहारिक अनुभव :—

अग्रांकित तालिका में भारत में मुद्रा की पूर्ति (M_3) की वार्षिक वृद्धि-दर 1980-81 के भावों पर राष्ट्रीय आय में वार्षिक वृद्धि-दर तथा थोक मूल्यों में वार्षिक वृद्धि-दर के आकडे प्रस्तुत किये गये है। इनका ध्यान से अध्ययन करने पर पता चलता है कि कीमत-स्तर को प्रभावित करने वाले तत्वों में से मुद्रा की पूर्ति एक तत्त्व होता है, लेकिन अन्य तत्त्व भी कीमत-स्तर को निरंतर प्रभावित करते रहते हैं, जैसे मानसून का कृषिगत उत्पादन पर प्रभाव, वसूली-मूल्यों (procurement prices) के परिवर्तन, सरकार द्वारा प्रशासित मूल्यों (administered prices) जैसे इस्पात, पेट्रोल, उर्वरक आदि के मूल्यों में वृद्धि, आयातित मूल्यों में वृद्धि, परोक्ष करों में वृद्धि, रूपये का अवमूल्यन (devaluation), मजदूरी व कर्मचारियों के वेतन में वृद्धियाँ, संग्रह की प्रवृत्तियाँ, आदि, आदि।

भारत में मुद्रा की पूर्ति, वास्तविक राष्ट्रीय आय व थोक मूल्य-स्तर में वृद्धि की प्रवृत्तियाँ [1] :—

तालिका को देखने से पता चलता है कि मुद्रा की पूर्ति (M3) व कीमतों की वृद्धि-दर मे सदैव एक-सी प्रवृत्ति नहीं रही है। उदाहरण के लिए सातवीं योजना (1985-90) मे M3 मे वार्षिक वृद्धि-दर 17 6% रही और मुद्रास्फीति की वार्षिक दर 6 6% रही, लेकिन 1992-93 में M_3 में वृद्धि दर 15 7% तथा 1993 94 मे 17 8% रही एव मुद्रास्फीति की दर क्रमश = 7 8% व लगभग 10 2% रही।

1 C. Rangarajan, Indian Monetary Policy in Retrospect and Prospect Keynote Paper the Indian Economic Association 1987 and Economic Survey 1993 94 p 2 and Credit Policy First Half (1994 95)

(वार्षिक वृद्धि-दरे) (प्रतिशत में)

योजना की अवधि	मुद्रा की पूर्ति M_3) मे वृद्धि-दर	1980-81 के भावों पर (वास्तविक) राष्ट्रीय आय अथवा शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति में वृद्धि-दर	थोक मूल्यों में वृद्धि-दर (सप्ताहों का औसत)
I (1951 56)	3 4	3 6	-2.7
II (56-61)	8 2	3 9	6 3
III (61-66)	9 1	2 3	5 8
वार्षिक योजनाए (1966-69)	10 5	2 2	8 1
IV (69 74)	16 2	3 3	9 0
V (1974 79)	17 9	4 9	6 3
1979 80	17 3	6 0	17 2
VI (1980-85)	16 7	5 4	9 3
VII (1985 90)	17 6	5 5	6 6
1990 91	15 1	5 5	12 1
1991 92	18 5	(–) 0 1,	13 6
1992 93	15 7,	4 2,	7 8
1993 94,क)	17.8,	3 8 (GDP),	10 2
1994 95(प्रस्तावित)	14-15	5	7

हम पहले भी सकेत दे चुके है कि कीमतो पर मुद्रा की पूर्ति के अलावा अन्य कई तत्त्वा का भी प्रभाव पडता रहता है, जैसे मानसून का कृषिगत उत्पादन पर प्रभाव, सरकार द्वारा अनाज के वसूली मूल्य निर्धारित करना, परोक्ष कर, आयातित वस्तुओ के मूल्य, वस्तुओं का सग्रह, वितरण की व्यवस्था, काली मुद्रा, रुपये का अवमूल्यन, आदि, आदि। उत्पत्ति की मात्रा भी मुद्रा की पूर्ति के अलावा कई तत्त्वों से प्रभावित होती है, जैसे मौसम, टेक्नोलोजी, स्थिर पूँजी की मात्रा, अर्थव्यवस्था मे उत्पादन की बेकार-क्षमता या अतिरिक्त क्षमता, मालिको व मजदूरो के सम्बन्ध, आदि। जिस देश में उत्पादन की अतिरिक्त क्षमता होती है उसमे मुद्रा की पूर्ति के बढ़ने से उत्पत्ति के बढ़ने की अधिक सम्भावना होती है। लेकिन इसके विपरीत जिस देश मे उत्पादन के साधनो का पहले ही विदोहन हो चुका है, उसमे मुद्रा की पूर्ति के बढ़ने से उत्पत्ति न बढ़ कर केवल कीमतें ही बढ़ पाती हैं।

इसी प्रकार हम देख चुके है कि मुद्रा की पूर्ति भी रिजर्व मुद्रा या मौद्रिक आधार व मुद्रा गुणक पर निर्भर करती है और इस पर मौद्रिक अधिकारी के

अलावा पब्लिक व बैंकों के निर्णयों का भी प्रभाव पड़ता है। अत वास्तविक जगत में मुद्रा की पूर्ति, उत्पत्ति व कीमतों का सम्बन्ध उतना प्रत्यक्ष व सरल किस्म का नहीं पाया जाता, जैसा कि मुद्रा के सिद्धान्तों में मान लिया गया है।

अत हम अनुभव के आधार पर कह सकते हैं कि मुद्रा का महत्त्व होता है, लेकिन केवल मुद्रा का ही महत्त्व नहीं होता है (Money matters, but money alone does not matter)। भारत में M_1 की मात्रा 1950-51 में 1976 करोड रुपये से बढकर 1992 93 में 1,20,182 करोड रुपये हो गई (61 गुनी), एव M_3 की मात्रा इसी अवधि में 2287 करोड रुपये से बढ़कर 3,45,828 करोड रुपये हो गई (लगभग 151 गुनी), वास्तविक राष्ट्रीय आय (1980-81 के भावों पर) 40454 करोड रु से बढकर 1,93,222 करोड़ रुपये हो गयी (4 78 गुनी) तथा मूल्य-स्तर ग्यारह-बारह गुना हो गया। इस प्रकार भारत में मुद्रा की पूर्ति राष्ट्रीय आय की तुलना में ज्यादा तेज गति से बढी है, जिससे मुद्रास्फीति के दबाव निरन्तर बने रहे हैं। भारत में अधिक मुद्रा कम माल का पीछा करती रही है जो मंहगाई व मूल्य-वृद्धि का प्रमुख कारण है। लेकिन मुद्रा की पूर्ति मूल्य-वृद्धि का एक मात्र कारण नहीं है। अतः प्रचलित मौद्रिक सिद्धान्त व वास्तविक मौद्रिक व्यवहार मे काफी अन्तर पाया जाता है। भारत जैसे विकासशील देश में मुद्रास्फीति के एक अधिक व्यापक सिद्धान्त की आवश्यकता है, जिसमे मुद्रा की पूर्ति के अलावा अन्य कई तत्वो का समावेश किया जा सके।

मुद्रा का आन्तरिक व बाह्य मूल्य

मुद्रा के आन्तरिक मूल्य का अर्थ :— मुद्रा के आन्तरिक मूल्य से तात्पर्य मुद्रा की क्रय-शक्ति से लगाया जाता है, अर्थात् मुद्रा की एक इकाई देश में कितनी मात्रा में वस्तुएं व सेवाएं खरीद सकती हैं। मुद्रा का आन्तरिक मूल्य सामान्य मूल्य-स्तर के विपरीत जाता है। हम पहले बतला चुके हैं कि सामान्य मूल्य-स्तर के दुगुना होने पर मुद्रा का मूल्य आधा हो जाता है। यही कारण है कि भारत में 1960 की तुलना में वर्तमान में सामान्य मूल्य-स्तर के लगभग 10 गुना हो जाने पर, मुद्रा का मूल्य, अर्थात् भारतीय रुपये का मूल्य, पहले की तुलना मे $\frac{1}{10}$ रह गया है। इसी को प्राय यों भी कहा जाता है कि आज भारतीय रुपये का मूल्य 1960 की तुलना में केवल 10 पैसे के बराबर रह गया है। इस प्रकार मुद्रास्फीति के कारण एक देश की मुद्रा का आन्तरिक मूल्य घटता है। इससे समाज के विभिन्न वर्गों पर विभिन्न प्रकार के आर्थिक प्रभाव पड़ते हैं। सामान्यतया निर्धन-वर्ग व वेतनभोगी व्यक्तियों को मुद्रास्फीति से भारी हानि होती है। इससे समाज में असमानता बढ़ती है, धनी अधिक धनी हो जाते है और गरीब अधिक गरीब हो जाते हैं।

मुद्रा के बाह्य-मूल्य का अर्थ :— मुद्रा के बाह्य-मूल्य का अर्थ एक देश की मुद्रा का किसी दूसरे देश की मुद्रा से होने वाली विनिमय-दर (exchange rate) से लगाया जाता है। जैसे यदि 25 रुपये = 1 डालर है, तो 1 रुपये की

विनिमय-दर $\frac{1}{25}$ डालर = 4 सैंट (चूँकि एक डालर =100 सेंट होता है) होगी। इसी प्रकार भारतीय रुपये का मूल्य ब्रिटिश पौंड स्टर्लिंग में, अथवा किसी अन्य देश की मुद्रा में देखा जा सकता है, जिसे विनिमय की दर के आधार पर मापा जाता है।

एक देश की मुद्रा का बाह्य-मूल्य भी घटता-बढ़ता रहता है। किसी भी देश की मुद्रा की विनिमय-दर के परिवर्तन या तो विदेशी विनिमय बाजार में उस मुद्रा की माँग व पूर्ति के परिवर्तनों से प्रभावित होते हैं, अथवा विशेष परिस्थितियों में, एक देश की सरकार अपनी मुद्रा की विनिमय-दर अन्य देशों की मुद्राओं में गिरा सकती है, जिसे उस मुद्रा का अवमूल्यन (devaluation) करना कहा जाता है। भारत ने जुलाई 1991 के प्रारम्भ में दो चरणों में रुपये का लगभग 20% अवमूल्यन घोषित किया था, ताकि निर्यात बढ़ाये जा सकें और आयात नियन्त्रित किये जा सकें और फलस्वरूप व्यापार का घाटा कम किया जा सके। अवमूल्यन से पूर्व लगभग 21 रुपये का एक डालर था, जबकि अवमूल्यन के बाद लगभग 26 रुपये का एक डालर हो गया। अतः मुद्रा के बाह्य मूल्य का अर्थ एक देश की मुद्रा की अन्य मुद्राओं में विनिमय-दर (exchange rate) से लगाया जाता है। एक देश की मुद्रा की विनिमय-दर के परिवर्तनों के विदेशी व्यापार, पूँजी के आवागमन, कर्ज की राशि आदि पर व्यापक रूप से प्रभाव पड़ते हैं। इसलिए मुद्रा के बाह्य मूल्य अथवा विनिमय-दर का भी काफी महत्त्व होता है।

अब हम यह देखेंगे कि एक देश की मुद्रा की विनिमय-दर कैसे निर्धारित होती है?

विनिमय की दर का निर्धारण

जिस प्रकार एक वस्तु की कीमत बाजार में उसकी मांग व पूर्ति की शक्तियों के संतुलन से तय होती है, उसी प्रकार **विदेशी विनिमय बाजार** (foreign exchange market) **में एक देश की मुद्रा की विनिमय-दर उसकी माँग व पूर्ति की शक्तियों के संघर्ष से निर्धारित होती है।** संतुलन की स्थिति में, मुद्रा की वह विनिमय-दर तय होती है जिस पर विदेशी विनिमय बाजार में उस मुद्रा की कुल पूर्ति उसकी कुल मांग के बराबर होती है। यदि किन्हीं कारणों से उस मुद्रा की मांग उसकी कुल पूर्ति की तुलना में अधिक हो जाती है तो उसकी विनिमय-दर में बढ़ने की प्रवृत्ति लागू हो जायगी, और यदि उसकी पूर्ति उसकी मांग से अधिक हो जाती है तो उसकी विनिमय-दर में घटने की प्रवृत्ति लागू हो जायगी।

हम यहाँ भारत और अमेरिका दो देश ले लेते हैं, और इनकी मुद्राओं - भारतीय रुपया व अमरीकी डालर की विनिमय-दर पर विचार करते हैं। स्वाभाविक है कि प्रत्येक देश की फर्म अपने माल का भुगतान अपनी मुद्रा में लेना चाहेगी। मान लीजिए, भारत अमेरिका से 100 करोड़ रुपये का युद्ध का साज-सामान मँगाना चाहता है तो अमरीकी फर्मों को भुगतान डालर में करने के लिए भारत के विदेशी विनिमय बाजार में डालर की माँग उत्पन्न हो जायगी। इसी

प्रकार यदि अमेरिका भारत से 100 करोड रुपये की चाय का आयात करना चाहता है तो अमरिका के विदेशी विनिमय बाजार में रुपयों की माँग उत्पन्न हो जायगी, अथवा, भारत के विदेशी विनिमय बाजार में डालर की सप्लाई बढ जायगी। इस प्रकार एक समय में भारत के विदेशी विनिमय बाजार में डालर की मांग व इसकी पूर्ति के सम्बन्ध में एक विशेष स्थिति पायी जायगी, जो रुपये व डालर के बीच विनिमय की दर को प्रभावित करेगी।

हम नीचे एक प्रतिस्पर्धात्मक बाजार में विनिमय की दर के निर्धारण का विवेचन करते हैं। स्मरण रहे कि एक देश के विदेशी विनिमय बाजार में व्यक्ति, फर्में व सरकारें विदेशी मुद्रा की माँग करती हैं और ये ही विदेशी मुद्रा की पूर्ति भी करती हैं। इसलिए विदेशी विनिमय बाजार में व्यक्ति, फर्में व सरकारें सभी भाग लेते हैं।

प्रतिस्पर्धात्मक दशाओं में विनिमय की दर का निर्धारण एक अत्यंत सरल प्रक्रिया होती है जिसे आसानी से समझा जा सकता है
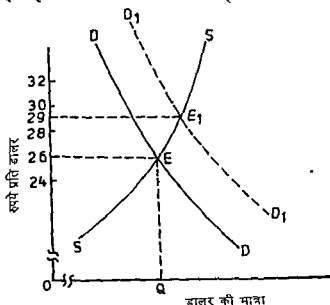
चित्र 4 प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति में विनिमय की दर का निर्धारण

स्पष्टीकरण :– उपर्युक्त चित्र में DD वक्र डालर की (रुपयों में विभिन्न दरों पर) माँग का सूचक है, तथा SS वक्र डालर की पूर्ति का सूचक है। ऐसी स्थिति में *E* बिन्दु पर संतुलन होगा, और विनिमय की दर 26 रुपये प्रति डालर निर्धारित होगी जिस पर डालर की माँग व पूर्ति *OQ* के बराबर होगी। अब मान लीजिए विनिमय की दर 28 रुपये प्रति डालर हो जाती है तो उस पर डालर की पूर्ति इसकी माँग से अधिक होगी, जिससे विनिमय की दर में घटने की प्रवृत्ति लागू होगी

और पुन संतुलन में विनिमय की दर 26 रुपये प्रति डालर निर्धारित होगी। यदि विनिमय की दर 24 रुपये प्रति डालर होती तो इस पर डालर की माँग इसकी पूर्ति से अधिक होती जिससे इसमें बढ़ने की प्रवृत्ति लागू होती और पुन संतुलन में विनिमय की दर 26 रुपये प्रति डालर ही ठहरती ।

अब कल्पना कीजिए कि डालर का माँग-वक्र ही दायीं तरफ खिसक जाता है तो जैसे यह D_1D_1 हो जाता है तो पूर्ति-वक्र के समान रहते हुए, विनिमय-दर 26 रु प्रति डालर से अधिक निर्धारित होगी, जैसे E_1 पर जो लगभग 29 रु प्रति डालर है। संतुलन की स्थिति में विदेशी विनिमय बाजार में विनिमय की दर मांग व पूर्ति को बराबर कर देती है।

उपर्युक्त दृष्टान्त में यदि डालर के मांग-वक्र के दायी तरफ खिसकने से विनिमय-दर 29 रुपये प्रति डालर हो जाती है तो रुपये का मूल्य-ह्रास (depreciation of rupee) माना जायगा और डालर की मूल्य-वृद्धि (appreciation of dollar) माना जायेगा। इस प्रकार जहा एक मुद्रा का मूल्य गिरता है वहाँ साथ में दूसरी मुद्रा का मूल्य बढता है। अब प्रश्न उठता है कि विनिमय की दरों में परिवर्तन किन कारणों से उत्पन्न होते है ? इसका सरल उत्तर यही होगा जो तत्त्व विदेशी विनिमय बाजार में माँग व पूर्ति में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं वे विनिमय की दरों में परिवर्तन लाते है।

विनिमय की दरों में प्रमुखतया निम्न कारकों या घटकों का प्रभाव पडता है—

(1) दो देशों में मुद्रास्फीति की दरों में अंतर,
(2) निर्यातों व आयातों की मांग की लोचें,
(3) पूँजी की गतिशीलताएं (Capital movements)
(4) एक देश में होने वाले संरचनात्मक परिवर्तन (structural changes)

नीचे इनमें से प्रत्येक घटक का विवेचन मुख्यतया भारत अमरीका के सन्दर्भ में ही किया गया है।

(1) दो देशों में मुद्रास्फीति की दरों में अंतर (differential inflation rates between countries) — यदि भारत व अमरीका दोनों देशों में मूल्य-स्थिरता बनी रहती है, अथवा दोनों देशों में मुद्रास्फीति की दर, मान लीजिए 10%, समान बनी रहती-तो अन्य बातों के समान रहने पर सम्भवत विनिमय की दर में कोई परिवर्तन नहीं आता। लेकिन कल्पना कीजिए कि भारत में मुद्रास्फीति की वार्षिक दर 10% होती है और अमेरिका में यह 5% रहती है तो विनिमय की दर पर क्या प्रभाव आ सकता है? इससे भारतीय माल अधिक महंगा हो जायगा जिससे भारत के निर्यातों पर विपरीत प्रभाव पड सकता है। अमरीकी माल के अपेक्षाकृत सस्ता होने से भारत में इसके आयात बढ़ सकते हैं। अत इन दोनों प्रवृत्तियों के फलस्वरूप भारत के विदेशी विनिमय बाजार में डालर की मांग बढ़ेगी और डालर की सप्लाई घटेगी। इससे रुपये का डालर में मूल्य घटेगा तथा डालर का रुपये में मूल्य बढ़ेगा।

(2) निर्यातों व आयातों की माँग की लोचें — मान लीजिए, भारत में अमेरिका से किये गये आयातों की माँग बेलोच (inelastic) है, तो अमरीकी माल के महंगा होने पर भी हम उसका आयात बहुत कम नहीं कर पायेंगे। इससे भारत में डॉलर की मांग बढ़ेगी जिससे रुपये का डालर में मूल्य-ह्रास (depreciation) होगा और डालर का मूल्य रुपयों में बढ़ेगा।

इसी प्रकार यदि अमरीका में भारतीय माल की माँग बेलोच है तो हमारे माल के मूल्य बढ़ने पर भी उनकी मांग बहुत कम नहीं होगी, जिससे भारत के लिए डालर की पूर्ति बढ़ेगी और डालर का रुपयों में मूल्य घटेगा व रुपये का डालर में मूल्य बढ़ेगा।

इसी प्रकार भारत में अमरीकी माल की मांग के लोचदार पाये जाने पर रुपये का डालर में मूल्य बढ़ सकता है, और अमेरिका में भारतीय माल की माँग के लोचदार पाये जाने पर डालर का रुपयों में मूल्य बढ़ सकता है। अत एक देश के निर्यातों व आयातों की माँग की लोचें विनिमय की दर को प्रभावित करती हैं।

(3) पूँजी की गतिशीलताएं (Capital movements) —आजकल पूँजी की अल्पकालीन व दीर्घकालीन गतिशीलताओं का महत्त्व काफी बढ़ गया है। यदि भारत की तुलना में अमेरिका में ब्याज की दर ऊँची है, अथवा भारत में विनिमय की दर के गिरने की सम्भावना हो जाती है, तो भारत से पूँजी का बाह्य प्रवाह अमेरिका की तरफ होने लगेगा, जिससे डालर की मांग बढ़ेगी और फलस्वरूप रुपये का डालर में मूल्य-ह्रास होगा, अर्थात् एक डालर के लिए अधिक रुपये देने होंगे।

इसी प्रकार यदि अमेरिका की तरफ पूँजी की दीर्घकालीन गतिशीलता होती है (ऊँचे मुनाफों की आशा में वहाँ पूँजी लगायी जाती है) तो भी डालर की विनिमय-दर इसकी मांग के बढ़ने के कारण बढ़ेगी।

(4) एक देश में होने वाले संरचनात्मक परिवर्तन (structural changes) — आजकल विभिन्न देशों में कई कारणों से माँग की दशाओं व उत्पादन की दशाओं तथा लागत की दशाओं, आदि में परिवर्तन हो रहे हैं। इनका भी विनिमय की दर पर प्रभाव पड़ता है। मान लीजिए भारत में लोगों की मांग की दशाएं बदल जाती हैं, और वे अमेरिका में बनी वस्तुओं का आयात करना पसंद करने लगते हैं। इससे भारत में अमेरिका से किये जाने वाले आयात बढ़ेंगे जिससे डालर की मांग बढ़ेगी, और रुपये का डालर में मूल्य-ह्रास होगा। इसी प्रकार लागतों के परिवर्तन एक देश में मूल्यों को प्रभावित करते हैं, और उससे विदेशी विनिमय की दरों में परिवर्तन उत्पन्न होते हैं। उत्पादन की व लागत की दशाओं के परिवर्तन तुलनात्मक लाभ की दशाओं को बदल देते हैं, जिससे विदेशी व्यापार में परिवर्तन होने लगते हैं, और फलस्वरूप विनिमय की दरें प्रभावित होती हैं। नई वस्तुओं के आविष्कार से भी विदेशी व्यापार प्रभावित होता है जिससे अंत में विनिमय की दर भी परिवर्तित हो जाती है।

इस प्रकार विनिमय की दर पर विदेशी विनिमय बाजारों में मुद्रा की माँग व पूर्ति का निरंतर प्रभाव पड़ता रहता है। विभिन्न देशों में मुद्रास्फीति की वार्षिक दरों के परिवर्तन विदेशी व्यापार को प्रभावित करते रहते हैं। विकसित देशों की संरक्षणात्मक नीतियों के कारण वे विकासशील देशों से किये जाने वाले आयातों पर

प्रतिबंध लगा देते हैं जिससे उनके माल की मांग कम हो जाती है। इससे विकासशील देशों को अपना व्यापार का घाटा कम करने में कठिनाई हो जाती है। अत विदेशी विनिमय दर को प्रभावित करने वाले कई तत्त्व होते हैं। आजकल मुद्राओं की विनिमय दरों पर मुद्रास्फीति की दशाओं, पूँजी की गतिशीलताओं व अर्थव्यवस्था के संरचनात्मक परिवर्तनों का प्रभाव बहुत प्रबल हो गया है। विदेशी कर्जों का भार बढ़ जाने से विदेशी विनिमय के रिजर्व कोषों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक आदि से कर्ज लेने की आवश्यकता बढ़ गयी है। आगामी वर्षों में विकासशील देशों को अपनी मुद्राओं की विनिमय दरों को मूल्य-ह्रास से बचाने लिए भारी प्रयास करने होंगे।

प्रश्न

1 फिशर के 'मुद्रा परिमाण सिद्धान्त' का समीक्षात्मक विवेचन कीजिये।
(Ajmer Iyr. 1993)

2 मुद्रा की पूर्ति किस प्रकार से उत्पादन के स्तर को प्रभावित करती है? मौद्रिक सयत्र की सहायता से समझाइये। (Ajmer Iyr 1994)

3 फिशर एव कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। जहाँ आवश्यकता हो वहा समीकरणों व चित्रों का उपयोग कीजिए। (Raj Iyr 1994)

4 सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये–
   (i) विनिमय-दर (Raj Iyr 1993)

5 निम्नलिखित का हल निकालिये—
   (अ) यदि $M = 1{,}000$ रु $V = 5$, $M^1 = 500$ रु और $V^1 = 10$ और $T = 10{,}000$ इकाइयाँ हो तो मूल्य-स्तर ज्ञात कीजिये।
   (ब) ऊपर के उदाहरण में यदि मुद्रा की पूर्ति को दुगुना कर दिया जाये और अन्य बातें समान रहे तो मूल्य स्तर ज्ञात कीजिये।
   (स) ऊपर के उदाहरण में यदि मुद्रा की पूर्ति दुगुनी कर दी जाये तथा व्यापार की मात्रा भी दुगुनी हो जाये तथा अन्य बातें समान रहें तो मूल्य स्तर ज्ञात कीजिये।

[उत्तर-संकेत—

(अ) $P = \frac{MV + M^1V^1}{T} = \frac{(1000 \times 5) + (500 \times 10)}{10000}$

$= \frac{5000 + 5000}{10000} = \frac{10000}{10000} = 1$ रु

(ब) मुद्रा की पूर्ति दुगुनी करने से

$P = \frac{MV + M^1V^1}{T} = \frac{(2000 \times 5) + (1000 \times 10)}{10000}$

$= \frac{20000}{10000} = 2$ रु

अत मूल्य-स्तर भी दुगुना हो जायगा।

(स) मुद्रा की पूर्ति दुगुनी तथा व्यापार की मात्रा भी दुगुनी होने पर

$P = \frac{20000}{20000} = 1$ रु कीमत (अ) की स्थिति के समान रहेगी।]

आधुनिक सिद्धान्त के आधार पर मुद्रा की पूर्ति, उत्पत्ति व कीमतों में परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए। उस प्रक्रिया को चित्रों द्वारा समझाइए जिसके द्वारा *मुद्रा की पूर्ति अंत में कीमत स्तर को प्रभावित करती है।*

विनिमय की दर कैसे निर्धारित होती है? चित्र देकर स्पष्ट कीजिए। इस पर प्रमुखतया किन घटकों का प्रभाव पड़ता है?

संक्षिप्त **टिप्पणी** लिखिए —

(i) *विदेशी विनिमय बाजार,*
(ii) मुद्रा का आन्तरिक व बाह्य मूल्य,
(iii) क्या मुद्रा की पूर्ति ही कीमत-स्तर को प्रभावित करने वाला एक मात्र तत्त्व है?
(iv) 'मुद्रा का महत्त्व है, लेकिन केवल मुद्रा का ही महत्त्व नहीं है',
(v) दो देशों में मुद्रास्फीति की दरों के अंतर व विनिमय की दरें
(vi) मुद्रा की पूर्ति व कीमतों के सम्बन्ध में केम्ब्रिज दृष्टिकोण,
(vii) नकद-बकाया-दृष्टिकोण की सार्थकता मौद्रिक सिद्धान्त के रूप में।

मुद्रा की माग किन तत्त्वों पर निर्भर करती है ? संक्षेप मे फिशर का मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त लिखिए। *(Raj Iyr 1992)*

12
पूँजीवाद
(Capitalism)

आधुनिक युग में विभिन्न देशों की अर्थव्यवस्थाओं में काफी अन्तर पाये जाते हैं। फिर भी अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, दक्षिण कोरिया, फ्रांस आदि की अर्थव्यवस्थाएं निजी उद्यम वाली अर्थव्यवस्थाएं, अथवा प्रमुखतया पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाएं मानी जाती हैं, जबकि चीन व क्यूबा की अर्थव्यवस्थाओं को साम्यवादी अर्थव्यवस्थाएं कहा जाता है, क्योंकि इनमें उत्पादन के साधनों पर सरकार का स्वामित्व तथा केन्द्रीय नियोजन आदि अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये हैं। रूस की अर्थव्यवस्था भी अब तक साम्यवादी थी, लेकिन वर्तमान में वहाँ स्वतंत्र बाजार अर्थव्यवस्था की ओर जाने का प्रयास किया जा रहा है। यह एक व्यापक किस्म का परिवर्तन है जिसके बारे में अभी तक स्थिति ठीक से स्पष्ट नहीं है। ब्रिटेन ने भूतकाल में समाजवाद के प्रयोग किये थे, लेकिन वहां पिछले वर्षों में निजी क्षेत्र के विकास पर अधिक जोर दिया गया है, तथा काफी सीमा तक सार्वजनिक उपक्रमों का 'निजीकरण' (Privatisation) किया गया है। यह भी निजी उद्यम वाली अर्थव्यवस्था के समीप मानी जा सकती है। भारत मिश्रित अर्थव्यवस्था के माध्यम से नियोजित विकास के मार्ग पर चल रहा है। विकासशील देशों को अन्य विकसित देशों की आर्थिक प्रगति के अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए। इसलिए हमें आर्थिक प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए। विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं के अपने गुण—दोष होते हैं। कोई भी अर्थव्यवस्था सर्वगुण सम्पन्न नहीं होती।

हम इस अध्याय में शुद्ध पूँजीवाद के लक्षणों का विवेचन करके इसके आधुनिक व व्यावहारिक रूप पर प्रकाश डालेंगे। अगले अध्याय में साम्यवाद व समाजवाद की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किया जायेगा। उसके बाद पूँजीवादी मिश्रित व समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं की कार्यप्रणाली में अन्तर स्पष्ट किया जायेगा। साथ में नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था के प्रयोग के रूप में भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रकृति व प्रगति का संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा। भारतीय अर्थव्यवस्था मिश्रित अर्थव्यवस्था का एक सजीव व स्पष्ट दृष्टान्त प्रस्तुत करती है, हालांकि, इसे भी निजी अर्थव्यवस्था की ओर मोड़ने का अधिक प्रयास किया जा रहा है।

शुद्ध पूँजीवाद
(Pure Capitalism)

अर्थशास्त्र की पुस्तकों में ज्यादातर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का ही विवेचन देखने को मिलता है। उनमें अधिकांश आर्थिक सिद्धान्त पूँजीवाद की पृष्ठभूमि में ही समझाये जाते हैं। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने पूँजीवाद के शुद्ध रूप को हमारे समक्ष रखा था। अत सर्वप्रथम हमें इसके शुद्ध रूप को समझना चाहिए, क्योंकि आधुनिक पूँजीवाद इससे काफी भिन्न हो गया है। पूँजीवाद के अध्ययन का महत्व इसलिए बढ़ जाता है कि विश्व का सबसे अधिक धनी देश अमेरिका मुख्यतया इसी प्रणाली को अपनाकर अपना विकास कर पाया है। जापान की तीव्र आर्थिक प्रगति भी इसी व्यवस्था के अन्तर्गत हुई है, और वहाँ की 'जादुई प्रगति' ने समस्त संसार को आश्चर्यचकित कर दिया है। आजकल भारत जापान की हाई–टेक्नोलोजी से सर्वाधिक लाभ उठाने का प्रयास कर रहा है। रूस व पूर्वी योरोप के कई समाजवादी देश पूँजीवादी अर्थतंत्र की ओर मुड़ रहे हैं। इसलिए इसके अध्ययन का महत्व बढ़ गया है।

पूँजीवाद अथवा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की परिभाषा

यह समझना भूल होगी कि पूँजीवाद की मुख्य विशेषता पूँजी का उपयोग करना, अथवा उत्पादन की घुमावदार विधियों का उपयोग करना मात्र है। पूँजी का उपयोग व उत्पादन की घुमावदार विधियाँ तो समाजवाद में भी देखने को मिलती हैं। ये दोनों बातें श्रम, पूँजी व तकनीकी ज्ञान आदि की उपलब्धि पर निर्भर करती हैं। रूस व अन्य समाजवादी देशों में उत्पादन की क्रिया काफी लम्बी, घुमावदार व जटिल हो गई है। अत पूँजीवाद की परिभाषा पूँजी के उपयोग व उत्पादन की घुमावदार पद्धति के आधार पर नहीं की जा सकती।

लाउक्स व ह्विटनी के मतानुसार **"पूँजीवाद की परिभाषा व अन्य आर्थिक प्रणालियों से इसका अन्तर इसकी संस्थाओं के संदर्भ में किया जा सकता है। पूँजीवाद आर्थिक संगठन की वह प्रणाली है जिसमें निजी व्यक्ति अकेले अथवा समूह के रूप में, उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व रखते हैं और वे प्राय अपनी पसन्द के अनुसार इन आर्थिक साधनों के उपयोग का अधिकार रखते हैं।"** *

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि पूँजीवाद की परिभाषा में 'पूँजी' के स्थान पर 'उत्पादन के साधनों' का प्रयोग किया गया है जो अधिक व्यापक है। इसमें पूँजी, भूमि और श्रम सभी प्रकार के साधन शामिल किये जाते हैं। इन सबका उपयोग उद्यमकर्त्ता अपनी इच्छानुसार उत्पादन में करते हैं।

---

* कुछ लोग पूँजीवाद के स्थान पर 'निजी उद्यम वाली अर्थव्यवस्था' या 'बाजार–अर्थव्यवस्था' शब्दों का प्रयोग करना उचित समझते हैं।

पूँजीवाद की उपर्युक्त परिभाषा में उत्पादनों के साधनों पर निजी स्वामित्व की बात कही गई है और इन साधनों के उपयोग में इनके स्वामियों को स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है। स्मरण रहे कि पूँजीवादी पद्धति में केवल यही काफी नहीं है कि उत्पादक पूँजी व भूमि के स्वामी हों, बल्कि इसमें मजदूरी पर श्रमिकों से उत्पादन करवाना और प्राप्त मुनाफे पर व्यक्तिगत अधिकार का होना भी आवश्यक माना गया है। इसलिए यदि एक किसान अपने खेत पर अपनी पूँजी व अपने परिवार के श्रम से काम करता है तो इसे व्यक्तिगत या पारिवारिक कृषि तो कहेंगे, लेकिन इसे पूँजीवादी कृषि नहीं कहेंगे। यदि ट्रेक्टरों व अन्य यन्त्रों का उपयोग करके तथा खेतिहर मजदूर रखकर कृषिगत फार्म चलाये जाते हैं तो वह पूँजीवादी खेती का रूप माना जायेगा। इसी प्रकार चाय, कॉफी, आदि के बागानों का निजी स्वामित्व व निजी प्रबन्ध में संचालन करना पूँजीवादी खेती का ही रूप होता है। **अतः पूँजीवादी व्यवस्था के लिए मजदूरी पर श्रमिक से काम करवाना एवं व्यक्तिगत लाभ को बढ़ाने में उनका उपयोग करना आवश्यक माना गया है।** केवल मजदूरी पर श्रमिकों की नियुक्ति तो साम्यवादी व्यवस्था में भी होती है, लेकिन वहाँ श्रम का उपयोग निजी लाभ को बढ़ाने के लिए नही किया जाता। वहाँ उत्पादन का उद्देश्य सार्वजनिक हित होता है।

पूँजीवाद के मुख्य लक्षण या विशेषताएं

(1) निजी सम्पत्ति (Private Property)— पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधन जैसे भूमि, पूँजी आदि पर व्यक्तिगत अधिकार होता है। व्यक्ति या व्यक्ति-समूह कानूनी तरीके से अपना कारखाना, खेत या खान रख सकते हैं और उनको संचालित कर सकते हैं। पूँजीवाद में सरकार निजी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करती है। सरकार निजी सम्पत्ति का कानून बनाती है।

पूँजीवाद में निजी सम्पत्ति के स्वामी ही इसका उपयोग तय करते हैं। अत उत्पादन—सम्बन्धी निर्णय सम्पत्ति के स्वामी करते हैं।धन के संग्रह को प्रोत्साहन दिया जाता है। व्यक्तिगत तथा कम्पनी की आय का कुछ भाग बचाया जाता है।

व्यक्तियों के बीच लेन—देन के समझौतों को कानूनी मान्यता— निजी सम्पत्ति मे केवल भौतिक पदार्थ जैसे मकान, कारखाने व दुकानें आदि ही नहीं आते, बल्कि सम्पत्ति के सूक्ष्म रूप जैसे व्यक्तियों के बीच हुए समझौते भी आते है। उदाहरण के लिए, यदि क ने ख को किसी भुगतान की एवज में अपनी सेवाएं उपलब्ध करने का कानूनी समझौता किया है, तो ख को यह अधिकार मिल गया है कि वह 'क' से निर्धारित कीमत पर उन सेवाओं की मांग कर सके।

(2) उत्तराधिकार या विरासत (Inheritance)— वैसे तो उत्तराधिकार की बात निजी सम्पत्ति से जुडी हुई है, लेकिन इसे पूँजीवाद की एक पृथक् संस्था भी माना जा सकता है। निजी सम्पत्ति का स्वामी अपनी मृत्यु के बाद अपनी सम्पत्ति किसी भी उत्तराधिकारी को देने का अधिकार रखता है, और वह उत्तराधिकारी सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार रखता है। निजी सम्पत्ति के अस्तित्व को निरन्तर बनाये रखने के लिए उत्तराधिकार की व्यवस्था आवश्यक होती है।

वैसे आजकल सम्पत्ति के व्यक्तिगत उपयोगों पर कुछ प्रतिबन्ध लग गये हैं। फिर भी पूँजीवादी प्रणाली में व्यक्ति का यह मूलभूत अधिकार कायम रहता है कि वह अपने अधिकार में होने वाले उत्पादन के साधनों का उपयोग अपनी इच्छानुसार कर सके। पूँजीवाद की अन्य संस्थाएं प्रमुखतया इसी पर आश्रित होती हैं।

(3) उद्यम की स्वतन्त्रता (Freedom of enterprise)— निजी सम्पत्ति की अवधारणा को उत्पादन के साधनों तक फैलाने से 'उद्यम की स्वतन्त्रता' प्राप्त होती है। *व्यक्ति या व्यक्ति—समूह काम—धन्धे का चुनाव करने में स्वतन्त्र होते हैं।* यदि किसी व्यक्ति के पास 50 हजार रुपये हैं तो वह इनको अपनी दुकान में लगा सकता है, या फैक्ट्री में अथवा किसी अन्य आर्थिक क्रिया में। यह बात प्रत्येक व्यक्ति पर लागू होती है, चाहे वह श्रमिक हो,प्राकृतिक साधनों का मालिक हो, अथवा पूँजी का स्वामी हो।

श्रमिक के सम्बन्ध में उद्यम की स्वतन्त्रता का अर्थ है व्यवसाय या काम—धन्धा चुनने की स्वतन्त्रता। *व्यक्ति अपनी पसन्द के अनुसार कोई भी व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता रखते हैं,* हालांकि साधनों व योग्यता के अभाव में सबको इसमें आवश्यक सफलता नहीं मिलती। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति डॉक्टर बनना चाहता है तो उसके पास अध्ययन के लिए पर्याप्त साधन होने चाहिएँ और साथ में इस कार्य के लिए न्यूनतम योग्यता भी। इन दोनों के अभाव में वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि दो पेशों में समान मात्रा में साधन व योग्यता की आवश्यकता है, तो पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में एक व्यक्ति को इनमें से चुनने में किसी भी रोक—टोक का सामना नहीं करना पड़ता।

इसी प्रकार भूमि व पूँजी के स्वामी अपनी पसन्द के अनुसार अपने साधनों का उपयोग कर सकते हैं। अन्त में उद्यमकर्त्ता, जो इन साधनों को जुटाता है, अपने *निर्णय के अनुसार इनका उपयोग करने का अधिकार रखता है।* मान लीजिए, किसी श्रमिक ने सूती वस्त्र की मिल में काम करने का निश्चय किया तो सर्वप्रथम यह उन श्रमिकों के लिए उद्यम की स्वतन्त्रता हुई, फिर मिल का मैनेजर अपने निर्णय के अनुसार फैक्ट्री में उन श्रमिकों का उपयोग करेगा तो यह उस मिल—मालिक की अपनी स्वतन्त्रता हुई।

(4) उत्पादन में निजी लाभ का उद्देश्य (Private Profit Motive)— पूँजीवाद में उत्पादन का प्रत्येक साधन अपने लाभ को ध्यान में रखकर निर्णय करता है। दूसरे शब्दों में हम इसे निजी 'लाभ की प्रेरणा' भी कह सकते हैं। निजी लाभ की प्रेरणा स्वतन्त्र उद्यम का अंग होती है। लाभ की मात्रा कुल प्राप्तियों व कुल लागतों का अन्तर होती है। सभी उद्यमकर्त्ता लाभ की प्रेरणा से कार्य करते हैं और इन प्राप्त—राशियों व लागत में अधिकतम अन्तर रखने का प्रयास करते हैं। उत्पादन का साधन उस स्थान व उपयोग में लगाया जाता है, जहाँ पर उसका प्रतिफल अधिकतम होता है। इस सम्बन्ध में 'अन्य उद्देश्य' गौण होते हैं। स्मरण रहे कि यहाँ *'लाभ का उद्देश्य' गलत नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह उत्पादन के* साधन के उपयोग का मार्ग—दर्शक होता है। यदि किसी व्यक्ति को अपनी मुद्रा पर

एक उपयोग में 10 प्रतिशत प्रतिफल मिले, और दूसरे उपयोग में 15 प्रतिशत प्रतिफल मिले, तो वह इसे, अन्य बातों के समान रहने पर, दूसरे उपयोग में ही लगाना चाहेगा। इस प्रकार समाज में प्रत्येक उत्पादन के साधन का उपयोग इसी तरह से निर्धारित होगा। **अर्थशास्त्रियों का मत है कि इस विधि से समाज में उत्पादन के साधनों का विभिन्न उपयोगों में सर्वोत्तम आवंटन या वितरण होता है।**

ध्यान रहे कि पूँजीवाद में उत्पादक व उपभोक्ता दोनों अधिकतम प्रतिफल के उद्देश्य से प्रभावित होते हैं। प्रत्येक उत्पादक न्यूनतम लागत पर अधिकतम माल उत्पन्न करना चाहता है। महँगे साधन के स्थान पर सस्ते साधन को लगाता है। उपभोक्ता अपने सीमित व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करता है।

(5) उपभोक्ता की सार्वभौमिकता (Consumers' Sovereignty)— लाभ की प्रेरणा व उपभोक्ता की पसन्द परस्पर जुड़े हुए हैं। लाभ उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन में अधिक मिलता है जिन्हें उपभोक्ता अधिक पसन्द करते हैं। अतः पूँजीवाद के संदर्भ में उपभोक्ता की सार्वभौमिकता की प्रायः पृथक् से चर्चा की जाती है। यह कहा जाता है कि **पूँजीवाद में उपभोक्ता एक राजा होता है।** वह बाजार में किसी भी वस्तु व वस्तु—निर्माता के भाग्य का निर्णय करता है। उसकी पसन्द बाजार भावों के माध्यम से प्रगट होती है। इस अर्थव्यवस्था में उत्पादक उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिन्हें उपभोक्ता अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि ऐसा करने से उनका मुनाफा अधिकतम होता है। इस प्रकार पूँजीवाद में उद्यम की स्वतन्त्रता, लाभ की प्रेरणा व उपभोक्ता की सार्वभौमिकता तीनों परस्पर एक दूसरे से जुड़े हुए होते हैं। इन्हें एक साथ देखा जाना चाहिए ताकि इस व्यवस्था की मूलभूत संस्थाएं ठीक से समझ में आ सकें।

कुछ लोग उपभोक्ता की सार्वभौमिकता में यह कह कर सन्देह प्रकट करते हैं कि (अ) उपभोक्ता की आमदनी सीमित होने से उसकी तथाकथित सार्वभौमिकता काल्पनिक रह जाती है, (आ) वह विज्ञापन आदि देखकर उत्पादित माल में से चुनाव करता है। इसलिए सार्वभौमिकता उसकी नहीं, बल्कि वास्तव में उत्पादक की होती है। इन तर्कों में कुछ सार अवश्य है, लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अपनी सीमित आमदनी व विज्ञापन आदि के बावजूद उपभोक्ता चाहे तो किसी पदार्थ को नापसन्द कर सकता है। जब अनेक उपभोक्ता ऐसा करते हैं तब उस वस्तु का भावी उत्पादन अवश्य प्रभावित होता है। इसलिए उपभोक्ता की शक्ति में सन्देह नहीं किया जाना चाहिए। समाज में वे वस्तुएं व सेवाएं ही उपलब्ध की जाती हैं जिन्हें उपभोक्ता चाहते हैं। अतः उत्पादकों को वस्तुओं के उत्पादन में उपभोक्ताओं की रुचि—अरुचि का अवश्य ध्यान रखना पड़ता है। उत्पादन के साधन उन दिशाओं में ले जाने पड़ते हैं जिनमें उनकी रुचि बढ़ती हुई होती है। इस प्रकार उत्पादक उन्हीं वस्तुओं का निर्माण करते हैं जिन्हें उपभोक्ता चाहते हैं, इसलिए पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता एक राजा माना जाता है।

(6) प्रतिस्पर्द्धा (Competition)— प्रतिस्पर्द्धा शुद्ध पूँजीवाद के विवेचन में एक प्रमुख शर्त मानी गई है। इसका अर्थ यह है कि साधन—बाजार व वस्तु—

बाजार में अनेक क्रेता व अनेक विक्रेता पाये जाते हैं। इससे एक क्रेता अथवा एक विक्रेता के कार्यों का मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पडता। कहने का आशय यह है कि समस्त क्रेता व समस्त विक्रेता मिलकर साधनों व वस्तुओं के भाव निर्धारित करते हैं और अकेले क्रेता व अकेले विक्रेता के लिए ये भाव दिये हुए माने जाते हैं। एक अकेले क्रेता को तो केवल यह तय करना पडता है कि वह प्रचलित कीमत पर वस्तु की कितनी मात्रा खरीदे एवं एक अकेले विक्रेता को यह तय करना पडता है कि वह कितनी मात्रा बेचे। प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में वस्तु की सन्तुलित–कीमत मांग व पूर्ति की शक्तियों के आधार पर तय होती है।

इस व्यवस्था में प्रतिस्पर्द्धा पर बल देने का आशय यह नहीं है कि निजी सम्पत्ति व उद्यम की स्वतन्त्रता के लिए प्रतिस्पर्द्धा का होना आवश्यक है। वास्तव में ये एकाधिकार के साथ भी चल सकते हैं। लेकिन पूँजीवाद के विवेचन में इसके प्रतिस्पर्धात्मक रूप पर अधिक बल दिया जाता है।

(7) निजी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा के लिए सरकारी व्यवस्था— इस अर्थव्यवस्था में सरकार का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। पहले बतलाया जा चुका है कि निजी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा के लिए सरकार का होना आवश्यक है। यदि सरकार नहीं होगी तो कोई भी व्यक्ति छल–छिद्र या बल–प्रयोग करके किसी दूसरे की सम्पत्ति छीन लेगा या हड़प लेगा। सरकार आन्तरिक व्यवस्था व सुरक्षा की देखभाल करती है। सरकार आवश्यकता पड़ने पर इस व्यवस्था की कमियों को दूर करने के लिए हस्तक्षेप भी करती है। लेकिन अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप से पूँजीवाद का स्वरूप बदल जाता है। दूसरी तरफ आजकल पूर्णतया स्वतन्त्र पूँजीवाद (जिसमें सरकार का आर्थिक जीवन में तनिक भी हस्तक्षेप न हो) न तो सम्भव है और न वांछनीय ही। अतः इस अर्थव्यवस्था की विभिन्न संस्थाओं पर आवश्यक प्रतिबंध लगाने से ही इसकी रक्षा की जा सकती है। लेकिन यह ध्यान रहे कि सरकारी हस्तक्षेप को नियम के रूप में नहीं, बल्कि अपवाद के रूप में स्वीकार करके ही पूँजीवादी व्यवस्था के मूल स्वरूप की रक्षा की जा सकती है। इस प्रणाली में सरकार का हस्तक्षेप यथासम्भव कम से कम होना चाहिए।

(8) केन्द्रीय योजना का अभाव— पूँजीवाद के उपर्युक्त लक्षणों के अलावा कुछ विद्वान 'केन्द्रीय योजना का अभाव' भी इसकी विशेषता मानते हैं। इस अर्थव्यवस्था में अनेक आर्थिक इकाइयों की क्रियाओं में परस्पर समन्वय स्थापित करने के लिए कोई केन्द्रीय योजना नहीं होती। वस्तुओं व साधनों के बाजार–मूल्य सरकार के द्वारा निर्धारित न होकर बाजार में मांग व पूर्ति की शक्तियों के द्वारा निर्धारित होते हैं। लेकिन केन्द्रीय योजना के अभाव का यह अर्थ नहीं है कि पूँजीवाद में सरकार का आर्थिक जीवन में जरा भी हस्तक्षेप नहीं पाया जाता। हम आगे चलकर देखेंगे कि इस व्यवस्था में सरकार उचित राजकोषीय व मौद्रिक नीतियाँ अपनाकर पूर्ण रोजगार, आर्थिक स्थिरता व आर्थिक समानता आदि प्राप्त करने का प्रयास कर सकती है। **लेकिन सरकारी हस्तक्षेप व केन्द्रीय नियोजन दोनों अलग–अलग बातें हैं। पूँजीवाद का सम्पूर्ण केन्द्रीय नियोजन से मेल नहीं बैठता।** वैसे इस अर्थव्यवस्था में उत्पादन की व्यक्तिगत इकाई अपने उत्पादन की योजना बना सकती है, लेकिन उसका किसी केन्द्रीय योजना से कोई वास्ता नहीं

होता। अतः शुद्ध पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मूलतया अनियोजित व स्वतंत्र होती है, लेकिन वह अस्तव्यस्त व अंधी गली में भटकने जैसी नहीं होती। इसमें स्वचालित ढंग से मांग व पूर्ति की शक्तियों के अनुसार सन्तुलन स्थापित होते रहते हैं। लाभ कमाने वाली इकाइयाँ उत्पादन जारी रखती है और घाटा उठाने वाली इकाइयाँ व्यवसाय से हटती जाती हैं। कहने का आशय यह है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के संचालन की अपनी एक निश्चित विधि होती है। एडम स्मिथ ने इसे एक 'अदृश्य शक्ति' (invisible hand) कहा है जो इस व्यवस्था में सन्तुलन स्थापित करती रहती है। इसके विपरीत साम्यवाद में 'सरकारी शक्ति' काम करती है।

पूँजीवाद में बचत व विनियोग के सम्बन्ध में काफी स्वतन्त्रता होती है। कोई भी व्यक्ति अपने उपभोग को कम करके अधिक बचत करने का निर्णय कर सकता है। इसी प्रकार विनियोगकर्त्ता एक विशेष समय में अपने निर्णय के अनुसार विनियोग की दिशा चुन लेता है। लेकिन ये सभी स्वतन्त्रताएं उद्यम की स्वतन्त्रता का ही अंग मानी जा सकती हैं।

हमने ऊपर शुद्ध पूँजीवाद के प्रमुख लक्षणों का वर्णन किया है। स्पष्ट है कि इस व्यवस्था में निजी सम्पत्ति उत्तराधिकार की प्रथा, उद्यम की स्वतन्त्रता, लाभ का उद्देश्य, उपभोक्ता की सार्वभौमिकता, प्रतिस्पर्द्धा, सरकार द्वारा निजी सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा, केन्द्रीय योजना का अभाव आदि तत्व पाये जाते हैं।

आज पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का व्यावहारिक रूप काफी बदल गया है। हम नीचे आधुनिक अथवा व्यवहार में पाये जाने वाले पूँजीवाद की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करके इसकी उपलब्धियों व कमियों पर प्रकाश डालेंगे।

पूँजीवाद का प्रचलित रूप अथवा आधुनिक स्वरूप

व्यवहार में पूँजीवाद जिस रूप में विकसित हुआ है उसमें और उसके ऊपर वर्णित रूप (शुद्ध रूप) में काफी अन्तर पाया जाता है। अमरीकी पूँजीवाद को नये ढंग का पूँजीवाद माना जा सकता है। यह 'शुद्ध पूँजीवाद' से काफी भिन्न है। आधुनिक पूँजीवाद में बाजार की अपूर्णताएं उत्पन्न हो गई हैं, जिसमें से कुछ के लिए स्वयं निजी क्षेत्र जिम्मेदार हैं, और कुछ के लिए सरकार। इन बाजार—अपूर्णताओं पर नीचे प्रकाश डाला जाता है।

(अ) निजी स्त्रोतों से उत्पन्न बाजार—अपूर्णताएं—(i) सीमित क्रेता व सीमित विक्रेता— हम पहले बतला चुके हैं कि पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में अनेक क्रेता व अनेक विक्रेता होते हैं जिससे साधन की कीमत व वस्तु की कीमत पर एक क्रेता या एक विक्रेता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लेकिन इस सम्बन्ध में बाजार की अपूर्णताएं, क्रेता—पक्ष अथवा विक्रेता—पक्ष, अथवा दोनों ओर से, उत्पन्न हो सकती हैं। क्रेता—पक्ष की ओर एक क्रेता, दो क्रेता व कुछ क्रेता पाये जा सकते हैं। इसी तरह विक्रेता—पक्ष की ओर से एक विक्रेता (एकाधिकारी), दो विक्रेता (द्वयाधिकारी) व कुछ विक्रेता (अल्पाधिकारी) पाये जा सकते हैं। हमें विक्रेता—पक्ष की ओर से

उत्पन्न एकाधिकारी दशाओं पर विशेष रूप से ध्यान देना है। कभी—कभी अनेक विक्रेता वस्तु-भेद के वातावरण में काम करते हुए पाये जा सकते हैं जिसे एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्द्धा कहते हैं। यह स्थिति अमेरिका में बहुत पायी जाती है। इसमें वस्तु-भेद के कारण प्रत्येक विक्रेता कुछ अंश तक एकाधिकारी शक्ति का भी प्रयोग करता है, और उसे साथ में अन्य विक्रेताओं से प्रतिस्पर्द्धा का भी सामना करना पड़ता है।

एकाधिकार के अन्तर्गत पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की तुलना में उत्पत्ति कम व कीमत अधिक होती है। एकाधिकारी का मुनाफा भी उत्पत्ति की एक दी हुई मात्रा के लिए अपेक्षाकृत अधिक होता है। इसलिए प्रत्येक उत्पादक अपनी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ अंश में एकाधिकारी—नियंत्रण स्थापित करना चाहता है। शुद्ध पूँजीवाद में इनकी सम्भावनाएं नहीं पाई जाती। वहाँ एक उद्योग में अतिरिक्त लाभ मिलने पर उसमें नये उद्यमकर्त्ता प्रवेश करते हैं और लाभ को घटाकर सामान्य स्तर पर ले आते हैं। इसमें यह मान लिया गया है कि नये उद्यमकर्त्ता किसी तरह से पूँजी की व्यवस्था कर लेते हैं। इस प्रकार शुद्ध पूँजीवाद में नई फर्मों के प्रवेश के कारण एकाधिकार की स्थिति नहीं रह सकती।

(II) कम्पनी संगठन— आधुनिक टेक्नोलोजी व बड़े पैमाने के उत्पादन ने व्यावसायिक जगत में कम्पनी व निगम के आधार पर संगठन विकसित किया है। **इसमें स्वामित्व व नियंत्रण के बीच खाई** उत्पन्न हो गई है। शेयरहोल्डर कम्पनी के वास्तविक स्वामी होते हैं, जबकि वेतनभोगी मैनेजर प्रबन्ध—सम्बन्धी निर्णय लेते हैं। कम्पनी—संगठन के कारण एकाधिकार को बढ़ावा मिला है।

(III) एकीकरण (Mergers)— आधुनिक पूँजीवाद में कुछ कम्पनियाँ आपस में मिल जाती हैं। **एकीकरण में दो या अधिक कम्पनियाँ आपस में मिल जाती हैं, जिसमें एक कम्पनी दूसरी कम्पनी को खरीद लेती है। वह अपना अस्तित्व तो बनाये रखती है, जबकि दूसरों का मिटा देती है।** जब एक ही वस्तु को बनाने वाली कम्पनियाँ आपस में मिलती हैं तो उसे **क्षैतिज एकीकरण** (horizontal merger) कहते हैं। जब एक वस्तु के उत्पादन की विभिन्न अवस्थाओं में लगी कम्पनियाँ, जैसे इस्पात उद्योग में कच्चा लोहा, कोयला, आदि उत्पन्न करने वाली कम्पनियाँ आपस में मिलती हैं तो उसे **उदग्र या लम्बवत् एकीकरण** (vertical merger) कहते हैं। इसी प्रकार विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में लगी कम्पनियों का एकीकरण किया जा सकता है। एकीकरण के पीछे कई उद्देश्य हो सकते हैं; जैसे अधिक पूँजी की प्राप्ति, बड़े पैमाने की बचतों का उपयोग, प्रतिस्पर्द्धा को मिटाना, आदि। एकीकरण ने एकाधिकार को बढ़ावा दिया है। **इससे कीमतें बाजार में निश्चित न होकर स्वयं एकीकृत कम्पनी तय करने लगती है, जो प्रतिस्पर्द्धात्मक कीमतों से ऊँची होती है।** ये प्रशासित या नियंत्रित कीमतें कहलाती हैं। ऐसी स्थिति में एकाधिकार विरोधी कानून बनाये जाते हैं। भारत में 1969 में एकाधिकार आयोग नियुक्त **किया गया था ताकि अर्थव्यवस्था में एकाधिकार की बढ़ती हुई प्रकृति को रोका जा सके।**

(iv) मजदूर संघ व सामूहिक सौदाकारी— आजकल मजदूर संघों के कारण मजदूर प्रतिस्पर्द्धात्मक मजदूरी से अधिक मजदूरी प्राप्त करने में समर्थ हो गये हैं। इस प्रकार शुद्ध पूँजीवाद में बाजार—अपूर्णता मजदूर—संघों की तरफ से भी उत्पन्न की गई है। अब मालिकों के संगठन मजदूरों के संगठनों से मुख्य औद्योगिक प्रश्नों पर विचार—विमर्श करते हैं। यह सामूहिक सौदाकारी कहलाती है। इससे शुद्ध पूँजीवाद व्यवहार में कम देखने को मिलता है।

(आ) सरकारी स्त्रोतों से उत्पन्न बाजार अपूर्णताएँ— सरकार के कार्यों ने एक तरफ बाजार अपूर्णताओं को कम करने का प्रयास किया है तो दूसरी तरफ अपने कार्यों से नई अपूर्णताएं भी उत्पन्न की हैं। सरकार ने सार्वजनिक उपक्रम स्थापित किये हैं और निजी उद्योगों का नियंत्रण व नियमन भी किया है।

सरकार समाज के हितों का ध्यान रखकर स्वयं कई वस्तुओं का उत्पादन करने लगी है। राष्ट्रीय सुरक्षा, न्याय, बिजली, गैस, टेलीफोन आदि की सरकारी व्यवस्था एक साधारण बात हो गई है। इनमें सार्वजनिक संस्थाओं का एकाधिकार पाया जाता है। विभिन्न प्रकार के ग्राहकों से अलग—अलग कीमतें वसूल की जाती हैं।

परोक्ष नियन्त्रण राजकोषीय व मौद्रिक नीतियाँ

आजकल पूँजीवादी देशों में आर्थिक उतार-चढ़ाव एवं आर्थिक असमानता वगैरा की समस्याओं के हल के लिए सरकार बजट एवं मौद्रिक नीति के माध्यम से समाधान ढूंढने का प्रयास किया जाता है। **उदाहरण के लिए मन्दी के समय कर कम कर दिये जाते हैं तथा सरकारी व्यय बढ़ा दिया जाता है और ब्याज कम करके निजी विनियोगों को प्रोत्साहन दिया जाता है। मुद्रास्फीति को कम करने के लिए कर बढ़ाये जाते हैं, सरकारी व्यय में कटौती की जाती है और साख-नियन्त्रण के उपायों का प्रयोग किया जाता है।** इस प्रकार सरकार का आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप बढ़ गया है और पूँजीवाद अपने पूर्व शुद्ध रूप से काफी दूर हट गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि **वास्तविक जगत में पाया जाने वाला पूँजीवाद शुद्ध पूँजीवाद से काफी भिन्न होता है।** केन्स के अर्थशास्त्र ने इस व्यवस्था को नया जीवन प्रदान किया है। सरकार प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन में भाग लेने लगी है और अपनी राजकोषीय, मौद्रिक व अन्य नीतियों के माध्यम से राष्ट्रीय आय, उत्पादन, रोजगार, उपभोग, बचत, विनियोग, कीमतों व आय के वितरण आदि को व्यापक रूप से प्रभावित करने लगी है। यही नहीं बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था में आर्थिक नियोजन भी किया जाने लगा है, हालांकि वह साम्यवादी व्यवस्था के केन्द्रीय व व्यापक नियोजन से काफी भिन्न होता है। पूँजीवादी नियोजन में बाजार-प्रणाली का उपयोग जारी रखा जाता है तथा यह नियोजन आंशिक किस्म का होता है।

प्रश्न उठता है कि अमेरिका, दक्षिण कोरिया, जापान व अन्य देशों की अर्थव्यवस्थाओं को पूँजीवादी अर्थव्यवस्था कह कर क्यों सम्बोधित किया जाता है। इसका उत्तर स्पष्ट है। **वहाँ आज भी निजी सम्पत्ति को कानूनी मान्यता प्राप्त है, उत्तराधिकार की संस्था विद्यमान है; चाहे उस पर कितने भी प्रतिबन्ध लगे हों, सरकार निजी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करती है, एवं वहां उद्यम की स्वतन्त्रता विद्यमान है।** वहाँ उपभोक्ता की सार्वभौमिकता पायी जाती है, लाभ की प्रेरणा के लिए अवसर होते हैं और कुछ सीमा तक प्रतिस्पर्द्धा भी पायी जाती है। अतः **शुद्ध पूँजीवाद तो समाप्त हो गया है, लेकिन इसकी आधारभूत संस्थाएं आज भी उन देशों में कायम है।** हम चाहें तो उसे नई किस्म का पूँजीवाद या नियन्त्रित पूँजीवाद भी कह सकते हैं। कहने का आशय यह है कि **सरकारी हस्तक्षेप के बावजूद कुछ देशों की अर्थव्यवस्थायें मूलतः पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को ही चला रही हैं।**

अब हम इस व्यवस्था के गुण-दोषों का उल्लेख करेंगे ताकि साम्यवाद व समाजवाद का विवेचन ज्यादा अच्छी तरह समझ में आ सके।

पूँजीवाद की उपलब्धियाँ या गुण
(Achievements or merits of capitalism)

अमेरिका में पूँजीवादी प्रणाली ने पिछले लगभग 150 वर्षों से अर्थव्यवस्था का संचालन किया है जिससे इसकी सफलताएं व असफलताएं हमारे सामने आई हैं। जापान भी एक विकसित पूँजीवादी देश है। हम आगे इस अर्थव्यवस्था के गुण-दोषों का विवेचन करते समय मुख्यतया अमेरिका व जापान के उदाहरणों पर ही निर्भर करेंगे। इस अर्थव्यवस्था की महान उपलब्धियों को देखकर आज भी कुछ विद्वान यह मानते हैं कि इस प्रणाली में सुधार किया जाना चाहिए, न कि इसका अन्त। हालांकि सैद्धान्तिक कारणों से मार्क्सवादी व साम्यवादी इसके अन्त को आवश्यक मानते रहे हैं। वैसे कार्ल मार्क्स ने भी अपने विवेचन में पूँजीवाद की विभिन्न उपलब्धियों की काफी सराहना की है। इनकी आर्थिक शक्ति व क्षमता निम्न गुणों से प्रकट होती है।

1. लोच (Flexibility)

पूँजीवाद ने वातावरण के अनेक परिवर्तनों के अनुसार अपने आपको ढालने की शक्ति प्रकट की है। इसने स्वयं को युद्ध व शान्ति, नई टेक्नोलोजी, उपभोक्ता की पसन्द के परिवर्तन, शहरीकरण व औद्योगीकरण के अनुसार बदला है। इसमें निर्णय लेने वाली इकाइयों जैसे उद्यमकर्ता, उपभोक्ता, श्रमिक, मजदूर-संघ आदि के द्वारा अपने आपको परिस्थितियों के अनुसार ढालने में शीघ्रता दिखाई गई है। इसने शीघ्र ही व्यावसायिक संगठन का कम्पनी रूप अपना लिया है। आज बड़ी-बड़ी कम्पनियों को देख कर कोई यह नहीं कह सकता कि ये पूँजीवाद के आरम्भ में नहीं थीं।

जापानी अर्थव्यवस्था ने भी पूँजीवादी ढांचे को अपनाकर काफी लचीलापन **व परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ढालने की अद्भुत क्षमता प्रदर्शित की है।**

1973-74 के प्रथम तेल-संकट का जिस खूबी से इसने सामना किया, वह दुनियाँ में बेमिसाल है। इसने ऊर्जा व तेल की खपत में कमी की है। टैक्नोलोजिकल प्रगति, अनुसंधान व विकास, लागत की कमी व वस्तु में गुणात्मक सुधार तथा निर्यात-संवर्द्धन ने वहां उद्योगों में विस्फोटक विकास (explosive growth) की दशा उत्पन्न की है। 1978-79 के दूसरे तेल-संकट तथा 1990 के तीसरे तेल-संकट का भी इसने बडी सफलतापूर्वक सामना किया है।

पूँजीवाद में विभिन्न संस्थागत परिवर्तनों को कानूनी रूप दे दिया गया है। इस व्यवस्था की लोच, नव-प्रवर्तन (innovation), परिस्थितियों के अनुसार अनुकूलन व समायोजन की क्षमता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि यह व्यवस्था अनेक जटिल सरकारी प्रतिबन्धों व हस्तक्षेप को भी अपने में समा सकी है, फिर भी निजी सम्पत्ति व उद्यम की स्वतन्त्रता इसके नीचे निरन्तर पल रहे है और सम्भवत भविष्य में भी पलते रहेंगे। स्वयं हमारे देश में अनेक सरकारी नियन्त्रणों के बावजूद पूँजीवादी अर्थव्यवस्था निरंतर चल रही है। इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था बडी लचीली व प्रगतिशील होती है।

2. पूँजी-निर्माण (Capital Formation)

पूँजीवाद में आर्थिक असमानता ने पूँजी-संग्रह को बढावा दिया है। इस प्रणाली ने उत्पादन के नये मार्ग खोले, जिससे बचतें बढ़ीं और उन्हें विनियोगों में बदला गया। अत तीव्र गति से पूँजी-निर्माण होने से पूँजीवाद में आर्थिक विकास काफी तेजी से हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि इस व्यवस्था में आमदनी की असमानताओं के कारण बचत की दर ऊँची होती है जिससे आर्थिक विकास में मदद मिलती है। जापान ने पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को अपनाकर ही तेजी से आर्थिक विकास किया, हालाँकि वहाँ सरकार ने भी विकास की प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग लिया है। पिछले वर्षों में वहाँ विनियोग की दर 30% से अधिक रही है, जिससे वहाँ विकास की दर को ऊँचा रखना सम्भव हो सका है।

3. रहन-सहन का बढ़ता हुआ स्तर

इस प्रणाली के अन्तर्गत ही अमेरिका के निवासियों ने अपने जीवन-स्तर में अत्यधिक वृद्धि की है। आज भी अमेरिका की सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) बहुत ऊँची है। यह भी ध्यान देने लायक है कि आय की असमानता के बावजूद बढ़ती हुई सम्पन्नता में समाज के सभी वर्गों ने भाग लिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूँजीवाद ने कई देशों में वहाँ के नागरिकों को ऊँचा जीवन-स्तर प्राप्त करने का अवसर दिया है। इस प्रगति में विज्ञान व टेक्नोलोजी का विशेष रूप से योगदान रहा है। अमेरिका, कनाडा व जापान आदि देशों में नागरिकों को ऊँचा जीवन-स्तर पूँजीवाद की ही देन है। आज जापान में 90 प्रतिशत से अधिक परिवारों के पास रंगीन टी वी सेट्स, विद्युतचालित वाशिंग मशीनें व रेफरीजरेटर्स पाये जाते हैं। लगभग आधे परिवारों के पास स्वयं की कारें हैं। इस प्रकार जापान पूँजीवादी व्यवस्था के माध्यम से ही इतना धनी व वैभवशाली राष्ट्र बन पाया है। इसकी छोटी कारें अमेरिका तक के बाजारों में छा गई हैं।

4. उद्यमशीलता व व्यक्तिगत प्रेरणा का विकास

पूँजीवादी व्यवस्था विभिन्न आर्थिक कार्यों के लिए उद्यमकर्ता को प्रोत्साहन देती है जो उत्पादन के साधनों का संगठन करते हैं, जोखिम उठाते हैं और महत्वपूर्ण निर्णय लेते हैं। व्यक्तिगत प्रेरणा का विकास इस व्यवस्था की छत्रछाया में ही हो सकता है। हमारे देश में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे जिनमें कुछ लोगों ने बहुत मामूली पूँजी से अपना काम चालू किया था। लेकिन उन्होंने बाद में बचतें की, विभिन्न दिशाओं में अपने विनियोग बढ़ाये और विशाल व्यवसाय स्थापित करके वे अपनी सन्तान के लिए काफी सम्पत्ति व अनेक प्रकार के काम-धन्धे व कारोबार छोड़ गये। उन लोगों ने अपनी उद्यमशीलता, मितव्ययिता, व्यक्तिगत प्रेरणा आदि का उपयोग करके ही उत्पादन के ऊँचे स्तर प्राप्त किये थे।

5. तकनीकी प्रगति

हम पूँजी के विकास व टेक्नोलोजी की प्रगति में अब स्वचालित यन्त्रों के प्रयोग की स्थिति में पहुँच गये हैं। निरन्तर अनुसंधान, आविष्कार या नये प्रयोगों के कारण बहुत जटिल यन्त्र हमारे बीच में आ गये हैं जो लागत कम करने की दृष्टि से काफी महत्व रखते हैं। पूँजीवादी ढाँचा सदैव लागत घटाने वाले परिवर्तनों को बढ़ावा देता है। तकनीकी प्रगति ने कृषि, उद्योग, परिवहन आदि सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है। अमरीकी या जापानी अर्थव्यवस्थाएं तकनीकी दृष्टि से काफी विकसित व आधुनिक मानी जाती हैं, लेकिन उनमें आज भी तकनीकी परिवर्तन जारी हैं। **सीटोवस्की (Scitovsky) ने प्रतिस्पर्धात्मक पूँजीवादी प्रणाली में दो प्रकार की कार्यकुशलताएँ मानी हैं, पहली तकनीकी कार्यकुशलता एवं दूसरी आर्थिक कार्यकुशलता। तकनीकी कार्यकुशलता में उत्पादन की लागत न्यूनतम की जाती है और आर्थिक कार्यकुशलता में उपभोक्ताओं की पसन्द के अनुसार माल बनाया जाता है।**

6. व्यक्तिगत योग्यता व प्रतिफल में सीधा सम्पर्क

पूँजीवादी प्रणाली में व्यक्तिगत योग्यता व प्रतिफल में सीधा सम्बन्ध पाया जाता है। ऊँची योग्यता दुर्लभ व कम होने से ऊँचे प्रतिफल प्रदान करती है। सफल औद्योगिक या आर्थिक इकाइयाँ जीवित रहती हैं एवं पनपती हैं। घाटे में चलने वाली इकाइयाँ बन्द हो जाती हैं। इस प्रकार पूँजीवाद 'कार्यकुशलता की नींव' पर टिका हुआ है। यह **"सबसे अधिक योग्य के जीवित रहने"** (Survival of the fittest) के सिद्धान्त को लागू करता है। इसमें अकुशल व कमजोर इकाइयों के लिए कोई स्थान नहीं होता।

7 पूँजीवाद, लोकतन्त्र व व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हामी रहा है

किसी भी अर्थव्यवस्था का मूल्यांकन केवल आर्थिक आधार पर ही नहीं हो जाता, बल्कि इसके सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक पहलुओं पर भी ध्यान देना होता है। आज भी एक औसत अमरीकी नागरिक व्यक्तिगत स्वतंत्रता व लोकतन्त्र

आदि के मूल्यों को अधिक महत्व देने के कारण पूँजीवादी प्रणाली को ही अधिक पसन्द करता है। यदि उसे साम्यवादी प्रणाली के अन्तर्गत दुगुनी आर्थिक विकास की दर प्राप्त करने का आश्वासन दिया जाय तो भी वह सम्भवत इसकी ओर आकर्षित नहीं होगा। पिछले वर्षों में हंगरी, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, बुलारिया व रोमानिया में साम्यवादी व्यवस्था के खिलाफ जो जन-आंदोलन हुए हैं, उनके पीछे लोकतंत्र, व्यक्तिगत स्वतंत्रता व बाजार-प्रणाली के प्रति जन-समर्थन ही माना जा सकता है। इन देशों में बाजार-प्रणाली को पसंद किया जाने लगा है।

8. आधुनिक टिकाऊ उपभोग की आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि पूँजीवाद में बाजार तन्त्र रेफ्रीजरेटर, टी वी, वीडियो-टेप रिकार्डर, एयर कन्डीशनर घड़ियाँ, शानदार पोशाकें व फर्नीचर, मोटरकार व अन्य आधुनिक जीवन की वस्तुओ के उत्पादन व वितरण की दृष्टि से काफी कार्यकुशल प्रमाणित हुआ है। जापान में अधिकांश परिवारों को ये पदार्थ उपलब्ध हो गये हैं। यह सब पूँजीवाद की ही देन है।

पूँजीवाद की कमियाँ या दोष
(Defects of Capitalism)

पूँजीवाद के आलोचकों ने इस व्यवस्था में पायी जाने वाली आय के वितरण की असमानता, सामाजिक असमानता, साधनों की बेकारी व उनका अपव्यय, एकाधिकार को लेकर इस व्यवस्था की तीक्ष्ण आलोचना की है। पूँजीवाद को साम्राज्यवाद से भी सम्बद्ध किया गया है। **ग्रिगोरी ग्रोसमैन के अनुसार, "मन्दी, बेरोजगारी, मुद्रास्फीति, धीमा विकास— ये स्पष्टतया ऐसी गम्भीर समस्याएँ हैं जिनका एक विकसित अर्थव्यवस्था को सामना करना पड़ता है। यही बातें निजी उपक्रम के सम्बन्ध में समाजवादी आलोचना का केन्द्र-बिन्दु रही हैं।"** इनका विवरण आगे दिया जाता है—

1. पूँजीवाद में धन एवं आय की भारी असमानता व अत्यधिक सामाजिक असमानता

पूँजीवाद ने, चाहे उत्पादन की समस्या हल करली हो, लेकिन इनके समर्थकों ने भी वितरण की असमानता को इसका सबसे बडा दोष माना है। उत्तराधिकार की संस्था के कारण आर्थिक असमानता कायम रहती है। पीढ़ी दर पीढ़ी सम्पत्ति का हस्तान्तरण *आय की असमानता को स्थाई बना देता है। समाज 'धनी' व 'निर्धन'* दो वर्गों में बँट जाता है जिससे सामाजिक तनाव, वर्ग-संघर्ष, हड़तालें, तालाबन्दी, घेराव आदि को बढ़ावा मिलता है। आर्थिक असमानता अवसर की असमानता को बढ़ाती है जिससे सामाजिक असमानता भी बढ़ जाती है।

अनर्जित आय (unearned income) —पूँजीवाद में अनर्जित आय के अवसर पाये जाते हैं। इसके निम्न रूप हो सकते हैं—(अ) एकाधिकारी लाभों से प्राप्त आमदनी, (आ) *भूमि व अन्य प्राकृतिक साधनों के लगान से प्राप्त आमदनी,* (इ)

विरासत के धन से प्राप्त आमदनी। आय को अनर्जित इसलिए कहा जाता है कि इनमें व्यक्ति को अपना प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इन सब बातों से इस प्रणाली में वितरण की असमानता काफी गम्भीर रूप धारण कर लेती है और सरकार के लिए असमानता को कम करने के उपाय अपनाना आवश्यक हो जाता है।

2. साधनों की बेकारी की समस्या

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की यह मान्यता थी कि इस व्यवस्था में आर्थिक साधनों का पूर्ण उपयोग होता है। इनमें कभी कोई साधन लम्बी अवधि तक बेकार नहीं रह सकता। लेकिन 1930 की दशाब्दी की महान् आर्थिक मन्दी ने यह स्पष्ट कर दिया था कि इस व्यवस्था में साधनों की बेकारी की स्थिति पाई जा सकती है। अर्थव्यवस्था में माँग की कमी के कारण श्रमिकों में बेकारी फैल जाती है। साधनों की गतिशीलता में रुकावटों के कारण भी उनके उपयोग में कमी पाई जा सकती है। कार्ल मार्क्स ने कहा था कि पूँजीवाद में बेरोजगार व्यक्तियों की काफी संख्या एक "रिजर्व सेना" के रूप में बनी रहती है। *अस्सी के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में* औद्योगिक देशों में मन्दी का प्रभाव काफी तीव्र रूप में पाया गया था। ब्रिटेन में बेरोजगारों का श्रम-शक्ति से अनुपात 1986 में 11.6 प्रतिशत हो गया था। अमेरिका में भी मुद्रास्फीति व बेरोजगारी की समस्या काफी गम्भीर रूप में पायी गयी है।

3. साधनों का अपव्यय (Wastage of resources)

प्राय प्रतिस्पर्धा के कारण औद्योगिक साज-सामान व उपकरण इतने बढ़ा लिए जाते हैं कि वे कुछ सीमा तक फालतू पड़े रहते हैं। नित्य नये उपकरण व यन्त्र सामने आते रहते हैं जिससे पहले के उपकरणों व यन्त्रों को समय से पूर्व ही खारिज करना पड़ता है। जैसे, मान लीजिए, एक मशीन पाँच वर्ष और चलती, लेकिन टेक्नोलोजी के परिवर्तन के कारण दूसरी नई व बेहतर मशीन आ गई। इसलिए पुरानी मशीन को हटाकर नई मशीन लगाने से समाज को समय से पूर्व ही पहली मशीन के उपयोग से वंचित होना पड़ेगा। इस प्रकार पूँजीवाद में काफी मशीनें जल्दी ही पुरानी पड़ जाती हैं, और उन्हें उत्पादन की प्रक्रिया से हटा दिया जाता है।

पूँजीवाद में आर्थिक अपव्यय का एक रूप ऐसे विज्ञापनों पर धन व्यय करना माना गया है जो झूठे व गुमराह करने वाले होते हैं। लेकिन उपभोक्ताओं को आकर्षित करने के लिए काफी विज्ञापनबाजी की जाती है, जिसका भार अन्तत उन्हीं के कन्धों पर पड़ता है। इस प्रकार पूँजीवाद में आर्थिक साधनों का काफी अपव्यय होता है।

4. एकाधिकार व निजी हाथों में आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण के दोष

पूँजीवाद में एकाधिकार व आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण होना स्वाभाविक है। भारत में कुछेक औद्योगिक परिवारों के पास आर्थिक सत्ता काफी सीमा तक केन्द्रित हो गई है। इसके राजनीतिक परिणाम भी घातक होते हैं और समाज में भारी असमानता उत्पन्न हो जाती है। हम पहले बतला चुके हैं कि एकाधिकार की

स्थिति में उत्पत्ति कम व कीमत अधिक होती है। उपभोक्ता व श्रमिकों के हितों का पूरा ध्यान नहीं रखा जाता। इस प्रकार टेक्नोलोजी की दृष्टि से अर्थव्यवस्था के उन्नत होने पर भी सर्वसाधारण को एकाधिकार के खतरे उठाने पड़ते हैं। कहने का आशय यह है कि एकाधिकार-पूँजीवाद काफी दोषपूर्ण होता है क्योंकि इसमें श्रमिकों व उपभोक्ताओं दोनों का शोषण किया जाता है।

5. मानव-कल्याण की नितान्त उपेक्षा व निजी लाभ पर अत्यधिक जोर

पूंजीवाद में प्रत्येक उत्पादक अपने हाथ में लागत व लाभ का तराजू लिए बैठा रहता है और प्रत्येक प्रश्न पर लाभ-अधिकतम करने व लागत-न्यूनतम करने की दृष्टि से विचार करता रहता है। मान लीजिए, किसी उत्पादक को शराब के उत्पादन में 20% लाभ मिलने की आशा है, और दूध के उत्पादन में केवल 10% तो शीघ्र ही साधन शराब के उत्पादन की ओर हस्तान्तरित हो जायेंगे। समाज की आवश्यकताओं व उनके कल्याण पर प्रत्यक्ष रूप से कोई विचार नहीं करेगा। पूँजीपति का लक्ष्य अधिक से अधिक उत्पत्ति करना और कम से कम लागत रखना होता है और इन्हीं को उचित माना जाता है। इस प्रकार इस व्यवस्था में मौद्रिक लाभों व मानवीय कल्याण के बीच समन्वय स्थापित करना कठिन होता है। इसमें कीमत-प्रणाली अपना कार्य करती रहती है और वह मांग और पूर्ति की शक्तियों के सहारे चलती रहती है। उसका और कोई जन-कल्याण का नीतिशास्त्र नहीं होता।

6. पूँजीवाद व व्यापार-चक्र (Capitalism and Trade-cycles)

पूँजीवाद में व्यापार-चक्र या आर्थिक तेजी-मन्दी के दौर आते रहते हैं, जिससे समाज के विभिन्न वर्गों को काफी कष्ट उठाना पड़ता है। व्यापार-चक्र में मुद्रास्फीति व मुद्रा-संकुचन की दशाएं आती हैं। मुद्रास्फीति से आय का वितरण अधिक असमान हो जाता है। मुद्रा-संकुचन के समय मांग की कमी से उत्पन्न मन्दी से बेकारी फैल जाती है और आर्थिक साधन बेकार हो जाते हैं। अमरीकी अर्थव्यवस्था मुद्रास्फीति का शिकार रही है, जबकि चीन में यह समस्या उस रूप में नहीं पायी गयी है, क्योंकि वहां अर्थव्यवस्था का नियोजित ढंग से संचालन किया जाता है और अधिकांश कीमतें बाजार में तय नहीं होतीं। फिर भी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने ऐसे राजकोषीय व मौद्रिक उपाय विकसित कर लिए हैं जो उसे आर्थिक तेजी-मन्दी से उबारने में मदद देते हैं। ये उपाय इस व्यवस्था को नष्ट होने से बचाते हैं। मुद्रास्फीति के समय करों में वृद्धि, सरकारी व्यय में कमी तथा ब्याज की दर में वृद्धि आदि उपाय काम में लिए जाते हैं। आर्थिक मंदी के समय करों में कमी, सरकारी व्यय में वृद्धि तथा ब्याज की दर में कमी तथा सार्वजनिक ऋणों में कमी आदि उपाय काम में लिये जाते हैं।

व्यापार-चक्र किन कारणों से उत्पन्न होते हैं?

1930 के दशक में महान मन्दी में व्यापार-चक्र के कई सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये थे। इसके तीन कारण बतलाये गये हैं मनोवैज्ञानिक, मौद्रिक व अधिक बचत की प्रवृत्ति। सर्वप्रथम, पूँजीगत वस्तुओं के कारखानों में उतार-चढ़ाव की प्रवृत्ति

आती है, तथा कृषिगत उपज में उतार-चढ़ाव आते हैं। मनोवैज्ञानिक कारणों में व्यवसायियों के द्वारा आशावाद व निराशावाद से प्रभावित होना माना गया है। मन्दी के बाद वे बेहतर समय की आशा में पूँजीगत सामान को बदलना प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे पुनरुत्थान की क्रिया फिर से चालू हो जाती है। इसी प्रकार तेजी की चरम सीमा पर उन्हें मन्दी आने की सम्भावना प्रतीत होती है तो वे अपने कार्यों से मन्दी को प्रारम्भ करवा देते हैं। कुछ लेखक व्यापार-चक्रों के लिए मौद्रिक कारणों को उत्तरदायी ठहराते है। मुद्रा की मात्रा व साख का विस्तार तथा ब्याज की दर के परिवर्तनों को व्यापार-चक्र का कारण माना गया है। कुछ विद्वान अधिक बचत तथा कम उपभोग को व्यापार-चक्र का कारण मानते हैं। इस प्रकार व्यापार-चक्र विशेषतया पूँजीवादी व्यवस्था में ही अधिक पाये जाते हैं। ये विभिन्न कारणों से उत्पन्न होते रहते है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है अस्सी के दशक के आरम्भ में विश्व में मन्दी की स्थिति रही जिससे विकसित व विकासशील दोनों प्रकार के देशों में विकास की गति धीमी हो गई थी।अमेरिका में भारी मात्रा में घाटे के बजटों व ऊँची वास्तविक ब्याज की दर के कारण निर्धन विकासशील देशों पर कर्ज का संकट काफी बढ़ा है। अमेरिका, ब्रिटेन आदि में बेरोजगारी की समस्या ने जटिल रूप धारण कर लिया है।

7. लाभदायकता पर जोर, न कि उत्पादकता बढ़ाने पर

कुछ लोगों का विचार है कि पूँजीवाद में उत्पादक लाभदायकता बढ़ाने पर अधिक जोर देते हैं, लेकिन उत्पादकता बढ़ाने पर आवश्यक ध्यान नहीं देते। लाभदायकता के अन्तर्गत तो कुल प्राप्तियों व कुल लागतों का अन्तर देखा जाता है, लेकिन उत्पादकता की धारणा अधिक व्यापक होती है। यदि कोई खान निजी उद्यमकर्ता को सौंप दी जाय तो वह उससे ज्यादा-से-ज्यादा खनिज-पदार्थ निकालकर अपना निजी लाभ अधिकतम करना चाहेगा, चाहे इस प्रक्रिया में वह सामाजिक क्षति ही क्यों न कर बैठे। इस प्रकार पूँजीवाद में व्यक्तिगत मुनाफों को अधिकतम करने की चेष्टा की जाती है एवं उत्पादकता बढ़ाने पर प्रत्यक्ष रूप से पूरा ध्यान नही दिया जाता।

8. यह व्यवस्था सार्वजनिक वस्तुओं को प्रदान करने में प्रयुक्त नहीं की जा सकती

सार्वजनिक वस्तुओं व सेवाओं जैसे सडक, पुलिस, सेना, बिजली, शिक्षा, चिकित्सा, अनुसन्धान, समुद्र में प्रकाश-घर बनाने, आदि में पूँजीवादी व्यवस्था बाजार-प्रणाली के माध्यम से आवश्यक विकास नहीं कर पाती। अत इसके लिए सरकार का आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार **पूँजीवाद सार्वजनिक वस्तुओं की सप्लाई बढ़ाने पर ध्यान नहीं देता।**

इस अर्थव्यवस्था में एकाधिकारी शक्ति व उससे उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिए दूसरी शक्ति उत्पन्न हो गई है, जिसे प्रोफेसर गैलब्रेथ ने **"प्रतिसंतुलनकारी शक्ति"** (countervailing power) कहा है। इसका अर्थ यह कि जहां बाजार में एक

तरफ विशाल व एकाधिकारी फर्में हैं, वहाँ दूसरी तरफ अन्य शक्तिशाली फर्में भी विकसित हो गई हैं। इस प्रकार एक तरफ की शक्ति दूसरी तरफ की शक्ति से सन्तुलित या बराबर हो गई है। ऐसा होने से कुछ सीमा तक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में प्रतिस्पर्धा की कमी से उत्पन्न हानियाँ कम हो गई हैं। साथ में विभिन्न वस्तुओं के बीच प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो गई है, जैसे इस्पात व एल्यूमिनियम के बीच, एल्यूमिनियम व कांच के बीच, कौंच व प्लास्टिक के बीच, प्लास्टिक व लकड़ी के बीच, आदि, आदि। इस प्रकार पूँजीवाद में प्रतिस्पर्धा की कमी से उत्पन्न खतरे कुछ सीमा तक कम किये जा सकते हैं।

9. पूँजीवादी व्यवस्था जल, थल व वायु-प्रदूषण की समस्या को हल नहीं कर पायी है।

विभिन्न देशों की सरकारों को प्रदूषण पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए विशाल मात्रा में स्वयं धनराशि के व्यय की व्यवस्था करनी पड़ी है। अत सरकारी हस्तक्षेप से इस समस्या का समाधान करने का प्रयास किया गया है।

10. विकसित पूँजीवादी देशों की नीतियों से विकासशील देशों के आर्थिक विकास पर विपरीत प्रभाव पड़े हैं।

योजना-आयोग के पूर्व सदस्य डॉ सी एच हनुमन्थराव का कहना है कि विकसित पूँजीवादी देशों के संकट का विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था पर तीन तरह से विपरीत असर पड़ा है। एक तो विकासशील देशों में **सैन्यकरण व शस्त्रीकरण बढ़ा है** जिससे पड़ौसी देशों के सम्बन्धों में परस्पर तनाव आया है। अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को अत्याधुनिक हथियार देने से भारत-पाक सम्बन्धों में तनाव बढ़ा है। दूसरा विपरीत प्रभाव यह है कि **व्यापार की शर्तें विकासशील देशों में विपक्ष में गई हैं,** जिससे इनकी *निर्यात-वस्तुओं की कीमतें अपेक्षाकृत नीची रही* हैं और इनको महंगे आयातों के कारण ऊँचे दाम देने पड़े हैं। इससे इनके लिए व्यापार के घाटे की समस्या बढ़ी है। तीसरी बात यह कि **पूँजीवाद देशों ने निर्धन विकासशील देशों की आर्थिक नीतियों का प्रभावित करने की कुचेष्टा की है** जिससे उनको ऐसी उदार नीतियाँ अपनाने के लिए प्रेरित किया गया है जिनका लाभ विकसित पूँजीवादी देशों को अधिक मिला है।

इस प्रकार विकसित पूँजीवादी देशों ने निर्धन विकासशील देशों में अस्थिरता व अशान्ति का वातावरण उत्पन्न करके करोड़ों नर-नारियों के जीवन को खतरे में डाल दिया है। अत पूँजीवाद में कुछ गम्भीर किस्म की कमियाँ भी पायी जाती हैं।

सारांश—

ऊपर पूँजीवाद के शुद्ध व व्यावहारिक रूप का वर्णन करके इसके गुण-दोषों का विवेचन किया गया है। उससे प्रकट होता है कि पूँजीवादी व्यवस्था में कई प्रकार के नये परिवर्तन हुए हैं जिससे अब इसका पहले वाला रूप बदल गया है। सरकार इसकी कमियों को दूर करने में संलग्न है। हमारे सामने दो विकल्प हैं (अ)

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आवश्यक सुधार करके इसकी कमियों को दूर करने का प्रयास करना, अथवा (आ) इस अर्थव्यवस्था का अन्त करके इसके स्थान पर साम्यवादी या समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करना। अगले अध्याय में हम दूसरे विकल्प को लेते हैं। पहले विकल्प के अनुसार सरकार को व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए उत्पादन में सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए एवं आर्थिक असमानता कम करने के लिए प्रत्यक्ष करों व सार्वजनिक व्यय का उपयोग करना चाहिए एवं आर्थिक अस्थिरता को कम करने के लिए राजकोषीय, मौद्रिक व भौतिक नियन्त्रण आदि उपायों का सहारा लेना चाहिए। इस प्रकार **पूँजीवाद में सुधार करना सम्भव है, इसका पूर्ण रूप से अन्त करने की आवश्यकता नहीं** (Capitalism can be mended, it need not be ended)। स्मरण रहे कि अमरीकी व जापानी अर्थव्यवस्थाओं में पूँजीवाद का प्रगतिशील रूप ज्यादा उभरा है। वहाँ उन्नत टेक्नोलोजी ने उत्पादन में वृद्धि की है और लोगों को उच्च जीवन-स्तर प्राप्त करने के अवसर दिये हैं। लेकिन उनमें आर्थिक उतार-चढ़ाव व आर्थिक असमानता के प्रश्न आज भी विद्यमान हैं, जिनकी वजह से सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक माना गया है। कुछ पूँजीवादी देशों की साम्राज्यवादी नीतियों के कारण निर्धन व विकासशील देश सैन्यकरण, शस्त्रीकरण व विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रता तथा उदार आर्थिक नीतियों के कुचक्र में फंस गये हैं, जिससे उनका आर्थिक विकास खतरे में पड गया है। विकासशील देशों को पूँजीवादी राष्ट्रों की कुचालों के जाल से मुक्त होकर अपने राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर आगे बढ़ने का प्रयास करना चाहिए, अन्यथा वे राजनीतिक व सामाजिक अस्थिरता के शिकार हो जायेंगे। कुछ विकसित पूँजीवादी राष्ट्र विकासशील निर्धन राष्ट्रों में अस्थिरता व अशान्ति उत्पन्न करने का निरंतर षड्यन्त्र रचते रहते हैं जिससे उनको सावधान रहने की आवश्यकता है।

पूँजीवाद के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इसमें कुछ कमियाँ भी हैं, लेकिन व्यक्तिगत स्वतंत्रता, काम करने की प्रेरणा, पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहन, टेक्नोलोजिकल प्रगति, आदि गुणों के कारण विश्व के समाजवादी व साम्यवादी देश भी आज इसकी ओर मुड गये हैं, जिससे पूँजीवाद व निजी उद्यमवाली अर्थव्यवस्था की सर्वोपरिता व उत्कृष्टता सिद्ध हो गयी है। फिर भी हमें इस प्रणाली के खतरों से सावधान रहना है, और उनसे बचने के लिए सरकारी हस्तक्षेप व उचित किस्म के नियन्त्रणों व नियमनों का उपयोग करने के लिए तत्पर रहना है। इस समय साम्यवाद व समाजवाद पतन की ओर हैं, तथा पूँजीवाद उत्थान की ओर है, लेकिन हमें इनके सम्बन्ध में 'संतुलित दृष्टिकोण' अपनाना चाहिए। हो सकता है आगे चल कर फिर समाजवाद के दिन आ जाएं।

प्रश्न

1. पूँजीवाद का अर्थ व इसके लक्षण स्पष्ट कीजिए। (Raj Iyr. 1992)
2. पूँजीवाद के गुण और अवगुणों को लिखिए।
3. पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की इतनी कमियों के बावजूद आज यह प्रणाली क्यों कायम है?

4 'पूजीवाद में सुधार करना सम्भव है,इसका पूर्णरूप से अन्त करने की आवश्यकता नही है।' इस कथन की जाच कीजिए। (Raj Iyr 1994)

5 'ऐसा प्रतीत होता है कि साम्यवादी व समाजवादी देश अपनी अर्थव्यवस्थाओं से ऊब गये हैं और वे पूजीवादी बाजार प्रणाली की ओर मुडना चाहते हैं।' यह कथन कहा तक सही है ? इस सम्बन्ध में पूजीवादी अर्थव्यवस्था के गुणों की चर्चा कीजिए।

6 निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये -
(अ) पूजीवादी अर्थव्यवस्था (Raj Iyr 1993)

• • •

13
समाजवाद व साम्यवाद
(Socialism and Communism)

पूँजीवाद के दोषों के कारण इस व्यवस्था का अन्त करने के लिए विश्व में समाजवाद व साम्यवाद का प्रचार-प्रसार हुआ है। समाजवाद के विभिन्न रूप हमारे सामने आये हैं। लेकिन इसमें मुख्यत दो रूप चर्चा के विषय रहे हैं (1) लोकतान्त्रिक समाजवाद (Democratic Socialism) एवं (2) साम्यवाद (communism)।[1] विवेचन की सरलता के लिए हम यह मान लेते हैं कि समाजवाद शान्तिपूर्ण तरीकों से स्थापित किया जाता है और इसमें कुछ सीमा तक *मूल्य-प्रणाली कायम रखी जाती है, जबकि साम्यवाद की स्थापना के लिए* क्रान्तिकारी तरीकों का उपयोग किया गया है, एवं इसमें मूल्य-प्रणाली पर आश्रित न रह कर केन्द्रीय आर्थिक नियोजन का व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है। **समाजवाद को साम्यवाद की प्रथम अवस्था कहा जा सकता है।** भूतकाल में समाजवाद का प्रयोग ब्रिटेन की लेबर पार्टी व स्वीडन की सरकार ने भी किया था। लेकिन अब इनका झुकाव निजी उद्यम वाली अर्थव्यवस्था की तरफ होने के कारण ये पूंजीवादी देशों की श्रेणी में ही गिने जाते हैं। साम्यवाद का प्रयोग रूस, चीन व क्यूबा में विशेष रूप से हुआ है। लेकिन वर्तमान में रूस साम्यवाद से हट कर निजी अर्थव्यवस्था की ओर जा रहा है।पूर्वी यूरोप के देशों में जैसे हंगरी, पौलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, बुलगारिया, व रोमानिया में साम्यवादी किस्म की अर्थव्यवस्थाएँ अपनायी गयी थीं, लेकिन पिछले वर्षों में वहाँ लोकतन्त्र व बाजार-प्रणाली को अपनाने के लिए प्रन-आन्दोलन होने से वहाँ गैर-साम्यवादी *सरकारें सत्तारूढ़ हुई है, और यह प्रक्रिया अभी जारी है। चीन में भी परिवर्तन हो* रहे हैं जिससे यह प्रतीत होने लगा है कि विश्व के विभिन्न देश समाजवाद से विमुख या दूर होते जा रहे हैं। हम आगे चलकर इस नई हवा के कारणों पर अधिक प्रकाश डालेंगे।

यूगोस्लाविया में मार्शल टीटो ने 1948 में रूस के मार्शल स्टालिन से मतभेद होने के कारण वहाँ से सम्बन्ध-विच्छेद करके अपनी पसन्द की समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया था। वर्तमान में वहाँ भी परिवर्तन के लिए कडा संघर्ष जारी है।

---

1. *प्रथम रूप को बाजार समाजवाद, उदार समाजवाद, विकासवादी समाजवाद अथवा केवल 'समाजवाद' भी कहते है, और दूसरे को वैज्ञानिक या क्रान्तिकारी समाजवाद भी कहा गया है।*

भूतकाल में भारत लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना करने का इच्छुक रहा है और इस दिशा में उसने कुछ कदम भी उठायें है, जैसे 20 बडे व्यावसायिक बैकों, जीवन बीमा कम्पनियों, हवाई यातायात व कोयला उद्योग का राष्ट्रीयकरण, सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार, निजी क्षेत्र पर नियन्त्रण व नियमन, भूमि-सुधार कानून व प्रगतिशील प्रत्यक्ष कर-व्यवस्था को अपनाना, आदि समाजवाद की दिशा में उठाये गये कदम माने जा सकते हैं। **लेकिन भारतीय अर्थव्यवस्था अभी तक मूलतया *पूँजीवादी 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' ही बनी रही है।*** *यहाँ सार्वजनिक व निजी क्षेत्र* दोनों को विकास का समान अवसर दिया गया है। अर्थव्यवस्था में मूल्य-प्रणाली का व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है। यह कहना गलत न होगा कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद 40 वर्षों में देश में पूंजीवाद ही अधिक मजबूत हुआ है। पिछले वर्षों में देश में आर्थिक उदारता की नीति अपनाई गई है और वर्तमान सरकार भी बहुत-कुछ उसी मार्ग पर आगे बढ रही है। हाल मे जुलाई 1991 में रुपये के लगभग 20 प्रतिशत अवमूल्यन, विदेशी व्यापार नीति व औद्योगिक नीति को उदार बनाने *(बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को इक्विटी में 51% शेयर देने व एकाधिकारी अधिनियम के* तहत कम्पनियों की परिसम्पत्ति-सीमा (asset-limit) को समाप्त करने) व लाइसेंस-प्रणाली को सरल बनाने के उपायों से भारतीय अर्थव्यवस्था अधिक मात्रा में बाजार अर्थ-व्यवस्था की ओर उन्मुख हुयी है; हालांकि आज भी इसे मिश्रित अर्थव्यवस्था ही माना जायगा।

इस अध्याय के प्रारम्भ में हम समाजवाद का परिचय देकर बाद में साम्यवाद के लक्षणों व उससे सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों पर विचार करेंगे।

समाजवाद की परिभाषा—लाउक्स व व्हिटनी के अनुसार, "समाजवाद की प्रचलित परिभाषा में वह आन्दोलन आता है जो बडे पैमाने के उत्पादन में प्रयुक्त होने वाले समस्त पूंजीगत माल के स्वामित्व व प्रबन्ध को व्यक्तियों की बजाय सम्पूर्ण समाज के हाथों में सौंपने का लक्ष्य रखता है, ताकि राष्ट्रीय आय में वृद्धि करके उसे अधिक समान रूप में बांटा जा सके। लेकिन ध्यान रहे कि ऐसा करने में व्यक्तिगत आर्थिक प्रेरणा अथवा व्यवसाय तथा उपभोक्ता के चुनाव की *स्वतन्त्रता* नष्ट न हो जाय।"

समाजवाद की उपर्युक्त परिभाषा में निम्न बातों पर बल दिया गया है—

(i) *इसमें बडे पैमाने में काम में ली जाने वाली समस्त पूँजीगत वस्तुएं* समाज के स्वामित्व में होती हैं, जैसे फैक्ट्रियाँ, मशीनरी, खेत, खानें आदि,

(ii) राष्ट्रीय आय में वृद्धि की जाती है और इसका अधिक समान बँटवारा करने का प्रयास किया जाता है,

(iii) इस व्यवस्था में व्यक्ति की काम करने की प्रेरणा, व्यवसाय के चुनाव की स्वतन्त्रता एवं उपभोक्ता की स्वतन्त्रता की रक्षा की जाती है। हम जानते हैं कि यह बात तो पूंजीवाद में विशेष रूप से पायी जाती है। **इसलिए समाजवाद में उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार और आमदनी का अधिक समान वितरण ये दो मुख्य विशेषतायें होती हैं। सच पूछा जाये तो**

समाजवाद का मुख्य तत्व 'समानता' माना गया है। समाजवादी इस बात पर एक मत होते हैं कि वे समाज में 'समानता' लाना चाहते हैं, हालांकि अन्य बातों पर परस्पर मतभेद भी हो सकता है।

सेमुअल्सन व नोरढाउस के समाजवादी विचारधारा के निम्न घटकों पर ध्यान आकर्षित किया है।

1. उत्पादन के साधनों पर सरकार का स्वामित्व—समाज में निजी सम्पत्ति का स्थान धीरे-धीरे कम होता जाता है और प्रमुख उद्योग जैसे रेल, सड़क, परिवहन कोयला व इस्पात आदि का धीरे-धीरे राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है। आधुनिक समाजवादी विचारक देश में समाजवाद की स्थापना के लिए 'राष्ट्रीयकरण' को अनिवार्य नहीं मानते। वे उत्पादन के साधनों पर सामाजिक नियन्त्रण के पक्ष में अवश्य_होते हैं। समाजवाद का आर्थिक विकास से सम्बन्ध जुड़ जाने से समाजवादियों का दृष्टिकोण काफी लचीला हो गया है। आर्थर ल्युइस ने बतलाया है कि आधुनिक अर्थव्यवस्था में प्रबन्ध व स्वामित्व में अन्तर हो जाने से बड़े पैमाने के सम्बन्ध में चार प्रकार के रूप सामने आये हैं।

(i) **निजी प्रबन्ध एवं परिसम्पत्ति** (assets) **पर निजी स्वामित्व**—यह निजी पूँजीवाद कहलाता है।

(ii) **निजी परिसम्पत्तियों का सार्वजनिक प्रबन्ध**—यह राष्ट्रीयकरण कहलाता है।

(iii) **निजी प्रबन्ध व परिसम्पत्तियों पर सार्वजनिक स्वामित्व**—यह संयुक्त क्षेत्र (joint sector) कहला सकता है, क्योंकि इसमें एक औद्योगिक इकाई, जैसे फैक्ट्री में सार्वजनिक पूँजी ज्यादा मात्रा में लगी होती है तथा प्रबन्ध का काम निजी हाथों में सौंपा जाता है।

(iv) **सार्वजनिक प्रबन्ध व परिसम्पत्ति पर सार्वजनिक स्वामित्व**—यह सार्वजनिक क्षेत्र कहलाता है। यह समाजवादी या पूंजीवादी दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में पाया जा सकता है।

आजकल समाजवादी उपर्युक्त में से संयोग (iv) के अलावा संयोग (iii) को भी अपनाने में कोई आपत्ति नहीं मानते, क्योंकि इसमें भी सार्वजनिक क्षेत्र का प्रभाव बढ़ता है। अत समय के साथ-साथ समाजवादियों का दृष्टिकोण भी बदला है और अधिकांश समाजवादी उत्पादन के साधनों पर पूर्णतया सरकार का स्वामित्व स्थापित करना आवश्यक नहीं मानते।

2 **आर्थिक नियोजन**—वैसे आजकल आर्थिक नियोजन का कुछ प्रयोग पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में भी होने लगा है, **लेकिन समाजवाद में तो आर्थिक नियोजन नितान्त आवश्यक माना गया है।** उत्पादन व्यक्तिगत लाभ की बजाय समाज के हितों की दृष्टि से किया जाता है। विज्ञापन पर व्यय कम किया जाता है और एक केन्द्रीय संस्था राष्ट्र के आर्थिक साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करने के लिए योजना बनाती है ताकि समस्त समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। आर्थिक नियोजन का बाजार-प्रणाली से कहाँ तक सम्बन्ध रखा जाय इस सम्बन्ध में

विभिन्न समाजवादी देशों में स्थिति एक-सी नहीं पायी जाती। यूगोस्लाविया में बाजार-प्रणाली को कायम रखा गया, जबकि रूस में बाजार-प्रणाली का कार्य शुरू में लगभग स्थगित कर दिया गया। रूस में भी भूतकाल में लिबरमैन (Liberman) जैसे विचारकों ने मैनेजरों की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए बोनस आदि के रूप में आर्थिक प्रेरणा देने के सुझाव दिये थे। अब तो वहाँ स्थिति साम्यवाद-विरोधी बन गयी है।

3. आय का पुनर्वितरण— आय व धन पर प्रगतिशील या आरोही दरों से कर लगाकर आय की असमानता को दूर करने का प्रयास किया जाता है और सामाजिक सुरक्षा, चिकित्सा सेवाओं व पालने से मरघट तक अनेक प्रकार के कल्याणकारी कार्य करके सरकार निर्धन लोगों को विशेष रूप से लाभ पहुँचाती है और देशवासियों के लिए न्यूनतम जीवन—स्तर की व्यवस्था करती है।

4. शान्तिपूर्ण व लोकतान्त्रिक विकास— जैसा कि पहले कहा जा चुका है समाजवाद की स्थापना शान्तिपूर्ण तरीकों व धीमी रफ्तार से सरकार के स्वामित्व का विस्तार करके की जाती है। यह प्रमुखतया 'वोट की क्रान्ति' मानी जाती है और चुनाव—प्रणाली में विश्वास रखती है।

इस प्रकार लोकतान्त्रिक समाजवाद में उत्पत्ति के प्रमुख साधनों पर समाज का स्वामित्व, आर्थिक नियोजन, कल्याण—राज्य की स्थापना, आय का पुनर्वितरण, कुछ सीमा तक उपभोक्ता को चुनाव की स्वतन्त्रता व लोकतन्त्र मुख्य तत्व माने गये हैं। इसमें तथा निजी उद्यम वाली अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि प्रथम में राज्य के स्वामित्व में ऐसे उद्योग चलाये जाते हैं जिनके पीछे मुनाफे का उद्देश्य नहीं होता। **इस प्रकार समाजवादी अर्थव्यवस्था में निजी उद्योग उसी रूप में पाये जाते हैं जिस रूप में पूँजीवाद अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक उद्योग पाये जाते हैं।** समाजवादी अर्थव्यवस्था को पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के स्थान पर अपनाने का प्रयास किया जाता है। दोनों में बाजार—तन्त्र का उपयोग किया जाता है। लेकिन समाजवाद केन्द्रीय नियोजन का अधिक सहारा लेता है तथा समानता लाने पर अधिक बल देता है।

हमें यह स्मरण रखना होगा कि **समाजवादी अर्थव्यवस्था का झुकाव 'केन्द्रीयता' की ओर तो होता है, लेकिन वह 'तानाशाही' की तरफ नहीं होता।** इसमें उपभोक्ता की स्वतन्त्रता को कायम रखा जाता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि साम्यवाद व नाजीवाद में उपभोक्ता की पसन्द व प्राथमिकताओं को उत्पादन व साधन—आवंटन का आधार नहीं बनाया जाता। इस प्रकार समाजवाद में नियोजन व बाजार—प्रणाली एवं उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व व व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में आवश्यक तालमेल बैठाने का प्रयास किया जाता है जिससे व्यवहार में काफी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। समाजवाद पूर्ण समानता को आवश्यक नहीं मानता और कुछ सीमा तक मजदूरी के अन्तरों को भी स्वीकार करता है। श्रमिकों की कार्यकुशलता व उनकी व्यक्तिगत योग्यता के कारण मजदूरी के अन्तर कायम रखे जाते हैं।

सच पूछा जाय तो बाजार–समाजवाद का स्थान पूँजीवाद व साम्यवाद के बीच में होता है। जॉर्ज एन. हॉम के शब्दों में "यह निजी उद्यम वाली अर्थव्यवस्था के साथ निम्न बातों में समानता रखता है–व्यवसाय के चुनाव की स्वतन्त्रता व उपभोक्ता की सार्वभौमिकता उत्पादन का मार्ग–दर्शन करने व उत्पादन के साधनों का आवंटन करने में कीमतों का उपयोग, कुछ सीमा तक आय के वितरण में असमानता एवं उत्पादन में विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता में विश्वास। यह साम्यवाद से निम्न बातों में समानता रखता है– अर्थव्यवस्था का अधिक स्पष्ट रूप से समूहवादी स्वरूप, अर्थात् सामाजिक–आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति का यथेष्ट प्रयास, उत्पादन के भौतिक साधनों पर राज्य का स्वामित्व, आय का समान वितरण, और एक केन्द्रीय आर्थिक अधिकारी का अस्तित्व जो पूँजी–निर्माण की दर तय करता है और जहाँ बाजार–शक्तियाँ अपना कार्य बन्द कर देती हैं वहाँ यह आवश्यक मार्ग–दर्शन करता है।"[1]

समाजवाद के समक्ष उपर्युक्त ढंग से कार्य–संचालन के लिए कई प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं। यह पूँजीवाद व समाजवाद के बीच में रहता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि साम्यवादी अर्थव्यवस्था का मॉडल ज्यादा स्पष्ट व सुनिश्चित होता है, क्योंकि इसमें उपभोक्ता को उत्पादित वस्तुएं ही लेनी होती हैं एवं श्रमिकों को कठोर आर्थिक योजना के अनुसार काम करने के लिए बाध्य किया जाता है।

क्या समाजवाद पूँजीवाद से ज्यादा अच्छा होता है?

इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं है कि समाजवाद पूँजीवाद से ज्यादा अच्छा होता है या नहीं, क्योंकि एक आर्थिक प्रणाली के चुनाव पर सामाजिक तथा राजनीतिक तत्वों का भी प्रभाव पड़ता है। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि पूँजीवाद के दोषों को दूर करने के लिए ही समाजवादी विचारधारा का जन्म हुआ था। **समाजवाद का निर्देशक सिद्धान्त "प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यतानुसार काम लेना तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसके काम के अनुसार प्रतिफल देना" माना गया है। इसके विपरीत साम्यवाद में 'प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यतानुसार काम लेना तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के मुताबिक प्रतिफल देना' प्रमुख सिद्धान्त माना गया है।** समाजवाद में अधिक उत्पादन व उचित वितरण को प्राप्त करने पर जोर दिया जाता है। निर्धन व विकासशील देशों के लिए 'आर्थिक समानता' की अपील के कारण समाजवाद अधिक आकर्षक बना है। समाजवाद को पूँजीवाद से निम्न कारणों से अधिक उत्तम बतलाया गया है–

(1) सामाजिक हितों का अधिक ध्यान– समाज में उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व स्थापित किया जाता है और उन साधनों का उपयोग सामाजिक हितों को ध्यान में रखकर किया जाता है, जिससे **आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन को प्राथमिकता मिलती है।**

---

1. George N. Halm, *Economic Systems : A Comparative Analysis*, 3rd ed, p. 183.

(2) **आय की असमानतायें कम होती हैं।**

(3) **मजदूरों की प्रबन्ध में सक्रिय भागीदारी सम्भव होती है,** जैसा कि यूगोस्लाविया में श्रमिकों की परिषदों के द्वारा किया गया। **पूँजीवाद में यह एक नारा ही बना रहता है।**

(4) **आर्थिक नियोजन अधिक सफल हो पाता है।**

(5) **समाजवादी देश मुद्रास्फीति, मंदी व बेकारी के अपेक्षाकृत कम मात्रा में शिकार होते हैं।** *वहाँ विभिन्न प्रकार के आर्थिक नियंत्रण अर्थव्यवस्था को ज्यादा* उत्पादक व कार्यकुशल बनाते हैं और आर्थिक शोषण कम करने का हर सम्भव प्रयास किया जाता है।

(6) **समाजवाद 'कल्याण–राज्य' (Welfare state) की स्थापना में ज्यादा प्रगति दिखा पाता है।** इसमें सरकार सामाजिक उपभोग–कोषों के माध्यम से आम जनता को निःशुल्क शिक्षा, चिकित्सा व अन्य कई प्रकार की सुविधाएं पहुँचाती है। इससे नागरिकों के जीवन–स्तर को ऊँचा उठाने में भी काफी मदद मिलती है।

साम्यवाद अथवा आदेश अर्थव्यवस्था
(Communism or Command Economy)

पहले रूस साम्यवाद का गढ़ माना जाता था। लेकिन अब यह चीन व क्यूबा में विशेष रूप से प्रचलन में है। साम्यवाद की मूल प्रेरणा कार्ल मार्क्स (1818–1883) के द्वारा प्रतिपादित "वैज्ञानिक समाजवाद" से मिली है। मार्क्स ने अर्थशास्त्र व इतिहास के नये सिद्धान्त की रचना की थी। 1848 में मार्क्स व एन्जिल्स ने एक साम्यवादी घोषणा–पत्र निकाला था। यहाँ पर स्मरण रखना होगा कि मार्क्स ने साम्यवादी अर्थव्यवस्था का कोई स्पष्ट व सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत नहीं किया था, हालांकि उसने पूँजीवाद की तीक्ष्ण आलोचना की और यह दावा किया कि पूँजीवाद के विनाश के बीज स्वयं इस अर्थव्यवस्था में ही मौजूद हैं, और अन्त में समाजवाद का उदय होकर रहेगा। हम साम्यवाद का विवेचन करने से पूर्व मार्क्सवादी साम्यवाद का संक्षिप्त परिचय देंगे।

मार्क्सवादी साम्यवाद— मार्क्स ने हीगल के दर्शन को अपने विचारों का आधार बनाया था। हीगल के अनुसार विचारों के संघर्ष से परिवर्तन आता है। प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है और विचारों के संघर्ष से एक नया संयोग उत्पन्न होता है। इस प्रकार समाज निरन्तर बदलते रहते हैं। मान लीजिए, कोई व्यक्ति एक नये कर का समर्थन करता है तो यह क्रिया हुई। दूसरा इसका विरोध करता है तो यह प्रतिक्रिया हुई। मान लीजिए, इन दोनों के विचारों के संघर्ष से यह तय हुआ कि सरकार को अपना व्यय घटाना चाहिए तो यह संयोग अथवा नया विचार हुआ, जो कर के ढाँचे से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। मार्क्स ने कहा था कि समाज में सम्पत्ति के स्वामियों *(बूर्जुआ)* के विचार *श्रमिकों* के विचारों से नहीं मिलते। इससे समाज में वर्ग–संघर्ष उत्पन्न होगा और उसमें से साम्यवाद नाम की नई अर्थव्यवस्था का उदय होगा। वर्ग–संघर्ष का कारण मार्क्स ने 'अतिरिक्त मूल्य' (Surplus value) बतलाया था। मार्क्स का कहना था कि पूँजीवादी समाज में श्रमिकों को मजदूरी

उतनी नहीं मिलती जितना वे उत्पादन करते हैं। अत उत्पादन के मूल्य व मजदूरी का अन्तर मजदूरों का 'आर्थिक शोषण' होता है जो मालिकों को प्राप्त होता है।

मिल–मालिक 'अतिरिक्त मूल्य' से पूँजी–निर्माण करते हैं। मशीनों का उत्तरोत्तर अधिक उपयोग होने से बेकारों की 'एक रिजर्व सेना' बन जाती है और मजदूर वर्ग के कष्ट निरन्तर बढ़ते जाते हैं। बेकारी के बढ़ने से लोगों की कुल माँग कम हो जाती है जिससे आवश्यकता से अधिक उत्पादन की समस्या उत्पन्न हो जाती है और पूँजीवाद आर्थिक मन्दी की अवस्था में प्रवेश कर जाता है। औद्योगिक फर्में एकाधिकार की ओर अग्रसर होती हैं, विदेशी बाजार ढूंढने का प्रयास किया जाता है और पूँजीवादी साम्राज्यवाद का उदय होता है। इधर मजदूर–वर्ग का असंतोष चरम सीमा पर पहुँच जाता है और क्रान्ति के जरिए 'बूर्जुआ' को हटाकर अपनी सत्ता स्थापित कर लेता है। इससे *'सर्वहारा–वर्ग या मजदूरों की अधिनायकशाही'* स्थापित हो जाती है। इसके बाद समाजवाद की स्थापना की जाती है जिसमें सर्वहारा–वर्ग अपनी सत्ता का कुछ अंश कम कर देता है और अन्त में साम्यवाद की स्थापना की जाती है। मार्क्स की कल्पना के अनुसार साम्यवाद के अन्तिम चरण में राज्य की आवश्यकता नहीं रहती। जैसा कि पहले कहा गया है **"प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार काम करेगा और प्रत्येक अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रतिफल लेगा।"** का आदर्श साम्यवाद के 'अन्तिम चरण' का आदर्श माना गया है।

रूस में लेनिन ने साम्यवादी सिद्धान्त को काफी आगे बढ़ाया था। उसने पेशेवर क्रान्तिकारियों के समूह तैयार करने पर बल दिया था। ये क्रान्तिकारी सर्वहारा–वर्ग का मार्ग–दर्शन करते हैं। मार्क्स का यह मत था कि साम्यवाद पहले औद्योगिक राष्ट्रों में आयेगा, लेकिन लेनिन का मत था कि विश्व के पिछड़े प्रदेशों में भी इसको तेजी से लाया जा सकता है।

मार्क्सवादी साम्यवाद का उपर्युक्त वर्णन इसकी मुख्य बातों पर प्रकाश डालता है। यह एक विश्वव्यापी श्रमिक आन्दोलन के रूप में बहुत लोकप्रिय माना गया था। इसमें कोई संदेह नहीं कि उत्पादन के पूँजीवादी ढांचे को उखाड़ फेंकने के लिए इसने जनवादी आन्दोलन का रूप लिया है। रूस के बाद चीन में साम्यवाद की स्थापना के सम्बन्ध में किये गये प्रयासों से विश्व का ध्यान इस व्यवस्था की ओर पुन आकर्षित हुआ था।

हम भूतकाल में रूस व चीन के प्रयासों व परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए नीचे साम्यवाद का विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

साम्यवाद का अर्थ– होम के अनुसार, **"निरंकुश समाजवादी (या साम्यवादी) अर्थव्यवस्था में उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य का स्वामित्व होता है, उत्पादन के उद्देश्य निरंकुश व स्वेच्छाचारी ढंग से निर्धारित होते हैं और एक व्यापक व विस्तृत किस्म की केन्द्रीय योजना पाई जाती है।"** यहाँ पर यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि साम्यवाद में भी उपभोग के स्वतन्त्र चुनाव की थोड़ी मात्रा में व्यवस्था की जा सकती है, और मजदूरी में भेद करके श्रम का विभिन्न उपयोगों में आवंटन किया जा सकता है। ऐसा रूस की साम्यवादी

अर्थव्यवस्था में किया भी गया था। अत साम्यवाद में बहुधा योजनाधिकारियों की पसन्द ही चलती है, लेकिन उनके द्वारा प्रदान की गई वस्तुओं व सेवाओं में उपभोक्ता को चुनाव करने का सीमित मात्रा में अवसर दिया जाता है।

साम्यवाद के लक्षण या विशेषताएं

नीचे साम्यवाद के प्रमुख लक्षणों का विवेचन किया गया है।

1 **उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व**— साम्यवाद में उत्पादन के प्रमुख साधनों पर राज्य का अधिकार होता है। इसके लिए राष्ट्रीयकरण का तरीका अपनाया जाता है। दूसरे शब्दों में, साम्यवाद में उत्पादन के साधनों में व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहने दी जाती। कृषि की सामूहिक प्रणाली को अपनाने पर बल दिया जाता है, जिससे भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार समाप्त हो जाते हैं। अधिकाँश नागरिक सरकारी कर्मचारी बन जाते हैं।

2. **साधनों का सार्वजनिक हित में उपयोग**—साम्यवाद में उत्पादन के साधनों का उपयोग सार्वजनिक हित में किया जाता है। इसके विपरीत पूँजीवाद में यह निजी लाभ की भावना से किया जाता है। अत साम्यवाद में सामाजिक लागत व सामाजिक लाभों पर विचार किया जाता है, जबकि निजी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था निजी लाभों व निजी लागतों के आधार पर चलायी जाती है। इस प्रकार साम्यवाद में जनता के हितों को सबसे ऊँचा स्थान दिया जाता है।

3 **केन्द्रीय नियोजन**— पॉल एम स्वीजी व मॉरिस डॉब आदि ने साम्यवादी अर्थव्यवस्था के लिए व्यापक केन्द्रीय नियोजन आवश्यक बतलाया है। केन्द्रीय नियोजन में इन्पुट-आउटपुट तालिकाओं का उपयोग करके कई प्रकार के सन्तुलन (balances) स्थापित किये जाते हैं। मान लीजिए, किसी वस्तु की माँग के बढ़ने की आशा में उत्पत्ति बढ़ानी है तो उसके लिए आवश्यक कच्चे माल व इन्पुटों का अनुमान लगाया जाता है। फिर अन्य इन्पुटों के उत्पादन के लिए आवश्यक अन्य इन्पुटों का हिसाब लगाया जाता है। इस बात को एक सरल उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए, सूती वस्त्र की मिल में काम आने वाली मशीनरी का उत्पादन बढ़ाना है। इसके लिए उन मशीनों का उत्पादन करना होगा जो सूती वस्त्र मिल मशीनरी का निर्माण कर सकेंगी। फिर इस्पात, कोयला आदि की व्यवस्था करनी होगी। इस्पात का उत्पादन करने के लिए पुन कच्चे लोहे, मशीनरी व कोयला आदि की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार विभिन्न इन्पुटों व आउटपुटों में नया सन्तुलन स्थापित करना होगा। एक अर्थव्यवस्था में अनेक वस्तुएँ उत्पन्न की जाती है, इसलिए इन्पुट-आउटपुट सारणी काफी बड़ी हो जाती है। लेकिन इससे केन्द्रीय नियोजन की प्रक्रिया का कुछ आभास अवश्य हो जाता है।

स्मरण रहे कि साम्यवाद में भौतिक नियोजन पर जोर दिया जाता है और विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित किये जाते है और उनको प्राप्त करने के लिए आवश्यक साधनों की व्यवस्था की जाती है। इस व्यवस्था में नियोजन ही सर्वोपरि माना गया है और बाकी सब गौण माने गये हैं। कीमतों, बजटों, बैंकों

आदि का उपयोग नियोजन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये *किया* जाता है।

4. मूल्य-प्रणाली के कार्य पर रोक—साम्यवाद के अन्तर्गत अपनाये गये केन्द्रीय नियोजन में मूल्य प्रणाली की क्रिया पर कुछ सीमा तक रोक लगा दी जाती है। इसमें उपभोक्ता यह निर्णय नहीं करते कि क्या उत्पादित किया जायेगा, और मैनेजर स्वतन्त्र रूप से कीमत-लागत सम्बन्धों के आधार पर स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य *नहीं कर सकते। बल्कि उन्हें तो योजना में निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करना होता* है। केन्द्रीय नियोजन बोर्ड बाजार में निर्धारित मूल्यों पर इसके लिए निर्भर नहीं करता कि जो कुछ आवश्यक है वह ठीक समय पर ठीक स्थान पर एवं ठीक मात्राओं में प्राप्त हो जायेगा। अत **योजना का सब क्षेत्रों पर नियन्त्रण होता है। स्वयं कीमतें भी योजना में सहायक के रूप में प्रयुक्त होती हैं। कीमतें केवल हिसाब-किताब के लिए दी हुई होती हैं, वे बाजार में मांग व पूर्ति की शक्तियों से निर्धारित नहीं होतीं।** हिसाब के लिए रखी गई कीमतें कृत्रिम रूप से *निर्धारित होती हैं और वे बहुत कम बदली जाती हैं। पूंजी व भूमि के बाजार नहीं* होते जहां कोई इन्हें कीमत देकर खरीद सकें। उदाहरण के लिए, **कोई व्यक्ति बाजार में भूमि नहीं खरीद सकता।** उत्पादन के साधनों पर सरकार का अधिकार होता है। अत पूँजी व भूमि के प्रतिफल या मूल्य क्रमश ब्याज व लगान के रूप में योजनाधिकारी अपनी तरफ से लगाते या आंकते हैं। ये बाजार में मांग व पूर्ति से निर्धारित नहीं होते । **इस प्रकार उत्पादन के साधनों के मूल्य योजनाधिकारियों द्वारा निर्धारित अनुमानित या काल्पनिक मूल्य होते हैं। इन्हें एक प्रकार से ऊपर से थोपे हुए मूल्य भी कहा जाता है।**

5. उपभोक्ता की सार्वभौमिकता का अन्त—ऊपर कहा जा चुका है कि साम्यवाद में योजनाधिकारी की पसन्द के अनुसार उत्पादन किया जाता है। उपभोक्ता को जो कुछ *माल* उत्पादित हुआ है उसी में से खरीदना होता है। *अत* **साम्यवाद में उपभोक्ता को पूरी स्वतन्त्रता तो नहीं मिलती, लेकिन उसे कुछ सीमा तक चुनाव की स्वतन्त्रता अवश्य दी जाती है।** उत्पादित वस्तुओं में से उपभोक्ता "यह न लेकर वह लेने" का प्रयास कर सकता है। वस्तुओं के मूल्य लागत के आधार पर निर्धारित होते हैं। मांग के परिवर्तनों के अनुसार उत्पादन का ढाँचा परिवर्तित नहीं किया जाता। वैसे भी 'उपभोक्ता-माल' के स्थान पर 'पूँजीगत माल' (मशीनें, उपकरण, आदि) के उत्पादन पर अधिक बल दिया जाता है। इसलिए साम्यवाद में बहुधा विकास के शुरू के वर्षों में *उपभोक्ता-माल का अभाव* देखा जाता है।

6. भारी उद्योगों व सुरक्षा उद्योगों के विकास पर अधिक बल—साम्यवादी *अर्थव्यवस्थाओं का अनुभव यह बतलाता है कि उनमें विकास के प्रारम्भिक वर्षों में* भारी मशीन-निर्माण के उद्योगों, रासायनिक उद्योगों, विद्युत के विकास आदि पर अधिक बल दिया जाता है, जिससे पूँजी-निर्माण की दर काफी ऊँची हो जाती है। इससे अर्थव्यवस्था में उत्पादन-शक्ति बहुत बढ़ जाती है। आगे चलकर वह *अर्थव्यवस्था विकास के साधनों की दृष्टि से आत्म-निर्भर* बन जाती है। इसे मशीनों

के लिए दूसरे देशों का मुँह नहीं ताकना पड़ता। इसी प्रकार साम्यवादी अर्थव्यवस्था में सुरक्षा-सम्बन्धी उद्योगों को भी ऊँचा स्थान दिया जाता है ताकि उसकी युद्ध-मशीनरी काफी मजबूत हो सके।

साम्यवादी अर्थव्यवस्था मूलभूत प्रश्नों को किस प्रकार हल करती है?

साम्यवाद में विभिन्न आर्थिक प्रश्नों का हल निम्न प्रकार से किया जाता है —

1. 'क्या' उत्पन्न किया जायेगा ? साम्यवाद में योजनाधिकारी जनता के प्रतिनिधि के रूप में यह निर्णय करते हैं कि अमुक वस्तुओं का उत्पादन किया जायेगा और अमुक का नहीं किया जायेगा। जैसाकि पहले कहा जा चुका है साम्यवाद में सुरक्षा के सामान व पूँजीगत माल के उत्पादन को सदैव उपभोक्ता-माल के उत्पादन की तुलना में ऊँचा स्थान दिया जाता है। इस प्रकार उपभोग को कम करके अथवा इसकी वृद्धि को नियंत्रित करके साम्यवाद में तीव्र गति से पूँजी-निर्माण किया जाता है।

2. 'कैसे' उत्पन्न किया जायेगा— योजनाधिकारी उत्पादन का कार्यक्रम निर्धारित करते हैं। उत्पादन की इकाइयों को आवश्यक साधन उपलब्ध किये जाते हैं। उन्हें उत्पादन के साधन बाजार में खरीदने की स्वतन्त्रता नहीं होती। **विभिन्न उपक्रमों को कच्चा माल प्रत्यक्षतया सरकार के द्वारा दिया जाता है।** कच्चे माल व अन्य इन्पुटों की सहायता से प्रत्येक उपक्रम कई प्रकार का माल बनाता है। सभी वस्तुओं के मूल्य स्वयं नियोजकों द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। लेकिन विभिन्न वस्तुएँ किस अनुपात में उत्पादित की जाएँ, ये निर्णय प्रत्येक उपक्रम पर छोड दिये जाते हैं। मैनेजर उत्पादन के लक्ष्य प्राप्त करने एवं उनसे आगे निकलने का प्रयास करते हैं। साम्यवाद में नियोजन को प्रत्येक फर्म के स्तर तक लागू किया जाता है। यह केवल राष्ट्रीय स्तर तक ही सीमित नहीं रहता।

3. माल का वितरण कैसे हो?— जैसाकि पहले कहा जा चुका है साम्यवादी व्यवस्था में उत्पादित माल का वितरण बहुधा राशन-कार्डों की सहायता से निर्धारित भावों पर किया जाता है। किसी वस्तु का अभाव होने पर उसके भाव नहीं बढ़ने दिये जाते, बल्कि 'क्यू' प्रणाली के आधार पर इसका वितरण किया जाता है। व्यक्तियों को अपना अवसर आने तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। वस्तु की कीमत में 'खरीद पर कर' (turnover tax) शामिल होता है, जो रूस में सरकार की आय का मुख्य साधन माना गया है। उत्पादित वस्तुओं के चुनाव में उपभोक्ता को सीमित रूप से स्वतन्त्रता दी जाती है। लेकिन उसे उत्पादन का मार्ग-दर्शक नहीं बनने दिया जाता।

साम्यवादी अर्थव्यवस्था में 'कीमतों का स्थान'

साम्यवादी व्यवस्था में 'कीमतें' साधन-आवंटन का काम नहीं करतीं। वस्तुओं की कीमतें बाजार में माँग व पूर्ति की शक्तियों से निर्धारित नहीं होतीं। ये योजनाधिकारी द्वारा तय की जाती हैं। कीमतें बहुधा लागत+खरीद पर कर के

सिद्धान्त पर आधारित होती है। ये मुनाफाखोरी का साधन नहीं बन सकती। यही कारण है कि साम्यवाद में पूँजीवाद की भांति मुद्रास्फीति के अवसर उत्पन्न नहीं होते। यह अलग बात है कि स्वयं नियोजक ही कुछ वस्तुओं के मूल्य ऊँचे निर्धारित कर दें।

साधन--कीमतों में पूँजी का व्याज व भूमि का लगान ऊपर से लगाये जात हैं,या मात्र हिसाबी कीमतें होती हैं। ये योजनाधिकारी द्वारा निर्धारित की जाती हैं। मजदूरी में योग्यता व कार्यक्षमता के अनुसार भेद किये जाते हैं, लेकिन मजदूरी भी सरकार के द्वारा निर्धारित होती है। सरकार न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करती है व रोजगार की गारण्टी देती है। मजदूरी का उत्पादन में मामूली योगदान होने पर भी सामाजिक उद्देश्यों के आधार पर न्यूनतम मजदूरी दी जाती है। मजदूरी सामूहिक सौदाकारी या मोल--भाव से निर्धारित नहीं होती, जैसा कि बहुधा पूँजीवादी व्यवस्था में किया जाता है। लेकिन अधिक काम करने की एवज में अधिक मजदूरी दी जा सकती है।

साम्यवाद में सार्वजनिक बचत व सार्वजनिक विनियोग के एक ही संस्थ के अधिकार में होने के कारण इनके बारे में विशेष कठिनाइयाँ नहीं होतीं। सारा मुनाफा सरकार के अधिकार में होता है जिसका उपयोग सरकार स्वयं निश्चित करती है। बोनस, सामाजिक सेवाओं, शिक्षा, अनुसंधान आदि पर व्यय करने के बाद शेष राशि नये उद्योग स्थापित करने में लगाई जाती है। **इस प्रकार साम्यवाद में बाजार में निर्धारित 'कीमतें' साधन--आवंटन का कार्य नहीं करती हैं, और ये कार्य योजना के माध्यम से किये जाते हैं।**

साम्यवाद की उपलब्धियाँ या गुण-- कुछ वर्ष पूर्व साम्यवादी अर्थव्यवस्थाओं ने आर्थिक सफलताओं ने धनी व निर्धन देशों का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित किया था। इसकी मुख्य उपलब्धियाँ निम्नांकित मानी गयी थी --

1. तीव्रगति से सैनिक व आर्थिक विकास-- रूस ने साम्यवादी अर्थव्यवस्था को अपनाकर ही 1928 के बाद तेजी से अपनी सैनिक शक्ति बढ़ायी थी तथा अपना चहुंमुखी आर्थिक विकास किया था। इस प्रकार लगभग 60 वर्षों में वह विश्व की महान् शक्तियों में गिना जाने लगा था। चीन ने भी साम्यवाद के अन्तर्गत अपनी सैनिक शक्ति व आर्थिक विकास दोनों को काफी सुदृढ किया है। 1992 के मध्य में चीन की जनसख्या।16 2।करोड व्यक्ति आकी गयी है तथा उसी वर्ष वहा की प्रति GNP 470 डालर आकी गई है। 1980 92 की अवधि में चीन की प्रति व्यक्ति GNP 7 6% वार्षिक दर से बढी है।

चीन में योजनाकाल में खाद्यान्नों, इस्पात, कोयले, क्रूड तल, सीमेन्ट, साइकिलों आदि का उत्पादन तेजी से बढा है। वहा मुद्रास्फीति की वार्षिक दर 1980 91 की अवधि में 6 5% रही, जबकि इससे पूर्व 1970 80 मे यह 0 9% रही थी।[1]

1. World Development Report 1994 p 162

इस प्रकार चीन की आर्थिक उपलब्धियाँ विभिन्न क्षेत्रों में सराहनीय रही हैं तथा उसने कई अन्य विकासशील देशों की तुलना में महंगाई पर काफी काबू रखा है।

2. तीव्र गति से औद्योगीकरण— प्रथम विश्व–युद्ध से पूर्व रूस की अर्थव्यवस्था कृषिगत उत्पादन पर टिकी हुई थी। द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक रूस औद्योगिक उत्पादन में अमेरिका के बाद स्थान रखने लगा था। वहाँ इस्पात, लोहा, कोयला, पैट्रोल, बिजली, सीमेंट आदि का उत्पादन काफी बढ़ा था। अर्थव्यवस्था में *पूँजीगत माल के उत्पादन को प्राथमिकता दी गई। इससे आत्म–निर्भरता को* विकसित करने में मदद मिली। चीन ने भी इस्पात, क्रूड तेल आदि के उत्पादन पर विशेष रूप से बल दिया है। चीन की औद्योगिक क्षेत्र में तीव्र प्रगति का अनुमान इस बात से *लगाया जा सकता है कि 1990 में वहा सकल घरेलू उत्पति (GNP)* में उद्योगों का अंश 42 प्रतिशत हो गया है, जो मध्यम–आय वाले विकासशील देशों के औसत के समान है। 1965 मे यह केवल 35% था।

3 शिक्षा का विकास— रूस ने अपनी दक्ष श्रम–शक्ति जैसे डाक्टर, इन्जीनियर, तकनीकी विशेषज्ञ आदि का तेजी से विस्तार किया है। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि रूस में 80 प्रतिशत विद्यार्थी छात्रवृत्ति पाते रहे हैं जो एक फैक्ट्री–मजदूर की औसत मजदूरी के बराबर रही है। साम्यवादी अर्थव्यवस्था में शिक्षा का विकास सरकारी नीति का मुख्य अंग होता है। यह अवसर की समानता के लिए आवश्यक माना गया है। चीन मे प्रौढ़ साक्षरता की दर (1990 मे 73%) भी भारत की तुलना मे (1990 में 48%) काफी ऊँची हो गई है। चीन में साक्षरता-अभियान बहुत सफल हुआ हे। वहा 1991 में जन्म के समय जीने की औसत आयु 69 वर्ष हो गयी है जो एक बडी उपलब्धि है। भारत मे यह 60 वर्ष हुई है जो चीन से कम है।

4. आर्थिक समानता में प्रगति—इसमें कोई संदेह नहीं कि मजदूरी के अन्तरों के बावजूद रूस ने आर्थिक समानता की दिशा में काफी प्रगति की है। वहाँ निजी सम्पत्ति की व्यवस्था न होने से असमानता के अवसर कम पाये जाते हैं। साम्यवादी अर्थव्यवस्था एक समतावादी समाज को जन्म देती है, जबकि पूँजीवादी व्यवस्था एक संग्रह–प्रवृत्ति वाले समाज को प्रोत्साहन देती है। साम्यवादी समाज में निरपेक्ष समानता तो नहीं होती, लेकिन धन व आय के आसमान को छूने वाले अन्तर अवश्य मिट जाते हैं। प्रमुख रूप से आर्थिक असमानता उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्तरों से उत्पन्न होती है, जो साम्यवाद में समाप्त कर दी जाती है।

समाज में धन व आय की अत्यधिक असमानता से लोगों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए निर्धन व विकासशील देशों में समाजवाद या साम्यवाद शीघ्र लोकप्रिय हो जाता है। साम्यवाद के आलोचक भी प्राय इस बात को स्वीकार करते हैं कि "इसमें अनर्जित आय के अवसर बिल्कुल समाप्त हो जाते हैं और अर्जित आय में कार्यानुसार व योग्यतानुसार ही कुछ सीमा तक अन्तर कायम रखे जाते हैं।

निर्धन देशों में दरिद्रता को दूर करने के विभिन्न उपायों जैसे लोगों को अधिक रोजगार प्रदान करना, सम्पन्न वर्ग पर कर लगा कर निर्धन वर्ग के कल्याण पर व्यय करना, आदि को सुझाते समय प्राय विचारक यह कहते हुए पाये जाते हैं कि यदि ये उपाय सफल न हुए तो साम्यवाद का आना अवश्यम्भावी है। इससे स्पष्ट होता है कि निर्धन देशों के नागरिक सामान्यतया समाजवाद व साम्यवाद को ज्यादा जल्दी अपनाने को तैयार हो जाते हैं। उनके लिए आर्थिक व सामाजिक न्याय की अपील बडी आकर्षक होती है।

5 **व्यापार—चक्रों या आर्थिक उतार—चढ़ावों से मुक्ति—** साम्यवाद में केन्द्रीय नियोजन को अपनाने और मूल्य—प्रणाली की क्रिया को रोक देने के कारण अर्थव्यवस्था में ज्यादा स्थिरता देखने को मिलती है। यही कारण है कि साम्यवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति व आर्थिक मन्दी के अवसर उस रूप में प्रकट नहीं होते जिस रूप में ये पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में प्रकट होते हैं। **रूस की अर्थव्यवस्था इस अस्थिर संसार में सबसे ज्यादा स्थिर मानी गई है।** अस्सी के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में विश्व की प्रमुख पूँजीवादी औद्योगिक अर्थव्यवस्थाएं मंदी का शिकार रही हैं। मुद्रास्फीति व बेरोजगारी ने उन पर काफी विपरीत प्रभाव डाला है। लेकिन चीन फिर भी अपने नियोजित विकास पर निरन्तर आगे बढता गया है, और बेरोजगारी व मुद्रास्फीति के कुप्रभावों से काफी सीमा तक बचा रहा है।

6 **पूर्ण रोजगार—** साम्यवादी अर्थव्यवस्था व्यापक व केन्द्रीय योजना के कारण श्रमिकों को पूर्ण रोजगार प्रदान करने में सफल हो सकती है। योजना तो अन्य देशों में भी पाई जा सकती है, लेकिन श्रम—शक्ति का पूरा उपयोग करने की दृष्टि से साम्यवाद को ही अधिक सफलता मिली है। साम्यवाद के अन्तर्गत रोजगार—नियोजन मूलभूत आर्थिक नियोजन का ही अंग होता है। इसलिए श्रम—शक्ति के व्यर्थ पडे रहने का प्रश्न नहीं उठता। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, *साम्यवाद में प्रत्येक नागरिक के लिए उचित मजदूरी पर काम देने की व्यवस्था की* जाती है। मजदूरी का सम्बन्ध पूँजीवाद की भांति श्रम की सीमान्त उत्पादकता से नहीं जोडा जाता। **श्रमिक का उत्पादन में कुछ भी योगदान हो, उसे काम पर अवश्य लगाया जाता है। इस प्रकार बेरोजगारी को दूर करने की दृष्टि से साम्यवाद ज्यादा प्रभावशाली माना गया है।** गाँवों की अतिरिक्त जनशक्ति का पूँजी—निर्माण की दृष्टि से उपयोग करने में भी साम्यवादी देश अधिक सफल हुए हैं। चीन इसका ज्वलन्त उदाहरण है। वहाँ साम्यवादियों ने मानवीय शक्ति का पूँजी—निर्माण के कार्यों में अधिक प्रभावशाली ढंग से उपयोग किया है जिससे भारत जैसे विकासशील व जनाधिक्य वाले देश सबक ले सकते हैं।

साम्यवादी अर्थव्यवस्था की कमियाँ या दोष
(Defects of Communism)

साम्यवादी अर्थव्यवस्था के अब तक के अनुभवों ने यह बतलाया है कि इसमें कुछ कमियाँ व दोष भी हैं जिनका विवेचन नीचे किया जाता है। इन्हीं कमियों के कारण *विश्व के कई देश साम्यवाद के मार्ग को छोड कर पुन बाजार—प्रणाली की* ओर मुड गये हैं।

1 **समस्त आर्थिक जीवन पर 'मार्क्सवादी विचारधारा' व राजनीति का प्रमुत्व पाया जाता है।** आर्थिक निर्णय जाने-माने अर्थशास्त्री न लेकर जाने-माने साम्यवादी राजनीतिज्ञ ही लेते हैं। **जे विलजिस्की का कहना है कि "साम्यवाद या समाजवाद में भूमि व पूँजी सीमित नहीं माने जाते, जिससे इनका अपव्ययपूर्ण उपयोग (wasteful use) हो सकता है। कभी-कभी आवश्यक आर्थिक सुधारों का भी केवल इसलिए विरोध किया जाता है कि वे 'मार्क्सवाद' से मेल नहीं खाते।"** इस प्रकार सामान्य सूझ-बूझ को ताक में रखकर सदैव साम्यवादी सिद्धान्त की दुहाई दी जाती है। इससे यह व्यवस्था अत्यधिक मात्रा में पूर्वाग्रहों व दुराग्रहों से भर जाती है और जन-कल्याण अधिकतम नहीं हो पाता।

2 **बल व दमन का प्रयोग**—साम्यवाद का प्रयोग यह बतलाता है कि इसमें काफी बल व दमन का उपयोग किया गया है। विरोधियों को मिटा देना इस व्यवस्था की एक साधारण बात है। रूस में सामूहिक खेती के सिलसिले में धनी किसानों (कुलकों) को समाप्त करना पडा था। कृषकों को जबरन सामूहिक संस्थाओं का सदस्य बनाया गया था। सामूहिक खेती में शामिल होने से पूर्व काफी पशु मौत के घाट उतार दिये गये क्योंकि कृषकों ने उन्हें बिना मुआवजे के सामूहिक खेतों को सौंपने की बजाय मार डालना ज्यादा पसन्द किया था। इसलिए साम्यवाद की स्थापना शान्तिपूर्ण व लोकतान्त्रिक पद्धति से स्थापित करना व्यवहार में कठिन जान पडता है। कट्टर साम्यवादी आवश्यकता पडने पर हिंसा के प्रयोग को अनुचित नहीं मानते। चीन में भी लोकतन्त्र-समर्थक छात्र-आन्दोलन व बुद्धिजीवी-आन्दोलन को सरकार ने दबाने की नीति अपनायी जिसे उचित नहीं माना गया है।

3 ***स्वेच्छा से निर्धारित कीमतों के कारण साधनों के विवेकपूर्ण उपयोग* का अभाव**— साम्यवाद की एक प्रमुख कमजोरी यह है कि इसमें माँग व पूर्ति से निर्धारित मूल्यों के अभाव में उत्पादन का ठीक से मार्ग-दर्शन नहीं होता। योजनाधिकारी मूल्य तय करते हैं जो उसी स्तर पर बने रहते हैं जब तक कि वे *स्वयं सरकार द्वारा बदले नहीं जाते। मान लीजिए प्रारम्भिक मूल्य सही निर्धारित* हो जाते हैं तो वे भी माँग व पूर्ति की परिस्थितियों के बदल जाने से गलत या व्यर्थ हो सकते हैं। चूँकि कुछ वस्तुओं के मूल्य बदलने से अन्य वस्तुओं की माँग भी बदल जाती है इसलिए सम्पूर्ण मूल्य-ढाँचा कुछ वर्षों तक स्थिर बना रहता है। इस प्रकार उत्पादन की मात्रा वस्तुओं के भावों से नियंत्रित नहीं होती। ऊपर से थोपे गये या अनुमानित कीमतों से अस्त-व्यस्त परिणाम निकल सकते हैं। इसी प्रकार नियोजक मजदूरी भी स्वयं ही निर्धारित कर देते है और विभिन्न उपक्रम एक दूसरे से ऊँची मजदूरी नहीं दे सकते।

4 **साम्यवादी अर्थव्यवस्था में प्रभावपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की कमी होने से कार्यकुशलता बढ़ाने की प्रेरणा का अभाव पाया जाता है।** यह बात उपक्रमों व व्यक्तियों दोनों पर लागू होती है। इस व्यवस्था में बडे पैमाने के उपक्रमों व नौकरशाही का बोलबाला होता है। बाजारों में विक्रेताओं (सरकारी इकाइयों) की ज्यादा चलती है। उत्साही लोगों व नये प्रयोग करने वाले व्यक्तियों के लिए क्षेत्र सीमित होता है जिससे इस व्यवस्था में अकार्यकुशल व्यक्तियों को भी शरण मिल जाती है।

5 **साम्यवादी अर्थव्यवस्था में भारी उद्योग व सुरक्षा सम्बन्धी साधनों के विकास पर अधिक बल दिया जाता है और कृषि व उपभोग्य वस्तुओं के उद्योगों पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया जाता है।** भारी उद्योगों व सुरक्षा—व्यय के सम्बन्ध में ऊँचे लक्ष्य रखे जाते हैं और उन्हें प्राप्त करने का पूरा प्रयास किया जाता है। यदि कभी साधनों के पुनरावटन का प्रश्न उठता है तो भी कृषि व उपभोग्य वस्तुओं के उद्योगों के उत्पादन में ही कमी की जाती है। इस कारण से साम्यवादी देशों में प्राय उपभोग्य वस्तुओं का अभाव वर्षों तक जारी रहता है।

6. **इस व्यवस्था में वर्तमान उपभोग पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता—** उपभोक्ता का उत्पादन के ढाँचे पर विशेष प्रभाव नहीं होता। प्राय समाजवादी देशों में विकास के प्रारम्भ में आवास, सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं (पानी, बिजली आदि), कृषि, वस्तु—भेद व 'विलासिताओं' को नीचा स्थान दिया जाता है जिससे उपभोक्ता के कल्याण की उपेक्षा हो जाती है। उसे मामूली किस्म की उपभोक्ता वस्तुओं तक के लिए काफी लम्बी अवधि तक इन्तजार करना होता है, हालांकि आगे चलकर इनका अभाव दूर करने की कोशिश की जाती है।

7.. **साम्यवादी व्यवस्था में मैनेजरों को प्रेरणा देने की सन्तोषजनक विधि का विकास नहीं हो पाया है।** कारखानों के मैनेजरों को उत्पादन—लागत घटाने एवं उत्पादन की विधियों में सुधार करने के लिए कहा जाता है। प्राय मैनेजरों का हित इस बात में होता है कि वे अपने कारखानों की उत्पादन—क्षमता को कम करके बतलाएं ताकि व्यवहार में अधिक उत्पादन करके वे उच्च—अधिकारियों को प्रभावित कर सकें। इसलिए मैनेजर सही स्थिति को छुपाने का निरंतर प्रयास करते है, क्योंकि असली स्थिति बतलाने में उन्हें यह भय होता है कि उनका उत्पादन का कोटा पहले से और ऊँचा कर दिया जायेगा। इस प्रकार साम्यवादी अर्थव्यवस्थाओं के प्रबन्धकों के लिए उचित किस्म की प्रेरणाओं का बहुधा अभाव पाया जाता है।

हॉम ने कहा है कि रूस की अर्थव्यवस्था में साधन—आवंटन किफायत से नहीं हुआ है। वहाँ बडी किस्म के असंतुलन उत्पन्न हो गये हैं और इस व्यवस्था ने प्रबन्धकीय प्रेरणाओं की मूल समस्या का समाधान नहीं निकाला है। वास्तव में मनमानी या ऊपर से आरोपित कीमतों के आधार पर उत्पादन को संचालित करने में कठिनाइयों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। लेकिन हमें यह नहीं भुलाना है कि रूस साम्यवादी व्यवस्था को अपनाकर ही कुछ वर्ष पूर्व विश्व की एक महान् शक्ति बन पाया था। यह तीव्र गति से अपना औद्योगीकरण कर सका था और वहाँ विज्ञान व टेक्नोलोजी का बहुत उपयोग हुआ था।

रूस : एक नई समाज रचना की ओर—

जून 1988 के अन्त में रूस में साम्यवादी पार्टी के तत्वावधान में चार दिवसीय खुली बहस हुई थी जिसमें देश के लगभग 5000 प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाचेव ने रूस में नई समाज—रचना पर काफी जोर दिया है। **वहाँ समाजवाद को 'मानववादी व लोकतान्त्रिक स्वरूप प्रदान किया जा**

रहा है तथा आर्थिक क्षेत्र में अधिक उदार नीतियों के प्रयोग किये जा रहे हैं। नौकरशाही पर अंकुश लगाया जा रहा है, कृषकों को मदद दी जा रही है, खाद्य–समस्या को हल करने पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है, तथा वस्तुओं की उपलब्धि को बढ़ाया जा रहा है। इस प्रकार रूस 'उदारवादी दृष्टिकोण' को अपनाकर एक नई समाज–रचना के प्रयास में लग गया है।

वहाँ तीन वर्ष पूर्व पेरेस्त्रोइका (पुनर्गठन) (Restructurıng) की नीति लागू की गई थी जिसके परिणाम सामने आने लगे है। इसके विकास के मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं को हटाया जा रहा है। इससे राष्ट्रीय आय व श्रम की उत्पादकता में वृद्धि होने की आशा है। सोवियत समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। पेरेस्त्रोइका एक जटिल प्रक्रिया है। इससे बाहरी व आन्तरिक तत्वों की अंत-क्रिया से अर्थव्यवस्था में सुधार आता है। इससे किसानों व मजदूरों सभी के लाभान्वित होने की आशा है। 'ग्लासनोस्त' का अर्थ है 'सार्वजनिक खुलापन' या 'जनवाद' जो वर्तमान सोवियत आन्तरिक नीति का एक आवश्यक अंग बन गया है। आज रूस दूसरी क्रान्ति के द्वार पर खड़ा है। वहाँ निजी अर्थव्यवस्था की ओर जाने का संकल्प दिखाई देता है। आशा है भविष्य में यह क्रान्ति अधिक साकार व व्यावहारिक रूप ले सकेगी और रूस बाजार–प्रणाली की ओर अग्रसर होगा। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति गोर्बाचेव ने अमरिकी अर्थशास्त्रियों से मार्ग–दर्शन व दिशा–निर्देश लेने की इच्छा प्रगट की है।

पिछले कुछ महीनों से सोवियत संघ में राजनीतिक उथल–पुथल हो रही है। सितम्बर 1991 के प्रारम्भ में तीन बाल्टिक रिपब्लिक–लिथवानियाँ, लतविया व एस्टोनिया को स्वतन्त्र राज्य मान लिया गया है। अन्य कई रिपब्लिक राज्य भी पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते हैं। विभिन्न रिपब्लिक इकाइयों के बीच किस प्रकार के आर्थिक व राजनीतिक सम्बन्ध होंगे, इसके बारे में विचार–विमर्श चल रहा है। वर्तमान में रूस की आर्थिक दशा शोचनीय है। मुद्रा प्रसार हो रहा है, देश में दूध, मक्खन, फल–सब्जी आदि उपभोक्ता–वस्तुओं का अभाव है। रूस G-7 के देशों (अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, आदि) से आर्थिक सहायता लेने का प्रयास कर रहा है। यह बात आसानी से गले नहीं उतरती कि यह अचानक इतनी दयनीय स्थिति में कैसे पहुँच गया। विश्व इतिहास में इसका अनुभव नहीं मिलता कि एक साम्यवादी अर्थव्यवस्था किस प्रकार बाजार अर्थव्यवस्था में बदल सकती है। अत भविष्य काफी अनिश्चित जान पड़ता है। सभी इस बात पर नजर रखे हुए हैं कि देखें रूस बाजार अर्थव्यवस्था को किस रूप में अपना पाता है, और उसके परिणाम अनुकूल होते हैं या प्रतिकूल।

क्या पूँजीवादी व साम्यवादी दोनों व्यवस्थाएँ किसी मिलन–बिन्दु की ओर अग्रसर हो रही है? (Are the two Systems Converging)

1961 में जॉन टिम्बरजन ने अर्थव्यवस्थाओं के 'एक दूसरे के समीप आने के विचार' का प्रतिपादन किया था। उसके बाद गैलब्रेथ, बोर्नस्टीन, विलजिन्स्की आदि ने भी इसको अपना समर्थन दिया है।

आजकल प्राय यह प्रश्न उठाया जाने लगा है कि क्या पूँजीवाद व साम्यवाद दोनों एक दूसरे के समीप आ रहे है (converging) या एक दूसरे से दूर जा रहे हैं (diverging), या एक दूसरे को समाप्त करने अथवा डुबोने जा रहे है (submerging) ?

एक दूसरे के समीप आने के प्रमाण—जहाँ तक इनके परस्पर समीप आने का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि आजकल विकसित औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं में काफी समानता दिखाई देती है—चाहे वे पूँजीवादी हो अथवा साम्यवादी हो। जैसे दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में GNP में कृषिगत उत्पत्ति का अंश तथा कुल रोजगार में कृषिगत रोजगार का अश, कम हुए हैं। शहरीकरण, फैक्ट्री—रोजगार व सेवा—क्षेत्र के अंश बढ़े हैं। जन्म—दरें व मृत्यु—दरें घटी हैं। साक्षरता का विस्तार हुआ है। विज्ञान व टेक्नोलोजी का विकास हुआ है। प्रति व्यक्ति GNP बढ़ी है तथा प्रदेशिक विकास में अधिक समानताएं स्थापित हुई हैं। आजकल दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में आर्थिक नियोजन का प्रयोग होने लगा है, तथा सरकार का आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप बढ़ गया है। समाजवादी देशों में लाभ को फर्म की सफलता का आधार माना जाने लगा है, वहाँ भी प्राइवेट खेती के लिए थोड़ी भूमि दी जाती है। अत समाजवादी देशों में भी मौद्रिक प्रेरणाओं व सेवाओं का उपयोग किया जाने लगा है। उपभोक्ताओं को चुनाव की अधिक स्वतन्त्रता दी जाने लगी है। समाजवादी देशों में मालिकों व मजदूरों के दो वर्ग पाये जाते हैं, उसी प्रकार समाजवादी देशों में, जैसे चीन में सामाजिक वर्ग—श्रमिक, किसान, बुद्धिजीवी—सरकारी तौर पर स्वीकार किये गये हैं। ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि पूँजीवाद व साम्यवाद एक दूसरे के काफी समीप आ रहे है (converging)।

एक दूसरे के समीप आने के बावजूद दोनों अर्थव्यवस्थाओं के मूलभूत अन्तर जारी

इन समानताओं के बावजूद पूँजीवाद व साम्यवाद की आर्थिक संस्थाओं जैसे उद्यम की स्वतन्त्रता, साधनों के स्वामित्व, आदि के मूलभूत अन्तर अवश्य पाये जाते हैं। यही नहीं बल्कि स्वयं पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में भी परस्पर काफी अन्तर पाये जाते है और इसी प्रकार साम्यवादी व समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में भी परस्पर काफी अन्तर पाये जाते है, जैसे चीन व पहले के रूस के बीच, यूगोस्लाविया व पूर्व रूस के बीच, आदि। **इस तरह पूँजीवाद व साम्यवाद की इन समानताओं के बावजूद इन दोनों के मूलभूत** सैद्धान्तिक अन्तरो को नहीं भुलाया जा सकता। एक निजी उद्यम पर आधारित है, जबकि दूसरी में सरकारी उपक्रम प्रमुख होते हैं। दोनों की राजनीतिक प्रणालियाँ भिन्न—भिन्न होती है। विश्व में दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्थाएं पायी जाती हैं। अत एक के द्वारा दूसरी व्यवस्था को डुबोने या समाप्त करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। विश्व के कम विकसित देश इन दोनों पर अपनी दृष्टि रखे हुए हैं, और अपनी परिस्थितियों व पसन्द के अनुसार इनमें से चुनाव करने का प्रयास कर रहे है। यही नहीं बल्कि विकासशील देश इनको अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुसार ढालने व सुधारने का भी प्रयास कर सकते हैं।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया था पिछले वर्षों में एक के बाद एक साम्यवादी देश इस प्रणाली को त्याग कर पुन बाजार–प्रणाली को अपनाने की तरफ बढ़े हैं। हंगरी, पौलेण्ड, चेकोस्लोवाकिया पूर्वी जर्मनी, बुल्गारिया व रोमानिया में साम्यवादी सरकारें गिरा दी गई है, और उनके स्थान पर गैर–साम्यवादी सरकारें सत्ता में आयी हैं। इनमें लोकतन्त्र बाजार–प्रणाली, चुनावों, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के सहयोग, प्रतियोगिता व खुलेपन तथा विश्व की अर्थव्यवस्था से जुड़ने आदि पर बल दिया जाने लगा है। रोमानिया में काफी नर–संहार के बाद निकोलाई चाउसेस्कू के शासन का अन्त कर दिया गया। दोनों जर्मन राष्ट्रों का एकीकरण (unification) हो गया है। पूर्वी जर्मनी में गैर–साम्यवादी सरकार का गठन हो गया है। इनमें नई व्यवस्था का क्या स्वरूप होगा, यह अभी तक सुनिश्चित नहीं हो पाया है। इसका निर्णय भविष्य ही करेगा।

इस प्रकार आर्थिक प्रणाली के विवेचन से यह प्रकट होता है कि एक तरफ पूँजीवाद में सरकारी हस्तक्षेप व सार्वजनिक क्षेत्र के समावेश से उसके स्वरूप में परिवर्तन हो रहा है, तो दूसरी तरफ साम्यवाद या समाजवाद में बाजार–प्रणाली, कुछ सीमा तक निजी क्षेत्र व विकेन्द्रीकरण का समावेश करके उसका स्वरूप बदलने का प्रयास किया जा रहा है। कहने का आशय है कि अब दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्थाएं मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं की तरफ जाने लगी हैं, **हालांकि उन सबका 'मिश्रण' एकसा नहीं होता और सदा के लिए स्थिर भी नहीं होता।** इस समय विश्व में कई प्रकार की मिश्रित अर्थव्यवस्थाएं चल रही है। इनमें से दो विशेष रूप से ध्यान देने लायक हैं– (i) प्रमुखतया पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्थाएं जिनका प्रतिनिधित्व अमेरिका, जापान आदि देश करते हैं, (ii) नियोजित समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्थाएं जिनका प्रतिनिधित्व यूगोस्लाविया करता है। भारतीय अर्थव्यवस्था भी मिश्रित अर्थव्यवस्था की श्रेणी में आती है। अगले अध्याय में 'मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं' का विस्तृत विवेचन किया गया है।

प्रश्न

1. समाजवाद किसे कहते है ? इसका साम्यवाद से अन्तर कीजिए। समाजवाद की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. समाजवाद के गुण–दोषों का स्पष्टीकरण कीजिए।
3. समाजवादी अर्थव्यवस्था पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से किन अर्थों में बेहतर व किन अर्थों में घटिया मानी जाती है ?
4. 'साम्यवादी अर्थव्यवस्था पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से ज्यादा अच्छी मानी गई है।' क्या आप इस कथन से सहमत है ? स्पष्ट कीजिए।

5 साम्यवादी अर्थव्यवस्था में 'क्या', 'कैसे' व 'किसके लिए' की समस्याओं का समाधान कैसे निकाला जाता है? विवेचना कीजिए।

6 पूर्वी योरोप के कई देश समाजवाद के मार्ग से क्यों हट गये हैं? प्रमुख कारण दीजिए।

[उत्तर—संकेत—

(i) लोकतन्त्र की चाह व चुनाव—प्रणाली का समर्थन,

(ii) नौकरशाही व भ्रष्टाचार से मुक्त होने की इच्छा,

(iii) बाजार—प्रणाली का आर्थिक निर्णयों में अधिक उपयोग। पूर्वी योरोप के साम्यवादी देशों में नागरिक स्वतन्त्रता, जनतन्त्र की भावना व निजी प्रेरणा को अपनाने के लिए साम्यवादी सरकारों को उखाड दिया गया है और वे एक नये प्रयोग के मार्ग पर चल पडे हैं।

इस प्रकार समाजवाद के विरोध का मुख्य कारण राजनीतिक है। लोग स्वतन्त्र समाज में सांस लेना चाहते हैं। लेकिन यह कहना कठिन है कि बाजार—प्रणाली उनकी आर्थिक आवश्यकताओं को कहाँ तक पूरा कर पायेगी? क्योंकि बाजार—प्रणाली की भी अपनी कमियाँ व विफलताएं है जिनका साहित्य में काफी विवेचन हुआ है।]

7 **समाजवाद के विभिन्न अवगुणों का परीक्षण कीजिए और बतलाइये के क्या या आज अपने मौलिक और शुद्ध रूप में विद्यमान है।** (Ajmer Iyr 1992

14
मिश्रित अर्थव्यवस्थाएं
(Mixed Economies)

हमने पिछले दो अध्यायों में पूँजीवाद, समाजवाद व साम्यवाद का विवेचन करके यह बतलाया है कि इन व्यवस्थाओं में आजकल किस दिशा में परिवर्तन हो रहे हैं। हमने देखा कि अमरीकी अर्थव्यवस्था में निजी सम्पत्ति, उत्तराधिकार की प्रथा, उद्यम की स्वतन्त्रता, प्रतिस्पर्धा, आदि तत्व विद्यमान हैं जो पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली के सूचक हैं। लेकिन वहाँ पिछले वर्षों में आर्थिक जीवन में सरकार का हस्तक्षेप भी बढ़ा है और सरकार राजकोषीय व मौद्रिक नीतियों का उपयोग करके देश में रोजगार, उत्पादन, आय व कीमतों को प्रभावित करने में काफी सक्रिय रूप से भाग लेने लगी है। सेमुअल्सन व अन्य अमरीकी अर्थशास्त्री अपने देश की अर्थव्यवस्था को 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' कहना ज्यादा पसन्द करते हैं। वैसे इसको पूँजीवादी 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' कहना ज्यादा उपयुक्त होगा।

इसी तरह कुछ समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में निजी क्षेत्र को समाप्त नहीं किया गया है और वहाँ भी व्यक्तिगत फर्मों को बाजार में माँग व पूर्ति के आधार पर निर्णय लेने की कुछ सीमा तक स्वतन्त्रता दी गई है और उत्पादन में मुनाफे का आधार स्वीकार किया गया है। जिनमें आर्थिक नियोजन अपनाया गया है उनमें भी निर्णय विकेन्द्रित आधार पर लिए जाते हैं, जैसे यूगोस्लाविया में। इसे कुछ अर्थशास्त्री 'बाजार समाजवाद' भी कहते हैं क्योंकि इसमें बाजार–प्रणाली का उपयोग जारी रखा गया है। **बाजार समाजवादी अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र के अस्तित्व के कारण इसे 'समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था' भी कहा जा सकता है।** विश्व की प्रचलित अर्थव्यवस्थाओं का अध्ययन करते समय हम देखते हैं कि कुछ देशों में उत्पादन के साधन निजी स्वामित्व में पाये जाते हैं, और अन्य में सार्वजनिक स्वामित्व में पाये जाते हैं। कुछ में दोनों क्षेत्रों में पाये जाते हैं। कहीं केन्द्रीय योजना पायी जाती है और कहीं नहीं। कुछ में केन्द्रीय नियोजन में बाजार–प्रणाली का उपयोग किया जाता है तो कुछ में नहीं किया जाता है, और नियोजकों द्वारा निर्धारित मूल्यों का ही उपयोग किया जाता है। इस प्रकार विश्व की प्रचलित अर्थव्यवस्थाओं में व्यवहार में कई प्रकार के भेद देखने को मिलते हैं। हम यहाँ मिश्रित अर्थव्यवस्था का प्रारम्भिक विवेचन करके भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था की कार्यविधि व उपलब्धियों पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

मिश्रित अर्थव्यवस्था
(Mixed Economy)

परिभाषा—साधारणतया मिश्रित अर्थव्यवस्था उस अर्थव्यवस्था को कहते है जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र दोनों साथ–साथ पाये जाते हैं। सरल शब्दों में, सरकार और पूँजीपतियों दोनों को आर्थिक विकास में भाग लेने का पर्याप्त अवसर दिया जाता है। प्राय सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आधारभूत उद्योग, जैसे लोहे व इस्पात के कारखाने, मशीनें बनाने के कारखानें, भारी रासायनिक उद्योग तथा प्रमुख खनिज पदार्थ एवं शक्ति, खनिज तेल व परिवहन के साधन, आदि निर्धारित किये जाते हैं, और निजी क्षेत्र के लिए उपभोक्ता–वस्तुओं के उद्योग, छोटे पैमाने के उद्योग, कृषि, खुदरा व्यापार, आदि निर्धारित किये जाते हैं। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में जहाँ एक तरफ सरकार सक्रिय रूप से उत्पादन में भाग लेती है, वहाँ दूसरी तरफ निजी क्षेत्र को भी अपना योगदान देने का पूरा अवसर दिया जाता है। सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र के कार्यों का विभाजन सरकारी नीति पर निर्भर करता है, जैसे भारत में औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956 के अनुसार उद्योगों में सार्वजनिक व निजी क्षेत्र का स्थान निर्धारित किया गया था। मिश्रित अर्थव्यवस्था में सरकार राजकोषीय व मौद्रिक नीतियों एवं अन्य भौतिक नियन्त्रणों के माध्यमों से अर्थव्यवस्था पर अपना नियन्त्रण स्थापित करती है। इस प्रकार से इसे **नियन्त्रित अर्थव्यवस्था** (controlled economy) **भी कह सकते हैं।**

डॉ एएम खुसरो ने मिश्रित अर्थव्यवस्था की निम्न परिभाषा दी है, "एक **मिश्रित अर्थव्यवस्था दो महत्वपूर्ण रूपों में मिश्रित होती है**— (i) इसमें उत्पादन के सार्वजनिक व निजी साधनों (पूँजी व श्रम) का मिश्रण होता है, (आ) इसमें वस्तुओं व सेवाओं के बाजारों (स्वतन्त्र बाजारों व नियन्त्रित बाजारों) का मिश्रण होता है।" **इस परिभाषा के अनुसार मिश्रित अर्थव्यवस्था में दो तरह का मिश्रण पाया जाता है**—(अ) उत्पादन के साधनों की दृष्टि से सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों में साधनों का पाया जाना—इसका अर्थ यह है कि उत्पादन के साधन जैसे भूमि, पूँजी तथा श्रम सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र दोनों में होते हैं। एक तरफ सरकारी खेत होते हैं तो दूसरी तरफ निजी खेत। एक तरफ सार्वजनिक कारखाने होते हैं तो दूसरी तरफ निजी कारखाने। इसी प्रकार परिवहन व व्यापार आदि क्षेत्रों में भी सार्वजनिक व निजी इकाइयाँ साथ–साथ पायी जा सकती हैं। इस प्रकार उत्पादन के साधन सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों में पाये जाते हैं। (आ) वस्तुओं व सेवाओं के बाजार दो तरह के होते हैं-स्वतन्त्र बाजार जिसमें केवल माँग व पूर्ति की शक्तियाँ काम करती हैं और सरकारी हस्तक्षेप नहीं होता, तथा नियन्त्रित बाजार जिनमें सरकार की तरफ से मूल्य–नियन्त्रण व राशनिंग वगैरह पाये जाते हैं। इसे दोहरे बाजार (dual market) की स्थिति भी कहते हैं, जो इस समय भारत में चीनी–उद्योग में प्रचलित है। इसके अन्तर्गत सरकार कुछ चीनी–मिलों से लेवी के भावों पर चीनी खरीद कर राशन की दुकानों के माध्यम से उपभोक्ता में वितरित करती है, और शेष चीनी खुले बाजार में स्वतन्त्र भावों पर उपलब्ध हो पाती है।

-

मिश्रित अर्थव्यवस्था पूँजीवाद व समाजवाद दोनों के मिश्रण से बनती है। यह एक प्रकार की **'लचीली अर्थव्यवस्था'** होती है। इसमें आर्थिक नियोजन पाया जा सकता है, जैसा कि भारत में है और नहीं भी पाया जा सकता है, जैसाकि अमेरिका में है। एक तरफ पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सरकारी क्षेत्र के समावेश से मिश्रित अर्थव्यवस्था बन सकती है, तो दूसरी तरफ समाजवादी अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र के समावेश से मिश्रित अर्थव्यवस्था बन सकती है। इस प्रकार शुद्ध पूँजीवाद का अपना एक सुनिश्चित रूप होता है और शुद्ध समाजवाद का भी। लेकिन मिश्रित अर्थव्यवस्था का अपना कोई सुनिश्चित रूप नहीं होता। यह परिवर्तनशील होता है, और आवश्यकता के अनुसार बदलता रहता है।

मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में भी परस्पर काफी अन्तर पाये जाते हैं। फिर भी ध्यान से देखने पर प्रत्येक मिश्रित अर्थव्यवस्था का झुकाव किसी न किसी दिशा में अवश्य प्रतीत होगा। उदाहरण के लिए, अमेरिका, कनाडा, जापान, ब्रिटेन, दक्षिण कोरिया, आदि देशों की अर्थव्यवस्थाएं पूँजीवाद की ओर अधिक झुकी हुई हैं। दूसरी तरफ यूगोस्लाविया व चीन आदि की अर्थव्यवस्थाएं कुछ सीमा तक मिश्रित होते हुए भी समाजवाद की ओर अधिक झुकी हुई हैं। भारत की स्थिति अवश्य थोड़ी भिन्न है। **अब तक के विकास को देखते हुए इसके लिए 'पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था' शब्द का उपयोग करना ज्यादा उपयुक्त जान पड़ता है।** भारत सरकार नियोजित विकास के माध्यम से देश में व्याप्त बेरोजगारी, निर्धनता, मुद्रास्फीति व आर्थिक असमानता जैसी जटिल समस्याओं को हल करने का प्रयास कर रही है।

पिछले वर्षों में आर्थिक उदारता की नीति के अन्तर्गत आर्थिक नियन्त्रणों को कम किया गया है तथा निजी क्षेत्र पर से कुछ नियंत्रण कम किये गये हैं, ताकि उत्पादन में वृद्धि हो सके व माल की किस्म में सुधार हो सके तथा कीमतें कम की जा सकें। इसके लिए बड़े पैमाने की किफायतों, टेक्नोलोजी के सुधार, आधुनिकीकरण व आन्तरिक व विदेशी प्रतिस्पर्धा तथा अर्थव्यवस्था के खुलेपन आदि तत्वों पर काफी बल दिया गया है। जुलाई 1991 में सरकार ने आर्थिक उदारता की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाये हैं जिससे यह निजी क्षेत्र की ओर अधिक उन्मुख हो गई है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के उद्देश्य अथवा लाभ

यहां एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह होता है कि विश्व के विभिन्न देशों को विभिन्न समयों में मिश्रित अर्थव्यवस्था का सहारा क्यों लेना पड़ा? जैसाकि पूर्व विवेचन से स्पष्ट होता है कि यह अर्थव्यवस्था एक प्रकार का मध्यम मार्ग है, और पूँजीवाद व समाजवाद की कमियों को दूर करने के लिए विभिन्न देशों में इसको अपनाया गया है। अब तक के अनुभवों के आधार पर मिश्रित अर्थव्यवस्था के निम्न उद्देश्य माने जा सकते हैं

1. आर्थिक विकास की गति को तेज करना— विकासशील देशों में आर्थिक विकास की गति को तेज करने के लिए मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाना पड़ा है। इन देशों में इतने ज्यादा काम करने बाकी पड़े हैं कि सार्वजनिक व निजी

क्षेत्र दानों इनको कर सकते हैं। अर्थव्यवस्था का आधारभूत ढाँचा तैयार करने का काम सरकार पर छोडा जाना उचित है, जैसे बिजली, सिचाई, रेल, सडक आदि का विकास निजी क्षेत्र पर नहीं छोडा जा सकता। सुरक्षा—उद्योग व भारी उद्योगों के विकास में विशाल मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है, जो निजी क्षेत्र की शक्ति के बाहर होते हैं। लेकिन इनको सार्वजनिक क्षेत्र में रखने के बाद भी कई प्रकार के आर्थिक कार्य शेष रह जाते हैं जिन्हें निजी उद्यमकर्त्ताओं पर छोडा जा सकता है। इस प्रकार सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों के मिले—जुले प्रयास से देश का आर्थिक विकास अपेक्षाकृत अधिक तेजी से हो सकता है।

2. उपभोक्ता की स्वतन्त्रता व मजदूरों के हितों की रक्षा करना— मिश्रित अर्थव्यवस्था का उपयोग उपभोक्ता व श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए किया गया है। अत मिश्रित अर्थव्यवस्था के माध्यम से उसे अपनी पसन्द के अनुसार चुनाव का अधिक अवसर दिया जाता है। लेकिन वस्तुओं की पूर्ति के सीमित होने पर सरकार मूल्य—नियंत्रण व राशनिंग को अपना कर इनके अधिक समान वितरण की व्यवस्था करती है।

पूँजीवाद में प्राय मालिकों व मजदूरों के बीच झगडे होने के कारण हड़तालें व तालाबन्दियाँ होती रहती हैं। मिश्रित अर्थव्यवस्था में सरकार औद्योगिक शान्ति स्थापित करने के प्रयास करती है।

3. आर्थिक समानता स्थापित करना— पूँजीवाद में आर्थिक असमानता की समस्या सबसे जटिल मानी गई है। जो देश साम्यवाद नहीं लाना चाहते हैं वे भी कुछ सामाजिक—आर्थिक कारणों से धन व आय के वितरण में अधिक समानता अवश्य लाना चाहते हैं। इसके लिए शहरी व ग्रामीण सम्पत्ति पर सीमा लगाने का प्रयास किया जाता है, एवं विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्ष करों जैसे आयकर, धनकर, उपहार कर, आदि के माध्यम से आय की असमानताएँ दूर करने का प्रयास किया जाता है। इन प्रयत्नों के दौरान मिश्रित अर्थव्यवस्था उत्पन्न होती है।

4. एकाधिकार व निजी हाथों में आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण पर रोक लगाना— एकाधिकार के अन्तर्गत उत्पत्ति कम और कीमतें ऊँची होती हैं। निजी हाथों में आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण से अनेक प्रकार की समस्याए उत्पन्न होती हैं। इसलिए सरकार को इन पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए आवश्यक उपाय करने होते हैं। सरकार एकाधिकार के विरुद्ध वैधानिक कदम उठाती है। ऐसा पूँजीवादी देशों जैसे अमेरिका आदि में भी करना पडा है। भारत में भी निजी क्षेत्र में एकाधिकार को रोकने के लिए *MRTP अधिनियम 1969* में पारित किया गया था।

5. निजी उद्यमवाली अर्थव्यवस्था व नियोजन के मेल से मिश्रित अर्थव्यवस्था उत्पन्न होती है— नियोजन की पद्धति किसी भी अर्थव्यवस्था में अपनाई जा सकती है, इसके भी विभिन्न रूप होते हैं जैसे— तानाशाही नियोजन, लोकतान्त्रिक नियोजन, पूर्ण नियोजन, आंशिक नियोजन आदि। आजकल विशेषतया अल्पविकसित देशों में नियोजित विकास को पसन्द किया जाने लगा है। अत एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक नियोजन को अपनाने से मिश्रित अर्थव्यवस्था उत्पन्न होती है।

6 **संयुक्त क्षेत्र (joint sector) की धारणा से मिश्रित अर्थव्यवस्था को बल मिला है।** पहले बताया जा चुका है कि आजकल समाजवादी विचारक संयुक्त क्षेत्र जैसे संगठन को अपनाने से नहीं हिचकते, **जिससे प्रबंध निजी हाथों में होता है और पूँजी सरकार प्रदान करती है।** इससे समाजवाद को ठेस नहीं पहुँचती। इसलिए 'संयुक्त क्षेत्र' के विकास से भी मिश्रित अर्थव्यवस्था के विकास को बल मिला है। पहले बताया जा चुका है कि पिछले कुछ वर्षों में भारत में संयुक्त क्षेत्र के विचार का काफी समर्थन किया गया है।

हमने ऊपर देखा कि विभिन्न देशों में विभिन्न समयों में विभिन्न उद्देश्यों व कारणों को लेकर मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया गया है। मूलत इसके अपनाने का उद्देश्य उत्पादन बढ़ाना, वितरण की व्यवस्था को ठीक करना लोकतन्त्र की रक्षा करना व आर्थिक नियोजन के लाभ प्राप्त करना रहा है। पूँजीवाद में वितरण की असमानता व आर्थिक शोषण को दूर करने के लिए सरकार का आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप बढ़ाया गया है, और समाजवाद में उपभोक्ता की स्वतन्त्रता की रक्षा करने एवं साधनों का अधिक विवेकपूर्ण ढंग से उपयोग करने के लिए बाजार–प्रणाली का अधिक समावेश किया गया है। इन दोनों प्रक्रियाओं के ताल–मेल से मिश्रित अर्थव्यवस्था को बढ़ावा मिला है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के दोष या कमियाँ

(1) मिश्रित अर्थव्यवस्था में आर्थिक संकट व मुद्रास्फीति

विद्वानों ने मिश्रित अर्थव्यवस्था के संचालन का अध्ययन करके इसके सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण परिणाम निकाले हैं। **प्रभात पटनायक व एस के राव** ने बतलाया है कि "एक देश के बाद दूसरे देश में मिश्रित अर्थव्यवस्था को संकट का सामना करना पड़ा है। यह संकट अल्पकालीन या चक्रीय (cyclical) न होकर अर्थव्यवस्था की क्षमता को ही प्रभावित करता है। **"मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढाँचे में आर्थिक विकास करना काफी कठिन होता है, क्योंकि इसमें भीषण मुद्रास्फीति के दबाव उत्पन्न हो जाते हैं। घाटे के बजटों से मुद्रा की सप्लाई पर भारी दबाव पड़ता है।** भारत सरकार के वार्षिक बजट में कई वर्षों से घाटे के कारण **देश में मुद्रास्फीति की समस्या काफी जटिल हो गई है।"**

जब सरकार मुद्रास्फीति को नियन्त्रित करने के लिए विनियोग कम करती है तो आर्थिक विकास की गति रुकती है। इससे बेरोजगारी फैलती है, जो विशेषतया पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों को प्रभावित करती है। साथ ही शिक्षित वर्ग को भी बेरोजगारी का सामना करना पड़ता है, जिन्हें पेशेवर, तकनीकी व सरकारी क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में काम नहीं मिल पाता है। अत मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढाँचे में आर्थिक विकास की नीति से शासक-वर्ग बड़ी दुविधा में पड़ जाता है। मिश्रित अर्थव्यवस्था में 'मन्दी के साथ महँगाई', अर्थात् **'स्टेग्फ्लेशन'** (Stagflation) की **स्थिति** भी पाई जा सकती है। ऐसी दशा में सरकार के सामने उचित आर्थिक नीति के निर्धारण में कई प्रकार की कठिनाइयाँ व बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(2) मिश्रित अर्थव्यवस्था में पूँजीवाद व समाजवाद के दुर्गुणों का समावेश होने की आशंका

इस प्रकार मिश्रित अर्थव्यवस्था की कार्य-प्रणाली की सफलता के सम्बन्ध में काफी आशंकाएँ प्रकट की गई हैं। ये आशंकाएँ पूँजीवादी व समाजवादी दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं के समर्थकों ने की हैं। उनका मत है कि **'मिश्रित अर्थव्यवस्था'** में इन दोनों अर्थव्यवस्थाओं के दुर्गुणों का समावेश तो हो जाता है, लेकिन दुर्भाग्य से आर्थिक असमानता दूर नहीं होती, एवं नौकरशाही की दीवार और खड़ी हो जाती है। आलोचकों का मत है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था का अपना कोई निश्चित सिद्धान्त व जीवन-दर्शन तो होता नहीं। पूँजीवाद का अपना एक निश्चित सिद्धान्त होता है और साम्यवाद का भी। ये दोनों अपनी-अपनी निर्धारित व निश्चित राह पर चलते जाते हैं। इससे किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न नहीं होता। पूँजीवाद में लोचदार बाजार-प्रणाली काम करती है और साम्यवाद में कठोर केन्द्रीय नियोजन। मिश्रित अर्थव्यवस्था बाजार-प्रणाली व केन्द्रीय नियोजन तथा निजी उद्यम व सार्वजनिक उद्यम को मिलाने के प्रयास में बहुत-कुछ भटक-सी जाती है। इसके कार्य-कलाप सुनिश्चित नहीं कहे जा सकते। वे बहुधा बदलते रहते हैं।

(3) एक ढिलमिल अर्थव्यवस्था

भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था के व्यावहारिक अनुभवों को देखकर आर्थिक क्षेत्र की अधिकांश कमियों के लिए इस व्यवस्था को दोषी ठहराया गया है। एक तरफ निजी क्षेत्र के समर्थक इसे पूँजीवाद की ओर घसीटते हैं, तो दूसरी तरफ साम्यवादी इसे राष्ट्रीयकरण व अन्य उपायों के द्वारा साम्यवाद या समाजवाद की ओर ढकेलना चाहते हैं। इसी रस्साकशी में हमें दोनों अर्थव्यवस्थाओं के दोष तो मिल जाते हैं, लेकिन उनकी अच्छाइयाँ नहीं मिलतीं। अत मिश्रित अर्थव्यवस्था आर्थिक समस्याओं का सफल रूप से समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाई है। **यह एक ढिलमिल व शिथिल किस्म की अर्थव्यवस्था प्रमाणित हुई है।**

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र कम कार्यकुशल व निजी क्षेत्र प्राय आर्थिक दृष्टि से शोषक सिद्ध हुआ है। सरकार किसी भी आर्थिक नीति को दृढ़तापूर्वक नहीं लागू कर पाती। खाद्य-नीति के क्षेत्र में एक बार समाजीकरण, तो दूसरी बार निजी व्यापार, कभी उत्पादकों पर लेवी, तो कभी खुले बाजार में सरकारी खरीद, आदि को अपनाकर हमारे देश में मिश्रित अर्थव्यवस्था में एक छोर से दूसरे छोर तक जाने के प्रयास किये गये हैं, जिससे किसी भी क्षेत्र में सुनिश्चित व दीर्घकालीन नीति विकसित नहीं हो पाई है। इसी तरह औद्योगिक क्षेत्र में भी सरकार कभी 'बड़े व्यावसायिक समूहों' के प्रति कठोर रुख अपनाती है, तो कभी नरम। इस प्रकार के वातावरण में एक उत्पादक को एक कार्यकुशल व न्यायपूर्ण अर्थव्यवस्था का निर्माण करने में कठिनाई होती है।

डॉ खुसरो का मत है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था में प्रगतिशील नीतियों अपनाकर इसे सफल बनाया जा सकता है। इसके लिए विभिन्न आर्थिक नियन्त्रणों को ध्यान से लगाया जाना चाहिए, और उनको अपनाने से पूर्व उनके गुण-दोषों की पूरी परख कर लेनी चाहिए। पिछले कुछ वर्षों में सरकार ने आर्थिक नीति को 'उदारता' की ओर मोड़ा है ताकि उत्पादन व उत्पादकता में वृद्धि की जा सके।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के भेद—जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, व्यवहार में प्राय दो प्रकार की मिश्रित अर्थव्यवस्थाएँ देखने को मिलती है।

1. **प्रमुखतया पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था** (Dominantly Capitalist Mixed Economy) —यह अमेरिका, कनाडा, फ्रांस, दक्षिण कोरिया, व जापान, आदि में पायी जाती है। इनमें उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व पाया जाता है। सरकार भी आर्थिक जीवन में कई प्रकार से भाग लेती है। यह सार्वजनिक राजस्व (कर व व्यय) के मार्फत आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करती है। सरकारी नीतियों का राष्ट्रीय आय पर प्रभाव पडता है। लेकिन अर्थव्यवस्था में निजी उद्यम का प्रमुख स्थान होता है, और व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा को काम करने दिया जाता है। प्रतिस्पर्द्धा के आधार पर बाजार में कई प्रकार की दशाएँ पाई जाती हैं, जैसे अल्पाधिकार, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता, आदि। उपभोक्ता की आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादक माल बनाते है। कीमत-प्रणाली साधनों का आवंटन करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वस्तुओं और साधनों के बाजार होते है जिनमें माँग और पूर्ति की शक्तियों के सन्तुलन से क्रमश वस्तु-मूल्य व साधन-मूल्य निर्धारित होते रहते हैं।

अत पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्थाएँ मूलत पूँजीवादी संस्थाओं को स्वीकार करती है, लेकिन सरकार भी आर्थिक जीवन में भाग लेती है और उत्पादन, वितरण विनिमय, सार्वजनिक राजस्व, आदि के माध्यम से अर्थव्यवस्था को निरन्तर प्रभावित करती रहती है।

2. **नियोजित समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था** (Planned Socialist Mixed Economy) —यह यूगोस्लाविया व अन्य समाजवादी देशों में पाई गयी है। इसमें उत्पादन के साधनों के समाजीकरण पर अधिक बल दिया जाता है। ये समाज की सम्पत्ति माने जाते हैं, न कि व्यक्तिगत सम्पत्ति। उत्पादन के साधनों का उपयोग आर्थिक योजना बनाकर किया जाता है ताकि इनका देश के हित में सर्वोत्तम उपयोग हो सके। **इस प्रकार नियोजन-पद्धति का विकास किया जाता है और योजना में निर्धारित आर्थिक** लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक नीतियाँ निर्धारित की जाती है। इस प्रकार देश के आर्थिक साधनों का उपयोग सार्वजनिक आवश्यकताओं के अनुरूप करने का प्रयास किया जाता है। इनमें बाजार प्रणाली का उपयोग जारी रहती है जिससे माँग व पूर्ति की शक्तियों को अपना प्रभाव दिखलाने का पर्याप्त अवसर मिलता है। लेकिन अभाव की स्थिति में सरकार मूल्य-नियन्त्रण व राशनिंग का उपयोग करके उपलब्ध माल का अधिक समान वितरण करने का प्रयास भी करती है। जीवन की अनिवार्य वस्तुओं के लिए देशव्यापी सार्वजनिक वितरण की व्यवस्था का उपयोग किया जाता है।

इस प्रणाली में निजी उद्यम को पूर्णतया समाप्त नहीं किया जाता, हालांकि उसके लिए कार्य-क्षेत्र बहुत सीमित हो जाता है। लोगों को रोजगार देने, व्यापक रूप से सामाजिक सुरक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध कराने, शिक्षा का तेजी से विकास करने एवं धन, आय व अवसर की असमानता कम करने के लिए आवश्यक कदम उठाये जाते हैं।

इस प्रकार नियोजित समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच की व्यवस्था मानी जा सकती है। इसका झुकाव सार्वजनिक क्षेत्र के विकास की ओर होता है। इसमें 'राज्यवाद' व 'समूहवाद' का उतना बोलबाला नहीं होता जितना साम्यवाद में होता है, और व्यक्तियों को उत्पादन बढ़ाने के लिए मौद्रिक प्रेरणाएँ भी दी जाती हैं। निर्णय विकेन्द्रित आधार पर लिए जाते हैं और फैक्ट्री मैनेजरों को अधिक स्वतन्त्रता दी जाती है ताकि वे ज्यादा से ज्यादा उत्पादन कर सकें।

भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था अथवा नियोजित अर्थव्यवस्था

भारत विश्व में जनसख्या की दृष्टि से चीन के बाद दूसरा स्थान रखता है। विश्व बैंक के अनुमानों के अनुसार 1992 के मध्य मे चीन की जनसख्या 116.2 करोड़ व्यक्ति तथा भारत की 88.4 करोड व्यक्ति आकी गयी थी। 1991 की जनगणना के अनुसार भारत की सशोधित जनसख्या 84 6 करोड रही है। 1991 के लिए ही भारत में जन्म-दर 30 और मृत्यु-दर 10 प्रति एक हजार थी। इस प्रकार आजकल भारत में जनसख्या की वार्षिक वृद्धि-दर 2 0% है। चीन में यह 1980-91 के वर्षों में घटकर 1 5% हो गयी है, (1991 मे जन्म-दर 22 प्रति हजार तथा मृत्यु-दर 7 प्रति हजार)। भारत 'जनसख्या के विस्फोट' (Population explosion) की अवस्था में से गुजर रहा है। 1951-91 की अवधि में देश मे लगभग 48 5 करोड व्यक्ति बढ गए, जो अमेरिका अथवा रूस की वर्तमान जनसख्या से भी अधिक है। इससे देश पर जनसख्या के भारी दबाव का अनुमान लगाया जा सकता है।

सातवी योजना के प्रारूप में मार्च, 1985 में 5 व अधिक वर्ष के आयु-समूह में श्रम-शक्ति का अनुमान 30 5 करोड़ व्यक्ति लगाया गया था। वर्तमान में देश में लगभग 80 लाख व्यक्ति सालाना श्रम-शक्ति में जुडते हैं। 1971 में श्रम-शक्ति का 69 8 प्रतिशत अश कृषि में लगा हुआ था, जो 1981 मे पहली बार मामूली घट कर 66 7 प्रतिशत पर आया था। इस प्रकार श्रम-शक्ति के व्यावसायिक वितरण में तीस वर्ष बाद थोडा अनुकूल परिवर्तन देखने को मिला है, अन्यथा यह गतिहीन ही बना हुआ था। भारत में योजनाकाल में सेवा-क्षेत्र का विकास अधिक तेज गति से हुआ है।

भारत में जनाधिक्य के कारण खाद्यान्नों की माग काफी ऊची रहती है। देशवासियों का जीवन-स्तर बहुत नीचा है। 1992-93 में प्रति व्यक्ति वार्षिक आय (1980 81 के भावो पर) 2216 रुपये थी, जबकि 1950-51 में लगभग 1127 रुपये थी।[1] 1987-88 में समस्त भारत में 30% व्यक्ति निर्धनता की रेखा से नीचे थे।

---

1 Economic Survey 1993 94, p s-3

अब तक योजनाकाल के 43 वर्ष पूरे हो चुके हैं। सातवी पचवर्षीय योजना में (1985-90 की अवधि में) विकास की दर 5 8% रही है जो लक्ष्य से अधिक थी।

योजनाओं के उद्देश्य व नीतियाँ– भारत ने 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद नियोजित आर्थिक विकास की आवश्यकता स्वीकार की गई थी। प्रथम पचवर्षीय योजना 1 अप्रैल, 1951 मे प्रारम्भ हुई थी। इसका उद्देश्य देश के विभाजन व युद्ध के दबावों को कम करना था। इस समय आठवी योजना (1992 97) के तृतीय वर्ष (1994-95) की योजना पर कार्य चल रहा है।

इस प्रकार आर्थिक नियोजन देश के आर्थिक विकास का प्रमुख आधार बन गया है। देश में संसदीय लोकतन्त्र की व्यवस्था है। 1954 में आर्थिक नीति का उद्देश्य समाजवादी समाज की स्थापना करना रखा गया था। भारत में लोकतान्त्रिक नियोजन को अपनाया गया है, तानाशाही नियोजन को नहीं। लोकतान्त्रिक नियोजन में लोगों को योजना में भागीदार बनाया जाता है और योजना के कार्यक्रमों के लिए उनकी सहमति आवश्यक होती है। योजना का निर्माण व क्रियान्वयन जनता के सहयोग व समर्थन पर निर्भर करता है। योजना लोगों के ऊपर थोपी नहीं जाती।

भारतीय नियोजन में रोजगार बढ़ाने, निर्धनता कम करने, तीव्र गति से औद्योगिक विकास करने, आधुनिकीकरण करने, आत्म-निर्भरता प्राप्त करने, आय की असमानता व धन का केन्द्रीयकरण कम करने एव राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के उद्देश्य रखे गये हैं।

भारत ने *'मिश्रित अर्थव्यवस्था'* को स्वीकार किया है जिसमें औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव, 1956 के अनुसार उद्योगों के लिए सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों का स्थान निर्धारित किया गया है।

1985 के बाद औद्योगिक नीति व लाइसेंस-व्यवस्था को अधिक उदार बनाया गया है। कई उद्योगों को लाइसेंस लेने से मुक्त किया गया है। एकाधिकारी घरानों व विदेशी कम्पनियों को कई प्रकार की रियायतें दी गई हैं। सरकार पिछड़े क्षेत्रों में विकास-केन्द्रों के माध्यम से इन्फ्रास्ट्रक्चर की सुविधाएँ बढ़ाना चाहती है। औद्योगिक लाइसेंस से छूट की सीमा 5 करोड रुपये से बढ़ाकर अब सामान्यतया 25 करोड रुपये कर दी गई है। इससे औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिलने की आशा है।

24 जुलाई 1991 को सरकार ने नई औद्योगिक नीति घोषित की थी जिसमें 18 विशिष्ट उद्योगों को छोड़कर शेष सभी उद्योगों के लिए लाइसेंस की व्यवस्था समाप्त कर दी गई (अब 15 उद्योग)। प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग के लिए विदेशी कम्पनियों को विदेशी इक्विटी में पहले के 40% की बजाय 51% हिस्सा दिया गया, तथा एकाधिकारी कम्पनियों के लिए परिसम्पति की सीमा समाप्त कर दी गयी। इस उदार औद्योगिक नीति का उद्देश्य उद्योगों की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति को बढ़ाना है।

भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था की कार्यविधि की विशेषताएँ

1 **कई प्रकार के नियन्त्रणों का प्रयोग—** भारत की *मिश्रित अर्थव्यवस्था* को एक नियन्त्रित अर्थव्यवस्था कहना अधिक उपयुक्त होगा। इसमें सरकार ने कई बिन्दुओं पर आर्थिक नियन्त्रण लगा रखे हैं और उनका भूतकाल में निरन्तर विस्तार किया गया है। मूल्य-नियन्त्रण, राशनिंग, आयात-निर्यात नियन्त्रण, औद्योगिक लाइसेन्स प्रदान करने के सम्बन्ध में नियन्त्रण, पूँजी-निर्गम पर नियन्त्रण, आदि का अर्थव्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है। नियन्त्रणों की प्रवृत्ति होती है कि वे निरन्तर बढ़ते जाते हैं और कभी-कभी उनमें परस्पर तालमेल बैठाना भी कठिन हो जाता है। पिछले वर्षों में अनावश्यक नियन्त्रणों को हटाने पर जोर दिया गया है ताकि उत्पादन बढ़ सके।

2 **मूल्य-तन्त्र का प्रयोग—**भारत में मूल्य प्रणाली का व्यापक रूप से उपयोग किया गया है और आज भी किया जा रहा है। मांग व पूर्ति की शक्तियाँ साधन-मूल्य व वस्तु-मूल्य निर्धारित करने की दृष्टि से सक्रिय रही है, हालांकि समय समय पर कुछ सीमा तक इनमें सरकारी हस्तक्षेप भी पाया गया है। सरकार ने इस्पात, कोयला, उर्वरक, दवाइयों, आदि के भाव नियन्त्रिण किए हैं, तथा मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी भी निर्धारित की है। इसी प्रकार ब्याज की दरें भी निश्चित की गई हैं।

3 **भूमि-सुधार—**कृषि में भूमि सुधारों को लागू करके एवं भूमि की सीमा निर्धारित करके अतिरिक्त भूमि भूमिहीनों में बाँटने की नीति स्वीकार की गई है। वास्तविक काश्तकार को भूमि का मालिक बनाने की नीति अपनाई गई है। इस प्रकार भूमि की सामन्ती व्यवस्था को समाप्त करने की नीति स्वीकार की गई है।

4 **सहकारिता—** प्रारम्भिक वर्षों में छोटे किसानों के लिए सहकारी संयुक्त खेती के अन्तर्गत भूमि के टुकड़े मिलाने पर जोर दिया गया था। लेकिन कई कारणों से भारत में सहकारी संयुक्त खेती विशेष लोकप्रिय नहीं हो सकी। इसलिए सहकारी सेवा समितियों के विस्तार का समर्थन किया गया जिनके माध्यम से कृषक को कई प्रकार की सुविधाएँ मिलती हैं। भारतीय नियोजन में सहकारिता के विकास का महत्व प्रारम्भ से ही स्वीकार किया गया है।

5 **सार्वजनिक क्षेत्र का प्रमुत्व स्थापित करने का लक्ष्य—**औद्योगिक विकास में सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र दोनों को उचित स्थान दिया गया है। इसलिए भारतीय अर्थव्यवस्था 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' का उदाहरण प्रस्तुत करती है। हालांकि इस बात को बहुत बार दोहराया गया है कि सार्वजनिक क्षेत्र का इस प्रकार से विकास किया जायेगा कि यह अर्थव्यवस्था में 'प्रभुता की स्थिति' (Commanding position) प्राप्त कर सके। सार्वजनिक क्षेत्र में कई प्रकार के कल-कारखाने स्थापित किये गये है। इनमें भारी विनियोगों की आवश्यकता थी जिसे निजी क्षेत्र के द्वारा उपलब्ध करना कठिन था।

6. निजी क्षेत्र का नियन्त्रण व नियमन—सरकार ने विभिन्न तरीकों से निजी क्षेत्र का नियन्त्रण व नियमन किया है। औद्योगिक लाइसेन्स नीति के माध्यम से नये उद्यमकर्त्ताओं को प्रोत्साहन देने की कोशिश की जाती है। बड़े औद्योगिक घरानों का आर्थिक शक्ति पर नियन्त्रण कम करने व एकाधिकार को कम करने के उपाय किये गये है। इस सम्बन्ध में एकाधिकार आयोग भी काम कर रहा है।

साथ में निजी क्षेत्र के विकास के लिए सार्वजनिक वित्तीय संस्थाओं से काफी धन उधार दिया जाता है। इस प्रकार सरकार निजी क्षेत्र को विकास का समुचित अवसर प्रदान करती है।

7. संयुक्त क्षेत्र पर बल—पिछले वर्षों में संयुक्त क्षेत्र का भी विकास किया गया है। इसमें एक ही उपक्रम में सार्वजनिक व निजी क्षेत्र दोनों मिलकर काम करते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र ज्यादातर वित्त की व्यवस्था करता है और निजी उद्यमकर्त्ता बहुधा प्रबन्ध में भाग लेते हैं।

8. व्यापार में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार—सरकार ने भारतीय खाद्य-निगम (FCI) स्थापित करके अनाज के व्यापार में सार्वजनिक क्षेत्र विकसित किया है। खाद्यान्नों के सम्बन्ध में सरकार ने निर्धारित भावों पर इनको बाजार में खरीदने की नीति अपनाई है ताकि उत्पादकों व उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा की जा सके। सरकार खाद्यान्नों की बिक्री पर सब्सिडी का भार भी उठाती है ताकि गरीबों को कम भावों पर अनाज उपलब्ध किया जा सके। इस प्रकार मिश्रित अर्थव्यवस्था का **स्वरूप बहुत कुछ प्रयोगात्मक किस्म का है, जिसका अर्थ है परिस्थिति के अनुसार नीति में आवश्यक परिवर्तन करते जाना ताकि निर्धारित सामाजिक-आर्थिक उद्देश्यों को यथासम्भव प्राप्त किया जा सके।**

9. आवश्यकतानुसार राष्ट्रीयकरण—सरकार ने राष्ट्रीयकरण को आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू करने की नीति नहीं अपनाई है। लेकिन आवश्यकता पड़ने पर सरकार राष्ट्रीयकरण करने में पीछे भी नहीं हटी है। जून, 1969 में भारत के 14 बड़े व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया था। जीवन बीमा का पहले ही राष्ट्रीयकरण किया जा चुका था। कोयला उद्योग भी सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। जून, 1980 में 6 और बैंकों के राष्ट्रीयकरण के लिए अधिनियम पास किया गया। **इस प्रकार भारत में परिवहन, बैंकिंग व बीमा के क्षेत्रों में सरकार ने राष्ट्रीयकरण की नीति अपनायी है।** विभिन्न आर्थिक क्रियाओं में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार किया गया है।

10. प्रगतिशील प्रत्यक्ष कर-व्यवस्था—आर्थिक समानता के लिए प्रत्यक्ष करों जैसे आय कर, सम्पत्ति कर, उपहार कर आदि का उपयोग किया गया है। सामाजिक सुरक्षा की सुविधाएं बढ़ाकर श्रमिकों के कल्याणों के लिए कार्य किये गये हैं।

11. दोहरे बाजार (dual market) की नीति—भारत में खाद्यान्नों, चीनी आदि के सम्बन्ध में दोहरे बाजार की नीति अपनायी गई है, जिसके अनुसार ये कुछ

सीमा तक नियन्त्रित भावों पर तथा शेष खुले बाजार में उपलब्ध किये जाते हैं, ताकि उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा की जा सके। दोहरे बाजार की नीति को कार्यान्वित करने के लिए सरकार उत्पादकों से निर्धारित कीमतों पर उत्पादित माल का कुछ अंश खरीदकर उपभोक्ताओं को उचित मूल्य की दूकानों के मार्फत अपेक्षाकृ . कम कीमत पर बेचने की व्यवस्था करती है, जैसाकि चीनी के सम्बन्ध में किया गया है। उत्पादक अपना माल खुले बाजार में बेचने के लिए स्वतन्त्र रहते हैं।

भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र का व्यापक प्रभाव

स्मरण रहे कि समाजवाद के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण सैद्धान्तिक नहीं है। इसलिए हमने अपने देश में इसका जो रूप निश्चित किया है वह अन्य देशों से भिन्न है। हमने अभी तक मार्क्सवादी समाजवाद के सिद्धान्तों को स्वीकार करके साम्यवाद की तरफ बढ़ने की नीति नहीं अपनाई है। इतने वर्षों के बाद भी भारतीय अर्थव्यवस्था मूलत मिश्रित अर्थव्यवस्था ही है। कृषि में पारिवारिक खेतों का बोलबाला है। अभी तक अन्य किस्मों जैसे सहकारी कृषि, सामूहिक कृषि व राजकीय खेती आदि का ज्यादा प्रचार नहीं हुआ है। आधुनिक किस्म के अनेक बड़े पैमाने के उद्योग जैसे उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योग निजी क्षेत्र में पाये जाते है। बड़े व्यावसायिक घरानों का उद्योगों पर नियन्त्रण है। लघु उद्योग थोक व्यापार व खुदरा व्यापार ज्यादातर निजी क्षेत्र में केन्द्रित हैं। इस प्रकार भारतीय अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र का प्रभाव बहुत व्यापक है। देश में निजी सम्पत्ति की प्रथा विद्यमान है। उत्तराधिकार की प्रथा भी प्रचलित है। काफी सीमा तक उद्यम की स्वतन्त्रता है। सरकार निजी सम्पत्ति के अधिकारों को मानती है हालाँकि इन पर नियन्त्रण करने का प्रयास भी किया गया है। देश में आर्थिक नियोजन के आधार पर काम किया जा रहा है।अतः **भारतीय अर्थव्यवस्था 'नियोजित मिश्रित-अर्थव्यवस्था'** (Planned Mixed economy) **कहला सकती है।** अब हम भारत की 'मिश्रित अर्थव्यवस्था की सफलताओं व विफलताओं' का संक्षिप्त परिचय देंगे।

भारत में 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' की सफलताएं[1]

भारत में नियोजित आर्थिक विकास 1 अप्रेल, 1951 से प्रारम्भ हुआ था। अब तक योजनाकाल के 43 वर्ष पूरे हो गये हैं। योजनावधि के इन वर्षों में कई अरब रुपयों का *परिव्यय सार्वजनिक क्षेत्र* में किया है। 1980-81 से 1989-90 तक विकास की दर लगभग 5.5% सालाना रही है जो विकास के नये पथ की सूचक है। पहले दीर्घकालीन विकास की दर 3.5% मानी जाती थी।

1 Economic Survery 1993-94 तथा लेखक की "**भारतीय अर्थव्यवस्था व विकास की** *प्रक्रिया (तृतीय संस्करण 1994 अजमेर विश्व) का उपयोग किया जा सकता है।*

भारत की राष्ट्रीय आय (सन् 1980 81 के मूल्यों पर) 1992-93 में लगभग 1932 अरब रुपये हो गई है जो 1950 51 की तुलना में 4 78 गुनी है। इसी प्रकार स्थिर मूल्यों पर 1992 93 में प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 2216 रुपये रही जो 1950-51 की तुलना में 1 97 गुनी हो गई है। सम्पूर्ण योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में वार्षिक विकास की दर लगभग 3 8 प्रतिशत रही है। जनसख्या के बढने के कारण प्रति व्यक्ति आय कम मात्रा में (1 7 प्रतिशत वार्षिक) बढ पायी है। भारतीय अर्थव्यवस्था में स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व कई शताब्दियों तक कुल राष्ट्रीय आय में वार्षिक वृद्धि की दर लगभग 1% रही थी, जो 1950-51 से तिगुनी से अधिक हो गई है। 1974-75 से विकास की वार्षिक दर 5% से अधिक हो गई है, जिससे विकास का मार्ग ऊचा हुआ है।

विभिन्न आर्थिक क्षेत्रो मे प्रगति[1]

कृषि

नियोजन काल में कृषिगत उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। खाद्यान्नों का उत्पादन 1950-51 में 51 मिलियन टन (5 1 करोड टन) से बढकर 1992-93 में 180 मिलियन टन हो गया है। 1993 94 में इसके 179 मिलियन टन रहने का अनुमान प्रस्तुत किया गया है। 1966-67 से भारत में हरितक्राति की शुरुआत हुई थी। 1992-93 में 67 1 मिलियन हैक्टेयर भूमि में अधिक उपज देने वाली किस्में बोयी गई थीं। देश में गेहू का उत्पादन काफी बढा है। लेकिन आज भी कृषिगत उत्पादन में काफी उतार चढाव आते रहते हैं जिससे कठिनाइया उत्पन्न हो जाती हैं। भारत में योजनाकाल में दालों का उत्पादन लगभग गतिहीन बना रहा है। सिंचित क्षेत्र 1950 51 में 2.3 करोड हैक्टेयर से बढकर 1992 93 में 7 51 करोड हैक्टेयर हो गया है। यह कृषिगत क्षेत्र का पहले 17% था जो अब लगभग 32% हो गया है।

उद्योग व शक्ति

विद्युत का सृजन 1950 51 से 5 1 अरब किलोवाट घण्टे से बढकर 1992-93 में लगभग 301 4 अरब किलोवाट घण्टे हो गया है। तैयार इस्पात का उत्पादन 1950-51 में 10 4 लाख टन से बढकर 1991 92 में लगभग 1 43 करोड टन हो गया है। एल्यूमिनियम, मशीनी औजार, नाइट्रोजन खाद, क्रूड तेल आदि में उत्पादन के नये रिकार्ड स्थापित किये गये हैं। क्रूड तेल आदि का उत्पादन 1950-51 में 3 लाख टन से बढकर 1992 93 में 2 7 करोड टन हो गया है। कोयले का उत्पादन (लिग्नाइट सहित) 3 2 करोड टन से बढकर 25 5 करोड टन हो गया है।

---

1 प्रमुखतया Economic Survey 1993 94 p S 1

केन्द्रीय सरकार के औद्योगिक व व्यावसायिक उपक्रमों में 1950–51 में कुल विनियोग केवल 29 करोड़ रुपये का था। 1992 93 में इसमें लगी पूँजी (Capital employed) की राशि 139933 करोड़ रु हो गई थी। इसमें 1980 के दशक में तेजी से वृद्धि हुई है। कार्यरत सार्वजनिक उपक्रमों की सख्या 5 से बढ़कर 237 हो गई है। आज भारत का औद्योगिक ढाँचा पहले से ज्यादा सतुलित और विविधता लिए हुए है। देश में परिवहन व शक्ति का साज–सामान बनने लगा है। हम रेल के साज–सामान में लगभग आत्म–निर्भर हो गये हैं। देश में सामाजिक सेवाओं का काफी विस्तार हुआ है।

भारत में 1992 93 में सकल घरेलू बचत की दर सकल घरेलू उत्पत्ति (GDP) (चालू बाजार भावों पर) के अनुपात के रूप में 22 3% तथा घरेलू पूँजी निर्माण की समायोजित दर 24.5% रही है। बचत व विनियोग की इतनी ऊँची दरें प्राय विकसित देशों में ही देखने को मिलती हैं। भारत में इनका बढ़ना एक सन्तोष का विषय माना जा सकता है। भविष्य में इनमें और वृद्धि की जानी चाहिए तथा साथ में बचत का अधिक उत्पादक उपयोग भी किया जाना चाहिए।

नियोजन की असफलताएँ

अस्सी के दशक में भारत में विकास की वार्षिक दर पहले से अधिक रही है। लेकिन 1991 में साक्षरता की दर 52 2% (7 वर्ष से ऊपर की आयु के लिए) रही है तथा जीने की औसत आयु 59 वर्ष है, जिससे देश का सामाजिक पिछड़ापन प्रकट होता है। भारत में योजनाओं के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था गतिमान हुई है, लेकिन साथ में कुछ समस्याएँ भी उत्पन्न हो गई हैं। देश में व्याप्त बेरोजगारी व अर्द्ध–रोजगार की स्थिति, मुद्रास्फीति, विदेशी ऋणों का ब्याज व मूलधन चुकाने का भार, स्वदेशी व विदेशी कर्ज का फदा, धन व आय की असमानताएँ, काले धन व मुद्रा का फैलाव, सट्टेबाजी, सग्रह, मुनाफाखोरी व तस्करी एद निजी हाथों में आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण, आदि ने देश में जटिल आर्थिक स्थिति उत्पन्न कर दी है। ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी व अल्परोजगार की दशाएँ बड़े पैमाने पर फैली हुई हैं। आज भी देश में मानवीय शक्ति का ठीक से उपयोग नही हो रहा है।

प्रमुख कमियों का परिचय नीचे दिया जाता है–

1. धन व आय के वितरण में असमानता

देश में विविध प्रकार के आर्थिक नियन्त्रणों, घाटे के बजटों व आयात लाइसेन्स-व्यवस्था के कारण आर्थिक असमानता में वृद्धि हुई है। देश में पूँजीवादी व्यवस्था के मूल लक्षण विद्यमान है। यद्यपि अर्थव्यवस्था आज भी मिश्रित ही बनी हुई है, तथापि मिश्रण के तत्व इसे समाजवादी प्रारूप की अपेक्षा पूंजीवादी प्रारूप के अधिक समीप ले जाते है।

डॉ वी के आर वी राव ने बतलाया है कि भारत में **अर्द्ध-समाजवादी समाज को विकसित किया गया है,** जैसे यहाँ एक बड़ा सार्वजनिक क्षेत्र,

राष्ट्रीयकृत बैंकिंग व बीमा, एकाधिकारी व बड़े व्यावसायिक घरानों पर प्रतिबन्ध, भूस्वामित्व की पुरानी व्यवस्था का अन्त, कुछ सीमा तक भूमि का पुनर्वितरण, न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम को लागू करना लघु कृषकों को सस्ते ब्याज पर कर्ज की सुविधा देना, एवं निर्धनता को कम करने के विविध कार्यक्रम देखने को मिलते हैं।

लेकिन इन सबके बावजूद अर्थव्यवस्था काफी सीमा तक अकार्यकुशल ढंग से काम करने वाली व ऊँची लागत वाली पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था ही बनी हुई है। सरकार किसी भी निर्धारित आर्थिक नीति को कड़ाई से लागू नहीं कर पाती और श्रमिकों व मिल मालिकों के सम्बन्ध भी ठीक नहीं है जिससे 'आये दिन हड़तालें व तालाबन्दियों होती रहती हैं।

2. निजी हाथों में आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण में वृद्धि

सरकार की लाइसेन्स-व्यवस्था के बावजूद आर्थिक सत्ता कुछ बड़े व्यावसायिक समूहों के हाथों में केन्द्रित हो गई है। टाटा, बिड़ला, रिलायन्स व मफतलाल आदि समूहों की परिसम्पत्ति योजनाकाल में काफी बढ़ी है।

3 मुद्रास्फीति

भारत में योजनाकाल में मुद्रास्फीति में निरन्तर वृद्धि होती रही है। मार्च 1994 में अखिल भारतीय उपभोक्ता मूल्य सूचकांक लगभग 1315 8 हो गया था (1960 को आधार-वर्ष मानने पर)। 1982 के आधार-वर्ष पर यह 267 रहा। इस प्रकार लगभग 33 वर्षों में रुपये का मूल्य घटकर 7 6 पैसे मात्र रह गया है। इससे नागरिकों के कष्ट बढ़े हैं तथा योजना के अनुमानों पर विपरीत असर पड़ा है।

4 अन्य

इन समस्याओं के अलावा योजनाकाल में काली मुद्रा व काली आय की समस्या अधिक जटिल हुई है। देश में बेरोजगारी की समस्या **हल नहीं हो पायी है** तथा वर्तमान में विदेशी भुगतान की स्थिति काफी असंतोषजनक है। योजना के लिए *साधनों का संकट बना हुआ है। देश पर* **कर्ज का भार असहनीय** *हो गया है।*

विदेशी विनिमय सकट को दूर करने के लिए अतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से तथा जापान आदि देशों से द्विपक्षीय कर्ज की व्यवस्था की गयी है। सितम्बर 1993 के अत में भारत पर विदेशी कर्ज की मात्रा 2,82,904 करोड़ रु तक पहुँच गयी थी। ?1992 93' में देश पर ऋण-सेवा-भार चालू प्राप्तियों *का 30 8% रहा जो काफी ऊँचा* है। आठवीं पचवर्षीय योजना अप्रैल, 1992 से प्रारम्भ हो गयी है। इसमें निम्न दृष्टिकोण अपनाया गया है –

(1) पहले के भाँति योजना को केन्द्रित न रखकर उसके स्थान पर इसके विकेन्द्रित स्वरूप को अपनाने पर अधिक बल दिया गया है। इसलिए भविष्य में

जिला-नियोजन, ब्लाक-नियोजन व ग्राम-नियोजन को ऊँची प्राथमिकता दी जायगी। इसके लिए पचायती राज संस्थाओं को अधिक सक्रिय करना होगा।

2 देश में गरीबी दूर करने के लिए योजना को रोजगारोन्मुख बनाया जायगा।

सच पूछा जाय तो विकेन्द्रित नियोजन व रोजगारोन्मुख नियोजन के दृष्टिकोण पूर्णतया नये नहीं हैं। आवश्यकता है इनको अधिक कारगर ढग से लागू करने की। वर्तमान सरकार के समक्ष कई प्रकार की राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक चुनौतिया विद्यमान हैं। सुदृढ राजनीतिक इच्छा-शक्ति, प्रबल जन-सहयोग व कठोर परिश्रम तथा त्याग से ही देश की समस्याएँ हल की जा सकती हैं। **सरकार मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढाँचे को कायम रखते हुए उचित आर्थिक नीतियाँ अपनाकर उत्पादन व उत्पादकता बढा सकती है, लागत कम कर सकती है, निर्यात बढा सकती है और देशवासियों का जीवन-स्तर ऊँचा कर सकती है।** भारत को 'प्रगतिशील मिश्रित अर्थव्यवस्था' के माध्यम से भावी आर्थिक विकास का भरसक प्रयास करना चाहिए। विश्व की बदली हुई परिस्थितियों में जहाँ पूर्वी योरोप के देश समाजवाद के मार्ग को छोड़कर बाजार-प्रणाली की ओर मुड़ने लगे हैं, भारत को नियोजित विकास के मार्ग पर चलते हुए 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' को अधिक कारगर बनाना चाहिए, ताकि लोकतन्त्र, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, चुनावी व्यवस्था व बाजार-प्रतियोगिता को अपनाकर देशवासियों का जीवन-स्तर ऊँचा किया जा सके **और आर्थिक विकास, आर्थिक स्थिरता व आर्थिक समानता में समुचित समन्वय स्थापित किया जा सके।**

प्रश्न

1 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' का अर्थ व लक्षण स्पष्ट कीजिए। पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था व समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था में अंतर समझाइए।

2 मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाने के कारण बतलाते हुए इसके लाभों पर प्रकाश डालिए।

3. मिश्रित अर्थव्यवस्था का कौन-सा रूप अधिक उपयुक्त माना जायेगा?
(अ) विकसित देशों के लिए।
(ब) निर्धन विकासशील देशों के लिए।

[**उत्तर-संकेत**— (अ) विकसित देश उदार आर्थिक नीति अपना सकते हैं। इसलिये पूँजीवादी विकसित देश (अमेरिका, जापान, आदि) पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था अपना सकते हैं।

(ब) निर्धन विकासशील देशों में बेरोजगारी गरीबी आर्थिक असमानता आदि समस्याओं के हल के लिए समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था ज्यादा लाभकारी सिद्ध हो सकती है। आर्थिक प्रणाली के चुनाव पर देश की सामाजिक व राजनीतिक दशाओं का भी प्रभाव पड़ता है। अत अन्तिम निर्णय सामाजिक आर्थिक राजनीतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से प्रभावित होगा।)

4 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' किसे कहते हैं? यह साम्यवादी अर्थव्यवस्था से किन अर्थों में बेहतर होती है?

5 *मिश्रित अर्थव्यवस्था व पूँजीवाद की परस्पर तुलना कीजिए।*

6 मिश्रित अर्थव्यवस्था में पूँजीवाद व समाजवाद के उत्तम गुणों का सम्मिश्रण करने के लिए क्या किया जाना चाहिए?

7 आप मिश्रित अर्थव्यवस्था को कैसे परिभाषित करेंगे? प्रमुखतया पूजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था तथा नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था मे आप किसको व क्यों पसद करेंगे? (Raj Iyr 1993)

8 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए —
(i) नियोजित अर्थव्यवस्था
(ii) *मिश्रित अर्थव्यवस्था (Raj Iyr 1992) 100 शब्दों में*
(iii) बाजार अर्थव्यवस्था (Ajmer Iyr 1993)
(iv) समाजवाद
(v) साम्यवाद।

* * *

खण्ड (स) (Section C)

15

अर्थशास्त्र में फलनात्मक सम्बन्ध
(Functional Relationships in Economics)

'एक चित्र एक हजार शब्दों के बराबर होता है'
— एक चीनी कहावत

अर्थशास्त्र में सांख्यिकी व गणित का व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है। व्यष्टि अर्थशास्त्र में उपभोग, उत्पादन, विनिमय व वितरण में कई प्रकार के रेखाचित्रों व वक्रों की सहायता से विभिन्न विषय स्पष्ट किये जाते हैं। इसी प्रकार समष्टि अर्थशास्त्र में उपभोग-फलन, बचत व विनियोग-फलनों आदि का उपयोग आवश्यक माना जाता है। इस अध्याय में हम फलनात्मक सम्बन्ध (functional relationships), ग्राफ के प्रयोग, वक्रों के ढाल व लोच आदि के विचारों को स्पष्ट करेंगे ताकि आगे चलकर माँग व पूर्ति वक्र, लागत-वक्र, उत्पत्ति-वक्र, तटस्थता-वक्र, उत्पादन-सम्भावना-वक्र, समोत्पत्ति-वक्र, माँग की लोच, आदि का वर्णन अधिक सुगमतापूर्वक समझ में आ सके। प्राय यह देखा गया है कि आवश्यक गणित की जानकारी नहीं होने से विद्यार्थी समीकरणों, रेखाचित्रों व वक्रों का सही अर्थ नहीं लगा पाते, जिससे उनको उच्चस्तरीय आर्थिक सिद्धान्तों को समझने में भारी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

अर्थशास्त्र में कई स्थलों पर कुल, औसत व सीमान्त से जुड़ी अवधारणाएं *सामने आती हैं। हम लागत, आय व उत्पादन के संदर्भ में चित्रों की सहायता से* उनके विवेचन को स्पष्ट करेंगे।

फलनात्मक संबंध
(Functional Relationships)

(i) फलनात्मक सम्बन्ध तथा वक्र (Functional relationships and curves) —अर्थशास्त्र में बहुधा यह देखा जाता है कि दो चलराशियों या चरों (Variables) का आपस में सम्बन्ध होता है, और एक चलराशि दूसरे पर निर्भर करती है। ऐसा दो से *अधिक चलराशियों* के लिए भी पाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, एक वस्तु की माँग की मात्रा, अन्य बातों के समान रहने पर, उसकी कीमत पर निर्भर

करती है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि एक वस्तु की माँग उसकी कीमत का फलन होती है (Demand is a function of price) । इसे $D = f(p)$ के रूप में लिख सकते है, जहाँ D माँग की मात्रा, f फलन तथा p कीमत के सूचक है। यहाँ f केवल सम्बन्ध का सूचक मात्र है, f को p से गुणा नहीं किया गया है। अत हम यहाँ दो चलराशियों—माँग व कीमत के सम्बन्ध पर विचार कर रहे हैं। दाहिनी तरफ की चलराशि स्वतन्त्र मानी जाती है जो यहा कीमत है, और बायीं तरफ की चलराशि आश्रित मानी जाती है जो यहाँ माँग की मात्रा है। प्राय एक आश्रित चलराशि कई स्वतन्त्र चलराशियों पर भी निर्भर कर सकती है, जैसे एक वस्तु की माग (D_1) उसकी स्वय की कीमत (p_1), उपभोक्ता-वर्ग की आमदनी (y) तथा अन्य वस्तुओं की कीमतों जैसे— $p_2, p_3, \ldots p_{n-1}$ पर निर्भर कर सकती है। इसे निम्न प्रकार से लिखा जा सकता है—

$$D_1 = f(p_1, y, p_2, p_3, \ldots \ldots p_{n-1})$$

फलनात्मक सम्बन्ध का केवल यह अर्थ है कि एक चलराशि दूसरी चलराशि पर निर्भर करती है, अर्थात् एक स्वतन्त्र चलराशि की दी हुई मात्रा से दूसरी आश्रित चलराशि की मात्रा ज्ञात की जा सकती है। दो चलराशियों में एक चलराशि दूसरे का कारण हो सकती है, और नहीं भी। जैसे, माँग-फलन में माँग के बदलने में उस वस्तु की कीमत कारण हो सकती है। इसी प्रकार उपभोक्ता की आमदनी भी माँग की मात्रा में परिवर्तन का कारण बन सकती है। लेकिन फलनीय सम्बन्ध में प्रमुख बल केवल दोनों चलराशियों के परस्पर 'सम्बन्ध' पर ही दिया जाता है, ताकि एक स्वतन्त्र चलराशि के दिये हुए होने पर आश्रित चलराशि की गणना आसानी से की जा सके। उदाहरण के लिए $Y = 2X$ में Y चलराशि X पर आश्रित है, और $X = 2$ पर $Y = 4$ होगी। यहाँ यह आवश्यक नहीं कि X का परिवर्तन Y के परिवर्तन का कारण हो।

फलनात्मक सम्बन्ध के रूप— फलनात्मक सम्बन्ध (i) धनात्मक (positive) हो सकता है *अथवा (ii) ऋणात्मक (negative) । (iii)* यह रैखिक (linear) हो सकता है या (iv) अरैखिक या वक्रीय (non-linear) । इनका स्पष्टीकरण नीचे दिया जाता है। (i) धनात्मक फलन-सम्बन्ध तब कहा जाता है जब स्वतन्त्र चलराशि के बढ़ने से आश्रित चलराशि भी बढ़ती जाती है, अथवा स्वतंत्र चलराशि के घटने पर आश्रित चलराशि भी घटती जाती है। इस प्रकार दोनों चलराशियाँ एक ही दिशा में चलती जाती हैं।

उदाहरण के लिए, $P = 2Q$ धनात्मक फलन का द्योतक है। यहाँ Q के बढ़ने से P की मात्रा भी बढ़ती जाती है, जो निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है—

स्वतन्त्र चलराशि Q की मात्राएँ	1	2	3	4	5
आश्रित चलराशि P की मात्राएँ	2	4	6	8	10

इसको निम्न रेखाचित्र की सहायता से दर्शाया जा सकता है—
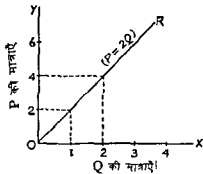
चित्र 1— धनात्मक फलन

स्मरण रहे कि स्वतन्त्र चलराशि को क्षैतिज अक्ष, अर्थात् OX-अक्ष पर दर्शाया जाता है, और *आश्रित चलराशि को लम्बवत् अक्ष अर्थात् OY-अक्ष पर।* यहाँ OX-अक्ष पर Q की मात्राएँ अंकित की गई है और OY -अक्ष पर P की *मात्राएँ। OR रेखा धनात्मक फलन-सम्बन्ध की सूचक है। Q के बढ़ने से P में वृद्धि* हो रही है। इसलिए OR रेखा ऊपर की ओर जा रही है। Q के 1 होने पर P=2 है, *तथा Q के 2 होने पर P=4 है, आदि, आदि।*

साधारणतया स्वतन्त्र चलराशि को OX-अक्ष पर तथा आश्रित चलराशि को OY-अक्ष पर दर्शाते है। लेकिन एल्फ्रेड मार्शल का अनुसरण करते हुए अर्थशास्त्री माँग व पूर्ति वक्रों को खींचते समय स्वतन्त्र चलराशि कीमत (P) को लम्बवत् अक्ष या OY-अक्ष पर तथा माँग व पूर्ति की मात्राओं (आश्रित चलराशियों को) क्षैतिज *अक्ष या OX-अक्ष पर दिखाने की परम्परा का पालन करते हैं। इसलिए इस सम्बन्ध* में किसी प्रकार का भ्रम नहीं होना चाहिए।

(II) ऋणात्मक फलन-सम्बन्ध में स्वतन्त्र चलराशि के बढ़ने से आश्रित चलराशि घटती जाती है— इस प्रकार इनमें परस्पर विलोम सम्बन्ध पाया जाता है। माँग-फलन इसी प्रकार का होता है। कीमत के बढ़ने से माँग की मात्रा घटती जाती है। चित्र में ऐसा सम्बन्ध नीचे की ओर जाने वाली रेखा से सूचित किया जाता है।

उदाहरण $P = 10—2Q$ ऋणात्मक सम्बन्ध का सूचक है जो निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है।

स्वतन्त्र चलराशि Q की मात्रा	1	2	3	4	5
आश्रित चलराशि P की मात्रा	8	6	4	2	0

इसे निम्न रेखाचित्र की सहायता से स्पष्ट किया जाता है
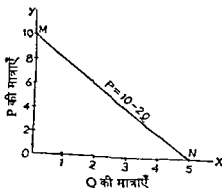
चित्र 2—ऋणात्मक फलन

यहाँ Q की मात्रा के बढ़ने से P की मात्रा घटती है जो MN रेखा की आकृति से स्पष्ट होती है। यह नीचे की ओर जाती है। यहां Q व P में परस्पर विलोम या विपरीत सम्बन्ध पाया जाता है।

(iii) **रैखिक फलन** (linear function) —जब फलन को रेखाचित्र पर अंकित करने पर एक सरल रेखा बनती है तो उसे रैखिक फलन कहा जाता है, जैसा कि ऊपर चित्र 1 व चित्र 2 में दर्शाया गया है। अत ये दोनों रैखिक फलन के दृष्टान्त हैं। इसी प्रकार निम्न फलन भी रैखिक फलन ही हैं—

(i) $y = 1 + 4x$

(ii) $y = 50 - x$

हालाँकि इनमें (i) धनात्मक है और (ii) ऋणात्मक है। आर्थिक विश्लेषण में काफी सीमा तक रैखिक फलनों का प्रयोग देखा गया है।

(iv) **अरैखिक या वक्रीय फलन** (non linear or curvilinear function) — जब दो चलराशियों को रेखाचित्र पर अंकित करने पर एक वक्र बनता है तो उसे अरैखिक या वक्रीय फलन कहा जाता है, जैसे $y = x^2 + 2$ अथवा $y = 4x - x^2$ ।

इनको ग्राफ पर दिखाने से वक्र की आकृति x^2 के निशान (धनात्मक या ऋणात्मक) आदि से प्रभावित होगी।

यहाँ हम $y = x^2 + 2$ का रेखाचित्र बनाते हैं।

पहले इसकी तालिका बनानी होगी—

$x =$	−3	−2	−1	0	1	2	3
$y =$	11	6	3	2	3	6	11

चित्र 3 में X के विभिन्न मूल्यों पर Y के विभिन्न मूल्य अंकित किये गये हैं और उनको मिलाने पर MNP वक्र बनता है। यह द्विघाती फलन का ग्राफ (graph of a quadratic function) है। स्मरण रहे कि इस रेखाचित्र में N पर फलन का न्यूनतम मूल्य =2 है, लेकिन यहाँ कोई अधिकतम मूल्य नही है।

इसका रेखाचित्र नीचे दिया जाता है—
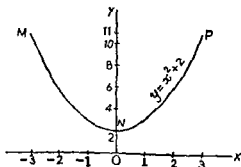
चित्र 3 $y = x^2 + 2$ फलन का ग्राफ

पाठक स्वयं $y = 4x - x^2$ का रेखाचित्र बनाकर देख सकते हैं कि इसमें वक्र की आकृति उपर्युक्त वक्र से भिन्न होगी, क्योंकि यहाँ x^2 के साथ ऋणात्मक निशान आया है। इसका वक्र बनाने के लिए भी सर्वप्रथम x के विभिन्न मूल्यों (धनात्मक व ऋणात्मक के लिए) y के मूल्य ज्ञात करने होंगे और उनको रेखाचित्र पर अंकित करने पर एक वक्र बनेगा जो वक्र रेखीय फलन-संबंध का सूचक होगा। इस वक्र पर फलन का एक अधिकतम मूल्य आयेगा। विद्यार्थी आगे की कक्षाओं में अध्ययन करेंगे कि वक्र रैखिक फलनों के कई रूप होते हैं, जैसे आयताकार हाइपरबोला $xy = 6$; त्रिघाती फलन (cubic function), $y = x^3$, चरघातांकीय फलन (exponential function) $y = 2^x$ (यहां x पावर में आता है, तथा आधार (base) स्थिर राशि होता है) तथा लघुगणकीय फलन (logarithmic function) : $y = \log_{10} x$, इन सबको रेखाचित्र पर अंकित करने से वक्र का निर्माण होता है। इसलिए ये वक्र रैखिक फलनों के लिए प्रयुक्त होते हैं।

स्नातक कक्षाओं में विद्यार्थियों का अभ्यास द्विघाती फलनों (quadratic function) जैसे $y = 2x^2$ तथा $y = 1 - x^2$ तथा आयताकार हाइपरबोला जैसे $xy = 6$ तक होना चाहिए। $xy = 6$ में $y = 4x$ होता है। अत x के विभिन्न धनात्मक व ऋणात्मक मूल्यों पर y के मूल्य ज्ञात करके वक्र बनाये जा सकते हैं। लेकिन आर्थिक चलराशियों में प्राय धनात्मक मूल्यों का ही उपयोग होता है, इसलिए $y = 6/x$ में x के 1, 2, 3 के बराबर होने पर y क्रमश 6, 3, व 2 के बराबर होगा। अत उसी के अनुरूप प्रथम खाने (first quadrant) में वक्र बनेगा। स्मरण रहे कि

आयताकार हाइपरबोला के प्रत्येक बिन्दु पर $x\ y$ का मूल्य (यहाँ 6 के) बराबर होगा, अर्थात् x दूरी को y दूरी से गुणा करने पर गुणनफल सदैव बराबर 6 बना रहेगा।

हम सम्बन्धित अध्यायों में देखेंगे कि औसत स्थिर लागत वक्र (AFC × curve) एक आयताकार हाइपरबोला होता है। इसके प्रत्येक बिन्दु पर कुल स्थिर लागत (AFC × Q) समान रहती है। इसी प्रकार एक ऐसा माँग-वक्र, जिसके प्रत्येक बिन्दु पर माँग की लोच एक के बराबर होती है, आयताकार हाइपरबोला ही कहलाता है क्योंकि इसके प्रत्येक बिन्दु पर कुल राजस्व (Total revenu), (अर्थात् कीमत × माँग की मात्रा, अथवा px की मात्रा) समान रहती है।

ग्राफ या रेखाचित्र के चार खाने (four quadrants) —
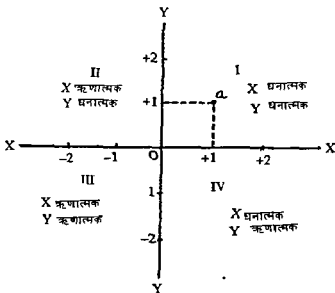
चित्र 4 · ग्राफ के चार खाने (Four quadrants)

स्पष्टीकरण :— हमने चित्र 4 में एक ग्राफ के चार खाने दर्शाये है। प्रथम खाने में X व Y दोनों चलराशियाँ धनात्मक होती हैं, खाना II में X ऋणात्मक व Y धनात्मक होते हैं, खाना III में दोनों चलराशियाँ ऋणात्मक होती है, और खाना IV में X धनात्मक व Y ऋणात्मक होते हैं। ऊपर चित्र 1 व चित्र 2 में प्रथम खाने का ही उपयोग हुआ है, क्योंकि X व Y दोनों राशियाँ धनात्मक थीं। चित्र 3 में खाने I व खाने II का प्रयोग किया गया है क्योंकि यहाँ X की ऋणात्मक राशियों के साथ Y की धनात्मक राशियाँ आने से खाना II भी काम में लेना पड़ा है।

चित्र 4 में a बिन्दु X = 1 व Y = 1 का सूचक है और खाने I में आया है। व्यवहार में अर्थशास्त्र की अधिकांश चलराशियों के धनात्मक मूल्य होने से, जैसे कीमत, माँग, पूर्ति, लागत, उत्पत्ति की मात्रा, आय या आगम (revenue) आदि के, इसलिए खाना I का ही उपयोग किया जाता है।

ढाल (Slope)—

(2) ढाल का अर्थ व माप (Meaning and Measurement of Slope)—अर्थशास्त्र में रेखा या वक्र के ढाल के माप का बड़ा महत्त्व होता है।

(i) एक सरल रेखा का ढाल —एक सरल रेखा का ढाल उस कोण (angle) से निर्धारित होता है जो वह रेखा x-अक्ष को काटते समय बनाती है। त्रिकोणमिति (Trigonometry) के अनुसार AB रेखा का ढाल $\tan\theta$ के मूल्य के बराबर होता है जो $\frac{BC}{AC}$ के बराबर होता है।

निम्न चित्रों पर ध्यान दीजिए—
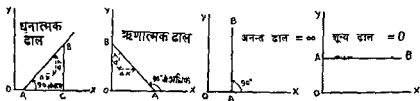
चित्र 5 (अ) चित्र 5 (आ) चित्र 5 (इ) चित्र 5 (ई)

चित्र 5 (अ) में रेखा का ढाल निकालने के लिए रेखा पर कोई भी बिन्दु लें जैसे B; उससे OX-अक्ष पर लम्ब (perpendicular) डालें, जो इसे C पर काटे। अत रेखा का ढाल BC/AC के बराबर होगा। यह स्पष्टतया धनात्मक है, क्योंकि रेखा ऊपर की ओर जा रही है। चूंकि A पर रेखा 90^0 से कम का कोण बनाती है, अत $\tan\theta$ का मूल्य (90^0 से कम के लिए) त्रिकोणमिति के अनुसार धनात्मक होगा। जैसे $\tan 45^0 = 1$ होता है। इसी प्रकार 90^0 से कम के लिए $\tan\theta$ का मूल्य सदैव धनात्मक होता है। स्मरण रहे कि त्रिकोणमिति में $\tan 0^0 = 0$ होता है, तथा $\tan 90^0 = \infty$ (अनंत) होता है, और 90^0 से ऊपर तथा 180^0 से नीचे के लिए यह ऋणात्मक होता है, इसलिए चित्र 5 (आ) में AB का ढाल ऋणात्मक होगा, क्योंकि

यहाँ $\tan\theta = 90^0$ से अधिक है, लेकिन साथ में 180^0 से नीचा है। वैसे भी चित्र 5 (आ) में ढाल ऋणात्मक ही होगा, क्योंकि रेखा नीचे की ओर जा रही है, अर्थात् y व x में परस्पर विलोम सम्बन्ध है, जैसा कि माँग-रेखा में हुआ करता है। चित्र 5 (इ) में $\tan\theta = \tan 90^0 = \infty$ होता है। अत रेखा का ढाल अनंत हो जाता है। चित्र 5(ई) में AB रेखा OX- अक्ष के समानान्तर है, और यहाँ A बिन्दु पर कोण (angle) का मूल्य 0^0 है एवं $\tan 0^0 = 0$ होता है। इसलिए AB रेखा का ढाल शून्य है। अत एक सरल रेखा का ढाल निकालने के लिए $\tan\theta$ का मूल्य उस बिन्दु पर देखना होता है जहाँ रेखा OX- अक्ष को काटती है और इसके लिए कोण का माप घडी के उल्टे क्रम में (anti-clock wise) देखना होता है। इसमें त्रुटि नहीं होनी चाहिए।

किसी भी रेखा पर ढाल ज्ञात करना बहुत आसान होता है। यह रेखा पर कोई दो बिन्दुओं के बीच $\frac{\text{लम्बवत् दूरी}}{\text{क्षैतिज दूरी}} = \frac{\Delta Y}{\Delta X}$ के बराबर होता है, जैसा कि चित्र 5 (अ) व चित्र 5(आ) में दर्शाया गया है। यह X के एक इकाई परिवर्तन से Y के परिवर्तन की मात्रा दर्शाता है।

दो सरल रेखाओं पर विभिन्न ढालों का उदाहरण—

नीचे चित्र में दो सरल रेखाएं खींची गयी हैं जिन पर ढाल भिन्न-भिन्न है।
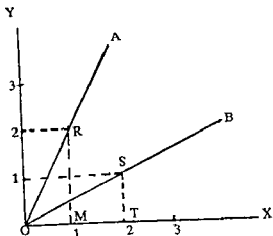
चित्र 5 (उ)

चित्र 5 (उ) में OA व OB दो सरल रेखाएं है जिनका ढाल धनात्मक है क्योंकि ये ऊपर की ओर जाती हैं। लेकिन OA रेखा का ढाल $\frac{RM}{OM} = \frac{2}{1} = 2$ है तथा OB रेखा का ढाल $\frac{ST}{OT} = \frac{1}{2}$ है। इन रेखाओं पर कोई भी बिन्दु लेकर OX-अक्ष पर लम्ब डाल कर $\frac{\text{लम्बवत् दूरी}}{\text{क्षैतिज दूरी}}$ को माप कर रेखा का ढाल ज्ञात किया जा सकता है। अत OA व OB का ढाल भिन्न-भिन्न है।

वैसे रेखा का समीकरण दिये होने पर उसका ढाल आसानी से बतलाया जा सकता है, जैसे $y = 2x$ रेखा के लिए ढाल = 2 होगा। इसी प्रकार $y = 1 - 2x$ के लिए ढाल -2 होगा, आदि।

अभ्यासार्थ —निम्न समीकरणों में ढाल ज्ञात कीजिए।

(i) $y = 1 + 4x$	उत्तर = 4
(ii) $y = 20 - \frac{1}{2}x$	उत्तर = $-\frac{1}{2}$
(iii) $y = 2x - 30$	उत्तर = 2
(iv) $y = 50 - x$	उत्तर = − 1

इस प्रकार एक सरल रेखा का ढाल समीकरण को देखकर सुगमतापूर्वक बतलाया जा सकता है। यह स्वतन्त्र चलराशि x का गुणांक (Coefficient) ही होता है।

(ii) एक वक्र के किसी बिन्दु पर ढाल का माप —एक वक्र के किसी भी बिन्दु पर ढाल का माप करने के लिए उस बिन्दु पर एक स्पर्श-रेखा (tangent) डाली जाती है जो दोनों को काटती है। उसके पश्चात् उस स्पर्श-रेखा का ढाल ही वक्र के उस बिन्दु पर उसका ढाल बन जाता है।

अत वक्र के किसी भी बिन्दु पर ढाल को जानना बहुत सरल है। इसे निम्न चित्रों की सहायता से जाना जा सकता है।
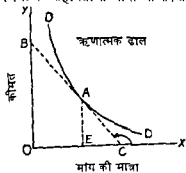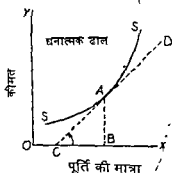
चित्र 6 (अ) चित्र 6 (आ)

स्पष्टीकरण —चित्र 6 (अ) में मांग-वक्र के A बिन्दु पर BC स्पर्श-रेखा डाली गयी है जो OX-अक्ष के C बिन्दु पर कोण बनाती है, जहाँ $\tan\theta = 90^0$ से अधिक व 180^0 से कम होने के कारण ऋणात्मक मूल्य देता है। अत वक्र का A बिन्दु पर ढाल

$(-)\frac{OB}{OC}$ होता है।

चित्र 6 (आ) में पूर्ति-वक्र के A बिन्दु पर CD स्पर्श-रेखा डाली गयी है जो OX-अक्ष के C बिन्दु पर कोण बनाती है, जहाँ $\tan\theta = 90^0$ से कम है, अत ढाल धनात्मक होगा, तथा वह $\frac{AB}{BC}$ के बराबर होगा। इस प्रकार एक सरल रेखा व वक्र पर ढाल निकालने के लिए त्रिकोणमिति के $\tan\theta$ कोण के मूल्य के अनुसार चलना पड़ता है।

स्मरण रहे कि चित्र 6 (अ) में A बिन्दु पर ऋणात्मक ढाल का माप करने के लिए एक दूसरी विधि भी अपनायी जा सकती है। हम A से एक लम्ब OX-अक्ष पर डालते है, जैसे AE, जो इसे E पर काटता है। अत A पर वक्र का ढाल (—) $\frac{AE}{CE}$ भी कहा जा सकता है। यह $(-)\frac{OB}{OC}$ के समान होता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि अर्थशास्त्र में ढाल के माप का उपयोग लोच के माप आदि में भी किया जाता है। वैसे अर्थशास्त्र में इसका उपयोग व्यापक रूप से किया जाता है। वस्तुत यह वक्र के एक बिन्दु पर फलन के परिवर्तन की दर (rate of change) का सूचक होता है। व्यष्टि अर्थशास्त्र में सीमान्त विश्लेषण (marginal analysis) में इसका उपयोग काफी लाभदायक माना गया है। चलन-कलन (Differential Calculus) में भी इसका उपयोग होता है जिसकी जानकारी उच्चस्तरीय अध्ययन में सम्भव हो सकेगी। लेकिन उसके लिए ये प्रारम्भिक व सरल बातें है जिनका ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाना चाहिए।

वक्र पर ढाल को मापने की एक और सरल विधि—

एक वक्र के किसी बिन्दु पर ढाल (slope) को मापने के लिए उस बिन्दु पर स्पर्श-रेखा (tangent) डाल कर उस पर $\frac{\Delta Y}{\Delta X}$ को माप कर ढाल जाना जा सकता है। यह निम्न चित्र में स्पष्ट किया गया है।
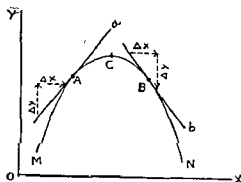
चित्र 6 (इ) वक्र पर ढाल ज्ञात करना

स्पष्टीकरण '— चित्र 6 (इ) में MN वक्र पहले ऊपर जाता है, फिर C पर अधिकतम होने के बाद नीचे की ओर झुकता है।

इस पर A, C व B पर वक्र का ढाल ज्ञात करना है। A बिन्दु पर ढाल जानने के लिए एक स्पर्श-रेखा a खींची गयी है जिस पर ढाल का माप = $\frac{\Delta Y}{\Delta X} = \frac{\text{लम्बवत् दूरी}}{\text{क्षैतिज दूरी}}$ है। चूंकि वक्र ऊपर की ओर जा रहा है, इसलिए यह धनात्मक है। C **बिन्दु पर स्पर्श-रेखा डालें तो वह** OX_1 **-अक्ष के समानान्तर जाने के कारण (चित्र 5 ई के अनुसार) शून्य ढाल बताती है (पाठक स्वयं स्पर्श-रेखा खींचकर देख सकते हैं)**। वक्र के B बिन्दु पर स्पर्शरेखा b पर पुन $= \frac{\Delta Y}{\Delta X}$ ढाल का माप है। यह ऋणात्मक (negative) है क्योंकि वक्र नीचे की ओर जा रहा है। अत किसी भी वक्र पर एक बिन्दु पर ढाल जानने के लिए स्पर्श-रेखा डालकर $\frac{\Delta Y}{\Delta X}$ दूरी का माप लिया जाता है। यह चित्र 6 (इ) में वक्र के दाहिनी तरफ व बायीं तरफ दिखाया गया है। पाठक स्पर्श-रेखाओं पर तीर के निशानों को ध्यान से देखें। A बिन्दु पर स्पर्श-रेखा a पर ΔY व ΔX दोनों धनात्मक है, इसलिए ढाल भी धनात्मक है। B बिन्दु पर स्पर्श-रेखा b पर ΔY ऋणात्मक (नीचे की ओर तीर) है, तथा ΔX दायीं तरफ होने के कारण धनात्मक है, अत $\frac{\Delta Y}{\Delta X}$ ऋणात्मक होगा।

स्मरण रहे कि एक सरल रेखा पर ढाल सर्वत्र समान रहता है, लेकिन वक्र पर अलग-अलग बिन्दुओं पर ढाल अलग-अलग होते हैं और उनको स्पर्श-रेखाएं खींच कर उनके ढालों के आधार पर जाना जा सकता है।

लोच (Elasticity)

(3) **लोच की अवधारणा** (Concept of elasticity) **तथा इसका माप (विशेषतया माँग की कीमत-लोच के संदर्भ में)**—अर्थशास्त्र में लोच की अवधारणा अपना केन्द्रीय स्थान रखती है। किन्हीं दो चलराशियों के प्रतिशत या आनुपातिक परिवर्तनों की सहायता से उनके बीच लोच का अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे, एक वस्तु की माग की कीमत-लोच $= \frac{\text{माँग का प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{कीमत का प्रतिशत परिवर्तन}}$ होती है, जो इनके बीच विलोम सम्बन्ध के कारण ऋणात्मक होती है।

माग की लोच का सूत्र इस प्रकार होता है—

$$ed = \frac{\frac{\Delta Q}{Q}}{\frac{\Delta P}{P}} = \frac{P}{Q} \frac{\Delta Q}{\Delta P}$$

यहाँ P प्रारम्भिक कीमत, ΔP कीमत के परिवर्तन, Q प्रारम्भिक मांग की मात्रा व ΔQ माँग के परिवर्तन की मात्रा को सूचित करते हैं। मांग की मात्रा व कीमत में विलोम सम्बन्ध होने से मांग की कीमत-लोच ऋणात्मक होती है।

एक सरल दृष्टान्त

कीमत (P)	40 रु	35 रु
माँग की मात्रा (Q)	80 इकाई	100 इकाई

अत उपर्युक्त सूत्र के अनुसार माँग की लोच $= \frac{P}{Q} \times \frac{\Delta Q}{\Delta P}$

$= \frac{40}{80} \times \frac{20}{-5} = -2$ होगी ($\because \Delta Q = 20$ है तथा $\Delta P = -5$ रु है।)

माँग-रेखा के विभिन्न बिन्दुओं पर लोच का माप— प्रारम्भ में यह बात स्मरण रखनी होगी कि एक माँग-रेखा या माँग-वक्र के विभिन्न बिन्दुओं पर माँग की लोच प्राय अलग-अलग हुआ करती है। इसके माप की ज्यामितीय विधि बड़ी सरल होती है जो निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है।

चित्र 7 (अ) चित्र 7 (आ)
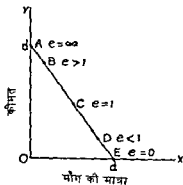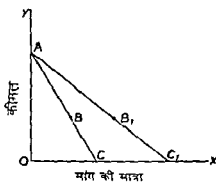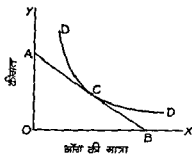
चित्र 7 (इ)

एक बिन्दु पर माँग की लोच ज्ञात करने के लिए यदि माँग-वक्र होता है तो उस बिन्दु से एक स्पर्श-रेखा (*tangent*) डाली जाती है जो दोनों अक्षों को काटती है। चित्र 7(इ) में *C* बिन्दु पर एक स्पर्श-रेखा *AB* डाली गयी है। चित्र 7(अ) व (आ) में सीधे माँग-रेखाओं के विभिन्न बिन्दुओं पर लोच का माप बतलाया गया है।

एक माँग-रेखा के किसी भी बिन्दु पर लोच का माप जानने के लिए उस बिन्दु से नीचे के टुकडे में उसके ऊपर के टुकडे का भाग देना चाहिए, जो परिणाम आयेगा वह लोच का गुणांक (Coefficient of elasticity) कहलायेगा।

जैसे चित्र 7 (अ) में C बिन्दु पर लोच $=\frac{CE}{AC}=1$ होगी, अत इस बिन्दु पर माग की लोच एक के बराबर है। B पर यह $\frac{BE}{AB}$ है जो एक से अधिक होने पर लोचदार (elastic) है। स्वयं A बिन्दु पर यह $\frac{AE}{\text{शून्य}}$ है, जो अनंत (∞) के बराबर परिणाम देती है। इसी प्रकार D पर $\frac{DE}{AD}$ होने पर एक से कम है, अर्थात् बेलोच (inelastic) है, तथा स्वयं E पर यह $\frac{0\,(\text{शून्य})}{AE}=0$ हो जाती है। इस प्रकार एक माँग-रेखा के विभिन्न बिन्दुओ पर माग की लोच 0 से ∞ तक जा सकती है।

चित्र 7(आ) में दो माँग की रेखाएँ है AC व AC_1 और AC रेखा के B बिन्दु पर माग की लोच $\frac{BC}{AB}$ है, तथा AC_1 रेखा के B_1 बिन्दु पर माँग की लोच $\frac{B_1C_1}{AB_1}$ है। अत इनका अंतर भी ठीक से देख लेना चाहिए।

चित्र 7(इ) में माँग-वक्र के C बिन्दु पर माँग की लोच $\frac{CB}{AC}$ होती है।

ढाल व लोच में अंतर (Difference between slope and elasticity)—कुछ लोग भूल से ढाल व लोच को एक ही मान बैठते है जो सही नहीं होता। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि इनमें माप की दृष्टि से स्पष्टतया भारी अंतर होता है, जैसे चित्र 7(इ) पर विचार करने से स्पष्ट होगा कि C बिन्दु पर ढाल (slope) तो $\frac{\Delta P}{\Delta Q}$ अथवा $\frac{OA}{OB}$ है (चित्र 7 इ)। हम माँग की लोच के सूत्र में देख चुके है कि

$$e_d=\frac{P}{Q}\cdot\frac{\Delta Q}{\Delta P}\text{ होती है।}$$

यहाँ $\frac{\Delta Q}{\Delta P}$ = C बिन्दु पर ढाल का विलोम (inverse) होता है।

अत माग की लोच = ढाल का विलोम $\times\frac{P}{Q}$ होगी।

इन सम्बन्धो को प्रारम्भ में काफी सावधानी व सतर्कता से समझ लेना चाहिए ताकि उच्चस्तरीय अध्ययन में अनेक प्रकार की कठिनाइयों से बचा जा सके। मामूली

प्रयास से ये भली-भाँति समझ में आ सकते है और भावी अध्ययन के लिए अत्यन्त सुन्दर आधार प्रदान करते है।

अर्थशास्त्र में बिन्दु-लोच के माप के लिए माँग-फलन के दिये हुए होने पर चलन-कलन (Differential Calculus) का उपयोग अत्यावश्यक होता है, लेकिन उसका अध्ययन बहुधा स्नातकोत्तर स्तर पर ही किया जाता है। इसलिए यहाँ सरल ज्यामितीय माप पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है।

फलन, वक्र, ढाल व लोच के इस प्रारम्भिक परिचय के बाद हम अर्थशास्त्र के कुछ चलराशियों जैसे उपयोगिता, उत्पत्ति, लागत व आगम (revenue) के संबंध में कुल, औसत व सीमान्त की अवधारणाओं का सरल परिचय देते है ताकि आगे चलकर व्यष्टि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त भली भाँति समझ में आ सकें।

हम पहले चित्र 6 (अ) में माँग-वक्र तथा चित्र 6 (आ) में पूर्ति वक्र के ढाल को स्पष्ट कर चुके हैं। माँग-वक्र का ढाल ऋणात्मक (negative) है क्योंकि कीमत व माँग की मात्रा में विपरीत सम्बन्ध पाया जाता है, जबकि पूर्ति-वक्र का ढाल धनात्मक (positive) है क्योंकि कीमत व पूर्ति की मात्रा में सम्बन्ध एक ही दिशा में पाया जाता है। कीमत के बढने से पूर्ति की मात्रा बढ़ती है और कीमत के घटने से पूर्ति की मात्रा घटती है।

अब हम उपभोग फलन (consumption function) व उत्पादन-फलन (production function) को स्पष्ट करते हैं।

1. **उपभोग-फलन** –इसका विवेचन समष्टि अर्थशास्त्र में आता है। उपभोग-फलन उपभोग और इसको प्रभावित करने वाली चलराशियों के बीच सम्बन्ध बतलाता है। लेकिन सरलतम् सिद्धान्त में, उपभोग चालू खर्च के योग्य आय का फलन होता है, अर्थात् उपभोग खर्च के योग्य आय पर निर्भर करता है।

मान लीजिए, $C = 100 + 0.8 Y_d$ है, जहाँ C = उपभोग व Y_d = खर्च के लायक आय के सूचक हैं। इस सम्बन्ध को ग्राफ पर अंकित करने के लिए निम्न तालिका बनायी जाती है

खर्च के योग्य आय	उपभोग (रुपयों में)	उपभोग की सीमान्त (MPC) प्रवृत्ति $=\Delta C/\Delta Y_d$
0	100	0 8
100	180	0 8
200	260	0 8
500	500	0 8
600	580	0 8
700	660	0 8

इस प्रकार खर्च के योग्य आय के 500 रुपये होने पर उपभोग भी 500 रु होता है। लेकिन इससे पूर्व उपभोग की राशि आय से अधिक होती है, अर्थात् समाज अबचत (dissaving) करता है।
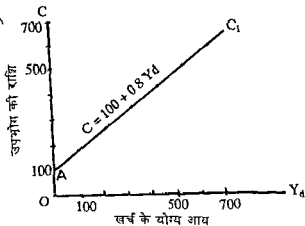
चित्र 8 उपभोग फलन का ग्राफ

यहाँ क्षैतिज अक्ष पर खर्च के योग्य आय व लम्बवत् अक्ष पर उपभोग-व्यय मापा गया है। AC_1 रेखा उपभोग व आय का सम्बन्ध बतलाती है। इसका ढाल सर्वत्र 0.8 के बराबर है, इसे उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति (MPC) भी कहते हैं। उपभोग की वृद्धि में खर्च के योग्य आय की वृद्धि का भाग देने से 0.8 प्राप्त होता है। यह तालिका में भी दर्शाया गया है।

2 **उत्पादन-फलन** (Production function) —एक फर्म के द्वारा प्राप्त उत्पत्ति व लगाये जाने वाले उत्पादन के साधनों की मात्राओं का परस्पर भौतिक सम्बन्ध उत्पादन-फलन कहलाता है। इसमें कीमतों का समावेश नहीं किया जाता है। इसमें टेक्नोलोजी दी हुई मान ली जाती है। उत्पादन-फलन के कई रूप होते हैं जिनमें कॉब डूगलस उत्पादन फलन काफी लोकप्रिय माना गया है।

नीचे $Q = 10 L^{1/2} K^{1/2}$ के आधार पर श्रम का कुल उत्पत्ति-वक्र दर्शाया गया है। K, अर्थात् पूँजी को 1 मानने पर $Q = 10 L^{1/2}$ हो जाता है, जहाँ Q = उत्पत्ति व L = श्रम को सूचित करते हैं।

श्रम (1)	सारणी कुल उत्पत्ति (2)	सीमान्त उत्पत्ति $= \frac{\Delta Q}{\Delta L}$ (3)
0	0	-
1	10.00	10.00
2	14.14	4.14
3	17.32	3.18
4	20.00	2.68

कुल उत्पत्ति-वक्र निम्न चित्र पर दर्शाया गया है
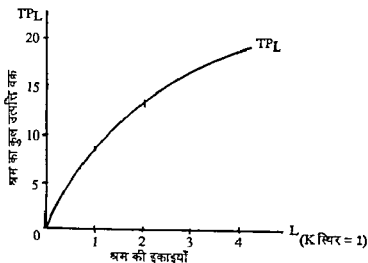
चित्र 9 श्रम का कुल उत्पत्ति-वक्र (TP_L)

चित्र 9 में क्षैतिज-अक्ष पर श्रम की मात्राएं ली गयी हैं और लम्बवत्-अक्ष पर पूँजी स्थिर रखने पर, श्रम से प्राप्त कुल उत्पत्ति की मात्राएं दर्शायी गयी हैं। TP_L वक्र श्रम के कुल उत्पत्ति वक्र को सूचित करता है। श्रम की एक इकाई पर वक्र का ढाल 10 है, 2 इकाई पर 4 14 है, आदि। हम आगे औसत, सीमान्त व कुल की अवधारणाओं के विवेचन में कुल उत्पत्ति के ढाल का पुन उल्लेख करेंगे।

कुल, औसत व सीमान्त की अवधारणाएँ (The Concepts of Total, Average and Margin)

व्यष्टि अर्थशास्त्र में सीमान्त की अवधारणा का बड़ा महत्व होता है क्योंकि यह सन्तुलन की स्थिति को निर्धारित करने में मदद देती है। हम आगे चलकर देखेंगे कि अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए सीमान्त लागत = सीमान्त आगम (MC = MR) की शर्त आवश्यक होती है। इसलिए प्रारम्भ में कुल, औसत व सीमान्त के परस्पर संबंध को समझना चाहिए। यहाँ भी एक कठिनाई सामने आती है। वह यह कि सीमान्त विश्लेषण का समुचित अध्ययन चलन-कलन (Differential Calculus) की सहायता से ही हो सकता है। लेकिन हम यहाँ ढाल (slope) की अवधारणा के सहारे से विवेचन करेंगे।

औसत की अवधारणा—कुल चलराशि के मूल्य में समस्त इकाइयों का भाग देने से औसत मूल्य ज्ञात होता है। जैसे कुल उपयोगिता में उपभोग की गई वस्तु की कुल इकाइयों का भाग देने से औसत उपयोगिता, कुल आगम (total revenue) में

बेची गई वस्तु की समस्त इकाइयों का भाग देने से औसत आगम (average revenue), कुल उत्पत्ति में परिवर्तनशील साधन (जैसे श्रम) की कुल इकाइयों का भाग देने से श्रम की औसत उत्पत्ति (average Product) (AP) एवं कुल लागत में उत्पत्ति की मात्राओं का भाग देने से औसत लागत (average cost) (AC) प्राप्त होती है। सूत्र के रूप में, हम इस प्रकार लिख सकते हैं जैसे $AP = \frac{TP}{L}$ जहाँ TP = कुल उत्पत्ति और L श्रम की मात्रा होती है (पूँजी आदि स्थिर रखने पर)। इसी प्रकार $AC = \frac{TC}{Q}$ जहाँ TC = *कुल लागत और Q कुल उत्पत्ति की मात्रा को सूचित करती* है। इसी तरह $AR = \frac{TR}{Q}$, जहाँ TR कुल आगम है और Q विक्रय की गई वस्तु की मात्रा है।

सीमान्त की अवधारणा

(i) **सीमान्त उत्पत्ति**—परिवर्तनशील साधन में एक इकाई (जैसे एक श्रमिक) की वृद्धि से कुल उत्पत्ति में जो वृद्धि होती है उसे सीमान्त उत्पत्ति (MP) कहा जाता है। अत $MP = \frac{\Delta TP}{\Delta L}$ होती है, जहाँ ΔTP कुल उत्पत्ति की वृद्धि है और ΔL श्रम की वृद्धि है।

(ii) **सीमान्त लागत**—एक इकाई उत्पत्ति की वृद्धि से कुल लागत में जो वृद्धि होती है उसे सीमान्त लागत (MC) कहते हैं। अत $MC = \frac{\Delta TC}{\Delta Q}$, जहाँ ΔTC कुल लागत की वृद्धि और ΔQ कुल उत्पत्ति की वृद्धि की सूचक है।

(iii) इसी प्रकार सीमान्त आगम $MR = \frac{\Delta TR}{\Delta Q}$, तथा सीमान्त उपयोगिता = $MU = \frac{\Delta TU}{\Delta X}$ कही जा सकती है। यहाँ ΔX उपभोग की इकाइयों की वृद्धि है।

स्मरण रहे कि कुल वक्र के किसी बिन्दु पर सीमान्त मूल्य निकालने का अर्थशास्त्र में बहुत उपयोग होता है। यह संबंधित कुल वक्र के उस बिन्दु पर स्पर्श-रेखा के ढाल (slope of the tangent) के बराबर होता है।

अत निम्नांकित विवेचन में हम केवल एक ही बात पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे कि किस प्रकार कुल उत्पत्ति TP वक्र के किसी भी बिन्दु पर सीमान्त उत्पत्ति (MP) ज्ञात की जा सकती है, तथा किस प्रकार कुल लागत (TC) वक्र के किसी भी बिन्दु पर सीमान्त लागत ज्ञात की जा सकती है और कुल आगम वक्र के किसी बिन्दु पर सीमान्त आगम ज्ञात की जा सकती है। ऐसा करते समय हम औसत उत्पत्ति (AP), औसत लागत (AC) व औसत आगम (AR) का भी उल्लेख करेंगे, लेकिन हमारे विवेचन का मुख्य केन्द्र स्पर्श-रेखा के ढाल की सहायता से सीमान्त मूल्य ज्ञात करना ही होगा। स्मरण रहे कि सीमान्त उत्पत्ति, सीमान्त लागत व सीमान्त आगम का विस्तृत अध्ययन व्यष्टि अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम में किया जाता है। यहाँ तो उनके सम्बन्ध में प्रारम्भिक जानकारी ज्यामिति की सहायता से दी जा रही है।
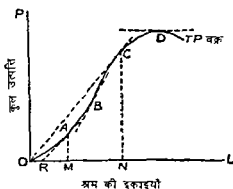
चित्र 10—कुल उत्पत्ति से सीमान्त उत्पत्ति व औसत उत्पत्ति ज्ञात करना

(i) कुल उत्पत्ति वक्र से सीमान्त उत्पत्ति व औसत उत्पत्ति का अवकलन या माप—चित्र 10 में क्षैतिज अक्ष पर श्रम की इकाइयाँ व लम्बवत् अक्ष पर कुल उत्पत्ति दिखायी गयी है और TP वक्र कुल उत्पत्ति वक्र है, जो मूल बिन्दु 0 से प्रारम्भ होकर ऊपर की ओर जाता है।

इसके A, B, C व D बिन्दुओं पर सीमान्त उत्पत्ति का माप किया गया है।

A बिन्दु पर सीमान्त उत्पत्ति ज्ञात करने के लिए एक स्पर्श-रेखा डाली जाती है जो क्षैतिज अक्ष को R पर काटती है। अतः इस बिन्दु पर सीमान्त उत्पत्ति $\frac{AM}{RM}$ के बराबर होती है। स्मरण रहे कि इसी बिन्दु पर औसत उत्पत्ति

$$\frac{AM}{OM} = \frac{\text{कुल उत्पत्ति}}{\text{श्रम की कुल इकाइयाँ}} \quad \text{होगी।}$$

इस प्रकार यहाँ सीमान्त उत्पत्ति व औसत उत्पत्ति भिन्न-भिन्न है। B बिन्दु पर भी सीमान्त उत्पत्ति ज्ञात करने के लिए एक स्पर्श-रेखा डालकर उसका ढाल ज्ञात करना होगा, जो A की तुलना में चित्र से ही ज्यादा प्रतीत होता है (क्योंकि यह अधिक ढालू है)।

B पर वक्र का ढाल सर्वाधिक होने से यहाँ सीमान्त उत्पत्ति (MP) अपने अधिकतम बिन्दु पर पहुँच जाती है। अतः यहाँ MP सर्वाधिक होती है।

C बिन्दु बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि केवल इसी बिन्दु पर AP = MP होती है, अर्थात् AP अधिकतम होती है, और MP को काटती हुई आगे घटने लगती है।

C बिन्दु पर स्पर्श-रेखा मूल-बिन्दु से गुजरती है। अतः यहाँ सीमान्त उत्पत्ति $(MP) = \frac{CN}{ON}$ होती है, और इसी पर औसत उत्पत्ति $= \frac{\text{कुल उत्पत्ति}}{\text{श्रम की मात्रा}} = \frac{CN}{ON}$ होती है। इस प्रकार C बिन्दु पर AP = MP होती है। हम आगे चलकर देखेंगे कि यहीं से उत्पादन की द्वितीय अवस्था (second stage of production) प्रारम्भ होती है।

कुल उत्पत्ति के D बिन्दु पर स्पर्श-रेखा का ढाल शून्य हो जाता है, क्योंकि यह क्षैतिज (horizontal) हो जाती है, अर्थात् OL—अक्ष के समानान्तर हो जाती है। इसलिए इस पर MP = O होती है। यहाँ पर उत्पादन की द्वितीय अवस्था समाप्त हो जाती है और यहां से तृतीय अवस्था प्रारम्भ होती है जिसमें MP ऋणात्मक (negative) होती है क्योंकि कुल उत्पत्ति घटने लगती है।

अत कुल उत्पत्ति (TP) वक्र से किसी भी बिन्दु पर सीमान्त उत्पत्ति ज्ञात करने के लिए उस पर एक स्पर्श-रेखा डाली जाती है, और उस स्पर्श-रेखा को आगे खिसकाकर क्षैतिज अक्ष को काट कर उसका ढाल ज्ञात किया जाता है, जो सीमान्त उत्पत्ति का माप होता है। स्पर्श-रेखा को नीचे खिसकाने पर यह क्षैतिज अक्ष को दूसरे खण्ड (quadrant) में भी काट सकती है (क्षैतिज अक्ष के मूल-बिन्दु के बायीं तरफ रेखा पर)। **क्षैतिज अक्ष पर उस दूरी को माप लिया जाता है जो वक्र के किसी बिन्दु से इस पर डाले गये लम्ब के कटान बिन्दु और स्पर्श-रेखा को बायीं ओर खिसकाने पर उसके द्वारा काटे गये क्षैतिज अक्ष के बीच में पायी जाती है।** इसलिए TP से MP निकालने का अभ्यास बहुत सुगम है, और इसके लिए केवल स्पर्श-रेखा के ढाल की अवधारणा का ही प्रयोग पर्याप्त हो सकता है।

(ii) कुल लागत से सीमान्त लागत व औसत लागत ज्ञात करना :—
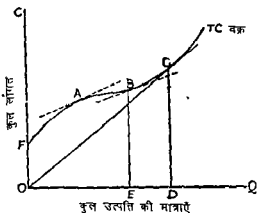
चित्र 11—कुल लागत से औसत लागत व सीमान्त लागत ज्ञात करना

चित्र 11 मे OQ-अक्ष पर कुल उत्पत्ति की मात्राएँ तथा OC-अक्ष पर कुल लागत (मौद्रिक) मापी गई है। TC-वक्र लम्बवत् अक्ष पर F से आरम्भ होता है, अत OF कुल स्थिर लागत (total fixed cost) है, जो शून्य उत्पत्ति पर भी लगती है। अत यह O से प्रारम्भ न होकर F से प्रारम्भ होती है।

TC-वक्र पर A, B व C बिन्दुओं पर विचार करें। A बिन्दु पर सीमान्त लागत निकालने के लिए एक स्पर्श-रेखा डालें और उसका ढाल पूर्व विधि से ज्ञात

करें जो MC का माप होगा। इसी प्रकार B बिन्दु पर स्पर्श-रेखा का ढाल उस बिन्दु पर MC का माप होगा। स्मरण रहे कि B बिन्दु पर औसत लागत (AC) $= \frac{\text{कुल लागत}}{\text{कुल उत्पत्ति}} = \frac{BE}{OE}$ के बराबर होगी। चित्र को सरल रखने के लिए A व B बिन्दुओं पर स्पर्श-रेखाओं को बायीं तरफ बढ़ाकर क्षैतिज-अक्ष से नहीं काटा गया है। लेकिन A व B पर स्पर्श-रेखाओं का ढाल ज्ञात करने के लिए वैसा करना होगा।

C बिन्दु पर स्पर्श-रेखा मूल बिन्दु से गुजरती है। अत यहाँ औसत लागत (AC)= सीमान्त लागत =(MC) $= \frac{CD}{OD}$ होती है।

हम आगे चलकर देखेंगे कि औसत लागत व सीमान्त लागत के परस्पर बराबर होने के बिन्दु पर औसत लागत न्यूनतम हुआ करती है, और सीमान्त लागत बढ़ती हुई होती है। पुन स्पर्श-रेखा के ढाल का प्रयोग करते हुए C से आगे TC वक्र पर यह स्पष्ट किया जा सकता है कि MC बढ़ती हुई होगी।

(iii) कुल आगम से सीमान्त आगम और औसत आगम को ज्ञात करना —

(अ) पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म के लिए कीमत (AR) दी हुई होती है। यह सीमान्त आगम के बराबर होती है और फर्म की कुल आगम एक सरल रेखा होती है।

मान लीजिए

$p = AR = 3$ रुपये है

∴ $TR = p \times q = 3q$ होगी (q माल की मात्रा है)

सारणी

माल की मात्रा (q)	कुल आगम (TR)
0	0
10	30
13	9
15	45
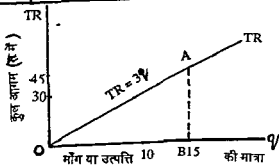
चित्र 12 पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म के लिए कुल आगम रेखा

चित्र 12 में TR रेखा ऊपर की ओर जाती है। इसके किसी भी बिन्दु पर, जैसे A पर ढाल $= \frac{AB}{OB} = \frac{45}{15} = 3$ होगा जो औसत आगम (AR) = सीमान्त आगम (MR) है।

(आ) यदि $TR = 15q - \frac{1}{2}q^2$ हो

निम्न सारणी को ग्राफ पर अंकित करना होगा -

q	TR (रुपयों में)
0	0
5	62.5
10	100
15	112 5
20	100
25	62.5
30	0
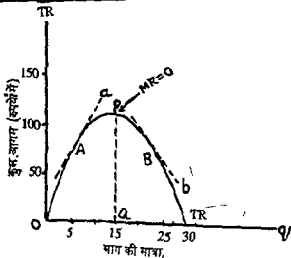
चित्र 13 कुल आगम वक्र से सीमान्त आगम व औसत आगम ज्ञात करना

$$TR = 15q - \frac{1}{2}q^2$$

$$AR = 15 - \frac{1}{2}q \text{ (q का भाग देने पर)}$$

[MR = 15 – q होगा, जो चलन-कलन के अध्ययन के बाद समझ में आ सकेगा।]

स्पष्टीकरण :—चित्र 13 में उपर्युक्त सारणी के बिन्दुओं को अंकित करने पर TR वक्र बनता है। इसके P बिन्दु पर औसत आगम $(AR) = \frac{\text{कुल आगम}}{\text{मांग की मात्रा}} = \frac{PQ}{OQ}$ होगा और P बिन्दु पर स्पर्श-रेखा का ढाल शून्य होगा, अर्थात् सीमान्त आगम (MR) = 0 होगा। इसी प्रकार A व B बिन्दुओं पर भी MR निकाला जा सकता है जो क्रमश स्पर्श-रेखा a व स्पर्श-रेखा b के ढाल के बराबर होगा। (देखिए चित्र 6 इ)

हमने उपर्युक्त विवेचन में एक विशेष बात यह देखी कि एक वक्र के किसी भी बिन्दु पर स्पर्श-रेखा का ढाल बहुत अर्थ रखता है। अत हम ढाल की अवधारणा (concept of slope) के प्रयोग को नीचे तटस्थता-वक्रों, समोत्पत्ति-वक्रों तथा उत्पादन सम्भावना-वक्र के सन्दर्भ में भी प्रस्तुत करते है ताकि आगे चलकर इनका विवेचन समझने में आसानी रहे।*

1. तटस्थता-वक्र का ढाल व उपभोक्ता का सन्तुलन बिन्दु—चित्र 14 में उपभोक्ता के तीन तटस्थता-वक्र दिखलाये गये है। प्रत्येक तटस्थता-वक्र पर विभिन्न बिन्दु समान सन्तोष की स्थिति को दर्शाते है। MN कीमत-रेखा या बजट-रेखा है। यदि उपभोक्ता अपनी समस्त आय *x* - वस्तु पर व्यय करता है तो
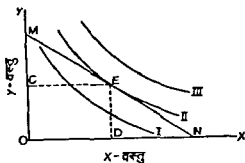
चित्र 14 —तटस्थता-वक्रों की सहायता से उपभोक्ता-सन्तुलन

उसे x की *ON* इकाई मिलती और समस्त आय को *y* पर व्यय करने से उसकी OM मात्रा मिलती। अत $ON \frac{\text{आमदनी}}{x \text{ की कीमत}} = \frac{y}{P_x}$ है तथा $OM = \frac{\text{आमदनी}}{y \text{ की कीमत}} = \frac{Y}{P_y}$ है। अत E बिन्दु पर तटस्थता-वक्र II का ढाल $\frac{OM}{ON}$ है। अर्थात् $\frac{Y}{P_y} + \frac{Y}{P_x} = \frac{P_x}{P_y}$ होता है जो इस बिन्दु पर कीमत-रेखा का भी ढाल है। E बिन्दु पर प्रतिस्थापन

*इन्हें प्रारम्भिक अध्ययन में छोड़ा जा सकता है।

की सीमान्त दर $(MRS_{xy})=\frac{P_x}{P_y}$ है। यह ऋणात्मक होती है।

इसका विस्तृत विवरण व्यष्टि अर्थशास्त्र के अध्याय में आयेगा।

2 **समोत्पत्ति-वक्र व उत्पादक का सन्तुलन-बिन्दु**—चित्र 15 में तीन समोत्पत्ति-वक्र (isoquants or iso-product curves) दर्शाये गये हैं जो उत्पादन की विभिन्न मात्राओं के लिए श्रम व पूँजी के विभिन्न संयोगों को दर्शाते हैं। एक समोत्पत्ति-वक्र जैसे I पर 100 इकाई उत्पत्ति के लिए श्रम व पूँजी के विभिन्न संयोग दर्शाये गये हैं। इसी प्रकार वक्र II पर 150 इकाई माल तथा वक्र III पर 200 इकाई के लिए श्रम व पूँजी के विभिन्न संयोग दर्शाये गये हैं।
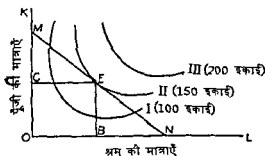
चित्र 15—उत्पादक का सन्तुलन (समोत्पत्ति वक्रों की सहायता से)

यहाँ MN समलागत रेखा (isocost line) है जो एक तरफ कुल व्यय में मजदूरी का भाग देने तथा दूसरी तरफ कुल व्यय में पूँजी की कीमत का भाग देने से प्राप्त होती है।

अतः $ON=\frac{\text{कुल व्यय}}{\text{मजदूरी की दर}}$ तथा $OM=\frac{\text{कुल व्यय}}{\text{पूँजी की कीमत}}$ है।

इसीलिए $ON=\frac{Y}{P_L}$ है तथा $OM=\frac{Y}{P_K}$ है।

इसलिए यहाँ भी E सन्तुलन बिन्दु पर समोत्पत्ति वक्र का ढाल $\frac{OM}{ON}$ है

अथवा $$\frac{Y}{P_K}\div\frac{Y}{P_L}=\frac{P_L}{P_K} \text{ है}$$

जो पूँजी के लिए श्रम के तकनीकी प्रतिस्थापन की दर के बराबर होती है। इस पर विस्तार से व्यष्टि अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम में अध्ययन किया जायेगा। चूँकि यह ढाल ऋणात्मक है, अतः यहां सन्तुलन की शर्त समलागत रेखा के ढाल के बराबर है, अर्थात् $\frac{P_L}{P_K}$ है, जिस पर ठीक से ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए।

अत सन्तुलन में $MRTS_{xy} = \frac{P_L}{P_K}$ होती है, जो ऋणात्मक भी है।

3 उत्पादन-सम्भावना वक्र का ढाल व उसका अर्थ (Slope of Production Possibility curve and its meaning)—उत्पादन-सम्भावना वक्र वो वस्तुओं के उन विभिन्न संयोगों को दर्शाता है जो साधनों का पूर्ण उपयोग तथा पूरी कार्यकुशलता से उपयोग करने पर प्राप्त किये जा सकते हैं। यदि चित्र 16 के अनुसार एक देश अपने समस्त साधन मक्खन के उत्पादन में लगा देता है तो वह OQ इकाई मक्खन उत्पादित कर सकता है।
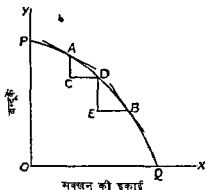
चित्र 16—उत्पादन-सम्भावना वक्र का ढाल

इसी प्रकार यदि वह अपने समस्त साधन बन्दूकों के उत्पादन में लगाता है तो OP बन्दूकें बना सकता है। PQ उत्पादन-सम्भावना वक्र है जो मक्खन व बन्दूकों के विभिन्न संयोगों को दर्शाता है जो साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करने से प्राप्त किये जा सकते हैं।

स्मरण रहे कि इस वक्र का आकार प्राय नतोदर (concave) होता है, जबकि तटस्थता-वक्र का उन्नतोदर (convex) (मूल-बिन्दु के) होता है। चित्र पर A व B दो बिन्दुओं पर वक्र के ढाल पर विचार कीजिये। स्पष्ट है कि P से Q की तरफ जाने पर वक्र का ढाल बढ़ता जाता है, जैसे B पर स्पर्श-रेखा का ढाल A पर स्पर्श-रेखा के ढाल से अधिक है, जो चित्र को देखने से ही स्पष्ट हो जाता है।

उत्पादन सम्भावना वक्र के पीछे वर्द्धमान-लागत का नियम (law of increasing cost) लागू होता है, जिसे चित्र पर आसानी से स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे CD मक्खन की अधिक मात्रा लेने के लिए AC इकाई बन्दूकों का त्याग करना होता है। पुन मक्खन की BE मात्रा अधिक लेने के लिए (जो बराबर है CD के) बन्दूकों की DE मात्रा का त्याग करना होगा। लेकिन DE की मात्रा AC से अधिक है। अत मक्खन की समान अतिरिक्त इकाई लेने के लिए उत्तरोत्तर अधिक

बन्दूकों का त्याग करना होगा। इस प्रकार मक्खन की लागत बन्दूकों में निरन्तर बढ़ती जाती है। ऐसा कृषि में उत्पत्ति-ह्रास-नियम के लागू होने के कारण होता है।

पाठकों को पुन A व B बिन्दुओं पर स्पर्श-रेखाओं के ढाल पर ही अपना सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। विवेचन में फेर-बदल करके यह भी देख सकते है कि बन्दूकों की समान मात्रा बढाने के लिए मक्खन की उत्तरोत्तर अधिक इकाइयों का त्याग करना होगा।

इस प्रकार इस अध्याय में हमने फलनात्मक सम्बन्धों, रेखाओं व वक्रों, ढाल, लोच तथा उत्पत्ति, लागत व आगम, के सम्बन्ध में कुल, औसत व सीमान्त-अवधारणाओं का प्रारम्भिक विवेचन प्रस्तुत किया है। स्मरण रहे कि इसका उद्देश्य विभिन्न प्रकार के वक्रों का सम्पूर्ण विवरण देना नहीं है, बल्कि मूल बातों पर ही ध्यान केन्द्रित करना है। इससे आगे चलकर व्यष्टि अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त को समझने में आसानी हो जायगी।

प्रश्न

1 कुल, औसत व सीमान्त की अवधारणाए क्या हैं ? कुल उत्पत्ति वक्र के दिये हुए होने पर सीमान्त उत्पत्ति व औसत उत्पत्ति का माप कीजिए। कुल उत्पत्ति वक्र पर वह बिन्दु बताइये, जब
   (अ) सीमान्त उत्पादन अधिकतम हो, तथा (Raj Iyr 1993)
   (ब) सीमान्त उत्पादन शून्य हो।

2 निम्नांकित पर सक्षिप्त टिप्पणिया लिखिये –
   (i) उपभोग फलन क्या है ? उपयुक्त उदाहरण देकर समझाइये।
   (ii) एक उत्पादनकर्ता की 'औसत लागतों' तथा 'सीमान्त लागतों' में सम्बन्ध (रेखाचित्र का प्रयोग कीजिए) (Ajmer Iyr 1993)

3 अरैखिक या वक्रीय फलन इस प्रकार हैं
   (i) $y = x^2 + 2$
   (ii) $y = 1 - x^2$
   इनके वक्र बनाइये।

4 ढाल व लोच में अन्तर चित्र देकर समझाइये। क्या ये दोनों एक हैं ?

5 व्याख्या कीजिये –
   (i) धनात्मक व ऋणात्मक फलन, (Raj Iyr 1994)
   (ii) रेखिय व अरेखिय फलन

6 निम्न की व्याख्या कीजिये-
(अ) ढाल का अर्थ व माप,
(ब) कीमत लोच की धारणा। (Raj Iyr 1994)

7 वक्र का ढाल किस प्रकार ज्ञात किया जाता है ? वक्र के विभिन्न बिन्दुओं पर ढाल क्यों बदल जाता है ? (Ajmer Iyr 1994)

8 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए
उपभोग फलन (Raj Iyr 1992)

9 कुल लागत वक्र खींचिए तथा उसके किन्हीं दो बिन्दुओं पर सीमान्त लागत ज्ञात करके समझाइये।

10 कुल आगम वक्र बनाइये जो शुरू में बढ़ता है फिर एक सर्वोच्च बिन्दु पर पहुचकर घटने लगता है। इसके दायें व बायें किन्ही दो बिन्दुओं पर सीमान्त आगम (MR) ज्ञात करें। कुल आगम वक्र के सर्वोच्च बिन्दु पर सीमान्त आगम शून्य क्यों हो जाता है ?

11 ढाल की अवधारणा को रेखीय और अरेखीय वक्र से समझाइय। (Raj Iyr 1992)

12 निम्नांकित अवधारणाओं को उदाहरण सहित व्याख्या कीजिये -
(अ) फलनात्मक सम्बन्ध
(ब) रेखिक एव गैर रेखिक फलन। (Ajmer Iyr 1992)

16
सांख्यिकी क्या है ?
(What is Statistics ?)

सांख्यिकी का जन्म राजाओं के विज्ञान के रूप में हुआ था। इस विज्ञान का उद्देश्य सरकारी प्रशासन की आवश्यकताओं को पूरा करना था, इसलिए इसे राजकौशल (*statecraft*) का विज्ञान माना जाने लगा। 'सांख्यिकी' शब्द लेटिन के 'स्टेटस' (*status*), अथवा इटेलियन के 'स्टेटिस्टा' (*statista*) शब्द से बना है, जिसका अर्थ है एक राजनीतिक राज्य (political state)। शेक्सपियर व मिल्टन की रचनाओं में 'स्टेटिस्ट' (statist) शब्द उस **व्यक्ति के** लिए काम में लिया गया है जो राज्य के मामलों में दक्ष हो, और जो **उच्चस्तरीय राजकीय** अधिकारियों को सरकारी नीतियाँ निर्धारित करने में मदद पहुँचाये।

परिभाषा — सांख्यिकी शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है, एक तो **आंकडों** (data) **के अर्थ** में, जैसे एक देश की राष्ट्रीय आय के आंकडे, बचत व विनियोग के आंकडे, आयात-निर्यात के आंकडे, भारत पर विदेशी कर्ज के आंकडे, जनसंख्या के आंकडे, आदि, आदि। आर्थिक नियोजन में प्रत्येक चरण पर नाना प्रकार के आंकडों की आवश्यकता होती है। **दूसरे अर्थ में सांख्यिकी से तात्पर्य सांख्यिकीय विधियों** (statistical methods) **से लगाया जाता है**। इनका उपयोग करके आंकडों से कई प्रकार के परिणाम निकाले जाते हैं। कुछ सांख्यिकीय विधियाँ सरल होती हैं, जैसे आंकडों से औसत निकालना, विचलन (deviation) ज्ञात करना, सह-सम्बन्ध निकालना, आदि। कुछ अन्य विधियाँ जटिल व गणितीय होती हैं जिनका उपयोग प्राय विशेषज्ञ ही कर पाते हैं।

हम इन दोनों अर्थों को मिलाकर सांख्यिकी की एक सरल परिभाषा दे सकते है जो इस प्रकार होगी "सांख्यिकी में उन सिद्धान्तों व **विधियों** का वर्णन किया जाता है जो संख्यात्मक **आंकडों** के सम्बन्ध में प्रयुक्त की जाती है।"

सच पूछा जाय तो 'सांख्यिकी' को 'सांख्यिकीय विधियों' के रूप में ही देखा जाना चाहिए। हम नीचे सांख्यिकी की इसी प्रकार की परिभाषाओं का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करेंगे।

क्रोक्सटन, काउडेन व क्लाइन (Croxton Cowden and Klein) ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक Applied General Statistics में सांख्यिकी की परिभाषा इस प्रकार दी है 'सांख्यिकी को संख्यात्मक आंकडों के संग्रहण, प्रस्तुतीकरण, विश्लेषण, और निर्वचन (अर्थ लगाने) के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।'[1] जिन तथ्यों

---

1 'Statistics may be defined as the collection, presentation, analysis, and interpretation of numerical data

— F E Croxton D J Cowden and S Klein, in Applied General *Statistics Third Edition, 1967, p 1*

से हमारा सरोकार होता है वे संख्याओं में प्रस्तुत करने लायक होने चाहिएँ जैसे खाली यह कहने से काम नहीं चलता कि मकान बनाने में ईंट, पत्थर, सीमेंट, लकड़ी व लोहे का इस्तेमाल होता है। बल्कि इसे सांख्यिकीय विश्लेषण की दृष्टि से उपयोगी बनाने के लिए हमें यह जानना होगा कि भवनों में इनमें से प्रत्येक सामग्री का कितना-कितना उपयोग किया जाता है। तब वह सूचना सांख्यिकीय विवेचन का रूप धारण कर लेगी। इनके अलग-अलग मिश्रण से मकान की लागत अलग-अलग आयेगी। अत भवन-निर्माण में निर्णय लेने में मदद मिलेगी।

स्मरण रहे कि सांख्यिकी में और अन्य विषयों जैसे भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र में एक मूलभूत अंतर यह है कि ये विषय तो अपने आप में 'विज्ञान' कहला सकते है, **लेकिन सांख्यिकी एक विज्ञान नहीं, बल्कि एक वैज्ञानिक विधि है** (Statistics in not a science, it is a scientific method)। सांख्यिकी को समझे बिना सामाजिक विज्ञानों में कोई भी अन्वेषक उस अंधे व्यक्ति की भांति होता है जो अंधेरे कमरे में उस काली बिल्ली को ढूँढ़ता है जो वहाँ है ही नहीं। सांख्यिकीय विधियाँ विभिन्न मानवीय कार्य-कलापों के अध्ययन में प्रयुक्त होने लगी है, लेकिन उनमें संख्यात्मक आंकड़ों का पाया जाना एक आवश्यक शर्त होती है। अत उपर्युक्त परिभाषा के **अनुसार सांख्यिकीय विधियों में आंकड़ों को एकत्र करना, उनको उचित रूप में प्रस्तुत करना (रेखाचित्रों व सारणियों के रूप में), उनका विश्लेषण करना तथा उनसे सही परिणाम या निष्कर्ष निकालना शामिल किया जाता है।**

वालिस व रोबर्ट्स (Wallis and Roberts) ने अपनी पुस्तक Statistics . A New Approach में सांख्यिकी की निम्न परिभाषा दी है

"सांख्यिकी अनिश्चितता की दशा में बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लेने में मदद देने वाली विधियों का समूह होती है।" [1] सांख्यिकीय आंकडों से हमें व्यावहारिक कार्यों तथा वैज्ञानिक ज्ञान को प्राप्त करने में मदद मिलती है। हमें अधिकांश समस्याओं के बारे में (चाहे वह व्यापार-व्यवसाय से सम्बन्धित हों, सरकारी हों या व्यक्तिगत मामले हों) अपूर्ण सूचना से ही काम चलाना होता है। ऐसी स्थिति में सांख्यिकी हमें उन सिद्धान्तों व विधियों के बारे में बतलाती है जिनका उपयोग करके हम आंशिक सूचना के आधार पर निर्णय ले सकते हैं। अत अनिश्चितताओं से घिरे जगत में बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लेने में सांख्यिकीय विधियों से भारी मदद मिलती है। **सांख्यिकी स्वयं कोई स्वतंत्र या मौलिक ज्ञान का समूह नहीं है, बल्कि यह तो ज्ञान प्राप्त करने की विधियों का एक समूह मात्र है** (Statistics is not a body of substantive Knowledge, but a body of methods for obtaining knowledge.) अत यह एक वैज्ञानिक विधि है। हम पुस्तक के प्रारम्भिक अध्यायों में बतला चुके है कि एक वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल की प्रक्रिया में चार चरण होते है, यथा, स्वयं देख कर समस्या से सम्बन्धित तथ्य संकलित करना, परिकल्पनाएं निर्धारित करना

---

1. 'Statistics is a body of methods for making wise decisions in the face of Uncertainty
— Wallis and Roberts, Statistics : A New Approach, p 3

जो आकडों में कोई सम्बन्ध दर्शाएं, तर्क द्वारा कोई निष्कर्ष निकालना (prediction) जो नये तथ्यों के रूप में प्रस्तुत हों एवं उनकी सत्यता की जाँच करना। इस प्रकार साख्यिकीय विधि एक वैज्ञानिक विधि होती है जिसमें तथ्य, परिकल्पनाएं, परिणाम या निष्कर्ष व सत्यता की जाँच निरंतर चलती रहती है। साख्यिकी का योगदान प्रथम व अन्तिम चरण में विशेषतया देखा जाता है, जहाँ आकडे एकत्र किये जाते हैं तथा अन्त में उनका सत्यापन किया जाता है (Verification)। द्वितीय चरण में कल्पना शक्ति व दक्षता की अधिक आवश्यकता होती है और निष्कर्ष निकालने में तर्क शक्ति की आवश्यकता होती है। अत **अनिश्चितता की दशाओं में उचित निर्णय लेने में साख्यिकी का महत्त्वपूर्ण योगदान माना गया है।**

या लुन चाऊ (YA - LUN CHOU) ने भी साख्यिकी की वालिस व रोबर्टस की परिभाषा का ही समर्थन किया है। इसी परिभाषा को स्पष्ट करते हुए उसका कहना है कि कुछ निर्णय मामूली किस्म के होते हैं और कुछ महत्त्वपूर्ण होते हैं कुछ सरल होते हैं और कुछ जटिल होते हैं, कुछ बारम्बार लिये जाते हैं और कुछ विशेष परिस्थितियों में, आदि, आदि। या लुन चाऊ का मत है कि निर्णय की प्रक्रिया में हमें कई विकल्पों में से कोई एक विकल्प तय करना पड सकता है जैसे मान लीजिए, विज्ञापन का साधन चुनना है। इसके लिए अखबार, मैगेजीन, रेडियो टेलिवीजन, ग्राहकों को सीधे पत्र आदि में से एक या कुछ चुनने पड सकते हैं। यदि ज्यादा से ज्यादा लोगों तक शीघ्र पहुँचना हो तो टेलिवीजन उपयुक्त हो सकता है, अथवा लागत कम से कम रहे तो उसके लिए सीधे डाक से पत्र-व्यवहार करना उचित हो सकता है। निर्णय की प्रक्रिया में भावी परिणाम पर भी नजर रखनी पडती है। इसमें निर्णयों के विरोधी प्रभावों (वांछनीय व अवांछनीय) में तुलना करके वे निर्णय लेने पडते है जिनके वांछनीय प्रभाव सर्वाधिक होते हैं।

अत अनिश्चितता, विरोधी प्रभावों व साख्यिकीय निर्णय का परस्पर गहरा सम्बन्ध होता है **"निर्णय लेने में हमें अनिश्चितता का सामना करना पडता है, क्योंकि प्रत्येक कार्य का सम्बन्ध वैकल्पिक भविष्य से होता है, तथा साथ में वांछनीयता के माप से होता है, क्योंकि प्रत्येक परिणाम का एक साथ वांछनीय व अवांछनीय पहलुओं से सम्बन्ध होता है। इतिहास में अनिश्चितता व निर्णय लेनें में वांछनीयता का मूल्यांकन करने में विभिन्न दृष्टिकोण विकसित किये गये हैं। इनमें से सबसे ज्यादा नवीन दृष्टिकोण हैं साख्यिकीय निर्णय-विधि का जिसे आधुनिक विज्ञान ने स्वीकार किया है।'**[2]

स्मरण रहे कि **बाउले** (A L Bowley) ने भी साख्यिकी की अपनी परिभाषाओं में ज्यादातर **'विधियों' के अर्थ का ही समर्थन किया है, जैसे**

(i) 'साख्यिकी को गिनती करने का विज्ञान (science of counting) माना जा सकता है।'

---

1. Ya - Lun - Chou, Statistical Analysis, 2nd ed 1975, pp 49 58.
2 Ibid, p 52

(ii) 'सांख्यिकी को वस्तुत औसतों का विज्ञान कहा जा सकता है।'

(iii) 'सांख्यिकी को सामाजिक रचना के, विभिन्न रूपों के लिए सम्पूर्ण रूप से माप के लिए, विज्ञान माना जा सकता है।'[3]

ये परिभाषाएं संकीर्ण है, लेकिन इनमे विधि-पक्ष पर जोर दिया गया है।

सांख्यिकी की परिभाषा सांख्यिकीय आंकडों के रूप में —

सांख्यिकीय आंकडो के अर्थ में सांख्यिकी की व्यापक परिभाषा होरेस सेक्रिस्ट (Horace Secnst) ने दी है जो इस प्रकार है

"सांख्यिकी .. तथ्यों का समूह होती है जिस पर अनेक कारकों का काफी सीमा तक प्रभाव पडता है, ये संख्यात्मक रूप में व्यक्त किये जाते हैं, इनका संकलन या अनुमान शुद्धता के उचित स्तर के अनुसार लगाया जाता है, ये व्यवस्थित रूप में एकत्र किये जाते हैं (एक पूर्वनिर्धारित उद्देश्य के लिए) तथा एक दूसरे से सम्बद्ध रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं।'

इस प्रकार सांख्यिकीय आंकडों के निम्न लक्षण होते हैं

(i) ये तथ्यों के समूह होते हैं इसका अर्थ है कि **अकेले एक तथ्य से सांख्यिकी नहीं बनती।** तथ्यों को विभिन्न स्थानों या विभिन्न समयो के अनुसार प्रस्तुत करने से ही वे सांख्यिकी कहलाते हैं। जैसे 1991 में **भारत की जनसंख्या 844 करोड़ व्यक्ति आंकी गयी है। मात्र इसी अंक से सांख्यिकी नहीं बन जाती, बल्कि विभिन्न देशों की 1991 की जनसंख्या को एक साथ रखने, अथवा भारत की जनसंख्या को कई जनगणनाओं के लिए तुलना के लिए एक साथ रखने पर सांख्यिकी बनती है।**

(ii) सांख्यिकी पर एक साथ कई तत्त्वों का प्रभाव है जैसे कृषिगत उत्पादन पर खेतों के प्रकार, वर्षा, सिंचाई, उर्वरक, श्रम की मात्रा, आदि का प्रभाव पडता है। मुद्रास्फीति पर मुद्रा की पूर्ति, खाद्यान्नों की वसूली, खाद्यान्नों के सार्वजनिक वितरण की प्रणाली, परोक्ष करों, कीमतों के सम्बन्ध में भावी प्रत्याशाओं (expectations), उत्पत्ति की मात्रा, आदि का प्रभाव पडता है। अत बहुकारकों की स्थिति का *अध्ययन सांख्यिकी में किया जाता है।*

(iii) तथ्य संख्यात्मक रूप में व्यक्त होने पर ही सांख्यिकी बनते हैं। गुणात्मक रूप में रहने पर इनका सांख्यिकीय अध्ययन कठिन होता है।

(iv) आंकडे गिनती से या अनुमान लगा कर प्राप्त होने चाहिए, जैसे उत्पादन की गुणवत्ता जानने के लिए हम छोटा सेम्पल लेकर पता कर लेते हैं।

(v) उनमें शुद्धता का उचित स्तर कायम रखा जाना चाहिए। गणित व लेखा-विधि में तो पूर्ण शुद्धता बरती जाती है, लेकिन सांख्यिकी में उतनी शुद्धता न तो सम्भव है और न आवश्यक।

(vi) आंकडे व्यवस्थित रूप में एकत्र किये जाने चाहिऐं। वे अस्त व्यस्त ढंग से एकत्र नहीं किये जाने चाहिऐं। सेम्पल में जो इकाई आती है, उसी पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए।

---

3 A L Bowley, Elements of Statistics p 3 And p 7

(vii) **आंकडे सार्थक किस्म के होने चाहिएँ और तुलना के लिए उनको एक दूसरे से सम्बद्ध करके प्रस्तुत करना चाहिए।** उनकी परस्पर तुलना की जानी आवश्यक होती है।
इस प्रकार सेक्रिस्ट के अनुसार आकडों के अर्थ में साख्यिकीय आकडों में कई प्रकार की विशेषताओं का होना आवश्यक माना गया है।

निष्कर्ष —उपर्युक्त चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है कि साख्यिकी में आंकडों के संग्रहण, प्रस्तुतीकरण, विश्लेषण व उनका अर्थ लगाने की विधियों का अध्ययन किया जाता है ताकि अनिश्चितता की दशाओं में हम बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय ले सकें। साख्यिकी एक वैज्ञानिक विधि होती है। वस्तुत यह विज्ञानों का विज्ञान कहलाने की अधिकारी है।

साख्यिकी की प्रकृति
(Nature of Statistics)

हम ऊपर बतला चुके है कि **साख्यिकी एक वैज्ञानिक विधि है** जिसके माध्यम से किसी समस्या का अध्ययन किया जाता है। कुछ लोग इसे **विज्ञान** मानते हैं क्योंकि यह नियमबद्ध ज्ञान का समूह है, इसमें प्रायिकता-सिद्धान्त (theory of probability) व अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का उपयोग किया जाता है, इसमें कारण-परिणाम सम्बन्ध स्थापित किये जाते है तथा भावी प्रवृत्तियों के अनुमान प्रस्तुत किये जाते है। लेकिन अपनी प्रकृति के कारण यह पूर्ण विज्ञान नही है क्योंकि इसमें मूलतया औसत के रूप में ही निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

कुछ लोग इसे **कला** के रूप में देखते है क्योंकि यह हमें बताती है कि किस साख्यिकीय माप, जैसे औसत, मध्यका (median), सहसम्बन्ध गुणांक, आदि का प्रयोग कब उचित रहेगा। कुछ साख्यिकों ने इसे विज्ञान व कला दोनों माना है क्योंकि इसमें दोनों की विशेषताएं विद्यमान है। इसमें क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है और सुनिश्चित परिणाण निकालने की विधियाँ बतलायी जाती है।

लेकिन साख्यिकी की प्रकृति को समझने के लिए हमें साख्यिकीय विधि के मुख्य लक्षणों पर ध्यान देना होगा। इसका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।[1]

साख्यिकीय विधि की प्रकृति :—

हम पहले बतला चुके है कि अर्थशास्त्र में साख्यिकीय विधि का प्रयोग करके आर्थिक नियम बनाये जाते हैं। साख्यिकीय विधियों के बिना अ र्थशास्त्र की कल्पना

---

1. Lipsey, Steiner, Purvis and Courant, ECONOMICS , Ninth Edition, 1990, pp. 23-28

करना भी कठिन जान पड़ता है। विभिन्न आर्थिक विषयों के अध्ययन में हम सैम्पल-विधि अपनाते हैं और प्रतीपगमन-विधि (regression) का उपयोग करके एक चलराशि पर कई चलराशियों के प्रभाव का अध्ययन करते हैं। कार्मेल व पोलासेक (P. H Karmel and M. Polasek) ने सांख्यिकी की प्रकृति के विवेचन में सेम्पल-विधि व प्रतीपगमन-विधि के सर्वाधिक उपयोग को स्वीकार किया है।[1]

अर्थशास्त्र में नियन्त्रित प्रयोग के स्थान पर सांख्यिकीय विधि प्रयुक्त होती है। यह एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है। सांख्यिकीय विधि का उपयोग तथ्यों के संग्रह, वर्गीकरण, विश्लेषण व निष्कर्ष निकालने में किया जाता है। इसमें सैम्पलिंग (न्यादर्श) विधि के आधार पर सम्पूर्ण क्षेत्र के बारे में परिणाम निकाले जाते हैं। जैसे मान लीजिये, हमें दस हजार श्रमिकों के उपभोग का अध्ययन करना है तो हम यह कार्य एक हजार श्रमिकों के पारिवारिक बजटों के अध्ययन के आधार पर कर सकते हैं। सैम्पलिंग प्रणाली वैज्ञानिक होती है। इसके परिणाम विश्वसनीय होते हैं और इसमें हमें त्रुटि (error) की मात्रा का भी पता होता है। **सैम्पल का आकार बढ़ाकर त्रुटि की मात्रा कम की जा सकती है।** अर्थशास्त्र में सांख्यिकीय विश्लेषण के दो उपयोग होते है — (अ) सिद्धान्तों की जाँच (testing of theories), तथा (आ) आर्थिक सम्बन्धों का संख्यात्मक माप (quantitative measurement of economic relationships)। इनका क्रमश नीचे स्पष्टीकरण किया जाता है

(अ) सिद्धान्तों की जाँच—मान लीजिये हमें इस परिकल्पना (hypothesis) की जाँच करनी है कि आय के बढ़ने से भोजन पर किया गया व्यय बढ़ता है। हम समस्त देश के उपभोक्ताओं का अध्ययन करने में असमर्थ होते हैं और वह आवश्यक भी नहीं होता। अत हम उपभोक्ताओं का एक प्रतिनिधि नमूना (representative sample) चुन लेते हैं, और उनकी आय व भोजन पर किये गये व्यय के आंकड़े एकत्र कर लेते हैं। हम जानते हैं कि भोजन पर किये जाने वाले व्यय पर परिवार के सदस्यों की संख्या का भी प्रभाव पड़ता है, इस प्रकार हम तीन चलराशियों (आय, सदस्यों की संख्या, भोजन पर व्यय) का अध्ययन करके उनके सम्बन्धों के बारे में प्रतीपगमन विश्लेषण की सहायता से निम्न प्रकार के परिणाम निकाल सकते है—

(i) परिवार के सदस्यों की संख्या स्थिर मानकर, आय व भोजन पर व्यय में कितना सह-सम्बन्ध (correlation) पाया जाता है।

(ii) आय को स्थिर मानने पर, परिवार के सदस्यों की संख्या व भोजन पर व्यय में कितना सह-सम्बन्ध पाया जाता है।

(iii) आय व परिवार के सदस्यों की संख्या दोनों मिलकर भोजन पर किये जाने वाले व्यय के परिवर्तनों को किस सीमा तक स्पष्ट करते है, और अन्य तत्त्वों का भोजन के व्यय पर क्या प्रभाव पड़ता है।

---

1. Karmel and Polasek, Applied Statistics for Economists, Fourth Edition, Indian Reprint 1986, pp 1-3.

इस प्रकार विभिन्न तत्त्व एक साथ अपना प्रभाव डालते रहते हैं, लेकिन 'प्रतीपगमन-विधि' (regression method) का उपयोग करके उन पर सांख्यिकीय नियन्त्रण (statistical control) स्थापित किया जा सकता है सांख्यिकीय विधियों में आजकल प्रतीपगमन की विधि सर्वाधिक लोकप्रिय मानी जाती है। इस प्रकार जो काम भौतिक विज्ञान में प्रयोगशालाओं में नियन्त्रित प्रयोग करने से सम्भव हो पाता है, वह अर्थशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञानों में सांख्यिकी का प्रयोग करके सम्भव बना लिया जाता है। हम सांख्यिकीय विधि का प्रयोग करके किसी भी चलराशि को स्थिर कर लेते हैं, और इस प्रकार चलराशियों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हो जाते हैं। अत सांख्यिकीय विधि ने अर्थशास्त्र को काफी लाभ पहुँचाया है।

(अ) आर्थिक सम्बन्धों का संख्यात्मक माप—सांख्यिकीय विश्लेषण के द्वारा हम आँकडे एकत्र करके विभिन्न चलराशियों में सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं, जैसे प्रति हेक्टेयर उपज पर उर्वरक, पानी, खेत के आकार व मौसम आदि का अलग-अलग प्रभाव जाना जा सकता है। इसके लिए भी प्रतीपगमन विश्लेषण (regression analysis) की सहायता ली जाती है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में रिसर्च करने वालों में सांख्यिकीय ज्ञान का महत्त्व काफी बढ़ गया है। आजकल इसमें गणितीय सांख्यिकीय का भी प्रयोग बढ़ गया है।

वेसल, विलेट व साइमन (Wessel, Willett and Simone) के अनुसार सांख्यिकी वह विज्ञान है जो संख्यात्मक आंकडों के विश्लेषण से सम्बन्ध रखता है। इसका एक अस्त्र के रूप में प्रयोग किया जाता है। यह प्राकृतिक व सामाजिक विज्ञानों दोनों में काम आता है। इनके अनुसार सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग तीन उद्देश्यों के लिए किया जाता है, यथा (i) भावी अनुमान लगाने के लिए (forecasting) इसमें भूतकाल व वर्तमान की प्रवृत्तियों के आधार पर भावी प्रवृत्ति के अनुमान लगाये जाते हैं। बीमा का व्यवसाय पूर्णतया भावी अनुमानों पर निर्भर करता है। इसमें भावी घटनाओं के अनुमान लगाये जाते हैं। ***सांख्यिक यह तो नहीं बतला सकते कि वर्ष में किनकी मृत्यु होगी, लेकिन वे यह अवश्य बतला सकते हैं कि सम्भवतया कितनों की मृत्यु होगी।*** 'We do not know who will die but we know how many ' यही बीमा व्यवसाय का आधार है।

(ii) यह **नियंत्रण** (control) में आमतौर पर प्रयुक्त की जाती है। **किस्म**-नियंत्रण के लिए कुछ मानक (standards) तय कर लिये जाते हैं और उत्पादन के दौरान माल की सैम्पलिंग लेकर उसकी गुणवत्ता की सांख्यिकीय जाँच की जाती है।

(iii) सांख्यिकी का प्रयोग ज्ञान की सीमाओं का विस्तार करने के लिए भी किया जाता है, अर्थात् **अनुसंधान व खोज के कार्यों में** (exploration) भी किया जाता है।

इस प्रकार सांख्यिकी का प्रयोग भावी अनुमान लगाने, नियंत्रण करने व अनुसंधान में किया जाता है। इससे सांख्यिकीय विधियों की प्रकृति स्पष्ट हो जाती है।

नाइजवेगर (Neiswanger) ने भी सांख्यिकीय परिणामों की प्रकृति का उल्लेख करते हुए कहा है कि, **"सांख्यिकीय विधि-आगमन (inductive) किस्म की होती है, क्योंकि इसमें व्यक्तिगत इकाइयों को देखकर परिणाम निकाले जाते हैं। बाजार में व्यक्तिगत इकाइयों का व्यवहार बहुधा अव्यवस्थित (erratic) किस्म का लगता है, और उसके बारे में पहले से कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन जब इस प्रकार की अनेक पृथक् अप्रत्याशित घटनाओं पर एक साथ विचार किया जाता है तो इनमें प्राय व्यवहार का एक स्थिर प्रारूप (a stable pattern) प्रगट होता है।"** [1]

उपर्युक्त विवेचन से सांख्यिकी की प्रकृति स्पष्ट हो जाती है। इसमें सैम्पल *लेकर परिणाम निकाले जाते हैं और प्रतीपगमन विधि का प्रयोग करके एक* चलराशि पर कई चलराशियों का प्रभाव ज्ञात किया जाता है। प्रतीपगमन विधि आधुनिक सांख्यिकीय विधियों में सर्वोपरि स्थान रखने लगी है। अनुसंधान कार्यों के लिए इसका सांख्यिकी में केन्द्रीय स्थान हो गया है। इसका अध्ययन सांख्यिकी के अन्तर्गत काफी विस्तार से किया जाने लगा है।

सांख्यिकी का महत्त्व
(Importance of Statistics)

सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग इतना व्यापक हो गया है कि उनको किसी भी रूप में सीमित करना एक दुष्कर कार्य है। आजकल सभी विषयों में सांख्यिकीय *विधियों का उपयोग किया जाता है, चाहे वे भौतिक विज्ञान हों, अथवा सामाजिक* विज्ञान हो। हम यहाँ पर सांख्यिकी के महत्त्व के सम्बन्ध में निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत विचार करेंगे —

(i) सांख्यिकीय विधियों का अर्थशास्त्र में प्रयोग,
(ii) सांख्यिकी व वाणिज्य,
(iii) सांख्यिकी व सार्वजनिक प्रशासन,
(iv) सांख्यिकी के अन्य लाभ।

(i) सांख्यिकीय विधियों का अर्थशास्त्र में प्रयोग —

सांख्यिकी व अर्थशास्त्र का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। सांख्यिकी का अर्थशास्त्र में हर कदम पर उपयोग होता है। अर्थशास्त्र को आज जो प्रतिष्ठा मिली है उसमें *सांख्यिकीय विधियों के अधिकाधिक उपयोग ने मदद पहुँचायी है। अर्थशास्त्र में* सांख्यिकीय विधियों का महत्त्व निम्न प्रकार से होता है

1 आर्थिक समस्याओं के हल में — प्रोफेसर पी सी महलानोबिस का कहना है कि, **"मेरा सदैव यह मत रहा है कि सांख्यिकी एक व्यावहारिक विज्ञान है *और इसका मुख्य उद्देश्य व्यावहारिक समस्याओं का हल निकालने में मदद करना***

---

1. Neiswanger, Elementary Statistical Method, Chapter 2, The Nature and Interpretation of Statistical Results

है। नर्धनता देश की सर्वाधिक मूलभूत समस्या है और सांख्यिकी को इस समस्या के हल में मदद करनी चाहिए।"[1]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि सांख्यिकी का उपयोग आर्थिक समस्याओं का हल ढूँढने में किया जाता है। निर्धनता की समस्या सबसे गहन आर्थिक समस्या मानी गयी है। इसका सम्बन्ध करोडों नर-नारियों के जीवन से है। इसलिए सर्वप्रथम हमको यह ज्ञात करना होगा कि देश में कितने व्यक्ति गरीब हैं। इसके लिए भारत में केलोरी का आधार माना गया है, जैसे गाँवों में प्रति दिन प्रति व्यक्ति 2400 केलोरी से कम उपभोग करने वाले व्यक्ति गरीब माने जाते हैं, और शहरों में इसका नॉर्म 2100 केलोरी है। *इस समस्या का अध्ययन राज्यवार भी किया जाता* है। निर्धनता की रेखा को प्रति व्यक्ति प्रति माह उपभोग-व्यय के अनुसार व्यक्त किया जाता है जिसे मूल्य-वृद्धि के आधार पर निरंतर संशोधित करते रहना पडता है। अत अकेले गरीबी के प्रश्न के सम्बन्ध में बहुत से आंकडों की आवश्यकता होती है।

इसी प्रकार बेरोजगारी, अल्परोजगार, आय की असमानता, आर्थिक विकास में *क्षेत्रीय असमानता, मुद्रास्फीति, मंदी, व्यापार के घाटे, भुगतान-असंतुलन,* सरकार पर विदेशी कर्ज स्वदेशी कर्ज का भार, बजट में घाटा, कृषिगत उत्पादन व औद्योगिक उत्पादन से सम्बन्धित समस्याओं आदि के अध्ययन में सांख्यिकी की आवश्यकता होती है। किसी भी आर्थिक समस्या का समाधान निकालने से पूर्व उसके स्वरूप व उसकी तीव्रता का अध्ययन आंकडों के आधार पर किया जाता है। अत सांख्यिकी अर्थशास्त्र को अनेक बिन्दुओं पर छूती है।

2. आर्थिक नियमों के निर्माण में —

पुस्तक के आरम्भ में बतलाया जा चुका है कि आगमन विधि (inductive method) का अर्थशास्त्र में आर्थिक नियमों के निर्माण में विस्तृत रूप से उपयोग होता है। आगमन विधि में तथ्य एकत्र किये जाते हैं और उनका विश्लेषण करके उनमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित किये जाते है। आर्थिक सिद्धान्तों की सत्यता की जाँच भी आंकडों के आधार पर ही की जाती है। **अर्थशास्त्र में माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त सांख्यिकीय आधार पर ही बना है। मुद्रास्फीति के सिद्धान्त में मुद्रा की पूर्ति, उत्पत्ति की मात्रा व मूल्य-स्तर के परिवर्तनों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया जाता है।**

3. राष्ट्रीय आय के आंकडों व राष्ट्रीय लेखों का महत्त्व :—

देश की आर्थिक प्रगति के अध्यय में स्थिर भावों पर राष्ट्रीय आय की प्रगति का अध्ययन किया जाता है। आजकल राष्ट्रीय लेखे (national accounts) भी तैयार किये जाते है, जिनका पहले एक स्वतंत्र अध्याय में विवेचन किया जा चुका है। इन आंकडों के आधार पर एक अर्थव्यवस्था के अंदर होने वाले संरचनात्मक परिवर्तनों (structural changes) का अध्ययन किया जा सकता है, जैसे

---

1. P. C. Mahalanobis, The Approach of Operational Research to Planning in India, in SANKHYA, Vol 16, part 1 & 2, December. 1955.

विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों — कृषि, उद्योग, आदि—का राष्ट्रीय आय में अंश किस दिशा में बदल रहा है, तथा रोजगार में इनका अंश किस प्रकार बदल रहा है।

4. सांख्यिकी व आर्थिक नियोजन—

आर्थिक नियोजन में विभिन्न उद्देश्य रखे जाते है जिनके सम्बन्ध में कई प्रकार के आंकड़ों की आवश्यकता होती है। सर्वप्रथम, योजना में विकास की वार्षिक दर निर्धारित की जाती है। यह विनियोग की दर और पूँजी-उत्पत्ति अनुपात पर निर्भर करती है, इसलिए इनको ज्ञात करना जरूरी होता है। विनियोग की दर विनियोग का राष्ट्रीय आय से अनुपात होती है और पूँजी-उत्पत्ति अनुपात का अर्थ उत्पत्ति की एक इकाई के लिए आवश्यक पूँजी की मात्रा से लगाया जाता है, जैसे इसके 5 1 होने का आशय है एक इकाई उत्पत्ति के लिए 5 इकाई पूँजी की आवश्यकता है। मान लीजिए, विनियोग की दर 25% है और पूँजी-उत्पत्ति अनुपात 5 1 है, तो विकास की वार्षिक दर $\frac{25\%}{5} = 5\%$ होगी। आर्थिक नियोजन के लिए निम्न आंकड़ों की भी आवश्यकता होती है जनसंख्या में वार्षिक वृद्धि-दर, श्रम-शक्ति में वार्षिक वृद्धि की मात्रा, घरेलू बचत की दर, विदेशी सहायता की आवश्यकता, विदेशी व्यापार की स्थिति, आदि, आदि। इस प्रकार योजना के निर्माण के लिए अनेक प्रकार के आंकड़ों की आवश्यकता होती है। फिर योजना के पूरा हो जाने पर उसकी उपलब्धियों का मूल्यांकन करने के लिए आंकड़ों की आवश्यकता होती है जैसे राष्ट्रीय आय में वृद्धि-दर, मुद्रास्फीति की वार्षिक दर, कृषिगत उत्पादन में वृद्धि-दर, औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि-दर, इन्फ्रास्ट्रक्चर विद्युत, परिवहन, आदि के विकास की दशा, रोजगार में वृद्धि, निर्धनता में कमी, क्षेत्रीय असमानता में कमी, इत्यादि।

योजना में वित्तीय नियोजन एक महत्त्वपूर्ण अंग होता है। योजना की वित्तीय व्यवस्था के लिए कर, उधार, घाटे की अर्थव्यवस्था, सार्वजनिक उपक्रमों से लाभ, विदेशी सहायता, आदि के आंकड़ों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार योजना में उत्पादन, वितरण, व्यापार, कीमतों, साधन-संग्रह, आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के आंकड़ों की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता राष्ट्रीय स्तर पर, राज्यीय स्तर पर, जिला-स्तर पर, खण्ड-स्तर पर तथा ग्राम-स्तर पर होती है। इसलिए विकेन्द्रित नियोजन में जिला व खण्ड स्तर पर आंकड़ों का महत्त्व हो गया है। इससे आंकड़ों का भी विकेन्द्रीकरण हो गया है।

(ii) सांख्यिकी व वाणिज्य

अर्थशास्त्र की भांति वाणिज्य में भी सांख्यिकी का व्यापक रूप मे उपयोग होता है। आज अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का युग है। एक देश में उत्पादन स्वदेशी माँग और विदेशी माँग दोनों की पूर्ति के लिए किया जाता है। इसलिए इनका अलग-अलग अनुमान लगाने की आवश्यकता होती है।

इसके अलावा वाणिज्य-व्यवसाय में विभिन्न चरणों में सांख्यिकी की आवश्यकता होती है। इनका उल्लेख नीचे किया जाता है

1. **उत्पादन के चरण में** — कच्चे माल की खरीद, श्रम व पूँजी को जुटाने, श्रम-विभाजन करने, पावर की समुचित व्यवस्था करने, कर्मचारी प्रबंध आदि में आंकड़ों की आवश्यकता होती है।

2. **किस्म-नियंत्रण** (quality control) **के लिए उत्पादन में सैम्पल आधार पर जांच की आवश्यकता होती है।** इसके लिए 'स्वीकार करो' या 'अस्वीकार करो' के मानक निर्धारित किये जाते हैं।
3. **इन्वेण्टरी नियंत्रण :—** फर्म को उत्पादन निर्बाध गति से जारी रखने के लिए कच्चे माल की उचित मात्रा रखने की व्यवस्था करनी होती है। इसके लिए विभिन्न प्रकार के आंकडों व अनुमानों की आवश्यकता होती है।
4. **विपणन के चरण में** —माल की बिक्री के लिए बाजारों के सर्वेक्षण करने होते हैं और माँग बढ़ाने के प्रयास करने होते हैं। इसके लिए बिक्री-संवर्धन के उपायों का चुनाव करना होता है जैसे विज्ञापन कहाँ किया जाय, किस प्रकार किया जाय और कितना किया जाय, आदि।
5. **लेखों की व्यवस्था** —सम्पूर्ण लेन-देन का हिसाब रखना भी आवश्यक होता है। इसके लिए परिसम्पत्तियों (assets) व देनदारियों (liabilities) का पूरा हिसाब रखा जाता है और हिसाब का ऑर्डर करवाया जाता है।
6. **कार्य-प्रणाली में अनुसंधान** —इसके लिए आधुनिक तकनीकों का उपयोग करके लाभ-अधिकतमकरण, लागत-न्यूनतमकरण व अनुकूलतम इन्वेण्टरी के स्तर, आदि ज्ञात किये जाते हैं। रेखीय प्रोग्रामिंग आदि विधियों का प्रयोग किया जाता है।

व्यापार-व्यवसाय में पूँजी-बाजार, शेयर-बाजार व मुद्रा-बाजार की गतिविधियों की भी आवश्यकता होती है इसके लिए ब्याज की दरों की जानकारी आवश्यक होती है, और इन बाजारों पर सरकार की कर-नीति, आदि के प्रभावों का निरंतर मूल्यांकन किया जाता है। इस प्रकार साख्यिकी का आन्तरिक व्यापार व विदेशी व्यापार दोनों के सन्दर्भ में व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है।

(iii) साख्यिकी व सार्वजनिक प्रशासन
(Statistics and Public Administration)

आधुनिक युग में राज्य आंकडों का सबसे बडा उत्पादक व सबसे बडा उपभोक्ता बन गया है। सरकारी नीतियों के निर्धारण में आंकडों से बडी मदद मिलती है। आज सरकार का कार्यक्षेत्र बहुत बढ़ गया है। सरकार स्वयं कई वस्तुओं के उत्पादन में सक्रिय रूप से भाग लेती है। सार्वजनिक प्रशासन का दायरा दिन-दुगुना रात-चौगुना बढ़ता गया है। आधुनिक युग में सरकार का आर्थिक जीवन में योगदान निम्न रूपों में देखने को मिलता है —

(अ) प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन में भाग लेना,
(आ) इन्फ्रास्ट्रक्चर की सुविधाओं - सिंचाई, विद्युत, परिवहन, संचार, आदि का विस्तार करना,
(इ) बचत व विनियोग की दरों को बढ़ाना,
(ई) आर्थिक स्थिरता व मूल्य-स्थिरता के उपाय करना,
(उ) विदेशों से आर्थिक सहयोग स्थापित करना,

(ऊ) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से कर्ज की व्यवस्था करना,

(ए) आर्थिक समानता व न्याय की स्थापना करना।

इस प्रकार आर्थिक विकास करने, आर्थिक स्थायित्व लाने और आर्थिक समानता के क्षेत्र में सरकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका होने लगी है। इसके लिए सरकार औद्योगिक नीति, कृषिगत नीति, विदेशी व्यापार नीति, राजकोषीय नीति, मौद्रिक नीति व सम्पूर्ण आर्थिक नीति का निर्धारण करती है। इनके निर्धारण के लिए अनेक प्रकार के आंकड़ों का उपयोग किया जाता है ताकि इन नीतियों को सफल बनाया जा सके।

इनमें राजकोषीय नीति (fiscal policy) पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इसमें सरकार द्वारा कर लगाने, व्यय करने, उधार लेने, घाटे की वित्त-व्यवस्था करने जैसे निर्णय शामिल किये जाते हैं। इनका देश के उत्पादन, रोजगार, मूल्य-स्तर व आय के वितरण पर सीधा प्रभाव पड़ता है। अत सार्वजनिक प्रशासन में विभिन्न चरणों में देश की समस्याओं को हल करने के लिए आंकड़ों की आवश्यकता होती है। इनके अभाव में समस्याओं का हल निकालना सम्भव नहीं होता। सरकार को विशाल मात्रा में आर्थिक जानकारी व सूझ बूझ की आवश्यकता होती है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुचारू रूप से चलाने के लिए सरकार के पास माल के स्टॉक की आवश्यकता होती है। निजी अर्थव्यवस्था की तुलना में नियोजित अर्थव्यवस्था में ज्यादा मात्रा में आंकड़ों की आवश्यकता होती है क्योंकि इसमें कई प्रकार के नियंत्रण व नियमन पाये जाते हैं।

इस प्रकार आंकड़े प्रशासन की आँखें होते हैं। इनके बिना उचित निर्णय लेना असम्भव होता है।

(iv) सांख्यिकी के अन्य लाभ

अर्थशास्त्र, वाणिज्य व सार्वजनिक प्रशासन के अलावा सांख्यिकी के अध्ययन से आम आदमी को भी काफी लाभ हो सकता है। यदि सर्वसाधारण को जनसंख्या की वृद्धि साक्षरता की दर शिशु मृत्यु दर प्रति व्यक्ति खाद्यान्नों की उपलब्धि, प्रति व्यक्ति वास्तविक आय, वनों की ह्रासमान स्थिति, जल की कमी, पर्यावरण की गिरावट, आदि से आंकड़ों के द्वारा परिचित कराया जाय तो सम्भवत् परिवार-नियोजन के लिए प्रेरणा स्वत उत्पन्न हो जायगी। अत सांख्यिकी के द्वारा जन-चेतना व जल-आन्दोलन उत्पन्न किये जा सकते हैं जो समस्याओं के हल में मदद देते हैं। यही कारण है कि आजकल विभिन्न संस्थाओं के द्वारा समस्याओं की तथ्यात्मक जानकारी को रेखाचित्रों के द्वारा सर्वसाधारण तक पहुँचाने का प्रयास किया जाने लगा है। अब सांख्यिकी एक विलासिता का विषय न रह कर व्यवहार में सर्वसाधारण का विषय बनता जा रहा है। चाहे आम नागरिक सांख्यिकी की जटिल गणितीय विधियों को न समझे, लेकिन ठीक से प्रस्तुत किये जाने पर वह प्राप्त निष्कर्षों को समझ सकता है और उनसे लाभ उठा सकता है। अत हमें लोगों को आंकड़ों में रुचि लेने की प्रेरणा देनी चाहिए। लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि आंकड़े सही हों और आम आदमी के समझ में आ सकें। तभी उसकी विकास में भागीदारी सुनिश्चित की जा सकेगी। जिस प्रकार बोलचाल की सुविधा के लिए

सरल भाषा का होना जरूरी है, उसी प्रकार देश की समस्याओं को समझने के लिए आवश्यक आंकडों को जानना भी जरूरी होता है। आधुनिक जीवन में आंकडों का अभाव दूर करना बहुत आवश्यक हो गया है और इसमें साख्यिक अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते है। साख्यिकी को निर्णय का आधार बनाना उचित ही माना जायगा।

साख्यिकी की सीमाएं
(Limitations of Statistics)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक युग में साख्यिकीय विधियों व आंकडों का महत्त्व काफी बढ़ गया है और यह उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। लेकिन साख्यिकी की अपनी सीमाएं भी होती हैं जिन्हें भुलाना नहीं चाहिए। इनका नीचे उल्लेख किया जाता है

1. साख्यिकी का वैयक्तिक आंकडों से सरोकार नहीं होता :—

साख्यिकी वैयक्तिक आंकडों का अध्ययन नहीं करती। जैसे, मान लीजिए, हमें भारत का 1990-91 का खाद्यान्नों का उत्पादन दिया हुआ है, अथवा राष्ट्रीय आय या प्रति व्यक्ति आय दी हुई है। इनका अपने आप में विशेष महत्त्व नहीं होता। इनका महत्त्व तभी होता है जब हम भारत के 1990-91 में खाद्यान्नों के उत्पादन की तुलना किसी अन्य देश में इसी वर्ष के खाद्यान्नों के उत्पादन से करें, अथवा भारत में पिछले वर्षों के खाद्यान्नों के उत्पादन से करें। कहने का आशय यह है कि आंकडों की उपयोगिता तुलनात्मक दृष्टि से ज्यादा मानी जाती है। यही बात राष्ट्रीय आय की तुलना के सम्बन्ध में लागू होती है।

2. साख्यिकीय परिणाम केवल औसत के रूप में ही सही होते हैं, जबकि वैयक्तिक इकाइयों के मूल्य काफी भिन्न हो सकते हैं —

औसत मूल्यों का अर्थ काफी सावधानी से लगाया जाना चाहिए क्योंकि प्राय औसत मूल्य वैयक्तिक मूल्यों से काफी भिन्न होते है। जैसे प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय एक औसत होता है। व्यवहार में व्यक्तियों की आय इस औसत से काफी अधिक या काफी कम हो सकती है। इस प्रकार प्रति व्यक्ति आय की राशि वास्तविकता से मेल नहीं खाती। यह कमी विचलन ज्ञात करके दूर की जाती है। कई बार केवल औसत से घातक परिणाम भी निकल सकते हैं, जैसे पानी के एक नाले में एक जगह गहराई 4 फुट, दूसरी जगह 10 फुट व तीसरी जगह 1 फुट हो तो औसत गहराई 5 फुट होगी। अब मान लीजिए, लोग इसके औसत को देख कर इसे पैदल चल कर पार करना चाहें तो 6 फुट लम्बे व्यक्ति भी डूब जायेंगे क्योंकि रास्ते में 10 फुट गहरा पानी भी आ रहा है। अत मात्र औसत भ्रामक हो सकते हैं।

3 साख्यिकी गुणात्मक विषयों के अध्ययन में सफल नहीं हो पाती :—

साख्यिकी प्राय संख्यात्मक परिस्थितियों का अध्ययन करती है जैसे लोगों की आमदनी, व्यय, आयु, आदि। यह गुणात्मक मामलों में, जैसे ईमानदारी, बुद्धिमत्ता, आदि, में अधिक सफल नहीं हो पाती, हालांकि उनमें गुण-सम्बन्ध (association of

attributes) के माध्यम से अध्ययन करने का प्रयास अवश्य किया जा सकता है, जैसे व्यक्तियों को दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है, यथा, ईमानदार व बेईमान बुद्धिमान व बुद्धिहीन, आदि।

4. सांख्यिकीय परिणाम शत-प्रतिशत सुनिश्चित नहीं होते —

अधिकांश सांख्यिकीय परिणाम प्रायिकता-सिद्धान्त (theory of probability) पर आधारित होते है, और इनमें सेम्पलिंग-विधि का प्रयोग किया जाता है। इसलिए इनसे प्राप्त परिणाम सही व विश्वसनीय होते है, फिर भी उनमें कुछ त्रुटियाँ रह सकती है। सांख्यिकीय परिणाम पूर्णतया सुनिश्चित नहीं माने जा सकते।

5. सांख्यिकीय परिणामों से कारण-परिणाम सम्बन्ध स्थापित करना सुगम नहीं होता :— सांख्यिकीय अध्ययन के मार्फत विभिन्न चलराशियों में सह-सम्बन्ध तो स्थापित किया जा सकता है, लेकिन यह कहना आसान नहीं होता कि अमुक-चलराशि अमुक-चलराशि का कारण है। इसके लिए उस विषय के मूलभूत ज्ञान की ज्यादा आवश्यकता होती है। अकेला सांख्यिक इस सम्बन्ध में ज्यादा योगदान नहीं दे सकता।

6. सांख्यिकी के दुरुपयोग की सम्भावना बनी रहती है—

सांख्यिकी का दुरुपयोग होने की सम्भावना बनी रहती है। अशिक्षित व अदक्ष व्यक्ति इनका गलत अर्थ लगा सकते है। इसलिए इनका सही प्रयोग ज्यादातर दक्ष व अनुभवी व्यक्ति ही कर पाते हैं। किंग के अनुसार आंकडे तो मिट्टी के समान होते हैं जिनसे हम अपनी इच्छानुसार देवता या दानव बना सकते हैं। अत सांख्यिकीय आंकडों का उपयोग बडी सावधानी से किया जाना चाहिए।

ऊपर सांख्यिकीय विधियों व आंकडों दोनों की सीमाओ की तरफ संकेत किया गया है। अत सांख्यिकी के अध्ययन व प्रयोग में इनको ध्यान में रखने की आवश्यकता रहती है। प्राय लोग आंकडों को झूठा मानते है, यह धारणा भी सही नहीं है। यदि सांख्यिकीय नियमों का पालन करते हुए सावधानीपूर्वक आंकडे एकत्र किये जाएं तो उनकी काफी उपयोगिता होती है। इसी प्रकार सभी छापे हुए आंकडों को आँखें मूँद कर स्वीकार करने की आदत भी सही नहीं है। हमें इस सम्बन्ध में संतुलित दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। हमें आंकडों का उपयोग करने की आदत डालनी चाहिए, लेकिन हमें उनका अंधानुकरण नहीं करना चाहिए (We should be data-minded, and not data-blinded)। स्मरण रहे कि सांख्यिकीय विधियाँ वैज्ञानिक पद्धति का अंग होती है और इनका सही उपयोग करने पर ये बहुत उपयोगी सिद्ध होती है। इनका वैज्ञानिक अस्त्र (scientific tool) के रूप में उपयोग ही वांछनीय माना जाता है।

प्रश्न

1. सांख्यिकी की परिभाषा कीजिए एव इसकी सीमाओ को बताइये।
(Ajmer I yr. 1992)

2. सांख्यिकीय विधियों की प्रकृति को समझाइए।

3. सांख्यिकी का महत्त्व स्पष्ट लिखिए। इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्र, आर्थिक नियोजन व सार्वजनिक प्रशासन से उदाहरण दीजिए।

4 सांख्यिकीय की सीमाएं बतलाइए।

5. 'सांख्यिकी अनिश्चितता की दशा में बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लेने में मदद देने वाली विधियों का समूह होती है।'

— वालिस व रोबर्ट्स

इस कथन की विवेचना कीजिए।

6. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए —
   (i) सांख्यिकीय विधियों की मुख्य विशेषता,
   (ii) सांख्यिकी व आर्थिक नियोजन-निर्माण व प्रगति का मूल्यांकन,
   (iii) सांख्यिकीय परिणाम केवल औसत रूप से ही सही होते हैं,
   (iv) सांख्यिकी प्रशासन की आंखें हैं।,
   (v) सांख्यिकी के अध्ययन का महत्त्व।

7. भारत में सांख्यिकी के अध्ययन का विशेष महत्त्व है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं? विस्तारपूर्वक लिखिए।

आंकड़ों का संकलन व प्रस्तुतीकरण तथा आवृत्ति-वितरण एवं सेम्पलिंग की किस्में
(Collection and Presentation of Data, Frequency Distribution and Types of Sampling)*

इस अध्याय में हम आंकडो के संकलन व प्रस्तुतीकरण का विवेचन करने के बाद आवृत्ति-वंटन या वितरण (frequency distribution) तथा सेम्पलिंग की मुख्य विधियों का उल्लेख करेंगे।

आंकडों का संकलन (Collection of Data)

आंकडों का संकलन जॉच के विषय व उसकी प्रकृति व उद्देश्यों पर निर्भर किया करता है। आंकडे दो प्रकार के होते है प्राथमिक (primary) और द्वितीयक (Secondary)। प्राथमिक आंकडे जॉच के दौरान स्वयं जाँचकर्ता द्वारा एकत्र किये जाते हैं, **जैसे जनगणना के समय अनुसूचियों में जनसंख्या सम्बन्ध सूचनाएं भरी जाती हैं।** द्वितीयक आंकडे वे आंकडे होते है जो स्वयं अनुसंधानकर्ता एकत्र नहीं करता, बल्कि वह पहले से एकत्र प्रकाशित या अप्रकाशित आंकड़ों का ही उपयोग करके आवश्यक परिणाम निकालता है। आजकल द्वितीयक आंकडों का महत्त्व बहुत बढ गया है। रिसर्च करने वाले लोग रिजर्व बैंक द्वारा प्रकाशित करेन्सी व फाइनेन्स रिपोर्ट, केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन द्वारा प्रकाशित राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी (National Accounts Statistics), उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण (Annual Survey of Industries) आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey)आदि के आंकडों का उपयोग करके आवश्यक परिणाम निकालते हैं।अनुसंधानकर्ताओं के लिए इन स्त्रोतों से प्राप्त आंकडे द्वितीयक आंकडे कहलाते है। लेकिन स्मरण रहे कि जो संस्थाएं इन आंकडों को एकत्र करती है उनके लिए ये प्रायमिक आंकडे होते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय आय के आंकडे केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन (C S O) के लिए प्राथमिक आंकड़े होते हैं, जबकि इस विषय पर रिसर्च करने वाले के लिए ये द्वितीयक होते हैं। प्राय प्राथमिक आंकडों को एकत्र करना आंकडों का संग्रहण (collection) कहलाता है, जब कि प्रकाशित आंकडों का उपयोग करना या जुटाना इनका संकलन करना (compilation) कहलाता है।

---

* इसमें आवृत्ति-वितरण राजस्थान व अजमेर विश्वविद्यालय दोनों के पाठयक्रम में है, लेकिन शेष केवल अजमेर विश्वविद्यालय के पाठयक्रम में शामिल है।

प्राथमिक व द्वितीयक आंकडों का अंतर एक अश का अंतर (difference of degree) कहलाता है, क्योंकि एक संस्था के लिए जो आंकडे प्राथमिक होते हैं वे दूसरों के लिए द्वितीयक हो सकते हैं। यदि अनुसंधानकर्ता का काम प्रकाशित आंकडों से चल सकता है तो उसे इन्हीं का, अर्थात् द्वितीयक आंकडों का ही उपयोग करना चाहिए, क्योंकि इससे समय व व्यय की बचत होगी और काम शीघ्रतापूर्वक हो जायगा। लेकिन यदि अनुसंधान के लिए स्वयं अनुसंधानकर्ता को आंकडे एकत्र करने पडें तो इससे पीछे नहीं हटना चाहिए, और उचित प्रश्नावली या अनुसूची का उपयोग करके ताजा आंकडे एकत्र करने चाहिएँ। अत प्राथमिक व द्वितीयक आंकडों के बीच चुनाव जाँच की प्रकृति व क्षेत्र, वित्तीय साधन, समय, आवश्यक शुद्धता या सुनिश्चितता के अंश आदि पर निर्भर करता है।

प्राथमिक आंकडे कई तरह से एकत्र किये जा सकते हैं जैसे

(i) **प्रत्यक्ष व्यक्तिगत साक्षात्कार से** इसमें जिनसे सूचना लेनी होती है उनसे मिलना पडता है। उनसे सर्वेक्षण से सम्बन्धित प्रश्न पूछे जाते हैं।

(ii) **परोक्ष मौखिक साक्षात्कार से** —इसमें अन्य व्यक्तियों से पूछ-ताछ करके सूचना एकत्र की जाती है क्योंकि सम्भवत प्रत्यक्ष रूप से सूचना एकत्र करना मुश्किल होता है, जैसे मादक पदार्थों के सेवनकर्ताओं से सीधे सूचना प्राप्त करना कठिन होता है, इसलिए उनके मित्र-सम्बन्धी व पडौसियों से आवश्यक सूचना एकत्र की जाती है।

(iii) संवाददाताओं के माध्यम से सूचना एकत्र की जा सकती है जैसा कि अखबार वाले करते हैं।

(iv) डाक से प्रश्नावली (mail questionnaire) भेज कर सूचना एकत्र की जा सकती है, और

(v) प्रगणकों (enumerators) द्वारा अनुसूचियाँ भरवा कर सूचना एकत्र की जा सकती है।

प्रश्नावली व अनुसूची में प्रत्येक के गुण-दोष पाये जाते हैं। इनमें से चुनाव करने के लिए कई बातों पर ध्यान देना होता है। अनुसूचियाँ भरवाने में प्रगणकों पर व्यय करना होता है। अत यह विधि खर्चीली होती है, लेकिन प्रगणकों को आवश्यक प्रशिक्षण देकर इस विधि के माध्यम से काफी गहन व विस्तृत प्रकार की सूचना एकत्र की जा सकती है।

प्रश्नावली का निर्माण सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए। इसके लिए काफी अनुभव व दक्षता की आवश्यकता होती है। प्रश्नावली के साथ एक संक्षिप्त पत्र भी जाना चाहिए जिसमें सर्वेक्षण का उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए। उत्तर देने वाले को यह विश्वास दिलाया जाना चाहिए कि उसकी सूचना गुप्त रखी जायगी। उसे प्रश्नावली को भरकर भेजने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए।

प्रश्नावली मे प्रश्नों के सम्बन्ध में निम्न नियमों का पालन करने से काफी लाभ होगा —

1. **प्रश्नों की संख्या यथासम्भव न्यूनतम रखी जानी चाहिए।**
2. **उन्हें क्रमबद्ध जचाया जाना चाहिए। जैसे रोजगार के बारे में पूछने से पूर्व शिक्षा-दीक्षा के बारे में पूछना चाहिए, न कि इसके विपरीत।**

3. **प्रश्न छोटे व सरल हों।** वे अस्पष्ट न हों, जैसे पूँजी के बारे में प्रश्न करते समय यह स्पष्ट करना चाहिए कि आशय स्थिर पूँजी से है या कार्यशील पूँजी से। इसी प्रकार यह प्रश्न थोड़ा भ्रमात्मक है कि आपके मकान का आकार क्या है? इसका कोई तो प्लाट की साइज मे उत्तर देगा, और कोई कमरों की संख्या में।
4. **प्रश्नों के उत्तर के लिए श्रेणियाँ (categories) पूरी दी जानी चाहिए,** जैसे ये श्रेणियाँ काफी नहीं है

   क्या आप विवाहित है? ☐
   क्या आप अविवाहित है? ☐

   इनकी जगह निम्न श्रेणियाँ दी जानी चाहिएँ जो पूर्ण मानी जायेगी

   क्या आप विवाहित है ? ☐
   पति का देहात/पत्नी का देहात (Widowed) है? ☐
   तलाक शुदा है (divorced) ? ☐
   अलग रहते है (separated) ? ☐
   कभी शादी नहीं हुई (never married) ? ☐

   इसी प्रकार ये दो प्रश्न भी पर्याप्त नहीं है

   क्या आपकी उत्पादन की इकाई सार्वजनिक क्षेत्र में है? ☐
   निजी क्षेत्र में है? ☐

   इसकी जगह निम्न श्रेणियाँ दी जानी चाहिएँ

   क्या आपकी उत्पादन की इकाई सार्वजनिक क्षेत्र में है? ☐
   निजी क्षेत्र में है? ☐
   संयुक्त क्षेत्र में है? ☐
   सहकारी क्षेत्र में है? ☐

कहने का आशय है कि उत्तर के लिए व्यापक व पूर्ण क्षेत्र दिया जाना चाहिए।

5. प्रश्न इस तरह रखा जाय कि आवश्यक सूचना मिल सके, जैसे आयु-वितरण के सम्बन्ध में सीधा सवाल 'वर्तमान आयु क्या है?' होना चाहिए, न कि 'जन्म तिथि क्या है?', क्योंकि बहुत कम लोग अपनी जन्म-तिथि जानते हैं।
6. **राय के सम्बन्धित प्रश्न न पूछ कर तथ्य से सम्बन्धित प्रश्न पूछना ज्यादा उपयुक्त रहता है,** जैसे 'क्या आप अपने वर्तमान काम से सन्तुष्ट हैं? की बजाय यह पूछना चाहिए कि 'क्या आप अपना काम बदलना चाहेंगे, यदि हाँ तो किस तरह का काम करना चाहेंगे?
7. **प्रश्नावली को भरने के लिए सुनिश्चित हिदायतें** दी जानी चाहिएँ। सभी प्रश्नो में शब्दों को ठीक से समझा दिया जाना चाहिए।
8. **उत्तरों के लिए पर्याप्त स्थान दिया जाना चाहिए।**
9. **प्रश्नावली को अन्तिम रूप देने से पूर्व उसकी जाँच कर लेनी चाहिए,** इसके लिए एक बार स्वयं भर कर देख लेना चाहिए ताकि किसी प्रकार की कमी न रह जाए।

इस प्रकार प्रश्नावली तैयार करने में व्यावहारिक सूझबूझ व सावधानी की ज्यादा आवश्यकता होती है। इसके लिए कोई सुनिश्चित रूपरेखा नहीं होती। जाँच

का उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए ताकि उसके अनुरूप प्रश्नावली या अनुसूची बनायी जा सके।

प्रश्नावली का एक उदाहरण

आजकल लघु उद्योगों को सरकार कई प्रकार की प्रेरणाएं (incentives) देती है ताकि वे तेजी से अपना विकास कर सकें। मान लीजिए हम उनको दी जाने वाली प्रेरणाओं का अध्ययन करना चाहते हैं। इसके लिए निम्न प्रश्नावली का उपयोग किया जा सकता है —

लघु उद्योगों को दी जाने वाली प्रेरणाओं के अध्ययन के लिए प्रश्नावली*

1.1 उद्योग का नाम व पता

1.2 किस वस्तु का उत्पादन किया जा रहा है?

2.1 मुख्य उद्यमकर्ता का नाम

2.2 फर्म के संगठन का रूप

(i) व्यक्तिगत स्वामित्व (ii) साझेदारी (iii) निजी सीमित कम्पनी (iv सार्वजनिक सीमित कम्पनी (v) सहकारी समिति (vi) अन्य

3 प्रोजेक्ट या परियोजना की कुल लागत

4 स्थापना का वर्ष

5 भूमि/शेड

5.1 क्या आपकी इकाई सरकारी एजेन्सी द्वारा दी गई भूमि या शेड पर स्थित है? हाँ/नहीं

भूमि

शेड

5.2 क्या वर्तमान शेड की बजाय आपको कोई वैकल्पिक शेड उपलब्ध था हाँ/नहीं

5.3 यदि हाँ, तो आपने वर्तमान शेड ही क्यों चुना? कारण दीजिए

5.4 यदि नहीं, तो आपका अनुमान कहाँ गलत हुआ?

5.5 यदि हाँ, तो आपकी इकाई को चालू करने में यह तत्त्व कहाँ तक जिम्मेदार है? क्या इसके न होने पर आपकी इकाई चालू ही नहीं हो पाती हाँ/नहीं

कहीं दूसरी जगह चालू की जाती हाँ/नहीं

---

* इसका प्रारूप Efficacy of Incentives for Small Industries, I D B I, 1982, pp. 204 210 पर आधारित है।

6. वित्त (दीर्घकालीन)

6 1 क्या आपकी इकाई को किसी राज्य वित्त निगम/अन्य सरकारी एजेन्सी से दीर्घकालीन वित्त मिल रहा है? हाँ/नहीं

6 2 उस पर ब्याज की दर क्या है?

6 3 क्या आप उस वित्त के बिना इकाई चालू कर पाते? - हाँ/नही

6 4 यदि हाँ, तो आपको किस स्त्रोत से किस ब्याज पर वित्त मिलता?

	ब्याज की दर
मित्र/सम्बन्धी	
स्वदेशी बैंक	.. ..
व्यापारिक बैंक	..
अन्य	

7. वित्त (अल्पकालीन) :—

7.1 क्या ईकाई को व्यापारिक बैंक से (अन्य सरकारी माध्यम से) अल्पकालीन वित्त मिल रहा है? - हाँ/नहीं

7.2 उस पर ब्याज की दर क्या है?

7.3 क्या आप इस वित्त के अभाव में इकाई चालू कर पाते? -- -- --

7 4 यदि हाँ, तो किस स्त्रोत से किस ब्याज की दर पर वित्त जुटा पाते?

	ब्याज की दर
मित्र/सम्बन्धी	.. ..
स्वदेशी बैंकर	.. .. ..
अन्य	.. ..

8. मशीनरी

8 1 क्या आपको स्वदेशी या आयातित मशीनरी सरकार से किस्तों पर मिली है? हाँ/नहीं

(i) स्वदेशी ..
(ii) आयातित
(iii) दोनों

8.2 यदि हाँ, तो क्या आप इस सहायत के बिना अपनी इकाई चालू कर पाते हाँ/नहीं

8 3 यदि हाँ, तो इस सहायता से आपकी इकाई को किन अर्थों में मदद मिली?

(i) माल की बेहतर किस्म
(ii) अधिक मात्रा में माल
(iii) कम मरम्मत की लागत
(iv) अन्य

9. कच्चा माल

9.1 क्या आपको सरकार से स्वदेशी कच्चे माल की सहायता मिलती है?
हाँ/नहीं

9.2 क्या आपको सरकार से विदेशी कच्चे माल की सहायता मिलती है?
हाँ/नहीं

9.3 यदि हाँ (तो प्रत्येक मामले में) इस सहायता से आपकी इकाई को किस प्रकार की मदद मिली?
(i) पर्याप्त मात्रा
(ii) आसान उपलब्धि
(iii) ठीक समय पर
(iv) ठीक कीमतों पर
(v) रियायती कीमतों पर

9.4 सरकारी कच्चे माल के अभाव में क्या आप यह इकाई शुरू कर पाते?
हाँ/नहीं

9.5 यदि नहीं, तो आपको इकाई चालू करने में विशेष योगदान किन तत्त्वों से मिला?

10. अन्य प्रेरणाएं

क्या आपने निम्न प्रेरणाओं से लाभ उठाया है?

मद	हाँ/नहीं	प्रेरणा के बतौर कितनी प्रतिशत छूट या कटौती मिली?
(i) बिक्री कर की एवज में ऋण		
(ii) विद्युत-टैरिफ		
(iii) चुंगी		
(iv केन्द्रीय/राज्य पूँजी-सब्सिडी		
(v) ब्याज की रियायती दर		

11. अन्य कोई प्रेरणा, और उसने आपकी इकाई को किस प्रकार प्रभावित किया?

यहाँ हम चाहें तो प्रेरणाओं में बिक्री की प्रेरणाएं व तकनीकी सहायता, आदि को भी शामिल कर सकते हैं। लेकिन प्रश्नावली को सरल रखने के लिए संकेत के रूप में चुनी हुई प्रेरणाएं ही ली गयी हैं। इसके अध्ययन से किसी अन्य समस्या के बारे में प्रश्नावली बनाने में मदद मिलेगी।

आंकड़ों का प्रस्तुतीकरण (Presentation of Data)

आंकड़ों को प्राय तालिकाओं, चित्रों व रेखाचित्रों (graphs) के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इनका अपना-अपना महत्त्व होता है। आजकल नाना प्रकार के चित्रों व ग्राफों का प्रयोग होने लगा है। हम यहाँ पर कुछ बहु प्रचलित चित्रों व ग्राफों का उल्लेख करेंगे। आगे चल कर चित्रों व रेखाचित्रों का विस्तृत विवरण सांख्यिकी के प्रश्न-पत्र में पढ़ने को मिलेगा। यहाँ केवल मुख्य बातों पर ही प्रकाश डाला जायगा।

तालिका का निर्माण करना

संकलित आंकड़ों को तालिका के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। आर्थिक विषयों से सम्बन्धित किसी भी प्रकाशन में अनेक तालिकाएं या सारणियाँ देखने को मिलेंगी। यद्यपि तालिकाओं का प्रचलन तो बहुत बढ़ गया है, तथापि इनको प्रस्तुत करने में पूरी सावधानी न बरतने से कई बार इनको समझने में कठिनाई होती है। अत एक तालिका के सम्बन्ध में निम्न बातों पर ध्यान दिया जाना अत्यंत आवश्यक होता है।

(i) तालिका का शीर्षक पूर्णतया स्पष्ट होना चाहिए। इसको पढ़ते ही पाठक को यह पता लग जाना चाहिए कि इसमें किन तथ्यों का उल्लेख किया गया है।

(ii) इसमें विभिन्न **वर्गीकरण स्पष्ट रूप से** दर्शाये जाने चाहिएँ।

(iii) इसमें **माप की इकाइयाँ** साफ तौर से बतायी जानी चाहिए जैसे करोड़ों में, मिलियन में, लाखों में, रुपयों में, प्रतिशत में, आदि, आदि।

(iv) तालिका में कोई **अपरिचित शब्द या अवधारणा** काम में ली जाएं, तो फुटनोट में उनको समझाया जाना चाहिए, अन्यथा पाठकों के लिए तालिका का विशेष अर्थ नहीं निकलेगा।

(v) यदि एक तालिका किसी दूसरी तालिका से प्राप्त की गई है तो उसका स्रोत फुटनोट में दिया जाना चाहिए।

(vi) यदि तालिका में किसी कॉलम या पंक्ति का जोड़ कुल योग से मेल नहीं खाता तो उसका कारण फुटनोट में बताया जाना चाहिए।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि एक तालिका के प्रस्तुतीकरण में पूरी सावधानी बरतने से ही उसे उपयोगी बनाया जा सकता है। बहुधा इस सम्बन्ध में लापरवाही देखी जाती है जिससे तालिकाएं लाभप्रद होने के बजाय भ्रमात्मक सिद्ध होती हैं। कभी-कभी इस सम्बन्ध में उन क्षेत्रों में भी असावधानी देखी जाती है, जहाँ

सामान्यतया पूर्ण सावधानी की आशा की जाती है। हम नीचे राजस्थान में बेरोजगारी के सम्बन्ध में एक तालिका देते हैं जिसमें सभी बातों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया है

राजस्थान में एन एस एस के 1987-88 के 43 दौर के आधार पर भागीदारी की दरें, बेरोजगारी की दरें (प्रति 1,000) तथा श्रमिकों व बेरोजगारों की अनुमानित संख्याएं (सामान्य स्टेट्स, समायोजित के आधार पर)*

(5+ वर्ष के आयु-समूह के लिए)

	ग्रामीण		शहरी	
क्रूड श्रमिक साझेदारी की दरें **	पुरुष 512	महिलाएं 450	पुरुष 471	महिलाएं 191
अनुमानित संख्या (मिलियन में)	8 2	6 8	2 4	0 9
श्रम-शक्ति में बेरोजगारी की दर (प्रति हजार)	19	13	41	10
बेरोजगारों की अनुमानित संख्या (हजारों में)	161	91	104	9
श्रम-शक्ति में भागीदारी की दर **	522	455	491	193
श्रम-शक्ति की अनुमानित संख्या (मिलियन में)	8 3	6 9	2 5	1 0

* सामान्य स्टेट्स समायोजित में दीर्घकालीन बेरोजगार या वर्ष भर के बेरोजगार व्यक्ति आते हैं, और इनमें सहायक स्टेट्स वाले हटा दिये जाते हैं। मुख्य स्टेट्स में ज्यादा समय तक काम किया जाता है और सहायक में कम समय तक काम किया जाता है।

** **क्रूड श्रमिक साझेदारी दर** कुल जनसंख्या में काम में लगे व्यक्तियों का अनुपात बतलाती है, तथा श्रम-शक्ति में भागीदारी की दर कुल जनसंख्या में काम में

यदि उपर्युक्त तालिका में कोई भी एक या अधिक बात न दर्शायी जाय तो तालिका का सही उपयोग करना कठिन हो जायगा। मान लीजिए, इसके शीर्षक में सामान्य स्टेट्स (समायोजित) नहीं दिया जाता है तो पाठक यह नहीं जान पायेंगे कि यह साप्ताहिक स्टेट्स वाली बेरोजगारी है, अथवा चालू दैनिक स्टेट्स के आधार वाली बेरोजगारी है। इसी प्रकार 5+ वर्ष के आयु-समूह का अपना महत्त्व है। प्रायः यह 15+ वर्ष के आयु-समूह के लिए अथवा 15-59 वर्ष के लिए भी दी जाती है। हमने फुटनोट में श्रमिक साझेदारी दर तथा श्रम-शक्ति में भागीदारी की दरें भी स्पष्ट कर दी है जो अन्यथा स्पष्ट नहीं होती हैं। अतः पूरे विवरण देने से ही तालिकाओं को अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है।

कुछ महत्त्वपूर्ण किस्म के रेखाचित्र (ग्राफ व चार्ट)

1. बार-चार्ट (दण्ड-रेखाचित्र) – सबसे सरल किस्म का ग्राफ बार-चार्ट होता है। इस पर एक चलराशि दिखाने पर यह सरल (simple) बार चार्ट होता है और एक से अधिक चलराशि दिखाने पर यह बहुगुणा (Multiple) बार-चार्ट होता है।

एक सरल बार-चार्ट बनाने के लिए हम निम्न तालिका का प्रयोग करते हैं

तालिका – 1

भारत में थोक मूल्यों के आधार पर
(वार्षिक मुद्रा स्फीति की दरें) (% में)

1985 86	4 8
1986-87	5 1
1987 88	10 7
1988 89	5 7
1989 90	9 1
1990-91	12 1

लगे व्यक्तियों व बेरोजगार व्यक्तियों के अनुपात को बतलाती है। श्रम-शक्ति में काम में लगे व्यक्ति व बेरोजगार व्यक्ति दोनों शामिल होते हैं।

इन आंकडों का बार-चार्ट नीचे दर्शाया जाता है —
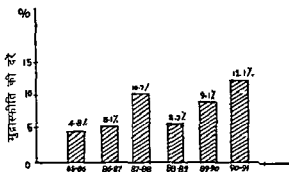
चित्र 1

स्पष्टीकरण — चित्र 1 में हमने भारत में 1985-86 से 1990-91 की अवधि के लिए वार्षिक मुद्रास्फीति की दरें दिखलायी हैं। क्षैतिज अक्ष पर वर्ष लिये गये हैं और लम्बवत् अक्ष पर मुद्रास्फीति की दरें। क्षैतिज अक्ष पर हम थोडी दूरी छोड कर लम्बवत् अक्ष पर 1985 - 86 के लिए 4.8% का एक बार बनाते हैं, फिर कुछ दूरी छोड कर 1986-87 के लिए 5.1% का दूसरा बार बनाते हैं और यही क्रम अन्य वर्षों के लिए दोहराया जाता है। इस प्रकार कुल छः बार बनाये जाते है जो छः वर्षों के लिए मुद्रास्फीति की वार्षिक दरों को प्रगट करते है। प्रत्येक बार के ऊपर मुद्रास्फीति की दर दिखाने से स्थिति ज्यादा स्पष्ट होती है, लेकिन इनका दिखाया जाना आवश्यक नहीं होता।

प्रत्येक बार की क्षैतिज दूरी सुविधानुसार ली जाती है, लेकिन वह प्रत्येक वर्ष के लिए समान रखनी होती है। लम्बवत् अक्ष का पैमाना ठीक से लिया जाना चाहिए। मान लीजिए उस पर मूल्य 110 से 130 के बीच ही दिखाये जाने हैं, तो मिथ्या या कृत्रिम आधार-रेखा (false base line) का प्रयोग करना होगा। हम लम्बवत् दूरी पर 100 से प्रारम्भ कर सकते है और उस पर 110,120,130 दूरियाँ अंकित करके बार खडे कर सकते है। इसके लिए आधार-रेखा व लम्बवत् रेखा पर *आवश्यक निशान लगाना पडता है यदि एक से अधिक चलराशि दिखानी हो तो* प्रत्येक वर्ष के लिए साथ-साथ दो या अधिक बार खडे किये जा सकते है जिससे बहुविध बार चार्ट बनते है।

2 **समय-शृंखला को वक्र द्वारा दर्शाना** (Plotting time series curve —

विभिन्न वर्षों के लिए राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय (प्रचलित व स्थिर मूल्यों पर), *आयात व निर्यात, मुद्रा की पूर्ति (M_1 व M_3) आदि चलराशियों को वक्र* द्वारा दर्शाया जा सकता है। यह भी अर्थशास्त्र में काफी लोकप्रिय है।

नीचे भारत की प्रतिव्यक्ति आय (प्रचलित भावों व 1980-81 के भावों पर) *तालिका में दी गई है जिसे आगे चित्र द्वारा दर्शाया गया है। इसे कालिक रेखाचित्र* (Histogram) कहा जाता है।

तालिका-2

भारत की प्रतिव्यक्ति आय (प्रचलित भावों व 1980-81 के भावों पर)
(1983-84 से 1989-90 तक)

वर्ष	प्रचलित भावों पर (रुपयों में)	1980-81 के भावों पर (रुपयों में)
1983-84	2300	1787
1984-85	2504	1811
1985-86	2726	1842
1986-87	2954	1866
1987-88	3286	1903
1988-89	3875	2078
1989-90	4252	2142

(स्रोत Economic Survey,1990-91)

निम्न चित्र में प्रति व्यक्ति आय विभिन्न वर्षों के लिए दिखायी गयी है —
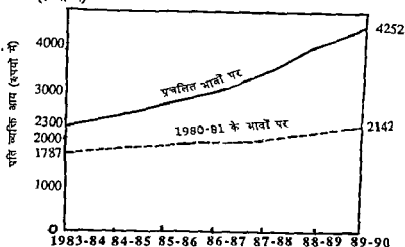
चित्र 2

संकेत —
प्रति व्यक्ति आय
प्रचलित भावों पर ——————
1980-81 के भावों पर — — — — —

स्पष्टीकरण — चित्र 2 में लम्बवत् दूरी पर प्रति व्यक्ति आय (प्रचलित भावों पर व 1980-81 के भावों पर) मापी गयी है। लम्बवत् अक्ष पर विभिन्न आय की मात्राएं अंकित की गयी हैं। आंकड़ों को अंकित करके उनको मिलाने पर दो वक्र प्राप्त होते

है। ऊपर का वक्र प्रति व्यक्ति आय (प्रचलित भावों पर) दर्शाता है। तथा नीचे का वक्र प्रति व्यक्ति आय (1980-81 के भावों पर) दर्शाता है। लम्बवत् पैमाने को और बढ़ा लेने पर विभिन्न वर्षों के लिए प्रति व्यक्ति आय को अधिक स्पष्ट रूप में दर्शाया जा सकता है। लेकिन यहाँ वक्र का एक उद्देश्य दिशा को सूचित करना भी होता है जो चित्र से प्रगट हो जाती है। स्थिर मूल्यों पर प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि प्रचलित मूल्यों पर प्रति व्यक्ति आय की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक धीमी गति से हो रही है।

उपर्युक्त चित्र में प्रति व्यक्ति आय के निरपेक्ष या वास्तविक मूल्य अंकित किये गये हैं, इसलिए इसे निरपेक्ष कालिक चित्र (absolute historigram) कहते हैं। इसमें भी आवश्यकतानुसार कृत्रिम आधार-रेखा का प्रयोग किया जा सकता है ताकि मूल्यों का अंतराल (gap) भलीभाँति प्रगट हो सके।

3 **अर्द्ध-लॉग या अनुपात चार्ट** (Semi-Logarithmic or Ratio Chart) — हमने ऊपर के दोनों चित्रों में लम्बवत्-अक्ष पर अंक गणितीय पैमाने (arithmetic scale) का उपयोग किया है जिसमें समान दूरियाँ समान मात्रा को सूचित करती है, जैसे चित्र 2 में 1000 से 2000 के बीच की दूरी उतनी ही है जितनी 2000 से 3000, अथवा 3000 से 4000 के बीच की है। ऐसी स्थिति में यदि प्रति वर्ष समान मात्रा में परिवर्तन होता है तो ग्राफ पर वह एक सरल रेखा के रूप में दिखाई देगा।

लेकिन कभी भी हम यह दर्शाना चाहते है कि चलराशि में बढ़ने की दर या घटने की दर क्या है। जैसे, मान लीजिए, हम भारत व चीन की जनसंख्याओं की वृद्धि-दरों की तुलना करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में लम्बवत् पैमाने पर चलराशि का निरपेक्ष या वास्तविक मूल्य न लेकर उसका लॉग (*logarithm*) अंकित किया जायगा। जैसे Y_1, Y_2 व Y_3 की जगह $\log Y_1, \log Y_2$ व $\log Y_3$ अंकित किया जायगा। अत $\log Y_1$ व $\log Y_2$ के बीच की दूरी $\log Y_2 - \log Y_1$ होगी, जिसे $\log \frac{Y_2}{Y_1}$ के द्वारा सूचित किया जायगा। इसी प्रकार $\log 3$ व $\log 2$ के बीच की दूरी $log\, 3 - log\, 2 = log \frac{3}{2}$ *होगी (लॉग के नियम के अनुसार)*

इस प्रकार $\log \frac{Y_2}{Y_1} = \log \frac{Y_3}{Y_2}$; अर्थात् $\frac{Y_2}{Y_1} = \frac{Y_3}{Y_2}$ होगी, इसका अर्थ यह है कि लम्बवत् अक्ष पर समान दूरियाँ समान आनुपातिक दरों या समान प्रतिशत परिवर्तनों को सूचित करेगी। अत क्षैतिज अक्ष पर समय को सूचित किया जाता है, और लम्बवत् अक्ष पर चलराशि का लॉग अंकित करने पर वह अर्द्ध-लॉग या अनुपात-चार्ट कहलाता है। इसे अर्द्ध-लॉग इसलिए कहते हैं कि क्षैतिज अक्ष पर अंकगणितीय पैमाना होता है और लम्बवत् अक्ष पर लॉग अंकित किये जाते हैं।

निम्न दृष्टान्त में हम लम्बवत् अक्ष पर निरपेक्ष मूल्य व लॉग-मूल्य अंकित करने का अंतर स्पष्ट करते हैं

समय	चलराशि का निरपेक्ष मूल्य (Y)	चलराशि का लॉग-मूल्य (log Y)
1	100	2 0000
2	110	2 0414
3	121	2 0828
4	133 1	2 1242
5	146 41	2 1656

यहाँ Y चलराशि में प्रत्येक अवधि मे 10% की दर से वृद्धि हो रही है।* इसके लॉग-मूल्यों को लम्बवत् अक्ष पर अंकित करने से एक सरल रेखा बनेगी जबकि केवल Y मूल्यों को अंकित करने पर एक वक्र बनेगा। नीचे के दो चित्रों में ये दोनों स्थितियाँ दर्शायी गयी हैं —
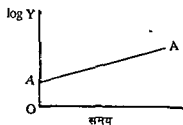
चित्र 3 चित्र 4

स्पष्टीकरण — चित्र 3 में लम्बवत् अक्ष पर log Y की मात्राएं अंकित की गयी हैं जो प्रत्येक अवधि में लॉग में 0 0414 मात्रा से बढ़ती हैं। इसलिए इससे एक सरल रेखा AA बनती है। चित्र 4 में लम्बवत् अक्ष पर केवल Y की मात्राएं अंकित की गयी हैं। इनसे एक ऊपर की ओर जाने वाला वक्र BB[1] बनता है, क्योंकि परिवर्तन की मात्राएं 10, 11, 12 1 तथा 13 31 निरपेक्ष रूप में बढ़ती जा रही हैं।

अत जब हमें लम्बवत् अक्ष पर सापेक्ष परिवर्तन या प्रतिशत परिवर्तन दिखाने हों तो उस पर चलराशि के लॉग अंकित करने होंगे।

---

* 100 से 110 तक जाने पर परिवर्तन की दर 10% है, तथा 110 से 121 पर जाने से भी परिवर्तन की दर $\frac{11}{110} \times 100 = 10\%$ ही रहती है।

4 वृत्त चित्र (Pie Chart) —आजकल अर्थशास्त्र में विभिन्न विषयों की चर्चा में पाई चार्ट का उपयोग बहुत लोकप्रिय हो गया है। इसे निम्न उदाहरण की सहायता से समझाया गया है। इसमें एक वृत्त (circle) खींच कर कुल 360° को विभिन्न मदों के प्रतिशतों के अनुपात में विभाजित करके चित्र में दर्शाया जाता है।

नीचे भारत की सातवीं पचवर्षीय योजना (1985 90) के लिए सार्वजनिक परिव्यय का विभिन्न मदों पर प्रस्तावित आवंटन दर्शाया गया है। इसे पाई चित्र की सहायता से व्यक्त करें —

विकास का शीर्षक (1)	(करोड रु) (2)	प्रतिशत (3)	कोण में परिवर्तन (डिग्रियों में) (4)		कोण (लगभग)
I कृषि ग्रामीण विकास व विशिष्ट क्षेत्रीय कार्यक्रम	22 793	12 7	457	=	46
II सिंचाई व बाढ़ नियंत्रण	16 979	9 4	33.8	=	34
III ऊर्जा	54 821	30 4	109 4	=	109
IV उद्योग व खनन	22 461	12 5	45 0	=	45
V परिवहन	22 971	12 8	46.1	=	46
VI सामाजिक सेवाएं	29 350	16 3	58.7	=	59
VII अन्य	10 625	5 9	21.3	=	21
कुल योग	1 80 000	100 0	360°	=	360°
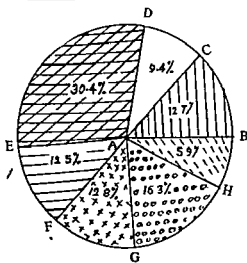
चित्र 5

स्पष्टीकरण — विभिन्न शीर्षकों के मूल्यों को हम सर्वप्रथम प्रतिशतों में बदल लेते हैं। इसके लिए एक मद के अन्तर्गत मूल्य का कुल से प्रतिशत निकाला जाता है, जैसे ऊपर मद संख्या I के लिए यह 12.7% आता है, चूँकि यह $\left(\frac{22793}{180000}\times100\right)$ के बराबर है। इसी प्रकार अन्य मदों के प्रतिशत निकाले जाते हैं।

चूँकि हम इन मूल्यों को एक वृत्त के खण्डों के रूप में दिखायेंगे, इसलिए कुल 360° को विभिन्न मदों पर विभाजित करना होगा। इसका एक सरल उपाय यह है कि विभिन्न प्रतिशतों को क्रमश 3.6 से गुणा कर दिया जाय। उससे कॉलम (4) प्राप्त हो जायगा जिसका उपयोग पाई-चित्र बनाने में किया जायगा।

पाइ-चित्र बनाने की विधि — हम पहले अंदाज से एक वृत्त खींच लेते हैं। फिर उसके केन्द्र A से एक रेखा AB लेते हैं। इस पर 46° पर AC खींचते हैं, फिर AC को आधार मान कर 34° पर AD खींचते हैं, फिर AD को आधार लेकर 109° पर AE खींचते हैं। तत्पश्चात् इसी तरह अन्य कोणों पर रेखाएं बना कर चार्ट पूरा करते हैं।

उपर्युक्त चित्र के संकेत इस प्रकार हैं

1. कृषि, ग्रामीण विकास व विशिष्ट क्षेत्रीय कार्यक्रम
2. सिंचाई व बाढ़-नियंत्रण
3. ऊर्जा
4. उद्योग व खनन
5. परिवहन
6. सामाजिक सेवाएं
7. अन्य

जैसा कि ऊपर संकेत दिया गया था, आजकल पाई-चित्रों का उपयोग बहुत बढ़ गया है। भारत के आयात-निर्यात किसी भी वर्ष के लिए मदवार व देशों के अनुसार पाई-चित्रों द्वारा व्यक्त किये जा सकते हैं। प्रति वर्ष आर्थिक सर्वेक्षण में कई पाई-चित्र दिये जाते है। उपर्युक्त विवरण के आधार पर उनको समझना सुगम हो जायगा।

कई बार ऐसा प्रतीत होता है कि जब प्रतिशत अलग से दिखाये जाते है तो वृत्त बनाकर उसका खण्ड बनाने से कोई विशेष लाभ नहीं होता। अत कभी-कभी पाई-चार्ट अनावश्यक से लगते हैं, फिर भी चित्र रूप में इसकी खूबसूरती से इन्कार नहीं किया जा सकता।

अब हम आवृत्ति वितरण (frequency distribution) का विवेचन करेंगे और इससे जुड़े रेखाचित्रों का भी विवरण प्रस्तुत करेंगे। वे भी आर्थिक विश्लेषण में बहुत ज्यादा प्रयुक्त किये जाते हैं।

आवृत्ति-तालिका का निर्माण
(Construction of A Frequency Table)

सांख्यिकी में आवृत्ति-वंटन या वितरण का विषय बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि प्राय इसके बाद ही आंकड़ों का विश्लेषण प्रारम्भ हो पाता है।

आवृत्ति-वितरण में दो कॉलम होते हैं, पहले कॉलम में चलराशि के विभिन्न भिन्न (different values of the variable) दर्शाये जाते हैं और दूसरे कॉलम में उनसे सम्बन्धित आवृत्तियाँ दर्शायी जाती हैं।

मान लीजिए, एक कक्ष में 10 विद्यार्थियों को किसी टेस्ट में 10 अंकों में से निम्न अंक प्राप्त हुए — 0, 4, 4, 4, 8, 8, 9, 9, 9, 10

तो इनकी आवृत्ति-तालिका इस प्रकार होगी

अंक	आवृत्तियाँ (frequencies)
0	1
4	3
8	2
9	3
10	1
कुल	10

तालिका में यह सूचना स्पष्ट रूप में प्रस्तुत की गयी है। इसे इस प्रकार पढ़ा जायगा 4 अंक प्राप्त करने वाले विद्यार्थी 3 हैं, इसी प्रकार 8 अंक प्राप्त करने वाले विद्यार्थी 2 हैं, 9 अंक प्राप्त करने वाले 3 हैं, आदि।

आगे बढ़ने से पूर्व हमें दो प्रकार की चलराशियों में अंतर करना होगा, प्रथम,

खण्डित चलराशि (discrete variable) —इसमें चलराशि निश्चित मूल्य ही ले सकती है, जैसे परिवार में बच्चों की संख्या 1, 2, 3, आदि, एवं मकान में कमरों की संख्या 1, 2, 3, आदि। यहाँ 1 से 2 के बीच में कोई मूल्य नहीं होता।

द्वितीय, **अखण्डित या संतत चलराशि** (continuous variable) — इसमें चलराशि कई मूल्य ले सकती है, आयु, आमदनी आदि संतत चलराशि के उदाहरण हैं। आमदनी छोटे अंशों में भी प्रगट की जा सकती है, इसलिए यह संतत चलराशि मानी जाती है।

स्मरण रहे कि एक खण्डित चलराशि को भी संतत आवृत्ति-वितरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसे 100 मकानों में कमरों की संख्या के अनुसार अध्ययन में निम्न प्रकार की तालिका दी जा सकती है —

कमरों की संख्या	मकान
1-2	25
3-4	50
5-6	15
7-8	10
कुल	100

इसमें प्रत्येक वर्ग में जो सीमाएं दी गयी हैं उनके अनुसार गणना में निचली सीमा व ऊपरी सीमा दोनों शामिल हैं, जैसे प्रथम वर्ग-समूह में वे मकान

गिने गये है जिनमें 1 या 2 कमरे है, इसी प्रकार दूसरे वर्ग-समूह में वे मकान गिने गये है जिनमे 3 या 4 कमरे है, आदि।

आवृत्ति-वितरण के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातें —

1. कितने वर्ग-समूह बनाये जाएं — इस सम्बन्ध में कोई कठोर नियम नहीं बनाया जा सकता, फिर भी यह कहा जा सकता है कि वर्गों (classes) की संख्या न तो बहुत ज्यादा हो और न बहुत कम हो। बहुत ज्यादा संख्या होने से परिणाम निकालने में कठिनाई हो जायगी, और बहुत कम संख्या होने से परिणाम कम निश्चित हो जायेंगे। इसलिए व्यवहार में 6 से 15 वर्ग उचित माने जाते हैं।

2. वर्गान्तर कितना रखा जाय? (Size of the class interval) — वर्ग की ऊपरी सीमा व निचली सीमा का अन्तर वर्गान्तर कहलाता है। प्राय सभी वर्गों में वर्गान्तर समान रखना वांछनीय होता है, लेकिन आवश्यकता पडने पर वर्गान्तर असमान भी रखा जाता है।

मान लीजिए अधिकाश मूल्य 10, 15, 20 आदि के पास केन्द्रित हैं, तो वर्गों की सीमाएं व वर्गान्तर इस प्रकार रखा जाना चाहिए कि वर्गों के मध्य-बिन्दु 10, 15, 20 आदि आ सकें। इसके लिए 7 5 - 12.5, 12.5 - 17.5, आदि वर्ग बनाना उचित रहेगा ताकि इनके मध्य-बिन्दु क्रमश 10, 15 उपयोगी सिद्ध हो सकें।

यह ध्यान रहे कि प्रत्येक वर्ग का मध्य-बिन्दु उसका प्रतिनिधि मूल्य होता है जो आगे की गणना में काम में लिया जाता है। इसलिए वर्गान्तर व वर्ग की सीमाएं काफी सावधानी से चुननी चाहिएँ। वर्गान्तर का चुनाव करने के लिए स्टर्जेज का नियम (Sturge's rule) प्रयुक्त किया जाता है जो इस प्रकार होता है ·

$$\text{वर्गान्तर} = \frac{\text{सर्वोच्च मूल्य} - \text{न्यूनतम मूल्य}}{1 + 3.322 \log N},$$ यहाँ N कुल इकाइयों (observations) का सूचक होता है। मान लीजिए सर्वोच्च मूल्य = 170, व न्यूनतम मूल्य 30 है और N = 50 है, तो $\text{वर्गान्तर} = \frac{170 - 30}{1 + 3.322 \log 50} = \frac{140}{1 + 3.322\,(1\,699)} = \frac{140}{6\,04} = 21,$ सुविधा के लिए 20 ले सकते हैं।

3. वर्ग की सीमाओं के बारे में स्पष्टीकरण .—

(i) ऊपरी सीमा को छोड़ते हुए (exclusive type) —

जैसे 0 – 10

10 – 20

20 – 30 में प्रथम वर्ग में निचली सीमा o शामिल है, लेकिन 10 शामिल नहीं है। 10 मूल्य द्वितीय वर्ग-समूह 10-20 में जायगा जहां 20 शामिल नहीं है।

(ii) दोनों सीमाओं को शामिल करते हुए (inclusive type):—

जैसे 0–9

10–19

20–29 में प्रथम वर्ग में निचली सीमा 0 है और ऊपरी सीमा 9 है और द्वितीय वर्ग में 10 व 19 दोनों शामिल है, इत्यादि। लेकिन यदि सभी मूल्य पूर्णांकों में न होकर दशमलव के एक या दो स्थानों तक जाते है तो वर्ग-सीमाएं इस प्रकार होंगी

0–9.9, 10–19.9, 20–29.9

अथवा 0–9.99, 10–19.99, 20–29.99 इत्यादि।

(iii) खुले छोर के वर्ग (open end classes).—

जैसे 10 से नीचे

10 – 20

20 – 30

30 से ऊपर में प्रथम व अन्तिम वर्ग के छोर खुले है। सांख्यिकीय हिसाब लगाते समय इनके लिए मध्य-बिन्दु लेने के लिए कोई मान्यता स्वीकार करनी होगी। व्यवहार में खुले वर्ग-समूह का वर्गान्तर उसके समीप के वर्ग के बराबर लेकर सांख्यिकीय गणनाएं कर ली जाती है, हालांकि इसके लिए आवश्यकतानुसार और मान्यताएं भी ली जा सकती हैं जिनको स्पष्टतया बतला देना चाहिए।

(iv) पूर्णतया स्पष्ट वर्ग-सीमाएं :—

0 तथा 10 से कम

10 तथा 20 से कम

20 तथा 30 से कम में सर्वाधिक स्पष्टता है। इसमें 20 का मूल्य तीसरे वर्ग में रखा जायगा, और 19.9 द्वितीय वर्ग में आयेगा।

4. आवृत्ति-घनत्व (frequency density) —जब विभिन्न वर्गों में अंतर असमान हो तो गणना के लिए आवृत्ति-घनत्व निकाला जा सकता है। इसके लिए प्रत्येक वर्ग की आवृत्ति में वर्गान्तर का भाग देकर प्रति इकाई वर्गान्तर पर आवृत्ति ज्ञात की जाती है। जैसे,

मूल्य	आवृत्ति	आवृत्ति-घनत्व
0 - 5	10	$\frac{10}{5} = 2$
5 - 15	30	$\frac{30}{10} = 3$
15 - 30	15	$\frac{15}{15} = 1$

अत आवृत्ति-घनत्व क्रमश 2, 3, व 1 होगा।

हम आगे इसका उपयोग असमान वर्गान्तर की दशाओं में आवृत्ति-वक्र बनाने में करेंगे।

5. सापेक्ष आवृत्ति (relative frequency) —कई बार साधारण आवृत्तियों को सापेक्ष आवृत्तियों में बदलने की आवश्यकता होती है। इसमें प्रत्येक वर्ग की आवत्तियों को प्रतिशतों में परिवर्तित कर लिया जाता है। यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा —

मूल्य	साधारण आवृत्तियाँ	सापेक्ष आवृत्तियाँ (प्रतिशत में आवृत्तियाँ) (%)
0–10	10	20
10–30	20	40
30–60	15	30
60–100	5	10
कुल	50	100

इस तालिका में वर्गान्तर असमान है। सापेक्ष आवृत्तियों को प्रतिशत रूप में दर्शाया जाता है जो अन्तिम कॉलम में दर्शायी गयी है। इससे स्पष्ट होता है कि 20% आवृत्तियां 0-10 वर्ग में है, 40% आवृत्तियाँ 10-30 वर्ग में है, आदि, आदि।

अब हम आवृत्तियों से सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्न हल कर सकते है जैसे एक चलराशि के विभिन्न दिये हुए मूल्यों के आधार पर एक आवृत्ति-तालिका की रचना करना, एवं आवृत्तियों के आधार पर विभिन्न प्रकार के रेखा चित्र बनाना, जैसे आवृत्ति चित्र (histogram), आवृत्ति-बहुभुज (frequency polygon), आवृत्ति-वक्र (frequency curve), संचयी आवृत्ति वक्र (cumulative frequency curve) या ओजाइव (Ogive) लॉरेन्ज वक्र (Lorenz curve) व असमान वर्गान्तरों की दशा में आवृत्ति वक्र बनाना, आदि। इनका नीचे क्रमश विवेचन किया जाता है।

(i) दिये हुए आंकड़ों के आधार पर आवृत्ति-तालिका का निर्माण करना—

50 विद्यार्थियों को एक परीक्षा में 200 अंकों में से निम्न अंक प्राप्त हुए। इनको आवृत्ति-तालिका में दिखाइए —

100	165	151	147	145	98	154	118	104	168
155	123	185	141	61	84	77	32	20	52
120	146	157	114	154	136	106	139	94	131
93	194	152	139	69	103	59	111	83	133
130	134	135	174	187	77	30	112	193	138

हल — स्टर्जेज के नियम के अनुसार

$$\text{वर्गान्तर का आकार } \frac{\text{सर्वोच्च मूल्य} - \text{न्यूनतम मूल्य}}{1 + 3.322 \log N}$$

$$= \frac{194 - 20}{1 + 3\ 322\ (1.6990)} = \frac{174}{1 + 5.64}$$

$$= \frac{174}{6\ 64} = 26$$

(सुविधा के लिए 25 वर्गान्तर लेना उचित होगा)

नीचे विभिन्न वर्गों में इनको टैली-बार्स (Tally Bars) के अनुसार रख कर आवृत्ति तालिका बनायी गयी है —

विभिन्न वर्ग (अंक)	टैली - बार्स (tally bars)	आवृत्ति (विद्यार्थियों की संख्या
20-45	III	3
45-70	IIII	4
70-95	~~IIII~~ I	6
95-120	~~IIII~~ IIII	9
120-145	~~IIII~~ ~~IIII~~ II	12
145-170	~~IIII~~ ~~IIII~~ I	11
170-195	~~IIII~~	5
	कुलयोग	50

उपर्युक्त तालिका में प्रथम वर्ग में 20 से लेकर 45 से नीचे तक के अंक आयेंगे। 45 अंक को द्वितीय वर्ग में दिखाया गया है। अतः प्रत्येक वर्ग में ऊपरी सीमा को छोड़ा गया है। प्रत्येक विद्यार्थी के अंक क्रमानुसार टैली-बार्स के कॉलम में एक-एक 'बार' से अंकित किये गये हैं। चार के बाद पाँचवाँ आने पर आड़ी रेखा से सूचित किया गया है। इस प्रकार 5-5 के सेट बनते जाते हैं। उनकी गिनती करके अन्तिम कॉलम में रख देते हैं, जिससे आवृत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यदि वर्गों को क्रमश 20 व 45 से कम 45 व 70 से कम, 70 व 95 से कम के रूप में दर्शाते तो और भी स्पष्ट रहता। उसमें अंकों को टैली-शीट पर भरने में किसी प्रकार की असुविधा नहीं रहती। स्मरण रहे कि हमने 120 अंक को 120-145 के वर्ग में दिखाया है। इसी प्रकार सभी वर्गों में ऊपरी सीमा को छोड़ा गया है।

(ii) आवृत्ति-चित्र (hostogram), आवृत्ति-बहुभुज व आवृत्ति-वक्र बनाना —

उपर्युक्त आवृत्ति-तालिका को चित्र पर नीचे दिखाया गया है —
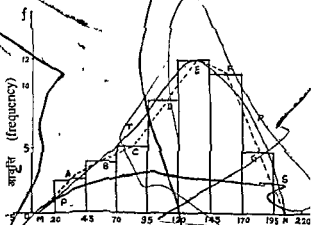
चित्र 6 हिस्टोग्राम (histogram), आवृत्ति-बहुभुज (frequency polygon) तथा आवृत्ति-वक्र (frequency curve)

स्पष्टीकरण – उपर्युक्त चित्र में एक साथ हिस्टोग्राम, आवृत्ति बहुभुज व आवृत्ति-वक्र बनाये गये हैं। हिस्टोग्राम चित्र में आयतों के रूप में दर्शाये गये हैं। क्षैतिज अक्ष पर अंक लिये गये हैं जिसके सात वर्गों के लिए सात आयत (rectangles) दर्शाये गये हैं। प्रत्येक आयत की ऊँचाई आवृत्ति को सूचित करती है, जैसे 20-45 वर्ग के आयत की ऊँचाई 3 इकाई है, आदि, आदि। अंत में 170-195 वर्ग के आयत की ऊँचाई 5 है। इस प्रकार हिस्टोग्राम में चित्र पर केवल आयत ही दिखाये जायेंगे। चूंकि वर्गान्तर समान है, इसलिए सभी आयतों की चौड़ाई समान रखी गयी है।

आवृत्ति-बहुभुज (frequency polygon) बनाने के लिए प्रत्येक आयत की ऊपरी क्षैतिज रेखा का मध्य-बिन्दु अंकित कर लेते हैं जैसे A, B, C, D, आदि। फिर क्षैतिज-अक्ष पर भी बहुभुज को बंद करने के लिए आगे पीछे के वर्ग मान कर उनके मध्य-बिन्दु अंकित कर लेते हैं। ये बिन्दु क्रमश M व N बनते हैं। इन सबको मिलाने से M A B C D E F G N आवृत्ति-बहुभुज (frequency polygon) बनता है। इसका कुल क्षेत्रफल हिस्टोग्राम के कुल क्षेत्रफल के बराबर होता है। ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि आवृत्ति-बहुभुज को बनाते समय हिस्टोग्राम का जो हिस्सा कटता है उतना ही हिस्सा इनमें जुडता जाता है।

इस प्रकार दोनों का क्षेत्रफल अंत में बराबर हो जाता है। आवृत्ति-वक्र बनाने के लिए बहुभुज पर एक सरल वक्र बनाया जाता है जो इसके काफी समीप चलता जाता है। हमने चित्र 6 में हिस्टोग्राम बना कर आवृत्ति-बहुभुज बनाया है, और अंत में हाथ से स्वतंत्र रूप से एक वक्र P T R S खींचा है। इससे पता चलता है कि पहले वक्र ऊपर जाता है, फिर अधिकतम बिन्दु पर पहुँच कर नीचे आता है।

(iii) संचयी आवृत्ति-वक्र या ओजाइव (cumulative frequency curve or ogive) – यह दो आधारों पर बनाया जाता है, एक तो 'से कम' (less than) आधार पर तथा दूसरा 'से अधिक' (more than) आधार पर।

50 विद्यार्थियों के अकों वाली पिछली तालिका को इन दोनों आधारों पर नीचे दर्शाया गया है –

'से कम' (less than) (1)	संचयी आवृत्ति (2)	'से ज्यादा (more than) (3)	संचयी आवृत्ति (4)
20	0	20	50
45	3	45	47
70	7	70	43
95	13	95	37
120	22	120	28
145	34	145	16
170	45	170	5
195	50	195	0

इनको निम्न चित्र पर दर्शाने से दो ओजाइव बनेंगे। ये नीचे दिखाये गये हैं —
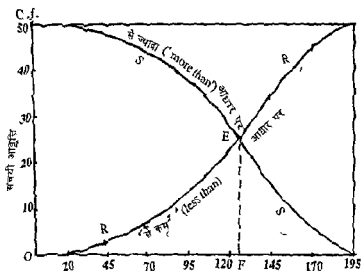
चित्र 7 संचयी आवृत्ति-वक्र-दो आधारों पर - 'से कम' व 'से अधिक'

स्पष्टीकरण — चित्र 7 में दो संचयी आवृत्ति वक्र खींचे गये हैं। ऊपर तालिका के कॉलम 1 व कॉलम 2 को अंकित करने से RR संचयी वक्र 'से कम' (less than) आधार वाला ओजाइव है और कॉलम 3 व कॉलम 4 को अंकित करने से 'से ज्यादा' (more than) आधार वाला SS ओजाइव बनता है। ये दोनों एक दूसरे को E बिन्दु पर काटते हैं जो मध्यका (median) का मूल्य निर्धारित करने में मदद देता है। चित्र में यह लगभग 126 आता है।

(iv) लॉरेंज वक्र (Lorenz curve) —

यह असमानता को जानने के लिए बनाया जाता है। इसमें दोनों अक्षों पर संचयी प्रतिशतों का उपयोग किया जाता है। यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा —

भारत में 1983 में परिवारों के प्रतिशत समूहों के अनुसार पारिवारिक आय का प्रतिशत अंश इस प्रकार रहा (विश्व विकास रिपोर्ट 1991 पृ 262 के अनुसार)

परिवारों के समूह	पारिवारिक आय के प्रतिशत अंश	परिवारों के संचयी प्रतिशत	आय के संचयी प्रतिशत अंश
(1)	(2)	(3)	(4)
न्यूनतम 20%	8 0	20	8 0
अगला 20%	12 3	40	20 3
अगला 20%	16 3	60	36 6
अगला 20%	22 0	80	58 6
सर्वोच्च 20%	41 4	100	100 0

तालिका में कॉलम (3) में परिवारों के क्रमश संचयी प्रतिशत दर्शाये गये हैं, तथा कॉलम (4) में आय के संचयी प्रतिशत अंश दर्शाये गये है। कॉलम (3) व कॉलम (4) को चित्र में अंकित करने से लॉरेन्ज वक्र बनेगा जो नीचे दिखाया गया है —
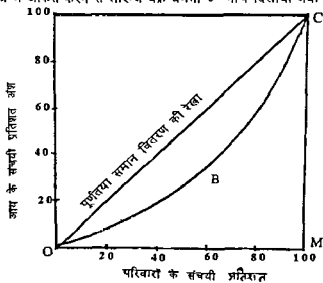
चित्र 8 लॉरेन्ज वक्र

स्पष्टीकरण — क्षैतिज अक्ष पर परिवारों के संचयी प्रतिशत तथा लम्बवत् अक्ष पर आय के संचयी प्रतिशत अंश मापे गये है। OC रेखा पूर्णतया समान वितरण की रेखा है, अर्थात् 20% परिवारों के पास 20% आय, 40% परिवारों के पास 40% आय, आदि। OMC पूर्णतया असमान वितरण को सूचित करती है, अर्थात् केवल 1 परिवार के पास सम्पूर्ण आमदनी है। तालिका में कॉलम (3) व (4) को चित्र पर अंकित करने से OBC वक्र बनता है जो लॉरेन्ज वक्र कहलाता है।

यह OC के समीप जायगा तो समानता बढ़ेगी, और यह जितना OMC की तरफ जायगा उतनी ही असमानता बढेगी।

दो देशों के लॉरेन्ज वक्र खींचकर उनके बीच असमानता की तुलना की जा सकती है। इसी प्रकार दो समयों में एक ही देश में लॉरेन्ज-वक्र खींचकर असमानता की दशाओं की तुलना की जा सकती है।

लॉरेन्ज वक्र का उपयोग भूमि के वितरण की असमानता को जानने के लिए भी किया जा सकता है। यह विचलन का महत्त्वपूर्ण माप माना गया है। क्षेत्रफल OBC में क्षेत्रफल OMC का भाग देने से असमानता का अंश आ जाता है। आगे उच्चतर अध्ययन में जिनी-अनुपात का उपयोग किया जाता है जो असमानता का महत्त्वपूर्ण माप होता है।

(v) असमान वर्गान्तरों में आवृत्ति-वक्र बनाने की विधि व अर्थ —

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है असमान वर्गान्तरों (unequal class-intervals) में आवृत्ति-वक्र बनाने के लिए लम्बवत् अक्ष पर आवृत्ति-घनत्व (frequency density) (वर्गान्तर की प्रति इकाई पर आवृत्ति) को अंकित किया जाता है, तथा क्षैतिज अक्ष पर मूल्य दूरियों के अनुसार अंकित किये जाते हैं। यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा —

मूल्य (वर्ग)	आवृत्ति	आवृत्ति-घनत्व (वर्गान्तर से भाग देने पर)
0-10	20	2
10-30	80	4
30 60	90	3
60-100	40	1
100 से अधिक	20	0

इन आंकडों के आधार पर नीचे आवृत्ति-वक्र बनाया गया है —
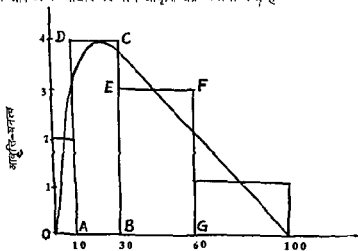
चित्र 9 असमान वर्गान्तरों की दशा में आवृत्ति-वक्र

स्पष्टीकरण — यहां भी क्षैतिज अक्ष पर मूल्यों को सूचित करने वाले वर्ग 0-10, 10-30, 30-60 आदि मापे गये है। स्मरण रहे कि यहाँ 30-60 की दूरी 10-30 की तुलना में ड्योढ़ी रहेगी। इसी प्रकार 60-100 के बीच की क्षैतिज दूरी 10-30 की तुलना मे दुगुनी रहेगी। यहाँ लम्बवत् अक्ष पर आवृत्ति-घनत्व (frequency density) मापा गया है न कि साधारण आवृत्तियाँ।

चित्र की मुख्य बात यह है कि यहाँ आयतों का क्षेत्रफल आवृत्ति का सूचक है जैसे आयत A B C D का क्षेत्रफल $20 \times 4 = 80$ है जो इसकी (वर्ग 10-30 तक के लिए) की साधारण आवृत्ति है। इसी प्रकार आयत BEFG का क्षेत्रफल $30 \times 3 = 90$ है जो वर्ग 30-60 की आवृति 90 के बराबर है। इस प्रकार असमान वर्गान्तर की स्थिति में आवृत्ति-वक्र बनाने के लिए आवृत्ति-घनत्व अंकित किये जाते हैं। उसके बाद आयतों के ऊपर की क्षैतिज रेखा के मध्य-बिन्दु में से एक स्वतंत्र रूप से वक्र खींचा जाता है जो इसका आवृत्ति वक्र कहलाता है। स्मरण रहे कि तालिका में अन्तिम वर्ग 100 से अधिक की आवृत्ति 20 दी हुई है, लेकिन इसका आवृत्ति-घनत्व 0 होगा, क्योंकि 100 से अधिक की ऊपरी सीमा नहीं बतायी गयी है। इसलिए यह $\frac{20}{\text{असीमित मात्रा}}$ है जो शून्य की ओर ले जाता है।

इस प्रकार हमने आवृत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न बातों का विवेचन किया है, और आवृत्तियों को दर्शाने वाला प्रमुख चित्रों का भी उल्लेख किया है। चूँकि आवृत्ति की जानकारी आगे के सांख्यिकीय अध्ययन में केन्द्रीय स्थान रखती है, इसलिए इसके विभिन्न पहलुओं पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है।

प्रतिचयन (सेम्पलिंग) का अर्थ व इसकी विभिन्न किस्में
(Meaning of Sampling & its Different Types)

आकडे एकत्र करने की दो विधियाँ होती हैं, एक तो संगणना विधि या पूर्ण गणना (census method or complete enumeration) जिसमें प्रत्येक इकाई के बारे में आवश्यक सूचना एकत्र की जाती है, जैसे प्रति दस वर्ष में एक बार भारत में जनगणना की जाती है (हाल में 1991 की जनगणना का कार्य सम्पन्न किया गया है), तथा दूसरी विधि प्रतिचयन या निदर्शन की होती है जिसमें कुल इकाइयों में से कुछ प्रतिनिधि इकाइयों को नमूने के बतौर चुन कर उनके बारे में आवश्यक सूचना एकत्र की जाती है। सेम्पल लेने के कई तरीके होते हैं जिनके गुण-दोषों पर आगे चल कर विचार किया जायगा। संगणना विधि में किसी विषय से सम्बन्धित सभी इकाइयों को शामिल किया जाता है। इसके निम्न गुण-दोष होते हैं —

गुण — (i) इसके **परिणाम अधिक सही व विश्वसनीय होते हैं** क्योंकि इसमें, प्रत्येक इकाई से सूचना एकत्र की जाती है।

(ii) इसके द्वारा **कई प्रकार की जानकारियाँ** प्राप्त की जा सकती है, जैसे जनगणना में आयु, वैवाहिक स्थिति, रोजगार, शिक्षा, आदि के बारे में पूछा जाता है।

(iii) आगे चलकर **संगणना की इकाइयाँ सेम्पल के लिए एक फ्रेम का काम करती हैं** अर्थात् संगणना की इकाइयों में से कुछ इकाइयों का सेम्पल आधार पर अध्ययन किया जा सकता है।

दोष —(i) इस विधि में **समय शक्ति व व्यय बहुत अधिक लगता है** इसलिए प्राय यह व्यक्तियों द्वारा अनुसंधान कार्य में प्रयुक्त नहीं की जाती। इसके लिए प्रगणक नियुक्त करने होते हैं जिन्हें आवश्यक प्रशिक्षण देना होता है। इन पर काफी व्यय करना होता है।

(ii) इसमें संगठनात्मक कठिनाइयाँ आती है अत इसे बडे व्यावसायिक संगठन या सरकार ही अपना सकते हैं।

(iii) इसमें परिणाम प्राप्त करने में समय लगता है अत यह शीघ्र परिणाम प्राप्त करने की स्थितियों में उपयुक्त नहीं रहती।

(iv) इसमें गैर प्रतिचयन त्रुटियों (Non sampling errors) जैसे गलत प्रविष्टियों जोड की गलतियों आदि की सम्भावना बढ जाती है और इकाइयों के ज्यादा होने से भी त्रुटियों के अधिक होने का अंदेशा रहता है।

भारत में फैक्ट्रियों के बारे में उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण (Annual Survey of Industries) के अन्तर्गत इसे दो क्षेत्रों में बाट कर सूचना एकत्र की जाती है एक तो संगणना क्षेत्र (census sector) होता है जिसमें 50 व अधिक श्रमिक व शक्ति का उपयोग तथा 100 व अधिक श्रमिक व शक्ति के उपयोग के बिना वाली इकाइयों की पूर्ण *गणना की जाती है। ये संगणना क्षेत्र की इकाइयाँ मानी जाती है।* दूसरा सेम्पल क्षेत्र होता है जिसमें शेष फैक्ट्रियाँ आती हैं। फैक्ट्री वह इकाई होती है जिसमें 10 या अधिक श्रमिक पावर सहित तथा 20 या अधिक श्रमिक बिना पावर की सहायता के कार्य करते है।

प्रतिचयन के गुण (Merits of Sampling)

प्रोफेसर आर ए फिशर ने प्रतिचयन के चार गुण बतलाये है

(i) अनुकूलन (adaptability)

(ii) गति (speed)

(iii) मितव्ययिता (economy)

(iv) शुद्धता का पूर्वनिर्धारण व जानकारी (predetermined and known level of precision)

इनका क्रमश नीचे स्पष्टीकरण दिया गया है।

(i) अनुकूलन— प्रतिचयन विधि को विभिन्न प्रकार के अध्ययनों में काम में लिया जा सकता है जिससे इसमें अनुकूलनता का गुण पाया जाता है। यह कृषि उद्योग राजनीति समाजशास्त्र व अन्य विषयों में अध्ययन के लिए सुगमतापूर्वक इस्तेमाल की जा सकती है।

(ii) गति — इसमें शीघ्रता का गुण है जिससे जल्दी परिणाम प्राप्त करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

---

1 Presidential address of the meeting of the International Statistical *Institute Berne September 1949*

(iii) मितव्ययिता — इसमें संगणना की तुलना में थोड़ी इकाइयों होने से व्यय कम आता है जिससे इसका व्यक्तिगत स्तर पर भी प्रयोग सम्भव है। अनेक अनुसंधानकर्ता आवश्यकतानुसार इसका उपयोग करते हैं।

(iv) शुद्धता की पूर्व जानकारी — आर. ए. फिशर ने प्रतिचयन की इस विशेषता की बहुत सराहना की है। उसका कहना है कि प्रतिचयन की विधि रैण्डम सेम्पलिंग की त्रुटियों के गणितीय सिद्धान्त पर आधारित है, इसलिए इसमें शुद्धता के अंश की पहले से जानकारी होती है। इस विधि के प्रयोगकर्ता को शुरू से ही यह पता होता है कि उसकी जाँच के परिणामों में कहाँ तक सत्यता व सुनिश्चितता होगा। यह बात सदैव उसकी आंखों के सामने रहती है। वह सेम्पल में इकाइयाँ बढ़ा कर शुद्धता का अंश बढ़ा सकता है। अत प्रतिचयन विधि कोई अनिश्चित व अशुद्ध विधि नहीं होती। इसका आधार ठोस व हर प्रकार से मजबूत माना गया है।

अन्य गुण —

(v) नाइजवैंगर (Neiswanger) का कहना है कि प्रतिचयन विधि में तीन गुण होते हैं, यथा, कुछ दशाओं में यही एक मात्र सम्भव विधि (the only possible method) होती है, जैसे उत्पादन की प्रक्रिया में अनंत इकाइयाँ सामने आती रहती है, उनकी जाँच सेम्पल-आधार पर ही हो सकती है, सभी इकाइयों की जाँच असम्भव होती है और कभी-कभी जब उत्पादित इकाइयों को तोड़ कर देखना पड़े तो सेम्पल-विधि के अलावा दूसरा चारा नहीं होता। दूसरा गुण यह है कि कुछ दशाओं में **यही एक मात्र व्यावहारिक विधि** (The only practical method) होती है, जैसे भारत में ग्रामीण बचतों का अध्ययन करना हो तो करोड़ों परिवारों तक पहुँचना कठिन होने से सेम्पल लेना ही व्यावहारिक होता है। तीसरा गुण यह है कि यह **सबसे ज्यादा कार्यकुशल विधि** (The most efficient method) होती है क्योंकि इसमें कम व्यय व पूर्वनिर्धारित विश्वसनीयता व शुद्धता के गुण पाये जाते हैं।

(vi) गहन अध्ययन के लिए उपयुक्त —**सेम्पल-विधि के द्वारा किसी विषय का अधिक गहन अध्ययन किया जा सकता है** जो संगणना विधि के द्वारा सम्भव नहीं होता। जैसे परिवार-नियोजन सम्बन्धी अध्ययन में धर्म, जाति, आयु साक्षरता, शिक्षा के स्तर, व्यवसाय वर्तमान, आयु, शादी के समय की आयु, जन्में बच्चों की संख्या, बच्चों के बीच अंतराल (spacing) आदि, आदि सवालों के उत्तर जाने जा सकते हैं, जिन्हें संगणना-आधार पर जानना कठिन होता है। इन्हीं विविध गुणों के कारण आज प्रतिचयन विधि बहुत लोकप्रिय है।

अवगुण या कमियाँ — प्रतिचयन-विधि का प्रयोग असावधानी से करने पर कई प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती है। इसकी मुख्य कमियाँ निम्नांकित है —

(i) यदि सेम्पल मूल इकाइयों का सही प्रतिनिधित्व नहीं करता तो परिणाम दोषपूर्ण होंगे।

(ii) इसमें गैर प्रतिचयन त्रुटियाँ तो कम होती है (जो संगणना में अधिक होती है) लेकिन इसमें प्रतिचयन की त्रुटियाँ (sampling errors) हो सकती है जिससे शुद्धता पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है।

(iii) इसके लिए विशेष ज्ञान व विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है जो अनुभवी व्यक्तियों में ही पाया जाता है।
(iv) यदि कुल इकाइयाँ बहुत ज्यादा न हों, तथा समय व व्यय का बंधन न हो और प्रत्येक इकाई का ज्यादा गहन अध्ययन नहीं करना हो तो संगणना या सम्पूर्ण गणना विधि अधिक उपयुक्त जान पड़ती है।

इस प्रकार प्रत्येक विधि के अपने गुण-दोष होते हैं। कुछ दशाओं में संगणना-विधि उपयुक्त रहती है और कुछ में सेम्पल-विधि।

प्रतिचयन या सेम्पलिंग के भेद

1. रेण्डम सेम्पलिंग विधियाँ

(अ) *सरल रेण्डम सेम्पलिंग या निर्बाध (unrestricted) रेण्डम सेम्पलिंग,*

(आ) **सीमित रेण्डम सेम्पलिंग** (restricted random sampling)

(i) स्तरित सेम्पलिंग (stratified sampling)

(ii) व्यवस्थित सेम्पलिंग (systematic sampling)

(iii) *बहु-स्तरीय सेम्पलिंग (multi-stage sampling)*

इसके अन्तर्गत दो स्तर (two-stage) या दो से अधिक स्तर लिये जा सकते है।

2. गैर-रेण्डम सेम्पलिंग विधियाँ

(i) निर्णय या उद्देश्य आधारित सेम्पलिंग (judgement sampling),

(ii) अभ्यंश (quota) सेम्पलिंग

(iii) सुविधा पर आधारित (convenience) सेम्पलिंग,

(iv) समूह (cluster) सेम्पलिंग,

(v) *क्रमबद्ध (sequential) सेम्पलिंग - इसके अन्तर्गत दोहरी सेम्पलिंग* -(double sampling), बहु-क्रमबद्ध सेम्पलिंग (multiple Sequential Sampling) तथा एक-एक मदवार क्रमबद्ध सेम्पलिंग (item-by-item sequential sampling) शामिल होते है।

इनका नीचे संक्षिप्त व सरल परिचय दिया जाता है

1. रेण्डम सेम्पलिंग विधियाँ (यादृच्छिक या दैव प्रतिचयन) :—

(अ) सरल रेण्डम सेम्पलिंग :—प्रतिचयन को उस स्थिति में रेण्डम कहा जाता है जब प्रत्येक सम्भव सेम्पल (मदों के एक समूह) के चुने जाने की समान *सम्भावना पायी जाती है।* एक सेम्पल कुछ मदों से बनता है। अतः यह कहना पर्याप्त नहीं है कि प्रत्येक सम्भव मद के चुने जाने की समान सम्भावना पायी जाती है।[1]

1. Croxton, Cowden and Bolch, Practical Business Statistics, Fourth Edition, 1969, p. 116

मान लीजिए, हमें निम्न छः मदों में से तीन-तीन के सेम्पल चुनने है तो बताइए कितने सेम्पल बनेंगे और टिपेट संख्याओं के आधार पर सेम्पल चुन कर बताएं।

प्रश्न क्रम	इकाई
1	A
2	B
3	C
4	D
5	E
6	F

रेण्डम संख्याओं की तालिका का एक अंश नीचे दिया जाता है —

4	1	9	2	0
9	6	9	7	4
2	0	0	7	9
4	5	8	4	7
3	8	4	0	1

हल — छः मदों में से तीन-तीन के सेम्पल $6_{c_3}=\frac{6\times5\times4}{3\times2\times1}=20$ बनेंगे।

ऊपर रेण्डम अंकों की तालिका को प्रथम पंक्तिवार पढ़ने पर एक सेम्पल 4 1 2 का बनता है, अर्थात् DAB का बनता है। इसी प्रकार इसे प्रथम कॉलम वार पढ़ने पर, तथा एक अंक दोबारा न लेने पर, दूसरा सेम्पल 423 का बनता है, अर्थात् DBC का बनता है।

हमने ऊपर सरल या निर्बाध या अप्रतिबन्धित रेण्डम सेम्पलिंग का उदाहरण लिया है जिसमें प्रत्येक सेम्पल के चुने जाने की सम्भावना होती है। इसमें इकाइयाँ समरूप किस्म की मानी जाती हैं, जैसे पुरुष अथवा स्त्रियाँ, कॉलेज के विद्यार्थी, आदि।

यहाँ सेम्पल चुनने के लिए निम्न विधियों में से कोई भी विधि अपनायी जा सकती है —

(i) पर्चियाँ निकाल कर प्रत्येक इकाई को एक अंक दिया जाता है और लॉटरी विधि से पर्ची निकाल कर सेम्पल बनाया जा सकता है।

(ii) ढोल घुमा कर सेम्पल बनाया जा सकता है जहाँ निशान ठहरता है।

(iii) रेण्डम संख्याओं की तालिका का उपयोग करके (जैसा कि ऊपर दिखाया गया है) सेम्पल बनाया जा सकता है। इस तालिका का उपयोग किसी भी दिशा से व कहीं से भी प्रारम्भ किया जा सकता है।

(आ) सीमित रेण्डम सेम्पलिंग— इसमें कुछ कारणों से सेम्पलों की संख्या सीमित कर दी जाती है। ऐसा इसलिये किया जाता है कि जिस क्षेत्र का अध्ययन किया जाता है उसकी सभी इकाइयां एक–सी नहीं होती, जैसे अध्ययन के किसी क्षेत्र में पुरुष व स्त्रियां हो सकती हैं, अत कुछ इकाइयां पुरुषों में से और कुछ स्त्रियों में से लेनी पड सकती है। इसी प्रकार शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों में से थोडी–थोडी इकाइयां लेनी पड सकती हैं। इस विधि में किसी भी कारण से सेम्पलों की संख्या सीमित करनी पड सकती है। इसके विभिन्न रूप इस प्रकार होते हैं —

(i) स्तरित (Stratified) सेम्पलिंग— इसमें समस्त इकाइयों को किन्हीं विशेष गुणों–लिंग, आयु, शिक्षा, आदि, के अनुसार विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता है और प्रत्येक वर्ग में से इकाइयाँ चुनी जाती हैं। यदि समान अनुपात में चुनाव किया जाता है तो वह आनुपातिक–स्तरित–विधि कहलाती है, जैसे 10%, आदि। यदि अलग–अलग वर्गों में से अलग–अलग अनुपातों में इकाइयाँ चुनी जाती है जैसे पुरुषों में से 10% व स्त्रियों में से 5% तो उसे गैर–आनुपातिक स्तरित–विधि कहते हैं। यह भेद सर्वेक्षण की आवश्यकता के मुताबिक किया जा सकता है।

स्मरण रहे कि प्रत्येक स्तर (stratum) की इकाइयाँ समरूप होती हैं, लेकिन दो स्तरों (Two strata) में परस्पर भेद पाया जाता है। प्रत्येक वर्ग में से इकाइयों का चुनाव पूर्ववर्णित रेण्डम विधि से किया जाता है।

स्तरित सेम्पलिंग विधि को और छोटे–छोटे स्तरों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे पुरुषों व स्त्रियों को *शिक्षित व अशिक्षित वर्गों में बांटा जा सकता* है। इस प्रकार स्तर, उप स्तर, उप–उपस्तर बनाये जा सकते हैं।

इस विधि के परिणाम ज्यादा शुद्ध होते हैं क्योंकि सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व भलीभांति किया जा सकता है।

(ii) व्यवस्थित (systematic) सेम्पलिंग— इसमें K वीं मद सेम्पल में शामिल की जाती है। K सेम्पलिंग अनुपात होता है, जैसे मान लीजिए 100 में से 10 इकाई लेनी हो, और उनको क्रमश अंकित किया गया हो तो प्रत्येक $\frac{100}{10} = 10$ वीं इकाई चुनने से सेम्पल बन जायगा। ऐसा प्राय = 100 परिवारों या मकानों में से 10 परिवार या मकान चुनने में किया जा सकता है। इसमें यह मान्यता होती है कि *पास की इकाइयाँ एक–सी और दूर की भिन्न होती हैं। इसलिये इस विधि से* प्रतिनिधि सेम्पल मिल जायगा। यदि सभी इकाइयों को क्रमबद्ध रूप में जचाया जा सके तो यह विधि उत्तम परिणाम दे सकती है।

इसका उपयोग किसी शहर में औसत पारिवारिक आमदनी ज्ञात करने में किया जा सकता है। लेकिन कहीं ऐसा न हो कि प्रत्येक दसवाँ परिवार केवल मध्यम श्रेणी का अथवा गरीब श्रेणी का परिवार ही निकल आये। इसलिए व्यवस्थित सेम्पलिंग में इस प्रकार की छिपी हुई निरंतरता (periodicity) न पायी जाय। वैसे यह विधि बडी सरल मानी गयी है।

(iii) बहुस्तरीय (multi-stage) सेम्पलिंग—

यदि अंतिम सेम्पल दो से अधिक चरणों या स्तरों के बाद चुना जाता है तो उसे बहुस्तरीय सेम्पलिंग कहते हैं। यह बहुत लोकप्रिय व अत्यधिक प्रचलित विधि है। यह क्षेत्र–सेम्पलिंग में ज्यादा प्रयुक्त की जाती है। भारत में यह फसल–कटाई

प्रयोगों में काम में ली जाती है। इसके लिए प्रथम चरण में जिले चुनते है, द्वितीय चरण में गाँव, तृतीय में खेत व अंत में प्लाट जिन पर फसल—कटाई की जाती है और प्रति हैक्टेयर औसत उपज ज्ञात की जाती है। यदि केवल दो स्तर लिये जाते, जैसे गाँव व खेत तो यह द्वि—स्तरीय (two-stage) सेम्पलिंग विधि कहलाती।

प्राय इस विधि का प्रयोग स्तरित (stratified) सेम्पलिंग के साथ किया जाता है। तब इसे स्तरित बहुस्तरीय सेम्पलिंग (stratified multi-stage sampling) कहा जाता है। इसके परिणाम काफी सुनिश्चित होते हैं।

2. गैर—रेण्डम सेम्पलिंग विधियाँ

(i) निर्णय—पर आधारित (judgement) सेम्पलिंग—

गैर—रेण्डम सेम्पलिंग विधियों में इकाइयों का चुनाव 'अवसर' (chance) पर नहीं छोड़ा जाता। उदाहरण के लिए, निर्णय पर आधारित सेम्पलिंग में हम जानबूझकर अपने सेम्पल में कुछ इकाइयों को अवश्य लेते है, जैसे भारत में इस्पात उद्योग के अध्ययन में टाटा का इस्पात का कारखाना, बोकारो का सार्वजनिक क्षेत्र का इस्पात का कारखाना, आदि अवश्य लिये जायेंगे। इनको शामिल किये बिना इस्पात उद्योग का अध्ययन सम्भव नहीं होगा। इसी प्रकार मुद्रास्फीति का प्रभाव मध्यम—वर्ग पर जानने के लिए हमें अपने सेम्पल में केवल मध्यम श्रेणी के परिवार ही शामिल करने होंगे, तभी हमारे निष्कर्ष सार्थक होंगे।

यह विधि छोटे सेम्पल के लिए व शीघ्र परिणाम देने में लाभकारी होती है। प्रारम्भिक सर्वेक्षणों में भी इसका इस्तेमाल किया जाता है।

(ii) अभ्यंश (quota) सेम्पलिंग— इस विधि में प्रगणक उनको दिये गये निर्देशों के अनुसार जवाब देने वालों को चुनते है, जैसे 10 शहरी व्यक्ति, 20 ग्रामीण व्यक्ति, 5 शिक्षित शहरी व्यक्ति व 5 अशिक्षित ग्रामीण व्यक्ति, आदि। ऐसा बहुधा मार्केटिंग—सर्वेक्षणों में लोगों की राय जानने के लिए किया जाता है। यदि कोई उत्तर नहीं दे पाता है कि उसके स्थान पर उसी तरह की दूसरी इकाई प्रतिस्थापित कर ली जाती है, और इस प्रकार अभ्यंश पूरा करने पर ध्यान दिया जाता है। इस विधि में कम लागत पर स्तरित (stratified) सेम्पलिंग के लाभ मिल जाते हैं। इस विधि के द्वारा अधिक शिक्षित तथा साफ—सुथरे व्यक्तियों व बड़े परिवारों से साक्षात्कार के अवसर बढ़ जाते हैं।

(iii) सुविधा पर आधारित सेम्पलिंग— इसमें सेम्पलिंग की इकाइयों का चुनाव न तो प्रायिकता (probability) के आधार पर होता है और न निर्णय के आधार पर, बल्कि सुविधा के आधार पर होता है, जैसे टेलिफोन डाइरेक्टरी या मोटर गाड़ियों के रजिस्ट्रेशन नम्बरों के आधार पर सेम्पल चुन लिया जाता है। लेखाकार खातों का अंकेक्षण करने के लिए किसी अक्षर जैसे 'P' के सारे खाते चेक कर लेते हैं। प्रारम्भिक अध्ययनों में भी इसका उपयोग करके प्रश्नों की जाँच की जा सकती है। यह विधि उपयोगी है, लेकिन इसमें शुद्धता का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

(iv) समूह (cluster) **सेम्पलिंग** — एक बड़े शहर में एक मकान में कई परिवार रहते हैं, अत एक मकान कई परिवारों का एक समूह होता है। एक कक्षा विद्यार्थियों का समूह होती है। अत एक समूह में हमको कई प्रकार की इकाइयों मिलने की सम्भावना रहती है। लेकिन विभिन्न समूहों में परस्पर अंतर कम पाये जाते हैं। इसलिए लागत कम रखने के लिए **एक मकान के 7 परिवारों का अध्ययन करना ज्यादा आसान होता है, बनिस्बत सात मकानों से एक–एक परिवार लेकर अध्ययन करना।**

इसी प्रकार होटल सम्बन्धी अध्ययन में एक शहर के पचास होटलों का अध्ययन 50 शहरों में से प्रत्येक के एक–एक होटल से ज्यादा सुगम व कम खर्चीला सिद्ध होगा।

अत समूह सेम्पलिंग का अपना महत्व होता है। इसमें प्रति इकाई लागत कम आती है। यह एक कार्यकुशल विधि हो सकती है।

(v) क्रमबद्ध सेम्पलिंग (sequential sampling) —

कुछ दशाओं में कच्चे माल व निर्मित माल की जाँच करने के लिए उनको नष्ट करना पड़ता है। ऐसी दशाओं में थोड़ी इकाइयों की जाँच से काम चलाना पड़ता है। यहाँ कई रूप हो सकते हैं जैसे दोहरी सेम्पलिंग (double sampling) **में पहले एक छोटे सेम्पल की जाँच की जाती है। यदि सेम्पल बहुत अच्छा निकला तो उस माल को स्वीकार कर लिया जाता है और बहुत खराब निकला तो माल को अस्वीकार कर दिया जाता है। यदि बीच का लगे तो दूसरा सेम्पल लिया जाता है, और वस्तु को दो संयुक्त सेम्पलों के आधार पर स्वीकार या अस्वीकार किया जाता है। इसे दोहरी सेम्पलिंग कहा जाता है।** इसमें दो से अधिक सेम्पल (पूर्वनिर्धारित संख्या) के आधार पर निर्णय लेने को बहु क्रमबद्ध सेम्पलिंग (multiple sequential sampling) कहते हैं, तथा एक–एक करके क्रमबद्ध सेम्पलिंग (item by item sequential sampling) में एक बड़े सेम्पल में से उप सेम्पल लिये जाते हैं। यह काफी खर्चीली विधि होती है। आज सेम्पलिंग का युग है और इसका उपयोग सर्वव्यापी हो गया है। इसका विस्तृत अध्ययन स्नातकोत्तर स्तर पर 'सेम्पल सर्वे' नामक पाठ्यक्रम में किया जाने लगा है। सेम्पलिंग की विधि वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित होने के कारण विशेषज्ञों द्वारा ही प्रयुक्त की जानी चाहिए, अन्यथा इनके द्वारा गलत परिणाम निकाले जाने का भय बना रहता है।

प्रश्न

1 साख्यिकी की परिभाषा दीजिये। साख्यिकी की विषय–सामग्री एवं महत्त्व की विवेचना कीजिए।

2 साख्यिकी विज्ञान की परिभाषा दीजिए। साख्यिकी किस प्रकार
(क) योजना-आयोग के लिए, तथा (ख) एक बीमा कम्पनी के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है?

3 प्राथमिक तथा द्वितीयक समकों में क्या अन्तर होता है ? प्राथमिक समकों के सकलन में प्रयुक्त होने वाली रीतियों का वर्णन कीजिये।(Ajmer Iyr 1993)

4 *"समंक संकलन में सामान्य बुद्धि मुख्य आवश्यकता और अनुभव मुख्य शिक्षक है।"* इस कथन का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।

5 एक उत्तम तालिका की विशेषताएं बतलाइए। निम्न तालिका में क्या कमी रह गई है ?

राजस्थान में अतिरिक्त / वैकल्पिक कार्य के लिए उपलब्धि

		अतिरिक्त कार्य	वैकल्पिक कार्य
ग्रामीण	पुरुष	100	27
	महिलाएं	24	07
शहरी	पुरुष	45	34
	महिलाएं	60	22

[संकेत दिये हुए आंकडे श्रम–शक्ति के प्रतिशत है इनको शीर्षक में सूचित करना था।]

6 निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए –

(i) एक काल्पनिक प्रतिशत दण्ड चित्र बनाइये। (Ajmer Iyr 1993)

(ii) कालिक रेखाचित्र (historigram)

(iii) अनुपात चार्ट या रेखाचित्र (ratio chart)

(iv) पाई–चार्ट या वृत्त–चित्र

(v) आयत चित्र (histogram)

(vi) ओजाइव (Ajmer Iyr 1994 V व VI)

7 पाकिस्तान में 1984–85 में विभिन्न परिवार–समूहों के अनुसार पारिवारिक व्यय का वितरण निम्न तालिका में दर्शाया गया है। इनको लॉरेन्ज वक्र पर दिखाइए –

परिवारों के समूह	निम्नतम 20%	द्वितीय 20%	तृतीय 20%	चतुर्थ 20%	सर्वोच्च 20%
पारिवारिक व्यय के अंश	7.8%	11.2%	15%	20.6%	45.4%

(विश्व विकास रिपोर्ट 1991)

8 प्रतिचयन की विभिन्न रीतियों का वर्णन कीजिए। उदाहरण देते हुए प्रत्येक रीति के गुण–दोषों का विवेचन कीजिए।

9. सांख्यिकीय अनुसन्धानों में निदर्शन क्यों आवश्यक है? निदर्शन की महत्वपूर्ण रीतियों को समझाइये।

10. संगणना—विधि व सेम्पल—विधि में अंतर करिये। आजकल सेम्पल—विधि इतनी अधिक लोकप्रिय क्यों हो गई है?

11. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें —
   (i) रेण्डम प्रतिचयन,
   (ii) स्तरित प्रतिचयन,
   (iii) बहुस्तरीय प्रतिचयन,
   (iv) क्रमबद्ध (sequential) प्रतिचयन,
   (v) द्विस्तरीय व दोहरे प्रतिचयन में अंतर,
   (difference between two-stage sampling and double sampling)

[संकेत द्विस्तरीय प्रतिचयन में अन्तिम सेम्पल इकाई दूसरे स्तर पर आती है, जैसे पहले गाँव चुनें, फिर खेत चुनें, दोहरा प्रतिचयन क्रमबद्ध प्रतिचयन का एक रूप है जहाँ दो सेम्पल लेकर माल की जाँच की जाती है।]
   (vi) निर्णय पर आधारित प्रतिचयन,
   (vii) अभ्यंश—प्रतिचयन,
   (viii) प्रतिचयन की आवश्यकता।

12 निम्न तालिका में प्रति व्यक्ति मासिक व्यय के अनुसार 450 परिवारों का आवृत्ति—वितरण दर्शाया गया है। इस आवृत्ति—वितरण की क्या विशेषता है? इसका आवृत्ति—वक्र खीचिए —

वर्गान्तर	परिवारों की संख्या (f)
0-8	25
8-11	54
11-13	34
13-15	46
15-18	63
18-21	54
21-24	33
24-28	52
28-34	36
34-43	27
43-55	6
55-	20
कुल	450

[संकेत — इसमें असमान वर्गान्तर है, इसलिए लम्बवत् अक्ष पर प्रति इकाई वर्गान्तर के अनुसार आवृत्ति—घनत्व अंकित किये जायेंगे जो इस प्रकार होंगे — 3.1, 18, 17, 23, 21, 18, 11, 13, 6, 3, 0.5, एवं 0]

13 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए —
(i) सापेक्ष आवृत्ति व आवृत्ति—घनत्व में अंतर,
(ii) हिस्टोग्राम व हिस्टोरीग्राम में अंतर,
(iii) आवृत्ति—बहुभुज व आवृत्ति—वक्र में अंतर
(iv) ओजाइव व लोरेन्ज—वक्र में अंतर

14 एक परीक्षा में 25 विद्यार्थियों को एक टेस्ट में निम्नांकित अंक प्राप्त हुए। इनको एक आवृत्ति—तालिका के रूप में दर्शाइए —
83, 81 5, 79 77 5, 76, 74 67 5 66 66, 66, 64 5, 63, 60 5, 59, 59, 58 5, 58 5, 57 55 5, 56, 54, 51,5, 50 50, 49 5, 49
[उत्तर संकेत — स्टर्जेज का नियम लगाने से वर्गान्तर लगभग 6 आता है, अत निम्नांकित सारणी या तालिका बनायी जा सकती है

वर्गान्तर	48-54	54-60	60-66	66-72	72-78	78-84
आवृत्ति	5	7	3	4	3	3

यहाँ प्रत्येक वर्ग में इसकी ऊपरी सीमा छोड़ी गयी है। जैसे 66 अंक वर्ग 66—72 में किया गया है।]

15 आधुनिक युग में प्रतिचयन का महत्त्व समझाइए।

16 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए —
(i) सांख्यिकी की प्रकृति,
(ii) सांख्यिकी की सीमाएं,
(iii) स्तरित चयन व बहुस्तरीय चयन में अंतर,
(iv) दस वर्षीय जनगणना क्यों की जाती है ?
(v) प्रश्नावली बनाने में किन बातों का ध्यान रखना चाहिए ?
(vi) प्रतिचयन में विशुद्धता (precision) का अंश।

औसत की अवधारंणा: I - समान्तर माध्य

(The Concept of Averages) : I-MEAN or Arithmetic Average

हमने पिछले अध्याय में आंकड़ों को तालिका के रूप में प्रस्तुत करने व उनका उपयोग करके कई प्रकार के रेखाचित्र बनाने का विवेचन किया है। इनसे हमें आंकड़ों के बारे में कुछ जानकारी तो होती है, लेकिन वह पर्याप्त नहीं होती। आंकड़ों के सम्बन्ध में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण जानकारी उनमें पाई जाने वाली केन्द्रीय प्रवृत्ति (central tendency) या औसत (averages) के बारे में होती है। मान लीजिए हमें 100 विद्यार्थियों के किसी विषय के अंक दिये हुए हैं। उनके विषय में हमारे मन में पहली जिज्ञासा यह होगी कि औसत अंक कितने मिले? इसी प्रकार हम औसत आमदनी, औसत व्यय, आदि जानने में रुचि रखते हैं। बहुधा एक कम शिक्षित व्यक्ति भी औसत के विचार को समझता है और उसका आसानी से उपयोग कर सकता है। वैसे केन्द्रीय प्रवृत्ति के कई माप प्रचलित हैं, जैसे समान्तर माध्य (mean), मध्यका (median), बहुलक या भूयिष्ठक (mode), गुणोत्तर माध्य (geometric mean), हरात्मक माध्य (harmonic mean), आदि। हम इस अध्याय में समान्तर माध्य (mean) का वर्णन करेंगे और आगामी दो अध्यायों में क्रमशः मध्यका (median) व बहुलक (mode) का विवेचन करेंगे।

केन्द्रीय प्रवृत्ति के मापों का अलग–अलग परिस्थितियों में उपयोग किया जाता है। प्रत्येक औसत के माप की अपनी–अपनी विशेषताएं होती हैं, जिनका यथास्थान वर्णन किया जायगा।

यहाँ सर्वप्रथम एक उत्तम औसत के लक्षणों का वर्णन करेंगे। ये इस प्रकार होते हैं –

(1) इसकी परिभाषा पूर्णतया स्पष्ट होनी चाहिए ताकि उसके अर्थ के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भ्रम न रहे। जैसे समान्तर माध्य में यह स्पष्ट होता है कि यह कुल मूल्यों में उनकी संख्याओं का भाग देने से प्राप्त राशि के बराबर होता है। जैसे 50 छात्रों को कुल 2500 अंक मिले, तो अंकों का औसत $\frac{2500}{50} = 50$ रहा।

(2) यह सभी मदों पर आधारित होना चाहिए, तभी यह उनका सच्चा प्रतिनिधि बन सकता है। अपूर्ण आंकड़ों से प्राप्त औसत सही नहीं माना जाता।

(3) इसकी गणना गणितीय सूत्र के आधार पर आसानी से होनी चाहिए। इसके अलावा उसमें बीजगणितीय रूप में आगे बढ़ाये जा सकने की भी विशेषता होनी

चाहिए। जैसे समान्तर माध्य में हम दो अलग–अलग भागों के औसतों व उनकी संख्याओं के दिये हुए होने पर उनका इकट्ठा समान्तर माध्य निकाल सकते हैं। यह आगे चलकर स्पष्ट हो जायगा। यह गुण सभी केन्द्रीय प्रवृत्ति के मापों में नहीं पाया जाता।

(4) इस पर समूह की एक–दो मदों का अत्यधिक प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए, अन्यथा एक बहुत बड़ी मद उसको ऊपर की ओर खींच लेगी, अथवा, एक बहुत छोटी मद उसको नीचे की ओर ढकेल देगी। हम आगे चलकर देखेंगे कि समान्तर माध्य इस दृष्टि से कमजोर पाया जाता है क्योंकि इसके मूल्य पर अत्यधिक बड़ी व अत्यधिक छोटी मदों का अलग–अलग किस्म का प्रभाव पड़ता है।

(5) औसत ऐसा होना चाहिए जो आगे के सांख्यिकीय मापों में भी काम आ सके, *जैसे समान्तर माध्य का उपयोग प्रमाप–विचलन (standard deviation)* को ज्ञात करने में किया जाता है। इसलिए समान्तर माध्य अपने आप तक सीमित नहीं रहता, बल्कि इसका अन्य सांख्यिकीय मापों में भी उपयोग जारी रहता है।

(6) औसत ऐसा होना चाहिए जिसमें प्रतिचयन (सेम्पलिंग) की स्थिरता हो, अर्थात कुल इकाइयों में से जितने भी सेम्पल लिये जाएं, उनके औसतों में बहुत–कुछ समानता होनी चाहिए। ऐसा नहीं कि एक सेम्पल बहुत नीचा औसत दे, दूसरा सेम्पल बहुत ऊँचा औसत दे, आदि, आदि।

इस प्रकार एक आदर्श औसत की उपर्युक्त विशेषताएं होती हैं, हालांकि ऐसा सर्वगुण सम्पन्न आदर्श औसत आसानी से नहीं मिलता। फिर भी हमें इन विशेषताओं पर सदैव ध्यान देना चाहिए।

अब हम समान्तर माध्य (mean or arithmetic average) का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

समान्तर माध्य की मूल बात— जैसा कि पहले संकेत दिया जा चुका है, समान्तर माध्य में व्यक्तिगत मूल्यों के योग में उनकी संख्या का भाग दिया जाता है। मान लीजिए व्यक्तिगत मूल्य $X_1, X_2, X_3 \ldots X_N$ है तो समान्तर माध्य, अर्थात्

$\bar{X} = \frac{X_1 + X_2 + X_3 + \ldots X_N}{N} = \frac{\Sigma X}{N}$ होगा यहाँ $\bar{X}$ समान्तर माध्य का सूचक है।

जहाँ आवृत्तियों का प्रयोग होता है, वहाँ

समान्तर माध्य, या $\bar{X} = \frac{\Sigma fX}{N}$ होगा। हम नीचे तीन दशाओं में — व्यक्तिगत मूल्यों (individual observations), खण्डित सिरीज (discrete series) व संतत सिरीज (continuous series) में प्रत्यक्ष (direct) व लघु (short-cut) विधियों का उपयोग करके समान्तर माध्य की गणना करेंगे।

(अ) व्यक्तिगत मूल्यों के दिये होने पर समान्तर माध्य ज्ञात करना

उदाहरण 1 — पाँच विद्यार्थियों को एक टेस्ट में दस अंकों में से निम्न अंक प्राप्त हुए — 5 7 8 0 10 समान्तर माध्य ज्ञात कीजिए।

हल — (i) प्रत्यक्ष विधि— $\bar{X} = \frac{\Sigma X}{N} = \frac{5+7+8+0+10}{5} = \frac{30}{5} = 6$

(ii) लघु विधि— इसमें किसी भी कल्पित समान्तर माध्य (assumed arithmetic mean) से प्रारम्भ करके दिये हुए मूल्यों से उसका विचलन ज्ञात करते हैं। फिर उसमें विचलनों का औसत जोडकर वास्तविक माध्य ज्ञात करते हैं।

सूत्र रूप में $X = A + \frac{\Sigma d}{N}$

जहाँ A = कल्पित समान्तर माध्य है,

तथा Σd = विचलनों का योग, तथा N = मदों की संख्या है।

कल्पित माध्य A = 8 स विचलन

X	d
5	−3
7	−1
8	0
0	−8
10	+2

$\Sigma d = -12$
$+2$
$= -10$

$\bar{X} = A + \frac{\Sigma d}{N} = 8 - \frac{10}{5} = 8 - 2 = 6$

हम 8 के अलावा किसी अन्य कल्पित माध्य को लेकर भी चल सकते थे। दिये हुए मूल्यों में से यथासम्भव किसी बीच के मूल्य को लेकर चलने से आसानी रहती है।

(आ) खण्डित सिरीज में (discrete series) समान्तर माध्य ज्ञात करना—

खण्डित सिरीज में कुछ निश्चित मूल्यों के लिए उनकी आवृत्तियाँ दी हुई होती हैं जैसे—

(i) प्रत्यक्ष विधि—

हल—

मूल्य (X)	आवृत्तियाँ (f)	fX
5	10	50
7	20	140
8	15	120
10	5	50
N =	50	$\Sigma fX = 360$

$\bar{X} = \frac{\Sigma fX}{N} = \frac{360}{50} = 7.2$ यहाँ fX = व्यक्तिगत मूल्यों को आवृत्तियों से गुणा करने का योग है और N = कुल आवृत्तियाँ हैं।

(ii) लघु विधि— कल्पित माध्य A = 7

से विचलन

X	f	d = X − A	fd
5	10	−2	−20
7	20	0	0
8	15	+ 1	+ 15
10	5	+ 3	+ 15
	N = 50		Σ f d = 20 − 30 = 10

$$\overline{X} = A + \frac{\Sigma fd}{N}$$

$$= 7 + \frac{10}{50} = 7.2$$

यहाँ भी कल्पित माध्य 7 की बजाय और कुछ लिया जा सकता था।

(इ) संतत या अखण्डित श्रेणी (continuous series) में समान्तर माध्य ज्ञात करना —

निम्न श्रेणी से समान्तर माध्य ज्ञात कीजिए —

(i) प्रत्यक्ष विधि —

X	f	mid point मध्य बिन्दु X	f X
0-10	2	5	10
10 20	5	15	75
20-30	10	25	250
30-40	8	35	280
40 50	5	45	225
	N = 30		Σ fX = 840

प्रत्येक वर्ग का प्रतिनिधित्व उसके मध्य-बिन्दु (mid point) द्वारा किया जाता है।

$$\overline{X} = \frac{\Sigma fX}{N} = \frac{840}{30} = 28$$

(ii) लघु विधि

(प्रथम)

X	f	मध्य बिन्दु X	कल्पित माध्य A = 25 से विचलन अथवा d	fd
0-10	2	5	−20	−40
10-20	5	15	−10	−50
20 30	10	25	0	0
30-40	8	35	+10	+80
40-50	5	45	+20	+100
	N = 30			Σfd = −90 + 150 = +60

$$\overline{X} = A + \frac{\Sigma fd}{N} = 25 + \frac{90}{30} = 25 + 3 = 28$$

लघु विधि

(द्वितीय) — संतत श्रेणी में द्वितीय लघु विधि में पद—विचलन (step deviation) लिये जाते हैं। इसमें साधारण विचलनों में किसी अंतराल (interval) का भाग देकर d^1 ज्ञात किया जाता है। उनको क्रमश आवृत्ति से गुणा करके उसका औसत ज्ञात करके पुन अन्तराल से गुणा करके आवश्यक समायोजन किया जाता है। यह प्रक्रिया निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी।

		मध्य बिन्दु	कल्पित माध्य A = 25 से विचलन	पद विचलन पर i = 10	
(X)	f	X	d	$d^1 = \frac{d}{10}$	fd^1
0-10	2	5	– 20	– 2	– 4
10 20	5	15	– 10	– 1	– 5
20-30	10	25	0	0	0
30-40	8	35	10	1	8
40-50	5	45	20	2	10
	N=30				$\Sigma fd^1 = -9 + 18 = 9$

$$\overline{X} = A + \frac{\Sigma fd^1}{N} \times i \text{ (यहाँ } i = 10 \text{ लिया गया है)}$$

$$= 25 + \frac{9}{30} \times 10 = 25 + 3 = 28$$

इस प्रकार प्रत्यक्ष विधि से तथा लघु विधि (साधारण विचलन = d) तथा लघु विधि (पद—विचलन) (step-deviation $= d^1 = \frac{d}{i}$) से $\overline{X} = 28$ प्राप्त होता है। इसमें गणना की दृष्टि से पद—विचलन की विधि सबसे ज्यादा आसान मानी जाती है। यहाँ अन्तराल (i) कोई कॉमन अंक लिया जाता है जैसा कि ऊपर स्पष्टतया 10 है। हम i = 5 भी ले सकते थे लेकिन उससे गणना पूरी तरह आसान नहीं हो पाती। इसलिए i = 10 लेना ही उपयुक्त रहेगा।

हमने ऊपर समान्तर माध्य की गणना के लिए विभिन्न दशाओं का वर्णन किया है जिससे इस औसत की प्रकृति व विशेषताओं की काफी जानकारी हो जाती है। केन्द्रीय प्रवृत्ति के इस माप के सम्बन्ध में अन्य उदाहरण देने से पूर्व इसकी प्रमुख विशेषताओं (main properties) पर ध्यान देना लाभकारी होगा।

समान्तर माध्य की प्रमुख विशेषताएँ:—

(1) इसमें मूल्यों का योग उनके समान्तर माध्य व मूल्यों की संख्या के गुणा के बराबर होता है।

चूंकि $\bar{X} = \frac{\Sigma X}{N}$ होता है, इसलिए $\Sigma X = N\ \bar{X}$ होता है। (तिरछा गुणा करने पर)

(2) वास्तविक समान्तर माध्य (A M) से सभी दिये हुए मूल्यों के विचलनों का बीजगणितीय जोड शून्य के बराबर होता है। दूसरे शब्दों में, वास्तविक समान्तर माध्य से $\Sigma d = 0$ होता है।

(3) जब वास्तविक समान्तर माध्य से दिये हुए मूल्यों के विचलनों के वर्ग (squares) लेकर इनका योग लिया जाता है तो वह न्यूनतम होता है। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते है कि Σd^2 न्यूनतम होता है।

इस प्रकार समान्तर माध्य में कुछ गणितीय विशेषताएं होती है जो इसे, एक महत्वपूर्ण सांख्यिकीय माप बनाती है।

अब हम समान्तर माध्य से सम्बन्धित विविध प्रकार के प्रश्नों को हल करते है।

प्रश्न 1 — 100 इकाइयों का समान्तर माध्य 30 है। इसमें गणना के समय 20 को गलती से 2 तथा 21 को 12 मान लिया गया, तो सही समान्तर माध्य ज्ञात कीजिए।

हल — $\bar{X} = \frac{\Sigma X}{N}$, अथवा $\Sigma X = N\ \bar{X}$

यहाँ $\bar{X} = 30, N = 100$ है

जिससे $\Sigma X = 100 \times 30 = 3000$

दो गलत मदों को घटाइए = 14

2986

दो सही मदों को जोडिए = 41

सही ΣX = 3027

$\therefore$ सही $\bar{X} = \frac{3027}{100} = 30.27$

प्रश्न 2 निम्न आंकडों का उपयोग करके समान्तर माध्य (mean) निकालिए —

अंक	विद्यार्थियों की संख्या
5 से कम	6
5-15	12
15-30	22
30-50	16
50 व अधिक	4
	60

हल — चूँकि दोनों किनारे खुले है और अन्य वर्गों में अंतराल क्रमश 10,15, व 20 पाया गया है, इसलिये *उचित यह होगा कि प्रथम वर्ग को 0–5 मान लिया* जाय, और अन्तिम वर्ग को 50–75 मान लिया जाय। इन मान्यताओं के आधार पर पद–विचलन की लघु विधि का उपयोग किया जाना चाहिए, जिसकी प्रक्रिया नीचे दर्शायी जाती है। यहाँ अन्तिम वर्ग 50-70 भी लिया जा सकता है।

X	f	मध्य बिन्दु X	कल्पित माध्य A=22 5 से विचलन = d	पद विचलन i=10 पर $d = \frac{d}{10}$	fd
0-5	6	2 5	−20	− 2	−12
5 15	12	10	−12 5	−1 25	−15
15 30	22	22 5	0	0	0
30-50	16	40	17 5	1 75	28
50-75	4	62 5	40	4	16
	n=60				$\Sigma fd^1=-27 + 44 = 17$

$$\overline{X} = A + \frac{\Sigma fd^1}{N} \times i$$ यहा i कॉमन फैक्टर है।

$$= 22\ 5 + \frac{17}{60} \times 10 = 22\ 5 + 2\ 8 = 25\ 3$$

प्रश्न 3 दो सेम्पलों में एक का आकार *50* है और दूसरे का *100* है। प्रथम का समान्तर माध्य 10 तथा दूसरे का 4 है तो दोनों सेम्पलों का सयुक्त माध्य ज्ञात कीजिए।

हल — यहाँ $N_1 = 50 \quad \overline{X}_1 = 10$

तथा $N_2 = 100 \quad \overline{X}_2 = 4$

संयुक्त माध्य $\overline{X}_2 = \frac{N_1\ \overline{X}_1 + N_2\ \overline{X}_2}{N_1 + N_2} = \frac{(50 \times 10) + (100 \times 4)}{50 + 100}$

$$= \frac{500+400}{150} = \frac{900}{150} = 6$$

प्रश्न 4 50 विद्यार्थियों को एक टेस्ट में औसतन 5 अक प्राप्त हुए। उनके पास होने का परिणाम इस प्रकार है। फेल होने वालों के औसत अंक ज्ञात करें।

अंक (X)	विद्यार्थियो की संख्या (f)	fX
4	5	20
5	15	75
6	10	60
7	5	35
8	3	24
9	2	18
	N= 40	$\Sigma fX = 232$

50 विद्यार्थियों के कुल अंक = 50×5 – 250

40 विद्यार्थियों के कुल अंक = 232

10 विद्यार्थियों के कुल अंक (250-232) = 18

फेल होने वालों के औसत अंक $\frac{18}{10}=1.8$

प्रश्न 5 निम्न श्रेणी से समान्तर माध्य (arithmetic mean) ज्ञात कीजिए।

मूल्य (रु)	आवृत्ति
10-90	150
10-80	146
10-70	137
10-60	124
10-50	97
10-40	56
10-30	16
10-20	4

(Raj Final Yr II Paper Elements of Statistics 1991)

[इस प्रश्न में मध्यका व भूयिष्ठक भी पूछे गये थे जिनकी गणना इन विषयों के साथ आगे चलकर की जायगी।]

हल— इसमें सर्वप्रथम हमको वर्गों (classes) और उनकी आवृत्तियों को ठीक से जचाना होगा। जैसे नीचे से 10—20 वर्ग के लिए आवृत्ति 4 है और 20—30 के लिए आवृत्ति (16—4) = 12 है आदि आदि। इन्हें नीचे दिखाया जाता है।

X	f	मध्य बिन्दु (mid point)	कल्पित माध्य A= 45से विचलन (d)	पद विचलन $d^1=\frac{d}{10}$	fd^1
10-20	4	15	−30	−3	−12
20-30	12	25	−20	−2	−24
30-40	40	35	−10	−1	−40
40-50	41	45	0	0	0
50-60	27	55	10	1	27
60-70	13	65	20	2	26
70-80	9	75	30	3	27
80-90	4	85	40	4	16
	N=150				$\Sigma fd^1 = -76+96 = 20$

$$\overline{X} = A + \frac{\Sigma fd^1}{N} \times i$$

$$= 45 + \frac{20}{150} \times 10 = 45 + 1.3 = 46.33$$

प्रश्न 6 निम्नलिखित आवृत्ति-वंटन से **समान्तर माध्य** ज्ञात कीजिए –

वर्गान्तर	1-5	6-10	11-15	16-20	21-25	26-30	31-35
आवृत्ति	5	7	18	25	20	4	1

[Raj Final Yr 1988]

[इसके साथ प्रमाप–विचलन तथा उसका गुणाक भी पूछे गये थे, जिनका अध्ययन वर्तमान कोर्स में नहीं है।]

हल –

वर्गान्तर (X)	आवृत्ति (f)	मध्य-बिन्दु	कल्पित माध्य A=18 से विचलन d	पद विचलन $d^1 = \frac{d}{5}$	fd^1
1-5	5	3	–15	–3	–15
6-10	7	8	–10	–2	–14
11-15	18	13	–5	–1	–18
16 20	25	18	0	0	0
21-25	20	23	5	1	20
26-30	4	28	10	2	8
31-35	1	33	15	3	3
	N = 80				$fd^1 = -47 + 31 = -16$

$$\bar{X} = A + \frac{fd^1}{N} \times i = 18 + \left(\frac{-16}{80} \times 5\right)$$
$$= 18 - 1 = 17$$

प्रश्न 7. निम्नलिखित आकडो से माध्य परिकलित कीजिए –

अंक (से अधिक)	0	10	20	30	40	50	60	70	80	90
विद्यार्थियों की संख्या	100	90	78	55	36	25	12	6	3	1

(Ajmer Final Yr, II paper, 1988 अशत)

[इसमें प्रमाप-विचलन तथा उसका गुणाक भी पूछे गये थे]

हल – पहले इनको विभिन्न वर्गों में जचाया जायगा जो 0–10 के बीच 100–90 = 10 तथा 10-20 के बीच 90-78 = 12. होगा, आदि।

X	f	मध्य-बिन्दु	कल्पित माध्य A= 50 से विचलन d	पद-विचलन (d¹) i=5 मान कर	fd¹
0-10	10	5	–45	–9	–90
10-20	12	15	–35	–7	–84
20-30	23	25	–25	–5	–115
30-40	19	35	–15	–3	–57
40-50	11	45	–5	–1	–11
50-60	13	55	5	1	13
60-70	6	65	15	3	18
70-80	3	75	25	5	15
80-90	2	85	35	7	14
90-100	1	95	45	9	9
	N = 100				Σfd¹ = –357 + 69 = –288

वर्गान्तर समान होने के कारण अन्तिम वर्ग को 90–100 माना गया है।

$$\bar{X} = A + \frac{fd^1}{N} \times i = 50 - \frac{288}{100} \times 5 \quad \text{यहाँ } i \text{ कॉमन फैक्टर है।}$$

$$= 50 - 14\ 4 = 35\ 6$$

प्रश्न 8 निम्नलिखित समंकों से माध्य की गणना कीजिए –

प्राप्तांक (से कम)	10	20	30	40	50	60	70	80
विद्यार्थियों की संख्या	3	7	10	16	30	40	45	50

(Raj B A Hons, 1985)
(बहुलक व मध्यका सहित)

हल— पहले वर्गों में जचाया जायगा जो 0-10 के लिए आवृत्ति 3 10 20 के बीच आवृत्ति 7–3 = 4 होगा, आदि।

X	f	मध्य-बिन्दु	A = 45 से विचलन d	पद विचलन i= 10 पर d¹	fd¹
0-10	3	5	–40	–4	–12
10-20	4	15	–30	–3	–12
20-30	3	25	–20	–2	–6
30-40	6	35	–10	–1	–6
40 50	14	45	0	0	0
50-60	10	55	10	1	10
60-70	5	65	20	2	10
70 80	5	75	30	3	15
	N=50				Σ fd¹ = –36 + 35 = –1

$$\overline{X} = A + \frac{\Sigma d^1}{N} \times i = 45 - \frac{1}{50} \times 10 = 45 - 0.2 = 44.8$$

समान्तर माध्य की गणना के बाद हम इसके गुण व कमियों पर प्रकाश डालते हैं।

गुण (merits) – समान्तर माध्य केन्द्रीय प्रवृत्ति के मापों में सबसे ज्यादा प्रयुक्त होता है। इसमें निम्न गुण पाये जाते हैं

1 इसकी परिभाषा सुनिश्चित होती है। इसका मूल्य एक ही होता है। इसको समझना आसान व इसकी गणना भी सुगम होती है।

2 यह सभी मूल्यों पर आधारित होने के कारण आंकड़ों का सही प्रतिनिधित्व करता है।

3 यह अन्य सांख्यिकीय मापों के निर्धारण में प्रयुक्त होता है; जैसे प्रमाप–विचलन, विषमता का गुणांक, आदि। इसलिए यह गणितीय दृष्टि से विशेष महत्व रखता है।

4 यह केवल मूल्यों के योग व उनकी संख्या के दिये होने पर भी ज्ञात किया जा सकता है।

5 यह मूल्यों की स्थिति (position) से प्रभावित नहीं होता।

6 इसमें सेम्पलिंग से उतार–चढ़ाव नहीं आते। इसलिए विभिन्न सेम्पलों के माध्य प्राय एक से होते हैं। यह विशेषता प्राय अन्य औसतों में नहीं पायी जाती।

7 यह तुलना में ज्यादा प्रयुक्त होता है, जैसे विभिन्न देशों की औसत आय, विभिन्न कॉलेजों के औसत प्राप्तांक, आदि की तुलना करके परिणाम निकाले जा सकते हैं।

कमियाँ (shortcomings)

1 यह अधिक ऊँचे या अधिक नीचे मूल्यों से प्रभावित होता है। उदाहरण के लिए, 5 विद्यार्थियों के अंक 0,1,2,2,10 होने पर औसत अंक $= \frac{15}{5} = 3$ होंगे जो अकेले 10 की वजह से ऊपर की ओर खिंच गये हैं।

2 वर्गों के किनारे खुले (open end classes) होने पर इसकी गणना में कठिनाई होती है। उनके सम्बन्ध में कोई मान्यता स्वीकार करनी होती है।

3 प्राय माध्य का मूल्य किसी व्यक्तिगत मूल्य से मेल नहीं खाता, इसलिए यह एक कृत्रिम–सा मूल्य प्रतीत होता है।

4 दो सिरीज का माध्य एक हो सकता है, लेकिन उनकी बनावट अलग–अलग हो सकती है। इसलिए केवल माध्यों के आधार पर निकाले गये परिणाम भ्रमात्मक हो सकते हैं।

उदाहरण के लिए, दो सिरीज लीजिए

A	B
5	0
5	0
5	15
$\overline{X} = 5$	$\overline{X} = 5$

यहाँ दोनों के माध्य = 5 हैं, लेकिन इनकी बनावट एक दम भिन्न है।

5 यह गुणात्मक दशाओं जैसे बुद्धिमत्ता, ईमानदारी, सुन्दरता, आदि के अध्ययन में प्रत्यक्षतया प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। इनको संख्या के रूप में प्रस्तुत करने की

व्यवस्था करनी होती है, जैसे बुद्धिमता की जाँच करके अंक देकर उसका अध्ययन किया जाता है।

इस प्रकार समान्तर माध्य के अपने गुण–दोष होते हैं। फिर भी अपनी गणितीय विशेषताओं के कारण यह सर्वाधिक लोकप्रिय है।

प्रश्न

1. 'समान्तर माध्य केन्द्रीय प्रवृत्ति के मापों में सर्वोत्तम माना जाता है।' क्या आप इस मत से सहमत हैं? विवेचना कीजिए।

अथवा

किसी सन्तोषजनक माध्य के लिए क्या–क्या विशेषताएं होती हैं? समान्तर माध्य इन्हें कहाँ तक पूर्ण करता है?

2. समान्तर माध्य की प्रमुख विशेषताएं स्पष्ट कीजिए।

3. निम्नलिखित अंकों से माध्य ज्ञात कीजिए –

प्राप्तांक	विद्यार्थियों की संख्या
5-10	5
10-15	6
15-20	15
20-25	10
25-30	5
30-35	4
35-40	2
40-45	2

(Raj Final Yr. 1985)
[$\overline{X} = 20.97 = 21$]

4. निम्न अंकों का प्रयोग करके माध्य ज्ञात करें।

मजदूरी (रु में)	मजदूरों की संख्या
16-20	2
21-25	7
26-30	12
31-35	23
36-40	31
41-45	11
46-50	8
50-55	5
56-60	1
कुल	100

[$\overline{X} = 36.5$]

5 निम्न श्रेणी के लिए माध्य ज्ञात कीजिए —

अंक (संख्या से ऊपर)	0	10	20	30	40	50	60	70
छात्रों की सख्या	100	90	75	50	25	25	5	0

[सकेत पहले वर्ग बनाइए, जैसे 0 10 के लिए आवृत्ति 10 10-20 के लिए 15 आदि $\overline{X} = 32$ होगा]

6 निम्न आकडों से गायब आवृत्ति ज्ञात कीजिए —

आकार	10	12	14	16	18	20
आवृत्ति	3	7	–	20	8	5

यहाँ समान्तर माध्य 15 38 है।

[संकेत गायब आवृत्ति को x मानिए फिर $\Sigma f X$ ज्ञात करके आगे गणना कीजिए $\overline{X} = \frac{\Sigma fX}{N}$ लेने पर गायब आवृत्ति =12 होगी यहाँ $\Sigma f X = 678 + 14x$ तथा $N = 43 + x$ है।]

7 यदि एक सेम्पल का आकार 50 व उसका माध्य 54 4 हो तथा दूसरे सेम्पल का आकार 100 व उसका माध्य 50 3 हो तो दोनों सेम्पलों का इकट्ठा माध्य ज्ञात कीजिए। [$\overline{X}_{12} = 51\ 7$]

8 निम्न तालिका में 90 विद्यार्थियों के अंकों के आवृत्ति-वितरण के आधार पर माध्य ज्ञात कीजिए —

अंक	विद्यार्थियों की संख्या
15 19	6
20-24	14
25 29	12
30-34	10
35 39	10
40-44	9
45-49	9
50 54	10
55 59	5
6(-64	4
(-69	1
कुल	90

[$\overline{X} = 37\ 17$]

9 निम्न आकडों से माध्य की गणना कीजिए —

अंक (संख्या से नीचे)	10	20	30	40	50	60	70
विद्यार्थियों की संख्या	15	35	60	84	96	127	200

[$\overline{X} = 44\ 15$]

[संकेत — वर्ग इस प्रकार होंगे —

अंक	0 10	10-20	20-30	30-40	40 50	50-60	60-70
विद्यार्थियों की संख्या	15	20	25	24	12	31	73]

10. 15 छात्रों का औसत भार 110 पौंड्स है। उनमें से 5 छात्रों का 100 पौंड्स और अन्य 5 छात्रों का 125 पौंड्स औसत भार है। शेष छात्रों का औसत भार बताइये।

[शेष 5 छात्रों का औसत भार 105 पौंड्स होगा।

यह $\frac{1650-1125}{5} = \frac{525}{5}$ = 105 पौंड्स होगा।]

• • •

II मध्यका (MEDIAN)

अर्थ— जैसा कि इसके नाम से पता चलता है, मध्यका (median) किसी भी सिरीज में **बीच के मद का मूल्य** होता है। इसके लिए मदों को क्रमवार जचाना पड़ता है जो ज्यादातर सुविधा के लिए बढ़ते हुए क्रम में होता है। यह एक स्थिति पर आधारित औसत होता है, और प्राय एक सिरीज को दो भागों में बाँटता है ताकि आधी मदें इसके एक तरफ होती हैं।

मान लीजिए 5 मदें इस प्रकार है 1,2,4,5, व 6 इनमें बीच की मद 4 है जो मध्यका कहलायेगी। जहाँ सम–संख्याएं (even numbers) हों, वहाँ बीच की दो संख्याओं का औसत मध्यका होगा, जैसे 1,2,4,5,6,व 7 में मध्यका $\frac{n+1}{2}$ वें मद का मूल्य होगा, अर्थात् $\frac{6+1}{2}$ =3.5 वें मद का मूल्य होगा जो $\frac{\text{तीसरे के मूल्य + चौथे के मूल्य}}{2}$ के बराबर होगा, अथवा $\frac{4+5}{2} = \frac{9}{2} = 4.5$ होगा। हालांकि आम तौर पर यह कहना सही है कि मध्यका एक सिरीज में बीच के मद का मूल्य होता है, लेकिन *आजकल मध्यका की एक* ***अधिक परिष्कृत व परिमार्जित*** **परिभाषा दी जाने लगी है जो इस प्रकार है—**

क्रोक्सटन, काउडेन तथा बोल्च के अनुसार, "मध्यका वह मूल्य होता है जो एक सिरीज को इस प्रकार विभाजित करता है कि कम से कम आधी मदें इसके बराबर बड़ी या इससे अधिक बड़ी होती हैं, और कम से कम आधी मदें इसके जितनी छोटी या इससे भी ज्यादा छोटी होती हैं।"[1]

निम्न स्थिति पर विचार करें 12,13,14,14,14,15, व 16

यहाँ मध्यका का मूल्य 14 है, इसमें 5 मदें ऐसी हैं जो इसके बराबर हैं, अथवा इससे बड़ी हैं (14,14 14 तो बराबर हैं, तथा 15 व 16 इससे बड़ी हैं, इस प्रकार यहाँ कम से कम आधी मदें " इसके बराबर बड़ी या इससे अधिक बड़ी " की शर्त को पूरा करती है। **या लुन - चाऊ** (Ya - lun - Chou) ने भी

---

1 The median is defined as a value that divides a series so that at least *one half of the items are as large as or larger than it is, and at least one-half* the items are as small as or smaller than it is "

Croxton, Cowden and Bolch Practical Business Statistics, 4th ed, *1969* p 26

मध्यका की इसी प्रकार की परिभाषा दी है।[1] इस प्रकार आजकल मध्यका को केवल बीच की मद कहकर इसकी परिभाषा समाप्त नहीं कर दी जाती। इससे थोड़ा अधिक व्यापक अर्थ लगाया जाने लगा है।

मध्यका की विशेषताएं

1 इसकी परिभाषा भी सुनिश्चित होती है। यह भी लोगों के समझ में आ जाता है, हालांकि यह शब्द थोड़ा अपरिचित जान पड़ता है।

2 इसके लिए मदों को क्रमवार जचाना पड़ता है।

3 इस पर अधिक बड़ी या अधिक छोटी मदों का असर नहीं पड़ता, क्योंकि यह एक स्थिति का औसत होता है। यह बात आगे उदाहरणों से अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

4 इसमें एक सम्पल से दूसरे सेम्पल में मूल्य की स्थिरता कम होती है, जब कि माध्य (mean) में सेम्पलिंग की स्थिरता पायी जाती है।

5 यह खुले किनारों वाले वर्गों में भी आसानी से ज्ञात किया जा सकता है, क्योंकि यह स्थितिगत औसत होता है।

6 मध्यका की सबसे महत्वपूर्ण गणितीय विशेषता यह है कि इससे व्यक्तिगत मूल्यों के विचलनों का योग (निशान छोड़ते हुए, अर्थात् जोड़ व बाकी के निशान पर ध्यान न देते हुए) न्यूनतम होता है। इसे $\Sigma|d| =$ न्यूनतम राशि के द्वारा सूचित किया जाता है। इसमें $\Sigma|d|$ का अर्थ है कि विचलनों का योग निशान पर ध्यान न देते हुए प्राप्त किया गया है।

मान लीजिए, हम 1,2,3 मूल्य लेते है। इनमें मध्यका = 2 है। इसके विचलन (निशान छोड़ते हुए) क्रमश 1,0,1 है, जिनका जोड़ 2 है, अर्थात $\Sigma|d| = 2$ है, जो न्यूनतम है। यदि किसी और राशि से विचलन निकाले गये तो वे 2 से अधिक ही होंगे, किसी हालत में 2 से कम नहीं हो सकते है।

मध्यका की गणना की विधि—

पहले बतलाया जा चुका है कि मध्यका की गणना के पूर्व इसकी मदों को क्रमवार (array) में जचाना जरूरी होता है।

---

1. " .. the median may now formally defined as that value which divides a series in such a fashion that at least 50 percent of the items are equal to or less than it and at least 50 percent of the items are equal to or greater than it "

— Ya-lun-Chou, Statistical Analysis, 2nd ed. 1975, p 165.

खण्डित सिरीज में इसकी गणना इस प्रकार की जाती है

मध्यका $\frac{N+1}{2}$ वीं मद के मूल्य के बराबर होता है। गणना के लिये संचयी आवृत्ति निकालना आवश्यक होता है।

उदाहरण निम्नलिखित खण्डित सिरीज में मध्यका निकालिए –

X	*f*
2	5
4	8
5	7
7	5

हल

X	*f*	संचयी आवृत्ति (Cf)
2	5	5
4	8	13
5	7	20
7	5	25
कुल	25	

मध्यका $= \frac{N+1}{2} = \frac{25+1}{2} = \frac{26}{2} = 13$ वीं मद के मूल्य के जो 4 है।

व्यावहारिक रूप— यहाँ 2 वाला मूल्य 5 बार आता है और 4 वाला मूल्य 8 बार आता है। अत 2 2 2 2 2 4 4 4 4 4 4 4 4में 13 वीं मद का मूल्य = 4 है। इसलिए यहाँ 4 को मध्यका कहा जायगा। संचयी आवृत्ति के कॉलम में 6 से 13 तक आवत्तियाँ मूल्य 4 से ही सम्बद्ध है।

संतत सिरीज (continuous series) **में मध्यका की गणना** –

$$\text{सूत्र (formula)} \quad \text{— Median} = L_1 + \left(\frac{\frac{N}{2} - c_o}{f}\right) \times i$$

यहाँ L_1 मध्यका के वर्ग की निचली सीमा है $\frac{N}{2}$ आवृत्ति का आधा है C_o = मध्यका वर्ग से पहले के वर्गों तक की संचयी आवृत्ति (cumulative frequency) है f = मध्यका वर्ग की आवृत्ति एवं i = मध्यका वाले वर्ग का वर्गान्तर (size of the class interval of the median class) है।

उदाहरण —निम्न आंकड़ों की सहायता से मध्यका निकालिए —

(प्रथम विधि)

मजदूरी (रु में) (X)	मजदूरों की संख्या f	संचयी आवृत्ति (c f)
20-30	5	5 ↓
30-40	15	$20 = c_0$
40-50	$8 = f$	28
50-60	15	43
60-70	5	48
	कुल N = 48	

यहाँ मध्यका $\frac{N}{2}$=24 वें मद के मूल्य के बराबर है। मध्यका 40-50 वर्ग में है। अत $L_1 = 40$ है।

$$\text{मध्यका (median)} = L_1 + \left(\frac{\frac{N}{2} - C_o}{f}\right) \times i = 40 + \left(\frac{24\text{-}20}{8}\right) \times 10 = 40 + 5$$

= 45 उत्तर

[यहाँ वर्गान्तर (मध्यका के वर्ग में) 10 है]

द्वितीय विधि —हम चाहे तो मध्यका-वर्ग की ऊपरी सीमा L_2 का प्रयोग करके भी मध्यका का मूल्य निकाल सकते है। इसका सूत्र थोड़ा बदल जायगा।

$$\text{मध्यका (Median)} = L_2 - \left(\frac{\frac{N}{2} - C_o}{f}\right) \times i$$

अब संचयी आवृत्ति नीचे के छोर से देखनी होगी।

मजदूरी (रु में)	मजदूरों की संख्या	संचयी आवृत्ति (नीचे से ऊपर)
X	f	Cf
20-30	5	48
30-40	15	43
40-50	8 = f	28
50-60	15	$20 = C_o$
60-70	5	5 ↑
	N= 48	

$M = L_2 - \left(\frac{\frac{N}{2} - C_o}{f}\right) \times i$, यहाँ भी मध्यका $\frac{N}{2}$ वीं मद के मूल्य के, अर्थात् 24 वी मद के मूल्य के है।

$= 50 - \left(\frac{24 - 20}{8}\right) \times 10 = 50\text{-}5 = 45$ जो पहले के उत्तर के बराबर है।

नीचे मध्यका से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के प्रश्न हल किये गये हैं।

प्रश्न 1 – निम्न श्रेणी में मध्यका (median) ज्ञात कीजिए –

मूल्य (रु)	आवृत्ति
10-90	150
10-80	146
10-70	137
10-60	124
10-50	97
10-40	56
10-30	16
10-20	4

(Raj Final Yr , II paper, 1991)
(इसका माध्य पिछले अध्याय में दिया गया था।)

हल – आवृत्तियों को बढ़ते मूल्यों में जचाने पर

	f	संचयी आवृत्ति (cf)
10-20	4	4
20-30	12	16
30-40	40	$56 = c_0$
मध्यका-वर्ग← 40 50	$41 = f$	97
50-60	27	124
60-70	13	137
70-80	9	146
80-90	4	150
	कुल 150 = N	

गणना की विधि –

मध्यका $= \frac{N}{2}$ वीं मद के मूल्य के = 75 मद के मूल्य के।
मध्यका 40-50 के वर्ग में है।

$$M = L_1 + \left(\frac{\frac{N}{2} - C_0}{f}\right) \times i$$

$$= 40 + \left(\frac{75 - 56}{41}\right) \times 10$$

$$= 40 + \frac{190}{41} = 40 + 4\ 6 = 44\ 6$$

प्रश्न 2 निम्न समकों से मध्यका निर्धारित कीजिये –

क्रम संख्या	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
मूल्य	21	22	22 5	22 5	22 5	23 5	24	25	27	28

(Raj Final Yr 1989) (आंशिक प्रश्न)

हल — ये व्यक्तिगत मूल्य हैं और पहले से बढ़ते हुए क्रम में व्यवस्थित है।

$$\text{मध्यका} = \frac{N+1}{2} \text{ वीं मद के मूल्य के}$$

$$= \frac{10+1}{2} = 5.5 \text{ वीं मद के मूल्य के} = \frac{22.5+23.5}{2} = 23 \text{ उत्तर}$$

प्रश्न 3 निम्न संतत सिरीज में मध्यका का मूल्य 50 है। दिये हुए आंकड़ों के आधार पर गायब आवृत्ति ज्ञात कीजिये।

व्यय	0-20	20-40	40-60	60-80	80-100
परिवारों की संख्या	14	23	27	—	15

हल

	व्यय (रुपयों में)	परिवारों की संख्या f	संचयी आवृत्ति (cf)
	0-20	14	14
	20-40	23	$37 = C_o$
मध्यका वर्ग ←	40-60	$27 = f$	64
	60-80	x	64 + x
	80-100	15	79 + x
		$N = 79 + x$	

$$M = L_1 + \left(\frac{\frac{N}{2} - C_o}{f}\right) \times i$$

दिये हुए मूल्य प्रतिस्थापित करने पर

$$50 = 40 + \left(\frac{\frac{79+x}{2} - 37}{27}\right) \times 20$$

$$10 = \left(\frac{\frac{79+x}{2} - 37}{27}\right) \times 20$$

दोनों तरफ 10 का भाग देने पर

$$1 = \left(\frac{\frac{79+x}{2} - 37}{27}\right) \times 2$$

$$1 = \frac{79 + x - 74}{27} \text{ (हल करने पर)}$$

तिरछा गुणा करने पर

$$5 + x = 27$$

$$x = 27 - 5 = 22$$

अत : गायब आवृत्ति = 22 है।

प्रश्न 4 निम्नांकित सारणी से मध्यका (median) का निर्धारण कीजिये —

मजदूरी (रु)	मजदूरों की संख्या
100-200	11
100-300	28
100-400	60
100-500	88
100-600	100

(Raj Final Yr, 1988 आंशिक प्रश्न)

हल — पहले इसको विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जायगा।

	मजदूरी (रु)	मजदूरी की संख्या f	संचयी आवृत्ति cf
	100 200	11	11
	200 300	17	$28 = c_o$
मध्यका-वर्ग ←	300-400	$32 = f$	60
	400 500	28	88
	500-600	12	100
		N = 100	

मध्यका $=\frac{N}{2}$ वीं मद का मूल्य अर्थात् 50वीं मद का मूल्य

$$M = L_1 + \left(\frac{\frac{N}{2} - C_o}{f}\right) \times i$$

$$= 300 + \left(\frac{50-28}{32}\right) \times 100$$

$$= 300 + \left(\frac{11}{16}\right) \times 100$$

$$= 300 + 68\ 75 = 368\ 75$$

प्रश्न 5 निम्नलिखित सारणी से **मध्यका** ज्ञात कीजिए —

केन्द्रीय आकार	5	15	25	35	45	55	65	75	85	95
आवृत्ति	5	9	12	21	20	13	10	5	3	2

(Ajmer, Final Yr, 1988, आंशिक प्रश्न)

हल — पहले इनको वर्गों में परिवर्तित करना होगा। चूँकि मध्य बिन्दुओं में 10 का अन्तराल है, इसलिए वर्गान्तर 10 होगा। अत प्रथम वर्ग 0—10, द्वितीय-वर्ग 10-20 होगा, और यही क्रम आगे भी दोहराया जायगा।

	वर्ग	f	संचयी आवृत्ति (cf)
	0-10	5	5
	10-20	9	14
	20-30	12	26
	30-40	21	$47 = C_o$
मध्यका-वर्ग	40-50	$20 = f$	67
	50-60	13	80
	60-70	10	90
	70-80	5	95
	80-90	3	98
	90-100	2	100
		कुल $100 = N$	

मध्यका = 50 वीं मद का मूल्य

$$M = L_1 + \left(\frac{\frac{N}{2} - C_o}{f}\right) \times i = 40 + \left(\frac{50-47}{20}\right) \times 10$$
$$= 40 + 1.5 = 41.5$$

प्रश्न 6. निम्नलिखित समंकों से मध्यका की गणना कीजिये —

प्राप्तांक (से कम)	10	20	30	40	50	60	70	80
विद्यार्थियों की संख्या	3	7	10	16	30	40	45	50

हल :—

	प्राप्तांक	विद्यार्थियों की संख्या f	संचयी आवृत्ति (cf)
	0-10	3	3
	10-20	4	7
	20-30	3	10
	30-40	6	$16 = C_o$
मध्यका-वर्ग ←	40-50	$14 = f$	30
	50-60	10	40
	60-70	5	45
	70-80	5	50
		$N = 50$	

मध्यका $\frac{50}{2} = 25$ वीं मद का मूल्य

मध्यका की गणना—

$$\text{मध्यका} = L_1 + \left(\frac{\frac{N}{2} - C_o}{f}\right) i = 40 + \left(\frac{25-16}{14}\right) 10 = 40 + \frac{90}{14}$$
$= 40 + 6.4 = 46.4$ उत्तर

प्रश्न 7 — प्रश्न 6 के आंकडों के आधार पर, 'से कम' (less than) आधार पर संचयी आवृत्ति वक्र (ओजाइव) बना कर मध्यका ज्ञात कीजिए।

हल—

प्राप्तांक 'से कम' (less than)	विद्यार्थियों की संख्या
10	3
20	7
30	10
40	16
50	30
60	40
70	45
80	50
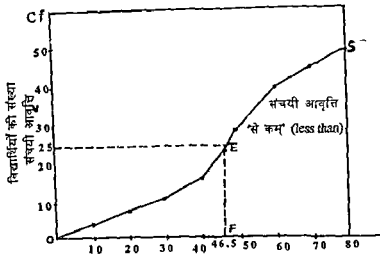
प्राप्तांक मध्यका = 46.5

चित्र 1 संचयी आवृत्ति वक्र की सहायता से मध्यका (median) ज्ञात करना (ओजाइव)

स्पष्टीकरण — ऊपर चित्र में 'से कम' आधार पर एक संचयी आवृत्ति वक्र OS खींचा गया है। OS एक ओजाइव है। लम्बवत् अक्ष पर $\frac{N}{2} = \frac{50}{2} = 25$ आवृत्ति के बिन्दु से वक्र पर एक क्षैतिज अक्ष के समानान्तर रेखा डालते हैं जो ओजाइव को E पर काटती है। E से एक लम्ब EF क्षैतिज अक्ष या मूल्यों के अक्ष पर डालते हैं जो इसे F पर काटता है। अत OF मध्यका (median) का माप है जो लगभग 46 5 है।

'से अधिक' ओजाइव से भी मध्यका ज्ञात किया जा सकता है। हम अध्याय 17 के चित्र में दो संचयी वक्रों के कटान बिन्दु से नीचे क्षैतिज अक्ष पर लम्ब डाल कर भी मध्यका ज्ञात करने की विधि पर प्रकाश डाल चुके हैं। इस प्रकार मध्यका का मूल्य ओजाइव ग्राफ की सहायता से जाना जा सकता है। इसके लिए किसी भी एक ओजाइव अथवा दोनों संचयी आवृत्ति वक्रों का उपयोग किया जा सकता है।

मध्यका के गुण — अब तक के विवेचन से मध्यका के निम्न गुण सामने आ पाये हैं।

1 यह भी समान्तर माध्य की भाँति **आम व्यक्ति के समझ में आ जाता है** और व्यक्तिगत मूल्यों व खण्डित सिरीज में इसको ज्ञात करना बहुत आसान होता है।

2 यह एक **स्थितिगत औसत** (positional average) **होता है** और इस पर बहुत अधिक या बहुत नीचे मूल्यों (extreme values) का असर नहीं पडता, जैसा कि माध्य पर पड़ा करता है।

3 यह **वर्गों के खुले किनारे पर भी ज्ञात किया जा सकता है** (प्रारम्भ व अंत में) क्योंकि इसके लिए मध्य बिन्दु मान्यता की आवश्यकता नहीं रहती है।

4 यह असमान वर्गान्तर में भी आसानी से मालूम किया जा सकता है।

5 यह ग्राफ पर भी ज्ञात किया जा सकता है। इसके लिए दो प्रकार के संचयी आवृत्ति वक्रों (ogives) का प्रयोग किया जाता है।

6 यह माध्य विचलन (mean deviation) की गणना में प्रयुक्त किया जाता है तथा विषमता के गुणांक (coefficient of skewness) को जानने में भी मदद देता है। इस प्रकार इसका आगे भी सांख्यिकीय विश्लेषण में उपयोग होता है।

7 यह गुणात्मक दशाओं के अध्ययन में भी काम आता है जैसे बीच का रंग औसत बुद्धिमत्ता आदि।

8 मध्यका से व्यक्तिगत मूल्यों के विचलनों का योग (निशान छोड कर) अर्थात् $\Sigma|d|$ न्यूनतम होता है।

मध्यका की कमियाँ —

1 इसमें सांख्यिकीय विश्लेषण में आगे उतने प्रयोग नहीं होते जितने समान्तर माध्य के होते हैं।

2 मध्यका एक **स्थितिगत औसत** है इसलिए **यह सिरीज के सभी मूल्यों पर आधारित नहीं होता**। उदाहरण के लिए 10 15 20 का मध्यका 15 है तो

5, 15, 35 का मध्यका भी 15 है, और 15, 15, 15 का मध्यका भी 15 ही है। यह दायें-बायें के मूल्यों के प्रति प्रभावशून्य-सा बना रहता है।

3. इसमें माध्य की तुलना में सेम्पल से सेम्पल अंतर ज्यादा पाये जाते हैं। अत इसमें सेम्पलिंग स्थिरता का गुण नहीं है।
4. जहाँ बडे मूल्यों या छोटे मूल्यों को महत्त्व देना हो वहाँ यह काम नहीं देता।
5. व्यक्तिगत मूल्यों व खण्डित सिरीज में इसको ज्ञात करने के लिए $\frac{N+1}{2}$ वीं मद का मूल्य जाना जाता है, तथा संतत सिरीज में $\frac{N}{2}$ वीं मद का मूल्य जाना जाता है। अत माध्य की भांति इसका सूत्र सभी दशाओं में एक-सा नहीं होता।

इन कमियों के बावजूद मध्यका का काफी प्रयोग किया जाता है और यह केन्द्रीय प्रवृत्ति का एक लोकप्रिय माप माना गया है।

प्रश्न

1. केन्द्रीय प्रवृत्ति के माप के रूप में मध्यका का अर्थ व गुण-दोष स्पष्ट कीजिये।
2. निम्न सारणी में एक-एक मिनट के अंतराल से एक टेलीफोन एक्सचेंज में प्राप्त टेलिफोन वालों (calls) की संख्याएं दी गई हैं।
इनके आधार पर मध्यका ज्ञात करें —

कालों की संख्या	0	1	2	3	4	5	6	7
आवृत्ति	14	21	25	43	51	40	39	12

[मध्यका = 4]

3. निम्नांकित लम्बाई के आंकडों के आधार पर मध्यका ज्ञात करें

लम्बाई (मिलिमीटर में)	आवृत्ति
118-126	3
127-135	5
136-144	9
145-153	12
154-162	5
163-171	4
172-180	2
	कुल 40

[स्रोत *Schaum's Outline Series: Theory and Problems of Statistics*, p.57.]
[मध्यका-वर्ग की वास्तविक सीमाएं 144.5-153.5 है, वर्गान्तर = 9 है, मध्यका = 146.8 मिलिमीटर होगा।]

4. मध्यका ज्ञात कीजिए —

मध्य-बिन्दु	5	15	25	35	45
आवृत्ति	3	9	8	5	3

[मध्यका = 22.5]

5. एक टेस्ट में 15 विद्यार्थियों में से 5 विद्यार्थी फेल हो गये और जो 10 पास हुए उनके अंक इस प्रकार हैं
9, 6, 7, 8, 8, 9, 6, 5, 4, 7, तो 15 विद्यार्थियों के अंकों का मध्यका ज्ञात कीजिए।

[संकेत — मध्यका = $\left(\frac{15+1}{2}\right)$ वीं मद का मूल्य = 8 वें मद का मूल्य होगा। *अंक इस क्रम में जचाये जायेंगे 5 फेल होने वालों के क्रमश अंक* (जो भी हों), फिर 4, 5, 6, 6, 7, 7, 8, 8, 9 तथा 9; इनमें 8 वीं मद 6 आयेगी, अत यहाँ मध्यका = 6 है।]

6. एक टेस्ट में 50 विद्यार्थियों को निम्न प्रकार से अंक प्राप्त हुए, इनके आधार पर ग्राफ बना कर मध्यका ज्ञात कीजिए। फार्मूला लगाकर चैक करिए।

अंक		विद्यार्थियों की संख्या
10	अंक या कम	4
20	,,	10
30	,,	30
40	,,	40
50	,,	47
60	,,	50

[मध्यका 27.5 या लगभग 28]

7. निम्न आंकडों का उपयोग करके गायब आवृतियों निकालिए —

अंक	विद्यार्थियों की संख्या
0-10	20
10-20	—
20-30	50
30-40	60
40-50	—
50-60	20
	कुल 200

मान लीजिए मध्यका का मूल्य 30 है।

[आवृत्ति 10-20 में 30, तथा 40-50 में 20 होगी,] उत्तर

[*संकेत — माना कि वर्ग 10-20 में आवृत्ति x है तो 40-50 वर्ग में $50-x$ होगी,* चूँकि मूल्य 30 वर्ग 30-40 में है, इसलिए $30 = 30 + \left(\frac{100-70-x}{60}\right) \times 10$ को हल करने पर $x = 30$ आयेगा]

8 निम्न तालिका में 80 सेबो में भार का आवृत्ति-वितरण दिया है। इनसे मध्यका ज्ञात करें। इसके लिए संचयी आवृत्ति-वक्र का प्रयोग करें।

भार (ग्राम में)	आवृत्ति
110-119	5
120-129	7
130-139	12
140-149	20
150-159	16
160-169	10
170-179	7
180-189	3
	कुल 80

[मध्यका 147.5 ग्राम,प्रथम वर्ग-सीमाएं 109.5–119.5 लें।]

9 निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए –
(i) केन्द्रीय प्रवृत्ति के माप के रूप में माध्य व मध्यका की तुलना,
(ii) मध्यका की गणितीय विशेषताएं

10 निम्न आकड़ों की सहायता से मध्यका ज्ञात करें

अंक	विद्यार्थियों की संख्या
10 से कम	3
20 ,, ,,	8
30 ,, ,,	17
40 ,, ,,	20
50 ,, ,,	22

[मध्यका = 23.33 उत्तर]

11 नीचे दी गई तालिका में दिये गये आकडो से 'माध्य' (Mean) तथा 'मध्यका' (Median) ज्ञात कीजिये -

अंक	विद्यार्थियो की सख्या	अक	विद्यार्थियो की सख्या
10 से नीचे	4	60 से नीचे	86
20 "	6	70 "	96
30 "	24	80 "	99
40 "	46	90 "	100
50 "	67		

(Ajmer Iyr 1993)

[माध्य = 42 2]
[मध्यका = 41 9]
अत दोनों 42 अक उत्तर

III — बहुलक (MODE)

अर्थ :—बहुलक या भूयिष्ठक एक सिरीज में सबसे ज्यादा पायी जाने वाली मद होती है। यह एक सिरीज में अन्य मदों की तुलना में अधिक बार आती है। इसलिए इसका विशेष महत्त्व होता है। उदाहरण के लिए, जब हम कहते हैं कि *अमुक गाँव में खेतों का बहुलक-आकार (modal size) 5 एकड़ है*, तो इसका अर्थ यह है कि उस गाँव में ज्यादा खेत 5 एकड़ आकार के हैं, और थोड़े खेत इससे अधिक या इससे कम आकार वाले हैं। अतः बहुलक के पीछे मूल धारणा यह है कि यह मद विशेष किस्म की होती है, और सबसे ज्यादा बार सिरीज में आती है।

वाग (Waugh) के अनुसार, 'बहुलक वह मूल्य है जो सबसे ज्यादा बार आता है।' क्रोक्सटन, काउडेन व क्लाइन के शब्दों में, 'एक वितरण में बहुलक उस बिन्दु पर पाया जाता है जिसके इर्द-गिर्द मदों का सर्वाधिक संकेन्द्रण पाया जाता है। *यह एक सिरीज के मूल्यों में सबसे ज्यादा विशिष्ट (typical) होता है।*'[1]

बहुलक की अवधारणा भी लोगों के आसानी से समझ में आ जाती है। लोग व्यवहार में प्रायः इसका प्रयोग करते हुए पाये जाते हैं, जैसे जब एक ग्राहक किसी दूकानदार को कहता है कि मुझे पेंट-पीस में ऐसी 'आइटम' दो जिसे ज्यादा से ज्यादा ग्राहक पसंद करते हैं, तो वह बहुलक (mode) की बात कर रहा होता है। इसी प्रकार 100 श्रमिकों की आमदनी में बहुलक आमदनी वह होती है जिसे सर्वाधिक श्रमिक प्राप्त करते हैं, मान लीजिए यह 500 रुपये मासिक है, तो इसका अर्थ यह है कि अधिक श्रमिक 500 रुपये मासिक पाते हैं, और कम श्रमिक इससे अधिक या इससे कम आमदनी प्राप्त करते हैं। इस प्रकार माध्य और मध्यका की भाँति बहुलक भी समझने में तो आसान होता है, लेकिन इसकी गणना में कई प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं, *विशेषतया संतत सिरीज में।*

बहुलक की गणना करने की विधि—

(i) व्यक्तिगत मूल्यों के दिये होने पर :— यदि व्यक्तिगत मूल्य थोड़े से होते हैं तो उनको देखकर बहुलक बताया जा सकता है, जैसे निम्न दस मूल्यों में बहुलक ज्ञात करना आसान है।

---

1. **'The mode of a distribution is the value of the point around which the items tend to be most heavily concentrated, It may be regarded as the most typical of a series of values.'**
— Croxton, Cowden and Klein, **Applied General Statistics**, 3rd. ed 1967, p. 169.

1, 2, 3, 3, 3, 3, 7, 8, 8, 10 में बहुलक 3 है क्योंकि यह चार बार आया है। अन्य कोई, संख्या इतनी बार नहीं आयी है। लेकिन कुछ दशाओं में बहुलक नहीं होता, जैसे यदि दस मूल्य ऊपर की बजाय

1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10 होते तो प्रत्येक मूल्य के केवल एक बार आने के कारण इसमें कोई बहुलक नहीं है। इसी प्रकार किसी सिरीज में दो या तीन बहुलक भी हो सकते हैं।

(ii) खण्डित सिरीज (discrete series) **में बहुलक ज्ञात करना—** प्राय खण्डित सिरीज में बहुलक का देखते ही पता चल जाता है। यह सर्वोच्च आवृत्ति को दर्शाने वाला मूल्य होता है, जैसे निम्न सिरीज में बहुलक 4 है क्योंकि इस पर आवृत्ति 30 है जो सर्वाधिक है।

मूल्य X	आवृत्ति (f)
2	10
4	30
5	15
8	5

लेकिन कभी-कभी आगे-पीछे की आवृत्तियों को जोड कर बहुलक का निर्णय किया जाता है, जैसे निम्न उदाहरण पर ध्यान दीजिए

X	f
5	5
6	7
7	8
8	18
9	15
10	12
11	7
12	5

यहाँ सारणी को देखते ही ऐसा लगता है कि बहुलक 18 आवृत्ति (frequency) वाले मूल्य 8 के बराबर होगा। लेकिन जरा 18 आवृत्ति व 15 आवृत्ति के आस-पास के दबावों को देखें तो स्थित बदल जायगी।

18 के पीछे आवृत्ति 8 है तथा आगे 15 है, जिससे तीनों का योग 18+8+15 =41 बनता है, जबकि 15 आवृत्ति के पीछे 18 व आगे 12 है जिससे तीनों का योग 15+18+12 = 45 बनता है। अत आवृत्ति 15 का दबाव ज्यादा होने से बहुलक 9 हो जाता है। अत समूह बनाकर निर्णय लेना पड़ सकता है।

(iii) संतत-सिरीज में बहुलक ज्ञात करने की विधि :—

(अ) जब बहुलक वर्ग (modal class) के सम्बन्ध में कोई संदेह न हो, जैसा कि निम्न उदाहरण में दर्शाया गया दशा में सर्वोच्च आवृत्ति स्पष्टतया दिखायी देती है।

X	f
0-10	5
10-20	10 f0
20-30	30 f1
30-40	15 f2
40-50	2

यहाँ सर्वाधिक आवृत्ति 30 है जो 20-30 के वर्ग में है। अत बहुलक 20-30 के वर्ग में पाया जायगा। स्मरण रहे कि यहां दूसरी ऐसी कोई आवृत्ति नहीं है तो 30 का मुकाबला कर सके। अत निस्संदेह बहुलक 20-30 के वर्ग में है। इसको ज्ञात करने के लिए निम्न सूत्र का उपयोग किया जायगा –

बहुलक या $Z = L_1 + \frac{f_1 - f_0}{2f_1 - f_0 - f_2} \times i$

यहां L_1 बहुलक वर्ग की निचली सीमा है,

f_1 बहुलक वर्ग की आवृति है,

f_0 बहुलक वर्ग से पूर्व वर्ग की आवृत्ति है,

f_2 बहुलक वर्ग से बाद के वर्ग की आवृत्ति है, तथा

i वर्गान्तर है।

अत उपर्युक्त तालिका के अनुसार

$$Z = 20 + \frac{30-10}{(2\times30) - 10 - 15} \times 10$$

$$= 20 + \frac{20}{60 - 25} \times 10$$

$$= 20 + \frac{20}{35} \times 10 = 20 + 5 7 = 25 7$$ उत्तर

वैकल्पिक सूत्र– $Z = L_1 + \frac{\Delta_1}{\Delta_1 + \Delta_2} \times i$

[यहाँ Δ_1 = बहुलक वर्ग की आवृत्ति व इससे पिछले वर्ग की आवृत्ति का अन्तर है (निशान छोडकर)

तथा Δ_2 = बहुलक वर्ग की आवृत्ति व इससे अगले वर्ग की आवृत्ति का अन्तर है (निशान छोडकर)]

यह सूत्र लगाने पर $Z = 20 + \frac{20}{20 + 15} \times 10$

$$= 20 + \frac{20}{35} \times 10 = 20 + 5 7 = 25 7$$ उत्तर

आजकल इस सूत्र को ज्यादा काम में लिया जाने लगा है,

क्योंकि यह समस्त दशाओं में प्रयुक्त किया जा सकता है।

$Z = L_1 + \frac{f_1 - f_0}{2f_1 - f_0 - f_2} \times i$ के लागू न होने पर

कुछ लेखक $Z = L_1 + \frac{f_2}{f_0+f_2} \times i$

का उपयोग भी करते है। इसका एक उदाहरण आगे चलकर प्रश्न 1 के हल के साथ दिया गया है।

(आ) जब बहुलक-वर्ग (modal class) के बारे में संदेह हो तो 'समूह-विधि' (grouping method) का उपयोग करके पहले बहुलक-वर्ग निर्धारित किया जाता है, और फिर उपर्युक्त सूत्र का उपयोग करके बहुलक ज्ञात किया जाता है।

उदाहरण —निम्न श्रेणी से भूयिष्ठक (mode) ज्ञात कीजिये —

मूल्य (रु)	आवृत्ति
10-90	150
10-80	146
10-70	137
10-60	124
10-50	97
10-40	56
10-30	16
10-20	4

(Raj Final Yr, 1991, प्रश्न का आंशिक रूप)

हल — पहले इसको वर्गवार सरल आवृत्तियों में बदलते हैं

मूल्य(रु)	आवृत्ति (1)	दो दो जोड़कर	एक छोड़ कर दो दो का जोड़ (3)	तीन तीन जोड़कर (4)	एक छोड़ कर तीन तीन का जोड़ (5)	दो छोड़ कर तीन तीन का जोड़ (6)
10 20	4					
		16				
20—30	12			56		
			52			
30—40	40				93	
		81				
40—50	41					108
			68			
50—60	27			81		
		40				
60—70	13				49	
			22			
70—80	9					26
		13				
80—90	4					
कुल	150					

उपर्युक्त तालिका में दो बड़ी आवृत्तियाँ पास-पास है, ये 40 व 41 हैं। अत हमें यह निर्णय करना होगा कि बहुलक या भूयिष्ठक वर्ग 30-40 है, या 40-50 है। इसके लिए 'समूह विधि' का प्रयोग करना होगा जो तालिका में कॉलम (1) से कॉलम (6) तक के आंकडों के आधार पर तय की जायगी। नीचे विश्लेषण तालिका दी जाती है

विश्लेषण-तालिका

कॉलम	के वर्ग जो अधिकतम आवृत्ति से सम्बन्धित है				
1			40 50		
2		30-40	40-50		
3			40-50	50-60	
4			40-50	50-60	60-70
5	20-30	30-40	40-50		
6		30-40	40-50	50-60	
कितनी बार	(1)	(3)	(6)	(3)	(1)

समूह की विधि में हम किस प्रकार जोड लगाते हैं —

I कॉलम (2) में दो-दो को जोडते है।

II कॉलम (3) में प्रथम आवृत्ति को छोड कर दो दो को जोडते है।

III कॉलम (4) में तीन-तीन आवृत्तियों को जोडते है।

IV कॉलम (5) में प्रथम आवृत्ति को छोडकर तीन-तीन को जोडते है।

V कॉलम (6) में प्रथम दो आवृत्तियों को छोडकर तीन तीन को जोडते है।

फिर विश्लेषण तालिका में कॉलमवार सर्वाधिक आवृत्तियों को दर्शाने वाले वर्ग लिख लेते है। इनमें से जो वर्ग सबसे ज्यादा बार आता है वही बहुलक वर्ग कहलाता है।

अत उपर्युक्त तालिका में 40-50 का वर्ग छ बार आया है, अत यह बहुलक-वर्ग है।

सूत्र के अनुसार,

$$Z = L_1 + \frac{f_1 - f_0}{2f_1 - f_0 - f_2} \times 1$$

$$= 40 + \frac{41 - 40}{82 - 40 - 27} \times 10$$

$$= 40 + \frac{1}{15} \times 10$$

= 40 7 उत्तर

नीचे बहुलक से सम्बन्धित कुछ और प्रश्न हल किये जाते हैं।

प्रश्न 1 — निम्नलिखित सारणी से बहुलक ज्ञात कीजिये —

केन्द्रीय आकार	5	15	25	35	45	55	65	75	85	95
आवृत्ति	5	9	12	21	20	13	10	5	3	2

(Ajmer Final yr 1988 आंशिक प्रश्न)

हल - सरल आवृत्ति के रूप में बदलने पर

X	f (1)	दो दो जोड़ कर (2)	एक छोड़ कर दो दो जोड़ कर (3)	तीन तीन जोड़ कर (4)	एक छोड़ कर तीन तीन (5)	दो छोड़ कर तीन तीन का जोड़ (6)
0-10	5					
		14				
10-20	9			26		
			21			
20-30	12				42	
		33				
30-40	21					53
			41			
40-50	20			54		
		33				
50 60	13				43	
			23			
60-70	10					28
		15				
70-80	5			18		
			8			
80-90	3				10	
		5				
90-100	2					
	कुल = 100					

यहाँ भी पहले समूह-विधि से बहुलक वर्ग ज्ञात करना होगा।

विश्लेषण - तालिका

कॉलम	सर्वाधिक आवृत्ति के वर्ग				
I		30-40			
2	20-30	30-40	40-50	50 60	
3		30-40	40-50		
4		30-40	40-50	50-60	
5			40-50	50-60	60-70
6	20-30	30-40	40-50		
एक वर्ग कितनी बार आया ?	(2)	(5)	(5)	(3)	(1)

यहाँ 30-40 व 40-50 वर्गों के पाँच-पाँच बार आने से बहुलक-वर्ग का निर्णय करने के लिए हम पुन निम्न प्रकार से तीन आवृत्तियों का योग लेते हैं

	30–40	40–50
f_0	12	21
f_1	21	20
f_2	20	13
	53	54

अत बहुलक-वर्ग 40-50 होगा।

यहाँ पूर्व सूत्र $Z = L_1 + \frac{f_1 - f_0}{2f_1 - f_0 - f_2} \times i$ लागू नहीं होने से दूसरा सूत्र काम में लिया जायगा,

$$Z = L_1 \frac{f_2}{f_0 + f_2} \times i$$

$$= 40 + \frac{13}{21 + 13} \times 10$$

$$= 40 + \frac{130}{34} = 40 + 3\ 82 = 43\ 82$$ उत्तर

दूसरी वैकल्पिक विधि — क्रोक्सटन, काउडेन व क्लाइन ने बहुलक ज्ञात करने का निम्न सूत्र सुझाया है —

$$Z = L_1 + \frac{\Delta_1}{\Delta_1 + \Delta_2} \times i$$

यहाँ Δ_1 बहुलक-वर्ग की आवृत्ति व इससे पिछली आवृत्ति का अंतर होता है **(निशान पर ध्यान नहीं)**

तथा Δ_2 बहुलक-वर्ग की आवृत्ति व इससे अगली आवृत्ति का अंतर होता है **(निशान पर ध्यान नहीं)**

यदि उपर्युक्त प्रश्न में यह सूत्र लगाया जाय तो

$Z = 40 + \frac{1}{1 + 7} \times 10 = 40 + 1\ 25 = 41\ 25$ आयेगा, जो पिछले परिणाम से भिन्न है, लेकिन 40 से अधिक होने के कारण स्वीकार किया जा सकता है। अत यहाँ Z=43.82 व Z=41.25 दोनों उत्तर स्वीकार्य माने जा सकते हैं।

प्रश्न 2 — निम्न आंकडों से बहुलक की गणना कीजिए —

अंक (संख्या से नीचे)	10	20	30	40	50	60	70	80
विद्यार्थियों की संख्या	15	35	60	84	96	127	198	250

(Raj Final year, 1984)

हल – इसको पहले सरल आवृत्ति में परिवर्तित करना होगा।

	अंक	आवृत्ति f	
	0-10	15	
	10-20	20	
	20-30	25	
	30-40	24	
	40-50	12	
	50-60	31	f_0
बहुलक-वर्ग ←	60-70	71	f_1
	70-80	52	f_2

यहां बहुलक-वर्ग 60-70 पूर्णतया स्पष्ट है क्योंकि इसमें आवृत्ति 71 है जो सर्वाधिक है और इस प्रश्न में 'समूह-विधि' लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

$$Z = L_1 + \frac{f_1 - f_0}{2f_1 - f_0 - f_2} \times i$$
$$= 60 + \frac{71 - 31}{142 - 31 - 52} \times 10$$
$$= 60 + \frac{40}{59} \times 10$$
$$= 60 + 6.78 = 66.78$$

= 67 अंक उत्तर

प्रश्न 3 – एक साधारणतया समरूप वितरण में मध्यका का मूल्य 34 और समान्तर माध्य का मूल्य 35 हो तो बहुलक का मूल्य ज्ञात कीजिए।

हल – बहुलक = 3 मध्यका–2 माध्य (3 Median–2 Mean) होता है।
= (3 × 34) –2 (35)
= 102–70 = 32 होगा।

प्रश्न 4 – निम्न आंकड़ों की सहायता ग्राफ खींचकर बहुलक या भूयिष्ठक ज्ञात कीजिए –

मजदूरी (रु में)	10-15	15-20	20-25	25-30	30-35	35-40	40-45
श्रमिकों की संख्या	30	70	55	75	60	50	45

हल— इन आकड़ों से हिस्टोग्राम बनाना होगा।
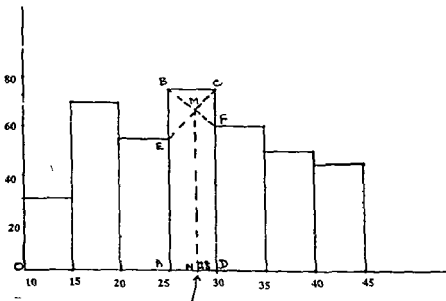
बहुलक = Z = 28

चित्र I ग्राफ पर बहुलक का निर्धारण

स्पष्टीकरण—चित्र में ABCD आयत सबसे ऊँचा है। इसके दोनों किनारों, B व C को, सामने के आयतों के किनारों क्रमश F व E से मिलाने पर ये एक दूसरे को M पर काटते हैं। M से क्षैतिज-अक्ष (मजदूरी-अक्ष) पर लम्ब डालने से यह उसे N पर काटता है। अत बहुलक का मूल्य ON के बराबर है जो लगभग 28 है।

यदि हमें आवृत्ति-वक्र (frequency curve) दिया हुआ हो तो उसके सर्वोच्च बिन्दु से एक लम्ब डालने पर क्षैतिज-अक्ष पर बहुलक का मूल्य निकल आता है।

अत ग्राफ के द्वारा भी बहुलक ज्ञात किया जा सकता है।

सारांश :—

(i) $Z = L_1 + \dfrac{f_1 - f_0}{2f_1 - f_0 - f_2} \times i$

(ii) Z = 3 मध्यका − 2 माध्य

(iii) Z को ग्राफ पर एक हिस्टोग्राम खींच कर भी ज्ञात किया जा सकता है।

बहुलक के गुण—

1. **इसका व्यवहार में काफी प्रयोग होता है** और लोग-बाग इसे आसानी से समझ सकते है, जैसे परिवार का बहुलक आकार (modal size) खेत का बहुलक आकार, जूतों का बहुलक आकार, आदि। यह सिरीज में सबसे ज्यादा बार आने वाली मद होती है, और सिरीज का उत्तम प्रतिनिधित्व कर सकती है। इस अवधारणा में हमारी विशेष रुचि का होना स्वाभाविक है।

2. यह भी बहुत ऊँचे व बहुत नीचे मूल्यों से प्रभावित नहीं होता, बल्कि यह तो सिर्फ इस बात से प्रभावित होता है कि एक सिरीज में कौन-सा मूल्य सबसे ज्यादा बार आ रहा है। जैसे 1, 5, 7, 7, 7, 27, 50, 51, 54, 55 में बहुलक 7 है, क्योंकि यही मूल्य तीन बार आया है, बाकी सब एक-एक बार ही आये हैं।
3. इसका मूल्य भी खुले किनारे वाले वर्ग-वितरणों में ज्ञात किया जा सकता है और इसके लिए मध्य-बिन्दु जानने की आवश्यकता नहीं पड़ती।
4. **यह गुणात्मक दशाओं में काम में लिया जा सकता है,** जैसे ग्राहक की सर्वाधिक पसंद के मुताबिक माल बनाने में बहुलक की धारणा का प्रयोग किया जा सकता है। विज्ञापन की विधि का चुनाव करने में यह देखा जा सकता है कि उपभोक्ता विज्ञापन के किस साधन का ज्यादा उपयोग करते हैं।
5. इसका मूल्य भी ग्राफ पर हिस्टोग्राम बना कर ज्ञात किया जा सकता है।

कमियाँ— वाग (Waugh) का कहना है कि **'यह दुर्भाग्य है कि बहुलक जैसा औसत जो बौद्धिक दृष्टि से इतना उत्तम लगता है, गणना में मुश्किल है, और गणना के बाद इतना अविश्वसनीय बना रहता है।'**[1]
इस कथन से बहुलक की कमियाँ प्रगट होती हैं। ये इस प्रकार हैं —

1 जैसा कि उपर्युक्त कथन में बतलाया गया है, बहुलक की गणना जटिल होती है। कभी-कभी $Z = L_1 + \frac{f_1 - f_0}{2f_1 - f_0 - f_2} \times i$ सूत्र से परिणाम नहीं निकलता, तब हमें वैकल्पिक सूत्र लगाना होता है। माध्य व मध्यका में यह कठिनाई नहीं आती।
2 वैसे तो बहुलक सभी मदों पर विचार करता है, लेकिन इस पर केवल किसी मद के कितनी बार आने का ही विशेष प्रभाव पड़ता है, जिससे कभी-कभी परिणाम पूर्णतया सत्य नहीं माना जा सकता।
मान लीजिए, 20 छात्रों में तीन को दो-दो अंक मिले, और शेष को अलग-अलग अंक मिले, तो औसत को 'दो अंक' बताना सही नहीं होगा। ऐसी परिस्थिति में माध्य या मध्यका का उपयोग अधिक वांछनीय होगा।
3. कभी-कभी किसी सिरीज में बहुलक होता ही नहीं, कभी-कभी दो या अधिक बहुलक होते हैं, जिससे इसके उपयोग में कठिनाई होती है। उदाहरण के लिए, स्त्रियों व पुरुषों, दक्ष व अदक्ष श्रमिकों, संगठित व असंगठित श्रमिकों की मजदूरी को एक साथ मिला देने से इस प्रकार की दशाएं आ जाती हैं।
4. यह आगे बीजगणितीय कार्यों के लिए आसानी से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। जैसे एक सिरीज के दो भागों के बहुलक दिये होने पर हम उनका एक बहुलक नहीं निकाल सकते।

---

1. **' It is unfortunate that an average which has such an intellectual appeal as the mode has to be so difficult to compute and so unreliable after it is computed' —** Waugh.

5 हम संख्यात्मक उदाहरणों में देख चुके है कि जब दो आवृत्तियाँ लगभग बराबर होती है तो उनमें बहुलक वर्ग (modal class) को तय करना कठिन हो जाता है और हमें 'समूह विधि' (grouping) का इस्तेमाल करना होता है जो थोड़ी जटिल होती है। माध्य व मध्यका की गणना में इस तरह का व्यवधान नहीं आता।

इस प्रकार बहुलक में गणना सम्बन्धी दिक्कतें पायी जाती है। फिर भी विशेष परिस्थितियों में यह उत्तम काम करता है जिससे यह एक लोकप्रिय औसत (popular average) माना जाता है।

बहुलक व औसतों के कुछ मिले जुले प्रश्न व उनके हल—

प्रश्न 1 — 100 परिवारों का व्यय निम्न तालिका में दिया गया है। इनके लिए समान्तर माध्य (mean) 87.50 रुपये हैं। गायब आवृत्तियाँ निकालकर इस सिरीज का बहुलक ज्ञात करें।

व्यय (रु में)	40-59	60-79	80-99	100-119	120-139
परिवारों की संख्या	5	—	50	—	5

हल— मान लीजिए पहली गायब आवृत्ति x है तो दूसरी $100-60-x=40-x$ होगी

वर्ग	मध्य मूल्य	f	कल्पित माध्य A–89.5 से विचलन =d	पद विचलन $d^1=\frac{d}{20}$	fd^1
40—59	49.5	5	−40	−2	−10
60—79	69.5	x	−20	−1	−x
80—99	89.5	50	0	0	0
100—119	109.5	40-x	20	1	40-x
120—139	129.5	5	40	2	10
		N = 100			$\Sigma fd^1=40-2x$

$$87.50 = X = A+\frac{\Sigma f d^1}{N}\times i - 89.5+\frac{40-2x}{100}\times 20$$

$$\frac{40-2x}{5}=-2 \text{ अथवा } 40-2x=-10$$

$$-2x=-50 \quad x=25$$

इसलिए पहली गायब आवृत्ति $=25$ है और दूसरी गायब आवृत्ति $=40-x=40-25=15$ है।

अब पूरा सिरीज रख कर बहुलक ज्ञात करना होगा।

वर्ग	f
40-59	5
60-79	25 f_0
80-99	50 f_1
100-119	15 f_2
120-139	5
	N = 100

यहाँ बहुलक स्पष्टतया 80-99 के वर्ग में है जिसकी वास्तविक वर्ग-सीमाएं 79.5 – 99.5 ली जा सकती हैं।

अत $$Z = L_1 + \frac{f_1 - f_0}{2f_1 - f_0 - f_2} \times i$$

$$= 79.5 + \frac{50 - 25}{100 - 25 - 15} \times 20$$

बहुलक $= 79.5 + \frac{25}{60} \times 20 = 79.5 + 8.33 = 87.83$ होगा।

प्रश्न 2 निम्न सिरीज में बहुलक (mode) 24 हैं, कुल छात्र 22 हैं, दिये हुए अंक-वर्गों के आधार पर दोनों गायब आवृत्तियाँ निकालिए —

अंक	विद्यार्थियों की संख्या	
0-10	3	
10-20	5	f_0
20-30	–	f_1
30-40	–	f_2
40-50	2	
	N = 22	

मान लीजिए, बहुलक-वर्ग में गायब आवृत्ति x है, तो दूसरी गायब आवृत्ति $= 22 - 10 - x = 12 - x$ होगी।

अब बहुलक का सूत्र लगाने पर

$Z = L_1 + \frac{f_1 - f_0}{2f_1 - f_0 - f_2} \times i$, बहुलक 20-30 वर्ग में है, अत

$$24 = 20 + \frac{x - 5}{2x - 5 - (12 - x)} \times 10 = 20 + \left(\frac{x - 5}{3x - 17} \times 10\right)$$

जिससे $\frac{10x - 50}{3x - 17} = 4$ होगा,

अत तिरछा गुणा करने पर,

$12x - 68 = 10x - 50$ होगा

$\therefore 2x = 18 \therefore x = 9$

इस प्रकार पहली गायब आवृत्ति 9 होगी, तथा दूसरी गायब आवृत्ति 12−x = 12−9 = 3 होगी। अत 9 व 3 उत्तर।

प्रश्न

1. निम्नलिखित समकों का मध्यका तथा मॉडल आकार निकालिये-

मद का आकार	1-10	10-19	19-28	28-37	37-46	46 55	55 64
आवृत्ति	9	13	86	239	120	46	12

(Ajmer Iyr 1994)

[मध्यका = 33 8 एव मॉडल = 33 1]

2 बहुलक का अर्थ व गुण दोष लिखिये।
3 औसत का कौन सा रूप सर्वश्रेष्ठ माना गया है और क्यों ?
4. निम्न सिरीज में 'समूह-विधि' से बहुलक का वर्ग ज्ञात कीजिए तथा बाद में उचित विधि लगाकर बहुलक की गणना कीजिए —

मूल्य	आवृत्ति
10-20	5
20-30	9
30-40	13
40-50	21
50-60	20
60-70	15
70-80	8
80-90	3
	N = 94

उत्तर-संकेत — समूह-विधि से वर्ग 40-50 व 50-60 दोनों समान बार आते हैं, अत इनमें 40-50 के आस-पास की आवृत्तियों का जोड लेने पर 54 तथा 50-60 के आस-पास की आवृत्तियों का जोड लेने पर 56 आयेगा। अत 50-60 बहुलक वर्ग है।

बहुलक के लिए— (i) इसमें $Z = L_1 + \frac{f_2}{f_0 + f_2} \times i$ सूत्र लगाने पर बहुलक = 54.2 आयेगा।

(ii) बहुलक तथा (Mode) = 3 मध्यका − 2 माध्य सूत्र लगाने पर यह 50 04 आयेगा, मध्यका = 49.52 तथा माध्य = 49 26 होंगे।]

(iii) $Z = L_1 + \frac{\Delta_1}{\Delta_1 + \Delta_2} \times i$ लगाने पर, $Z = 50 + \frac{1}{1 + 5} \times 10$

$= 50 + \frac{10}{6} = 51.7$ आयेगा।

5 निम्न सचयी आवृति वितरण से अकों की साधारण आवृत्ति-तालिका बनाइए और (i) माध्य, (ii) मध्यका व (iii) बहुलक ज्ञात कीजिए।

अक (से नीचे)	विद्यार्थियों की सख्या
10	3
20	8
30	17
40	20
50	22

[X = = 23 2, अथवा लगभग 23 अक, मध्यका = 23 3 अथवा लगभग 23]

6 केन्द्रीय प्रवृति के विभिन्न माप कौन-कौन से होते हैं ? निम्न वितरण के लिए उपयुक्त माप लागू कीजिये -

मासिक आय (रु मे)	परिवारो की सख्या
100 से कम	50
100-200	500
200 300	555
300 400	100
400 500	3
500 से ऊपर	2
कुल	1210

[मध्यका (Median) = 209 9 रु = लगभग 210 रु] (Raj Iyr 1994)

7 निम्न आकडो से एक हिस्टोग्राम बना कर बहुलक ज्ञात कीजिए

अक	0 10	10 20	20 30	30-40	40 50
विद्यार्थियो की सख्या	8	20	36	15	6

(बहुलक = Z = 24 3)

8 निम्नलिखित टेबल मे 120 देशो का सैनिक व्यय सकल आय के प्रतिशत के रुप मे आवृत्ति सहित दिया हुआ है, जो इस प्रकार है

सैनिक व्यय सकल आय के % मे	0 2	2 4	4 6	6 8	8 10	
देशों की सख्या	19	32	44	14	11=120	कुल योग

(i) उपर्युक्त टेबल से हिस्टोग्राम और आवृत्ति वक्र बनाइए।

(ii) औसत सैनिक व्यय निकालने के लिए केन्द्रीय प्रवृति के किस माप को (समान्तर माध्य, मध्यका और बहुलक मे से) आप अधिक पसद करोगे ? (Raj Iyr 1992)

[उतर बहुलक = 4 57%]

[ज्यादा देश अपनी GDP का 4 57% सेना पर व्यय करते हैं।]

9 निम्न आंकडों की सहायता से माध्य के 44.5 होने पर मध्यका निकालिए।

अंक	विद्यार्थियों की संख्या
70-80	10
60-70	10
50-60	20
40-50	–
30-40	12
20-30	9
10-20	8
0-10	5

[संकेत— पहले माध्य का सूत्र लगा कर गायब आवृत्ति ज्ञात करें जो 6 होगी फिर मध्यका ज्ञात करें जो 50 होगा।] [संकेत $44.5 = 45 + \frac{-4}{x + 74} \times 10$]

10 *निम्न सिरीज में मध्यका मजदूरी (median wage) 103 75 रुपये है तथा बहुलक मजदूरी (model wage) 98 75 रुपये है। गायब आवृत्तियाँ मालूम करें।

मजदूरी (रु में)	व्यक्रियों की सख्या
60-65	2
65 70	5
70-75	9
75 80	13
80 85	16
85 90	21
90-95	–
95 100	80
100-105	–
105 110	55
110-115	48
115 120	39
120 125	34
125 130	22
130 135	7

* बीजगणित का अच्छा अभ्यास आवश्यक है। अत प्रथम प्रयास में छोडा जा सकता है।

[संकेत — प्रश्न में 15 वर्ग हैं, अत थोडा जटिल किस्म का है, लेकिन अभ्यास होने पर करने का प्रयास करें, 90-95 वर्ग में गायब आवृत्ति x मानें तथा 100-105 वर्ग में y मानें। फिर मध्यका व बहुलक के सूत्र लगाकर दो समीकरण बनाएं जो इस प्रकार होंगे

$$103\ 75 = 100 + \left[\frac{\left(\frac{351 + x + y}{2}\right) - (146 + x)}{y}\right] \times 5 \quad (\text{i})$$

$$98\ 75 = 95 + \frac{80 - x}{160 - x - y} \times 5 \quad (\text{ii})$$

हल करने पर $x + \frac{1}{2}\ y = 59$ व
$-x + 3\ y = 160$ आयेंगे,
जिससे $x = 28$
$y = 63$ लगभग]

11 (a) संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए —
(i) सर्वश्रेष्ठ औसत के गुण (ii) बहुलक की कमियाँ
(iii) मध्यका व बहुलक में कौन सा ज्यादा श्रेष्ठ है ?

(b) निम्न दशाओं में **कौन-सा औसत** चुना जायगा ?
(i) राष्ट्र की औसत आय जानने के लिए,
(ii) गाँव में खेत का औसत आकार जानने के लिए,
(iii) एक चप्पल निर्माता द्वारा चप्पल की औसत साइज का पता लगाने के लिए ताकि उस आकार को निर्माण में प्राथमिकता दी जा सके।
(iv) भवन के लिए कलर चुनने के लिए तथा
(v) विद्यार्थियों के अकों का औसत जानने के लिए।

[(i) समान्तर माध्य, (ii) बहुलक, (iii) बहुलक, (iv) मध्यका तथा (v) समान्तर माध्य मध्यका व बहुलक में कोई भी चुना जा सकता है, लेकिन प्रत्येक का अर्थ भिन्न होगा, जैसे माध्य अंक का अर्थ होगा समस्त विद्यार्थियों के अंक जोड कर उनकी संख्या का भाग देना, मध्यका-अंक का अर्थ होगा आधे विद्यार्थियों को इससे कम अंक मिले व आधों को इससे ज्यादा मिले, तथा बहुलक-अंकों का अर्थ होगा ज्यादा विद्यार्थियों को अमुक अंक मिले।]

12 निम्न आंकडों की सहायता से गायब आवृत्ति ज्ञात कीजिए—

अंक	0-5	5–10	10–15	15-20	20-25	25-30	30-35
आवृत्ति	10	12	16	—	14	10	8

औसत अंक (average marks) 16 82 है।

[18 235 अथवा 18] उत्तर

* * *

4. आंकड़ों के स्त्रोतों का चुनाव,
5. आंकड़े एकत्र करना,
6 भार देने की विधि निश्चित करना अथवा भार का प्रारूप या चित्र (Weighting diagram) तैयार करना तथा
7 सूचनांक बनाने की विधि। इन पर संक्षेप में नीचे प्रकाश डाला जाता है।

1. सूचनांक का उद्देश्य स्पष्टतया परिभाषित करना—

किसी भी सूचनांक के बनाने का उद्देश्य पूर्णतया स्पष्ट होना चाहिए।इसी पर अन्य बातों के निर्णय भी निर्भर करेगें। जैसे भारत में थोक मूल्य सूचनांक (Wholesale Price Index) (नया आधार—वर्ष 1981-82=100) थोक मूल्यों का उपयोग करता है, और इसमें पूँजीगत वस्तुएं भी शामिल की जाती है, क्योंकि **इसका उद्देश्य देश में मुद्रास्फीति की दर** (rate of inflation) **ज्ञात करना होता है।** यह दो तरह से निकाली जाती है, प्रथम, एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक (अर्थात् एक वर्ष के किसी सप्ताह के अंत में पाये जाने वाले अंक की तुलना किसी दूसरे वर्ष के उसी के समीप के सप्ताह के अंत से की जा सकती है), अथवा एक वर्ष के सप्ताहों के औसत के सूचनांक की तुलना किसी दूसरे वर्ष के सप्ताहों के औसत से की जा सकती है। **इस प्रकार थोक मूल्य सूचनांक का उद्देश्य मुद्रास्फीति की वार्षिक दर ज्ञात करना होता है। इसलिए इसमें काफी वस्तुओं के थोक भाव शामिल किये जाते हैं।**

इसके विपरीत **उपभोक्ता मूल्य सूचनांक** (Consumer Price Index) का उद्देश्य **जीवन—व्यय** (Cost of living) **में होने वाले परिवर्तनों की जांच करना होता है ताकि उनके अनुरूप श्रमिकों का महंगाई भत्ता बढ़कर कीमत—वृद्धि से होने वाली क्षति की पूर्ति की जा सके।** इसलिए **इसमें सेवाओं को भी शामिल** किया जाता है और इसमें **खुदरा भावों** (retail prices) का उपयोग होता है। **ये अलग—अलग स्थानों के श्रमिकों के लिए** अलग—अलग बनाये जाते हैं, **क्योंकि उनका उपयोग एक—सा नहीं होता।** इसी वजह से आजकल हमारे देश में कई प्रकार के उपभोक्ता मूल्य सूचनांक पाये जाते हैं। इनमें से प्रमुख के नाम इस प्रकार है

(i) **औद्योगिक श्रमिकों के लिए** उपभोक्ता मूल्य सूचनांक (अखिल भारतीय स्तर पर) (नया आधार वर्ष 1982=100, पुराना 1960=100)
(ii) **शहरी गैर—शारीरिक कर्मचारियों** (urban non— manual employees) के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचनांक (1984-85=100)
(iii) **खेतिहर मजदूरों** के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचनाक (जुलाई 1960 से जून 1961=100)

इन सूचनांकों का उपयोग अलग—अलग वर्ग के श्रमिकों के लिए किया जाता है। एक वर्ग के सूचनांक का उपयोग दूसरे वर्ग के लिए नहीं किया जा सकता क्योंकि इनके उपभोग के प्रारूप (consumption pattern) एक से नहीं होते।

अत सूचनाक बनाने से पहले यह तय करना आवश्यक है कि उसका उद्देश्य क्या है। बाकी के फैसले आगे चलकर उसी के अनुरूप किये जायेंगे।

2. आधार--वर्ष का चुनाव व एक अवधि के बाद उसमें परिवर्तन--

सूचनांकों के सम्बन्ध में दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न आधार--वर्ष (base-year) के चुनाव का होता है। यह सामान्य वर्ष होना चाहिए, न बहुत अच्छा और न बहुत बुरा, ताकि *आगे-तुलना सार्थक हो सके।* यदि कोई **एक वर्ष सामान्य बनता न दीखे तो कुछ वर्षों के औसत को आधार--वर्ष बनाया जा सकता है,** जैसे हमारे देश में अब तक कृषिगत उत्पादन के सूचनांकों के सम्बन्ध में 1969-70 को समाप्त होने वाले तीन वर्षों के औसत को आधार--वर्ष लिया गया था, हाल में बदल कर इसे 1981-82 को समाप्त होने वाले तीन वर्षों के औसत को 100 के बराबर किया गया है।

आधार--वर्ष आगे चलकर बदलना भी पडता है ताकि उसमें नई परिस्थितियों को शामिल किया जा सके, जैसे *उत्पादन--सूचनांक में नई वस्तुओं* के उत्पादन को शामिल करना जरूरी हो जाता है और जो वस्तुएं अब उत्पादित नहीं की जातीं, उनको हटाना भी जरूरी हो जाता है। अत एक विशेष अवधि के बाद सूचनांकों का सिरीज चालू किया जाता है; जैसे थोक मूल्यों का सूचनांक पहले 1970-71 के आधार--वर्ष पर था, जो अब 1981-82 पर लाया गया है। आधार--वर्ष बदलने का कार्य विशेषज्ञ--समिति की राय से किया जाता है।

उपभोक्ता मूल्य सूचनांकों में आधार--वर्ष बदलना ज्यादा कठिन होता है; क्योंकि उसमें श्रमिकों के पारिवारिक बजटों का *अध्ययन* करके नये सिरे से भार निकालने होते हैं जो एक जटिल व लम्बी प्रक्रिया होती है।

3 किसी भी सूचनांक के उद्देश्य व क्षेत्र के अनुसार उसमें शामिल की जाने वाली मदें चुननी होती हैं। आर्थिक विकास के साथ--साथ उन मदों में विस्तार व परिवर्तन करना जरूरी होता है। यही कारण है कि प्राय थोक मूल्यों के सूचनांकों में हर बार *नई मदें शामिल की जाती है, ताकि उसमें नये परिवर्तनों को शामिल किया जा सके* और सूचनांक सही स्थिति बतला सके।

4. आंकडों के स्रोतों का चुनाव-- सूचनांक की प्रकृति के बाद सही आंकडे एकत्र करने के स्रोत चुने जाते हैं, जैसे उपभोक्ता मूल्य सूचनांकों के लिए खुदरा भाव उन स्थानों से एकत्र किये जाते हैं जहाँ से अमुक श्रेणी के श्रमिक अपनी खरीद किया करते हैं।

5. आंकडे एकत्र करना-- *आंकडे एकत्र करने के लिए आवश्यक एजेन्सी व संगठन* तैयार करना होता है। कर्मचारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है। उपभोक्ता मूल्य सूचनांकों के लिए निश्चित दुकानों से निश्चित दिनों में खुदरा भाव ज्ञात किये जाते हैं ताकि उपभोक्ता के जीवन--व्यय में होने वाले परिवर्तनों का सही अनुमान लगाया जा सके। इसमें किसी प्रकार की लापरवाही नहीं बरती जानी चाहिए।

6 भार देने की विधि निर्धारित करना या भार का प्रारूप (weighting diagram) **तैयार करना--** आजकल प्राय भारित सूचनांक (weighted index numbers) ही बनाये जाते हैं। सूचनांकों की प्रामाणिकता व शुद्धता उचित किस्म के *भारों पर निर्भर करती है, इसलिए किसी भी सूचनांक के लिए भार पूरी सावधानी* से चुने जाने चाहिएं। भार का अर्थ है कि प्रत्येक मद को उस सूचनांक में कितना वजन दिया जाता है। **जैसे उपभोक्ता मूल्य सूचनांकों में प्रत्येक मद का भार आधार--वर्ष** में उस मद पर **औसत पारिवारिक बजट में किये गये प्रतिशत व्यय**

के आधार पर निर्धारित होता है। जैसे मान लीजिए, कुल मासिक व्यय में दूध पर कुल व्यय का 10% व्यय होता है और कपड़ा धोने की साबुन पर 2% तथा खाद्य–तेल पर 5% होता है, तो दूध, साबुन व खाद्य–तेल की मदों का भार क्रमश 10,2,व 5 माना जायगा (कुल भार 100 लेने पर)।

प्रत्येक सूचनांक का अपना–अपना भारित स्वरूप (Weighting pattern) होता है जिसका बड़ा महत्त्व होता है। **भारत में थोक मूल्य–सूचनांकों व उपभोक्ता मूल्य सूचनांकों के भार अलग–अलग होते हैं। थोक मूल्य–सूचनांकों के भार अर्थव्यवस्था में सम्पूर्ण थोक लेन–देनों के मूल्य पर आधारित होते हैं** जिनमें (i) कृषिगत पदार्थों के सम्बन्ध में बिक्री किये गये या बिक्री योग्य अतिरिक्त माल का मूल्य शामिल होता है, तथा (ii) बिक्री के लिए गैर–कृषिगत पदार्थों का मूल्य शामिल होता है, जिसमें उत्पादन-शुल्क व आयातित वस्तुओं का कुल मूल्य (आयात–शुल्कों सहित) शामिल किया जाता है। थोक मूल्यों के सूचनांकों (WPI) में खाद्य–समूह (food-group) का कुल भार 27.5% (1981-82 के सिरीज में) है, जबकि उपभोक्ता मूल्य सूचनांकों (CPI) में यह 57% है (1982 के सिरीज में)। इस प्रकार भारों के निर्धारण का प्रश्न सूचनांकों के निर्माण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। भारत में WPI व CPI की प्रवृत्तियों में अंतरों की तुलना करते समय भारों के प्रश्न सामने आते हैं। अत भारों के निर्धारण को समझना आवश्यक है।

7. सूचनांक बनाने की विधि—

सूचनांक बनाने की विधियों का आगे चलकर विवेचन किया गया है। उपभोक्ता मूल्य सूचनांक (1982) के निर्माण में लास्पेयर का सूत्र $\frac{\Sigma P_1 q_0}{\Sigma P_0 q_0} \times 100$ काम में लिया जाता है। सूचनांकों के निर्माण में ज्यामितीय माध्य ज्यादा वैज्ञानिक माना जाता है। लेकिन सरलता की दृष्टि से समान्तर माध्य का भी उपयोग किया जाता है। सूचनांक स्थिर आधार विधि (fixed base method) व शृंखला–आधार विधि (Chain base method) पर तैयार किये जाते हैं। प्रथम में मूल्य–अनुपात (price relatives) बनाये जाते हैं, और दूसरे में लिंक–अनुपात (link relatives) बनाये जाते हैं। शृंखला–आधार विधि का उपयोग नई वस्तुओं को सूचनांक में शामिल करने व पुरानी वस्तुओं को सूचनांक से हटाने में मदद देता है। इन सबका स्पष्टीकरण संख्यात्मक उदाहरणों से आगे चलकर यथास्थान किया जायगा।

अब हम सूचनांक बनाने की विधियों का विवेचन करेंगे।
इस सम्बन्ध में निम्न दो विधियों पर ध्यान दिया जाना चाहिए —
(i) समग्र व्यय–विधि या भारित समग्र या समूह विधि (Aggregative Expenditure Method or Weighted Aggregative Method)

(ii) पारिवारिक बजट विधि या भारित अनुपातों के औसत की विधि (Family Budget Method or Weighted Average of Relatives Method) इसे भारित मूल्यानुपात–विधि भी कहा जाता है।

(i) भारित समग्र–विधि (Weighted Aggregative Method) का वर्णन— इसे भारित समूह विधि भी कह सकते हैं। इसका सूत्र निम्नांकित होता है

वर्तमान वर्ष का सूचनांक $\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times 100$ इस प्रकार इसमें वर्तमान मूल्य को आधार वर्ष की मात्रा से गुणा करके कुल योग में आधार–वर्ष की कीमत को आधार–वर्ष की मात्रा से गुणा करके प्राप्त योग से विभाजित किया जाता है। यह अग्र तालिका में स्पष्ट किया गया है –

उदाहरण

मद	आधार-वर्ष की मात्रा q_0	आधार वर्ष की कीमत p_0 (1980)	चालू वर्ष की कीमत p_1 (1990)	आधार-वर्ष का कुल व्यय $p_0 q_0$	चालू वर्ष का कुल व्यय $p_1 q_0$
A	10	2	3	20	30
B	20	3	6	60	120
C	5	1	0 50	5	2 50
				$\Sigma p_0 q_0 = 85$	$\Sigma p_1 q_0 =$ 152 50

सूत्र के अनुसार वर्तमान वर्ष (1990) का सूचनांक $\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times 100$

$$= \frac{152\ 50}{85} \times 100 = 179\ 4$$

इस प्रकार वर्तमान वर्ष में कीमत–स्तर आधार–वर्ष की तुलना में 79 4% बढ़ा।

(2) पारिवारिक बजट की विधि या भारित अनुपातों के औसत की विधि (Weighted average of relatives method) –

इसका सूत्र $= \frac{\Sigma IV}{\Sigma V}$ होता है,

जहाँ $I = \frac{p_1}{p_0} \times 100$ (वर्तमान वर्ष के लिए कीमत–सापेक्ष)

$V =$ मूल्य-भार (Value - Weight) $= p_0 q_0$

पूर्व तालिका के आकड़ो के अनुसार —

मद	आधार-वर्ष की मात्रा q_0	आधार-वर्ष की कीमत p_0 (1980)	वर्तमान वर्ष की कीमत p_1 (1990)	1990 के लिए कीमत –अनुपात (price-relatives $\frac{P_1}{P_0}\times100$ = I	मूल्य-भार $p_0 q_0 = V$ (1) × (2)	IV = (4) × (5)
	(1)	(2)	(3)	(4)	(5) = (1) × (2)	(6)
A	10	2	3	$\frac{3}{2}\times100$ = 150	20	3000
B	20	3	6	200	60	12000
C	5	1	0 50	50	5	250
					Σ V = 85	ΣIV = 15250

∴ 1990 के लिए सूचनाक $\frac{\Sigma IV}{\Sigma V} = \frac{15250}{85} = 179.4$ जो पिछले उत्तर के समान है।

उपर्युक्त दोनों विधियों में या–लून–चाऊ (Ya-lun-Chou) के अनुसार दूसरी विधि, अर्थात् **भारित अनुपातों के औसत या पारिवारिक बजट की विधि** ज्यादा उपयोगी मानी गयी है। इसके निम्न कारण है —

1. इसमें विभिन्न मदों के कीमत—अनुपातों (price-relatives) के होने से उनके बारे में उपयोगी सूचना मिल जाती है। जैसे, ऊपर की तालिका में कॉलम (4) में 150 इस बात का सूचक है कि 1990 में A मद में 1980 की तुलना में कीमत में 50% की वृद्धि हुई। इसी प्रकार की जानकारी B व C के लिए मिल जाती है।

2. इस विधि से बने विभिन्न सूचनांकों को मिलाकर संयुक्त सूचनांक बनाया जा सकता है।

3. जब कोई नई वस्तु पुरानी के बदले शामिल की जाती है, तो नई मद का अनुपात (relative) पुरानी के अनुपात से जोड़ा जा सकता है, और इसके लिए पुराने मूल्य—भार प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

नीचे सूचनांकों के निर्माण से सम्बन्धित कुछ प्रश्न हल किये जाते हैं —

प्रश्न 1 — निम्नलिखित वर्ग सूचकांकों से वर्ष 1984, 1985, व 1986 के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचकांकों की रचना कीजिए —

वर्ग-सूचकांक (Group Indices)

वर्ग	भार	1984	1985	1986
भोजन	48	250	275	305
वस्त्र	18	135	150	325
ईंधन	7	200	250	300
किराया	13	325	400	600
अन्य	14	300	320	350

हल — उपभोक्ता मूल्य सूचकांकों का निर्माण —

वर्ग	भार	1984 के सूचकांक	1984 के भारित अनुपात	1985 के सूचकांक	1985 के भारित अनुपात	1986 के सूचकांक	1986 के भारित अनुपात
	V	I	IV	I	IV	I	IV
भोजन	48	250	12000	275	13200	305	14640
वस्त्र	18	135	2430	150	2700	325	5850
ईंधन	7	200	1400	250	1750	300	2100
किराया	13	325	4225	400	5200	600	7800
अन्य	14	300	4200	320	4480	350	4900
कुल	100		24255		27330		35290

$\therefore$ 1984 के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचकांक $= \frac{\Sigma IV}{\Sigma V} = \frac{24255}{100} = 242.55$

1985 के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचकांक $= \frac{27330}{100} = 273.30$

1986 के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचकांक $= \frac{35290}{100} = 352.90$ उत्तर

प्रश्न 2. निम्नलिखित समंकों से 1980 को आधार मान कर 1981 के लिए पारिवारिक बजट रीति से जीवन–निर्वाह सूचकांक बनाइये —

वस्तुएं	उपभोग की मात्रा 1980	इकाई	1980 कीमत (रु में)	1981 कीमत (रु में)
गेहूं	5 क्वि	प्रति क्वि	100	120
बाजरा	2 "	"	50	75
ज्वार	1 "	"	60	90
मूंग	1 "	"	100	140
घी	10 किलोग्राम	"	500	650
गुड	40 किलोग्राम	"	80	160
चीनी	50 "	"	200	340
नमक	10 "	"	5	6
ईंधन	5 क्विंटल	"	10	16
मकानभाड़ा	-	प्रति मकान	50	80

हल —

पारिवारिक बजट रीति से जीवन–निर्वाह सूचकांक का निर्माण—

वस्तुएं	उपभोग की मात्रा 1980 q_0	इकाई प्रति क्वि	1980 कीमत (रु) p_0	1981 कीमत (रु) p_1	कीमत–अनुपात $I = \frac{p_1}{p_0} \times 100$	मूल्य–भार $p_0q_0 =$ V	IV
गेहूं	5 क्वि	प्रतिक्वि	100	120	120	500	60,000
बाजरा	2 "	"	50	75	150	100	15,000
ज्वार	1 "	"	60	90	150	60	9000
मूंग	1 "	"	100	140	140	100	14000
घी	10कि ग्रा	"	500	650	130	50	6500
गुड	40 "	"	80	160	200	32	6400
चीनी	50 "	"	200	340	170	100	17000
नमक	10 "	"	5	6	120	0 50	60
ईंधन	5क्वि	"	10	16	160	50	8000
मकान-भाड़ा	—	प्रति मकान	50	80	160	50	8000
						$\Sigma V =$ 1042 50	$\Sigma IV =$ 1 43960

जीवन–निर्वाह सूचकांक $= \frac{\Sigma IV}{\Sigma V} = \frac{14\,3960}{1042.50} = 138\,09$ उत्तर

स्थिर–आधार व श्रृंखला–आधार पर सूचनांक

(Index Number on Fixed base method and Chain base method)

सूचनांक स्थिर–आधार विधि से बनाये जा सकते है, अथवा श्रृंखला–आधार विधि से बनाये जा सकते हैं। इनका उदाहरण सहित विवरण नीचे दिया जाता है –

1 स्थिर–आधार विधि पर सूचनांक–

इसमें आधार–वर्ष स्थिर रखा जाता है। पहले प्रत्येक वर्ष की कीमतों को आधार वर्ष की कीमतों से तुलना करके कीमत–अनुपात (price relatives) तैयार किये जाते हैं। फिर उनका औसत (साधारणतया माध्य) लिया जाता है जिससे विभिन्न वर्षों के सूचनांक प्राप्त हो जाते हैं। यह विधि सरल होती है। इसमें आधार–वर्ष सामान्य होना चाहिए। यदि वह सामान्य वर्ष नहीं है तो कुछ वर्षों के औसत को 100 के बराबर मानकर आधार के रूप में लिया जा सकता है।

उदाहरण – निम्न समंकों का उपयोग करके सूचनांक बनाइए (i) स्थिर–आधार–विधि का उपयोग करके तथा (ii) श्रृंखला–आधार विधि का उपयोग करके।

वर्ष	कीमत (रु) वस्तु A	कीमत (रु) वस्तु B	कीमत (रु) वस्तु C
1980	8	6	4
1985	10	12	8
1990	18	18	12

हल –

(i) 1980 को आधार–वर्ष मानकर सूचनांक बनाना –

वस्तु	कीमत 1980 p_0	1985 p_1	1990 p_2	कीमत अनुपात 1980	(price relatives) 1985	1990
A	8	10	18	100	$\frac{p_1}{p_0} \times 100$ =125	$\frac{p_2}{p_0} \times 100$ = 225
B	6	12	18	100	200	300
C	4	8	12	100	200	300
			कुल	300	525	825
		औसत (कीमत अनुपातों का)		100	175	275

अत स्थिर–आधार विधि के सूचकांक इस प्रकार होंगे

1980	100
1985	175
1990	275

उत्तर

(ii) शृंखला–आधार विधि (Chain base method) –

इस विधि में प्रत्येक वर्ष की कीमत को उससे पिछले वर्ष की कीमत से तुलना करके लिंक–अनुपात या शृंखला–मूल्यानुपात (link relatives) बनाये जाते हैं। फिर उनका औसत लिया जाता है। इसके बाद उनको एक प्रारम्भ के स्थिर वर्ष से आधार–वर्ष के रूप में जोड़ा जाता है (Chained to a fixed base) जिससे शृंखला–आधार पर सूचनांक बन जाते हैं।

लाभ – (i) व्यापारी को शृंखला–आधार पर तैयार किये गये सूचनांक ज्यादा रुचिप्रद लगते हैं क्योंकि इनमें लिंक–अनुपातों (link relatives) को देखकर एक वर्ष की स्थिति की तुलना उससे ठीक पिछले वाले वर्ष से की जा सकती है। इसका भी अपना महत्व होता है।

(ii) इसमें नई मदें को जोड़ना व पुरानी मदों को घटाना आसान होता है। आज की बदलती दुनियाँ में इसका काफी उपयोग होने लगा है। लेकिन इस विधि से बहुत लम्बी अवधि में तुलना करने में कठिनाई होती है।

स्मरण रहे कि शृंखला–आधार विधि भी एक प्रकार से स्थिर–आधार पर ही सूचनांक बनाने की विधि होती है। लेकिन इसकी प्रक्रिया प्रथम विधि से भिन्न होती है। इसमें लिंक–अनुपातों को आपस में किसी स्थिर वर्ष पर जोड़ कर सूचनांक बनाये जाते हैं। इसलिए हम लिंक–अनुपातों से शृंखला–आधार वाले सूचनांकों पर जा सकते हैं, अथवा शृंखला–आधार वाले सूचनांकों से वापस लिंक–अनुपातों पर आ सकते हैं (From link relatives to chain base index numbers or from chain base index numbers to link relatives)। पुस्तकों में व कभी–कभी परीक्षाओं में जो प्रश्न स्थिर–आधार के सूचनांकों से शृंखला–आधार के सूचनांकों (from fixed base index numbers to chain base index) में परिवर्तित करने के लिए पूछे जाते हैं उनका कोई औचित्य नहीं लगता। अतः इस सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं रहना चाहिए। इसका अधिक स्पष्टीकरण निम्न उदाहरण से हो जाएगा–

(ii) शृंखला–आधार पर सूचनांक बनाना – (पिछली तालिका का उपयोग करके)

वस्तु	कीमत			लिंक-अनुपातों की राशियाँ (link relatives)		
	1980	1985	1990	1980	1985	1990
	p_0	p_1	p_2			
A	8	10	18	100	$\frac{p_1}{p_0}\times100$ =125	$\frac{p_2}{p_1}\times100$ =180
B	6	12	18	100	200	150
C	4	8	12	100	200	150
		लिंक –अनुपातों	का योग	300	525	480
(Average	of link- 'relatives)		लिंक-अनुपातों का औसत	100	175	160
(chain-base	Indices	शृंखला-आधार	पर सूचनांक	100	175	$\frac{160}{100}\times175$ = 280

इस प्रकार शृंखला–आधार के सूचनांक इस प्रकार है

1980	100
1985	175
1990	280

उत्तर

आवश्यक स्पष्टीकरण –

लिंक- अनुपातों से शृंखला–आधार के सूचनांकों पर जाने के लिए प्रथम दो वर्षों के परिणाम यथावत रहेंगे। तीसरे वर्ष के लिंक–अनुपातों में हम 100 का भाग देकर दूसरे वर्ष के शृंखला–सूचनांक से गुणा करके तीसरे वर्ष का शृंखला–आधार वाला सूचनांक प्राप्त कर पायेंगे, जैसा कि ऊपर तालिका में तीसरे वर्ष 1990 के लिए $\left(\frac{160}{100}\times175\right)=280$ के रूप में प्राप्त किया गया है। इसी प्रकार चौथे वर्ष के लिंक–अनुपातों में (यदि वह दिया हुआ हो) तो 100 का भाग देकर तीसरे वर्ष के शृंखला–सूचनांक 280 से गुणा करके चौथे वर्ष का शृंखला–आधार का सूचनांक प्राप्त किया जायगा, और यही क्रम आगे के वर्षों के लिए भी जारी रखा जायगा। यह एक बार जटिल लगता है, लेकिन कुछ प्रश्नों पर अभ्यास करने के बाद बहुत आसान हो जायगा। हम एक बार फिर स्मरण दिलाना चाहेंगे कि यदि कभी कोई परिवर्तन करना हो तो वह लिंक–अनुपातों से शृंखला–आधार के सूचनांकों में होता है, अथवा वापस शृंखला–आधार के सूचनांकों से लिंक–अनुपातों की तरफ होता है। इसके कुछ प्रश्न नीचे दिये जाते है –

प्रश्न निम्न औसत शृंखला—मूल्यानुपातों (average link Relatives) से शृंखला—सूचकांक तैयार कीजिए —

वर्ष	1972	1973	1974	1975	1976
औसत शृंखला— मूल्यानुपात	100	105	95	115	102

हल —

वर्ष	औसत शृंखला-मूल्यानुपात (link relatives)	शृंखला-सूचनांक (Chain Index Nos)
1972	100	100
1973	105	105
1974	95	$\frac{95}{100} \times 105 = 99.75$
1975	115	$\frac{115}{100} \times 99.75 = 114.71$
1976	102	$\frac{102}{100} \times 114.71 = 117.0$

अत शृंखला—सूचनांक क्रमश 100, 105, 99 75, 114 71 व 117.0 होंगे। ये सभी अंक 1972 = 100 से जुड गये है।

इसीलिए शृंखला—सूचनांक भी अपने ढंग का स्थिर आधार वाला सूचनांक माना गया है।

प्रश्न — निम्न शृंखला—सूचनांकों को लिंक—अनुपातों (link relatives) में बदलिये और दोनो का अर्थ समझाइए —

वर्ष	1972	1973	1974	1975	1976
शृंखला—सूचनांक	100	105	99 75	114 71	117 0

हल —

वर्ष	शृंखला-सूचनांक	शृंखला-मूल्यानुपात या लिंक-अनुपात
1972	100	100
1973	105	105
1974	99 75	$\frac{99.75}{105} \times 100 = 95$
1975	114 71	$\frac{114.71}{99.75} \times 100 = 115$
1976	117 0	$\frac{117.0}{114.71} \times 100 = 102$

इस प्रकार लिंक-अनुपात क्रमश = 100, 105, 95, 115 व 102 आते हैं।

(1) शृंखला—सूचनांकों का अर्थ— प्रश्न में दी गई सूचना के अनुसार 1976 में कीमत—स्तर 1972 की तुलना में 17 प्रतिशत अधिक रहा, 1975 में यह 1972 की तुलना में 14 71 प्रतिशत अधिक रहा, आदि, आदि।

इसमें प्रत्येक वर्ष के स्तर की तुलना स्थिर वर्ष 1972 से की जाती है।

(2) **लिंक–अनुपातों का अर्थ–** 1973 में कीमत–स्तर 1972 की तुलना में 5 प्रतिशत ऊँचा रहा 1974 में 1973 की तुलना में 5 प्रतिशत नीचा रहा 1975 में 1974 की तुलना में 15 प्रतिशत ऊँचा रहा एवं 1976 में 1975 की तुलना में 2 प्रतिशत ऊँचा रहा। इसमें एक वर्ष के स्तर की तुलना उसी के पिछले वर्ष के स्तर से की जाती है।

सूचनांकों से सम्बन्धित अन्य प्रश्न–

आधार–वर्ष को परिवर्तित करना व दो आधार–वर्ष वाले सूचनांकों को एक आधार–वर्ष पर लाना

(i) आधार–वर्ष परिवर्तित करना (base shifting) –

कभी–कभी कुछ कारणों से सूचनांकों का आधार–वर्ष बदलना जरूरी हो जाता है। एक कारण तो यह हो सकता है कि पहले का आधार–वर्ष पुराना पड गया है, और कोई हाल का वर्ष आधार–वर्ष के रूप में लेना आवश्यक हो गया है। सूचनांकों के दो सिरीज की तुलना करने के लिए उन्हें एक कॉमन आधार–वर्ष पर लाना आवश्यक हो सकता है। आधार–वर्ष बदलने की प्रक्रिया बहुत आसान होती है। यह निम्न उदाहरण से समझाया गया है। निम्न सिरीज को 1985 के आधार–वर्ष पर बदलिए –

सूचनांक (1980=100)

1980	1981	1982	1983	1984	1985
100	120	140	150	165	200

हल

वर्ष	सूचनांक (1980 = 100)	नया आधार-वर्ष (1985=100)
1980	100	50
1981	120	60
1982	140	70
1983	150	75
1984	165	$\frac{165}{200} \times 100 = 82.5$
1985	200	100

1985 के लिए पूर्व सूचनांक 200 था, जिसे अब 100 बनाना है। 100 अंक 200 अंक का $\frac{1}{2}$ है, अत सभी सूचनांक पहले से आधे कर दिये गये हैं।

सूचनांकों के दो सिरीज को जोड़ना *(splicing of index numbers)* –

किसी भी आर्थिक क्षेत्र में जब दो सिरीज साथ–साथ चलते है तो तुलना के लिए उनको परस्पर जोडना आवश्यक हो जाता है। इसके लिए लिंक–अनुपात ज्ञात कर लेते है। यह निम्न उदाहरण में स्पष्ट किया गया है।

उदाहरण — निम्न तालिका अखिल भारतीय उपभोक्ता मूल्य सूचनांकों के आंकड़े आधार—वर्ष 1960=100 व 1982=100 पर दिये हुए हैं। उन्हें 1960 के आधार—वर्ष पर जोड़कर एक पूरा सिरीज तैयार करिए[1] उसका परिणाम भी बताइए।

(महीनों का औसत)

	आधार 1960=100	आधार 1982 = 100
1982 83	486	
1983 84	547	111
1984 85		118
1985 86		126
1986 87		137
1987 88		149
1988 89		163
1989 90		173
1990-91		193
1991 92		219
1992 93		240

हल — यहाँ लिंकिंग-फैक्टर (linking factor) $\frac{547}{111}$ = 4 928 आता है। अत 1984 85 व बाद में आधार 1982 = 100 के सभी सूचनांकों को 4 928 से गुणा करके उन वर्षों के लिए *आधार 1960 = 100* पर सूचनांक प्राप्त हो जायेंगे। 1960 के आधार-वर्ष पर जोड़ने से पूरा सिरीज नीचे दिखाया गया है।

आधार (1960 = 100) (सामान्य सूचनांक)

1982 83	486
1983 84	547
1984 85	118 × 4 928 = 581 5
1985 86	126 × 4 928 = 620 9
1986–87	137 × 4 928 = 675 1
1987–88	149 × 4 928 = 734 3
1988–89	163 x 4 928 −803.3
1989–90	173 × 4 928 852.5
1990–91	193 × 4 928 = 951 1
1991 92	219 × 4 928 = 1079 2
1992 93	240 x 4 928 = 1182 7

---

1 Economic Survey 1993 94, p S 68 से प्राप्त। ये वास्तविक आंकड़े हैं। अत इनका विशेष महत्त्व है।

इन आकडों की सहायता से यह स्पष्ट हो जाता है कि 1992 93 में उपभोक्ता मूल्य सूचकाक (1960 = 100 मानने पर) 1183 हो गया । इसका अर्थ यह है कि 1960 में 100 रुपयों में जो वस्तुए व सेवाए आती थी उनको प्राप्त करने के लिए 1992 93 में लगभग 1183 की आवश्यकता हुई । इस प्रकार 1992 93 में रुपये का मूल्य घटकर 1960 की तुलना मे 8.5 पैसे मात्र रह गया ।

सूचनांकों की सहायता से 'डिफ्लेट'[1] करने की प्रक्रिया—

सूचनांको का प्रयोग कुछ चलराशियों को प्रचलित मूल्यों से किसी विशेष वर्ष के स्थिर मूल्यों पर लाने के लिए बहुत प्रचलित हो गया है। उत्पादन की प्रगति के अध्ययन में हमें उत्पत्ति के मूल्य को अथवा जोड़े गये मूल्य को (Value added) को प्रचलित मूल्यों से स्थिर मूल्यों पर लाना होता है, तभी तुलना सार्थक होती है। इसी प्रकार स्थिर पूँजी (fixed capital) विनियोग मजदूरी, उपभोग व्यय आदि के आंकडों को भी किसी विशेष वर्ष में में आधार पर समायोजित (adjust) करना पडता है। यह कार्य आवश्यक सूचनांकों की सहायता से किया जाता है। उदाहरण के लिए हम मौद्रिक रूप में प्राप्त मजदूरी को उपभोक्ता-मूल्य सूचनांकों से 'डिफ्लेट' या समायोजित करके वास्तविक मजदूरी की जानकारी कर सकते हैं।

यह निम्न उदाहरण की सहायता से समझाया गया है।

उदाहरण— निम्न तालिका में सार्वजनिक क्षेत्र के कर्मचारियों की प्रति व्यक्ति आमदनी के वार्षिक आंकडे दिये गये है। साथ मे 1960 = 100 के आधार पर इन्हीं वर्षों के लिए अखिल भारतीय उपभोक्ता मूल्य सूचनांक भी दिये गये है। इनसे प्रति व्यक्ति आमदनी को 'डिफ्लेट' करके 1960 के आधार पर वास्तविक प्रति व्यक्ति आमदनी ज्ञात कीजिए —

वर्ष	प्रति व्यक्ति आमदनी (रु में)	उपभोक्ता मूल्य सूचनांक का औसत (1960=100)
1987 88	32537	736
1988 89	39415	803
1989 90	43665	855
1990 91	49179	951
1991 92	56508	1079
1992 93	64710	1185

(स्रोत- Economic Survey 1993 94 p S 55)

1987 88	32537	736	4420 8
1988 89	39415	803	4908.5
1989 90	43665	855	5107 0
1990 91	49179	951	5171.3
1991 92	56508	1079	5237 1
1992 93	64710	1185	5460 8

प्रति व्यक्ति वास्तविक आमदनी (1960 के आधार पर) ज्ञात करने की प्रक्रिया बहुत सरल होती है, जैसे 1987-88 की प्रति व्यक्ति वास्तविक आमदनी $\frac{32537}{736} \times 100$ = 4420.8 रुपये होगी। इसी प्रकार अन्य वर्षों के लिए प्रति व्यक्ति मौद्रिक आमदनी की तुलना में बहुत कम है, जो महगाई के प्रभाव को सूचित करती है। इस क्षति को पूरा करने के लिए सरकार महगाई भत्ता देती है जिससे कुछ सीमा तक कर्मचारियों को राहत मिल पाती है।

एच एल चंधोक (H L. Chandhok) (1978 व 1990) ने डिफ्लेशन में प्रयुक्त करने के लिए आवश्यक थोक मूल्य सूचनांक उपलब्ध किये है जो रिसर्च करने वालो के लिए बहुत उपयोगी है।

फिशर का "आदर्श" सूचनांक

प्रोफेसर इरविंग फिशर ने 134 सूचनांकों के सूत्रों की व्यापक जाच के बाद सूचनांक बनाने का अपना सूत्र दिया है जो काफी लोकप्रिय रहा है।

यह सूत्र नीचे दिया जाता है

$$P_{01} = \sqrt{\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1}} \times 100$$

यह लास्पेयर (Laspeyres) के सूत्र

$P_{01} = \frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0}$ (जिसमें आधार-वर्ष की मात्राओ को भार के रूप में प्रयुक्त किया जाता है) तथा

पाशे (Paasche) के सूत्र

$P_{01} = \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1}$ (जिसमें वर्तमान वर्ष की मात्राओं को भार के रूप में प्रयुक्त किया जाता है)

का ज्यामितीय माध्य (geometric mean) है।

फिशर ने अपने सूत्र की विशेषताओं में बतलाया है कि यह दो जाचों को पूरा करता है, इसलिए यह एक आदर्श सूत्र है। ये दो तरह के परीक्षण (tests) निम्नांकित है —

(i) समय-उत्क्राम्यता या परिवर्तन परीक्षण (Time Reversal test) — इसका अर्थ यह है कि आगे की दिशा में जो सूचनांक बनाया जाता है, वह पिछली दिशा में बनाये गये सूचनांक का उल्टा (reciprocal) होता है, अर्थात् निम्न समीकरण को पूरा करता है

$$P_{01} \times P_{10} = 1$$

सरल शब्दों में, इसे हम यो भी कह सकते है कि यदि 1970 से 1990 के बीच कीमत-सूचनांक दुगुना (आधार-वर्ष 1970 = 100) हो गया, तो यह 1970 में 1990 को आधार-वर्ष मानने पर आधा हो जायगा। इसका प्रमाण नीचे दिया जाता है —

$P_{01} = \sqrt{\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1}}$ (मूल सूत्र के अनुसार)

अब 0 की जगह 1 व 1 की जगह 0 रखने पर

$P_{10} = \sqrt{\frac{\Sigma p_0 q_1}{\Sigma p_1 q_1} \times \frac{\Sigma p_0 q_0}{\Sigma p_1 q_0}}$ होगा,

जिससे $P_{01} \times P_{10} = \sqrt{\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1} \times \frac{\Sigma p_0 q_1}{\Sigma p_1 q_1} \times \frac{\Sigma p_0 q_0}{\Sigma p_1 q_0}}$

= 1 होगा। (हल करने के बाद)

(ii) तत्त्व - उत्क्राम्यता या परिवर्तन परीक्षण (Factor Reversal Test) —

फिशर के सूत्र में समय-तत्त्व व मात्रा - तत्त्व पाये जाते हैं। फिशर का कहना है कि इनको आपस में बदल दिया जाय तो भी परिणाम संगत (Consistent) ही निकलेंगे। दूसरे शब्दों में, कीमतों व मात्राओं को परस्पर बदलकर इनको गुणा करने से असली मूल्य-अनुपात आ जायगा,

अर्थात् $P_{01} \times Q_{01} = V_{01} = \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_0}$ होगा।

पुन $P_{01} = \sqrt{\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1}}$

तथा $Q_{01} = \sqrt{\frac{\Sigma q_1 p_0}{\Sigma q_0 p_0} \times \frac{\Sigma q_1 p_1}{\Sigma q_0 p_1}}$ (p की जगह q व q की जगह p रखने पर)

जिससे $P_{01} \times Q_{01} = \sqrt{\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1} \times \frac{\Sigma q_1 p_0}{\Sigma q_0 p_0} \times \frac{\Sigma q_1 p_1}{\Sigma q_0 p_1}}$

$= \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_0}$ (चूँकि ऊपर $\Sigma p_1 q_1$ दो बार आया है और नीचे $\Sigma p_0 q_0$ दो बार आया है)

इस प्रकार फिशर का सूत्र तत्त्व परिवर्तन के परीक्षण को भी सन्तुष्ट करता है। अब हम फिशर के 'आदर्श' सूत्र से सम्बन्धित प्रश्न को हल करते हैं —

प्रश्न — नीचे दिये समंकों से फिशर का आदर्श निर्देशांक ज्ञात कीजिये तथा यह भी बताइये कि समय-उत्क्राम्यता-परीक्षण तथा तत्त्व- उत्क्राम्यता-परीक्षण को यह किस प्रकार सन्तुष्ट करता है —

वस्तु	आधार वर्ष कीमत	आधार वर्ष मात्रा	चालू वर्ष कीमत	चालू वर्ष मात्रा
A	6	50	10	56
B	2	100	2	120
C	4	60	6	60
D	10	30	12	24
E	8	40	12	36

वस्तु	आधार वर्ष कीमत p_0	आधार वर्ष मात्रा q_0	चालू वर्ष कीमत p_1	चालू वर्ष मात्रा q_1	$p_0 q_0$	$p_1 q_0$	$p_1 q_1$	$p_0 q_1$
A	6	50	10	56	300	500	560	336
B	2	100	2	120	200	200	240	240
C	4	60	6	60	240	360	360	240
D	10	30	12	24	300	360	288	240
E	8	40	12	36	320	480	432	288
				योग	1360 $=\Sigma p_0 q_0$	1900 $=\Sigma p_1 q_0$	1880 $=\Sigma p_1 q_1$	·1344 $=\Sigma p_0 q_1$

फिशर का आदर्श सूचनांक

$$P_{01} = \sqrt{\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1}} \times 100$$

$$= \sqrt{\frac{1900}{1360} \times \frac{1880}{1344}} \times 100 \qquad = \sqrt{\frac{22325}{11424}} \times 100$$

$$= \sqrt{1\ 9542} \times 100$$

$$= 1.398 \times 100 = 139\ 8$$

(i) समय-उत्क्राम्यता-परीक्षण की पुष्टि के लिए

$$P_{01} \times P_{10} = 1, \text{ अर्थात् } \sqrt{\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1} \times \frac{\Sigma p_0 q_1}{\Sigma p_1 q_1} \times \frac{\Sigma p_0 q_0}{\Sigma p_1 q_0}} = 1$$

$$\text{या } \sqrt{\frac{1900}{1360} \times \frac{1880}{1344} \times \frac{1344}{1880} \times \frac{1360}{1900}} = \sqrt{1} = 1 \text{ (प्रमाणित)}$$

(ii) तत्त्व-उत्क्रम्यता-परीक्षण की पुष्टि के लिए —

$$P_{01} \times Q_{01} = V_{01} = \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_0} \text{ होना चाहिए,}$$

$$= \sqrt{\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1} \times \frac{\Sigma q_1 p_0}{\Sigma q_0 p_0} \times \frac{\Sigma q_1 p_1}{\Sigma q_0 p_1}}$$

$$= \sqrt{\frac{1900}{1360} \times \frac{1880}{1344} \times \frac{1344}{1360} \times \frac{1880}{1900}}$$

$$= \sqrt{\frac{1880 \times 1880}{1360 \times 1360}} = \frac{1880}{1360} = \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_0} \text{ दायीं तरफ (प्रमाणित)}$$

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए अब हम सूचनांकों के महत्व व उपयोगों को स्पष्ट करते हैं, तथा साथ में इनकी सीमाएं भी बतलाते हैं।

1. सूचनांकों का महत्व व उपयोग—

हमने देखा कि आजकल आर्थिक समस्याओं के विश्लेषण व विवेचन में सूचनांकों की भूमिका काफी महत्वपूर्ण हो गई है। विशेषतया उत्पादन व कीमतों के सूचनांक बहुत ज्यादा प्रयुक्त होने लगे हैं। सूचनांकों से हमें निम्न लाभ प्राप्त होते हैं—

(i) आर्थिक नीतियाँ निर्धारित करने में योगदान—

मुद्रास्फीति की वार्षिक दर थोक मूल्यों के सूचनांकों व उपभोक्ता—मूल्यों के सूचनांकों पर निर्भर करती है। इनके आधार पर देश की मौद्रिक नीति व राजकोषीय नीति निर्धारित की जाती है। कृषिगत उत्पादन व औद्योगिक उत्पादन सूचनांकों का उपयोग देश की कृषिगत नीति व औद्योगिक नीति के निर्धारण में किया जाता है।

(ii) आर्थिक प्रगति व प्रवृत्तियों को जानने में सूचनांक सहायक होते हैं। ये व्यापार की दशाओं को स्पष्ट करते हैं।

(iii) भावी आर्थिक क्रिया के अनुमान लगाने में सूचनांकों का प्रयोग किया जाता है। ये दीर्घकालीन परिवर्तनों व अल्पकालीन उच्चावचनों के अध्ययन में मदद देते हैं।

(iv) ये चालू मूल्यों से स्थिर मूल्यों में 'डिफ्लेट' करने में महत्वपूर्ण योगदान देते है। उत्पत्ति के मूल्य, जोडे गये मूल्य (Value-added), स्थिर पूंजी (fixed capital), मौद्रिक मजदूरी, आदि को स्थिर मूल्यों पर डिफ्लेट करके वास्तविक स्थिति की जानकारी की जाती है। आजकल अर्थशास्त्र में रिसर्च में ये 'डिफ्लेटर्स' बहुत काम आते हैं और इनका निर्माण सूचनांकों के आधार पर ही किया जाता है।

(v) सूचनांक तुलना के साधन होते हैं— ज्यादातर तुलना करने में सूचनांकों का प्रयोग बहुत प्रचलित है। जिन तत्वों को हम प्रत्यक्ष रूप से नही माप सकते, जैसे व्यापार की दशा, कीमत—स्तर, उत्पादन का स्तर, आदि उनका अध्ययन तो बिना सूचनांकों के सम्भव ही नहीं है।

इस प्रकार सूचनांकों की अनिवार्यता स्पष्ट हो जाती है।

2 सूचनांकों की सीमाएं (Limitations) —

(i) ये सेम्पल सूचना पर आधारित होते हैं, जैसे जीवन—निर्वाह सूचनांकों में पारिवारिक बजटों के आधार पर भार निर्धारित होते हैं, लेकिन इसके लिए केवल सेम्पल—परिवारों से सूचना एकत्र की जाती है। अत इनके परिणाम सेम्पल—सर्वेक्षण की गुणवत्ता व कार्यकुशलता पर निर्भर करते है और यह काम काफी जटिल किस्म का होता है जिसे विशेषज्ञ ही कर सकते हैं।

(ii) वस्तुओं की गुणवत्ता (क्वालिटी) में काफी परिवर्तन होता रहता है, इसलिए उन सबका पूरा ध्यान रखना कठिन होता है जिससे सूचनांक कम निश्चित हो जाते हैं।

(iii) सूचनांक बनाने के सूत्र पूर्ण नहीं होते। किसी में ऊँचा अंक आने की सम्भावना होती है तो किसी में नीचा अंक आने की। फिशर का सूत्र 'आदर्श' तो है, लेकिन व्यवहार में चालू वर्ष की मात्राओं के आसानी से उपलब्ध न होने से प्रयुक्त

नहीं हो पाता। भारत में थोक मूल्य सूचनांक व उपभोक्ता मूल्य सूचनांक बनाने में लास्पेयर का सूत्र $\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0}$ ×100 प्रयुक्त होता है।

(iv) प्राय सूचनांक बनाने के लिए पर्याप्त आंकडे ठीक समय पर नहीं मिलते।

(v) सूचनांक का प्रयोग अलग–अलग लोग अपने तर्क को सिद्ध करने के लिए किया करते है जिससे इनके दुरुपयोग की सम्भावनाएं बढ़ जाती हैं। ऊँचा व नीचा आधार–वर्ष लेकर वर्तमान स्थिति के बारे में कोई भी निष्कर्ष प्रस्तुत किया जा सकता है। अत हम कह सकते है कि सूचनांक तीखे औजार की भांति है जिनका प्रयोग बडी सावधानी सतकता व दक्षता के साथ करने से ही उत्तम परिणाम निकल सकते हैं। ये एक प्रकार के औसत है जो तुलना में भारी मदद पहुचाते हैं और इनका निर्माण व प्रयोग नियमों का पूरी तरह पालन करके ही किया जाना चाहिए, अन्यथा ये घातक सिद्ध हो सकते है।

प्रश्न

1 सूचकाको की अवधारणा एव इसके उपयोगो पर एक सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (Ajmer Iyr 1992)

2 निम्नलिखित का अर्थ स्पष्ट कीजिए

(i) साधारण सूचकाक निर्माण के लिए आधार वर्ष का चुनाव (Ajmer Iyr 1993

(ii) आधार वर्ष का परिवर्तन व दो सूचकाकों के सिरीज को आपस में जोडना (Splicing)

(iii) सूचकाकों मे भार (Weights) का उपयोग

(iv) लिंक अनुपात (link relatives) व कीमत अनुपात (price relatives) मे अतर

3 लॉरेंज वक्र अथवा सूचकाक की अवधारणा पर एक नोट लिखिये। (Raj Iyr 1992)

4 निम्नलिखित का उत्तर दीजिए

(अ) रुपये के मूल्य में परिवर्तनों का अध्ययन करने के लिए कौन–से सूचनांक प्रयुक्त किये जायेंगे और क्यों?

(ब) यदि ब्यावर में वस्त्र–श्रमिकों के लिये उपभोक्ता मूल्य सूचनांक 1965 से 1975 की अवधि में 100 से 200 हो जाते है तथा अजमेर में वस्त्र–श्रमिकों के लिए इसी अवधि में 100 से 250 हो जाते है तो क्या अजमेर शहर ब्यावर से अधिक महंगा माना जायेगा?

[(अ) थोक मूल्य– सूचनांक, क्योंकि ये अधिक व्यापक होते हैं, तथा ज्यादा वस्तुओं के मूल्यों पर आधारित होते हैं।

(ब) यह आवश्यक नहीं कि इन आकडो के आधार पर अजमेर शहर ब्यावर से अधिक महंगा हो क्योंकि दोनों शहरों के वस्त्र–श्रमिकों में भार का प्रारूप भिन्न हो

सकता है, अर्थात् वस्तुओं व सेवाओं का समूह दोनों के लिए भिन्न–भिन्न हो सकता है।]

5 निम्नलिखित समंको से वर्ष 1984 को आधार वर्ष मानकर 1985 और 1986 के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचनांकों की रचना कीजिए –

		कीमत (रु में)		
वस्तुए	भार	1984	1985	1986
A	4	20 00	21 00	24 00
B	3	1 25	1 00	1 50
C	2	5 00	8 00	8 00
D	1	2 00	2 12	2 25

पहले 1985 और 1986 के लिए मूल्य–अनुपात ज्ञात कीजिए।

[1984 = 100
1985 = 108 6
1986 = 127 25]

6. फिशर के आदर्श सूत्र की सहायता से निम्नलिखित आंकडों के आधार पर चालू वर्ष के लिए सूचक अंक की गणना कीजिए –

वस्तु	आधार-वर्ष की कीमत	आधार वर्ष की मात्रा	चालू वर्ष की कीमत	चालू वर्ष की मात्रा
A	8	50	12	60
B	3	20	4	40
C	10	24	15	30
D	5	100	4	200

[P_{01} = 115 9]

[$\Sigma p_1 q_0 = 1440$, $\Sigma p_0 q_0 = 1200$, $\Sigma p_1 q_1 = 2130$ तथा $\Sigma p_0 q_1 = 1900$]

7. निम्न समकों से फिशर की विधि से मूल्य सूचनाक ज्ञात कीजिए –

मद	1980 मात्रा (q_0)	1992 कुल व्यय ($p_0 q_0$)	कीमत (p_1)	कुल व्यय ($p_1 q_1$)
A	8	16	4	24
B	10	50	6	30
C	14	56	5	50
D	19	38	2	26

क्या यह समय उत्क्राम्यता जाच को सतुष्ट करता है ? (Raj Iyr 1993)

[$\Sigma p_1 q_0 = 200$, $\Sigma p_0 q_0 = 160$, $\Sigma p_1 q_1 = 130$ तथा $\Sigma p_0 q_1 = 103$ तथा सूचकांक =125.9 अथवा लगभग 126] उत्तर

(संकेत – पहले 1980 के लिए p_0 ज्ञात करें तथा 1992 के लिए q_1 ज्ञात करें।)

8 निम्न–शृंखला–आधार सूचनांकों से लिंक–अनुपात (link relatives) ज्ञात कीजिए –

वर्ष	1986	1987	1988	1989	1990
शृंखला - आधार पर सूचनांक	90	105	102	95	99

[लिंक-अनुपात = 90, 116 6 97 1, 93 1, 104.2]

9 निम्न आकड़ों से विभिन्न वर्षों के लिए एक व्यक्ति की वास्तविक आय ज्ञात कीजिए। इसके लिए मौद्रिक आय को उपभोक्ता–कीमत–सूचनांकों से 'डिफ्लेट' कीजिए।

वर्ष	1985	1986	1987	1988	1989	1990
मौद्रिक आय (रु) (हजारों में)	36	42	50	55	60	64
उपभोक्ता -कीमत- सूचनांक	100	104	115	160	280	290

[वास्तविक आय (हजारों में) 36, 40 4 43 5, 34 4, 21 4, 22 1]
(प्रत्येक वर्ष की मौद्रिक आय में उसी वर्ष के उपभोक्ता–कीमत–सूचनांक का भाग देने पर)

10 उपर्युक्त प्रश्न में उस व्यक्ति के वास्तविक आय के सूचनांक ज्ञात कीजिए।
[वास्तविक आय के सूचनांक=100 112 2 120 8 95.5, 59 4, 61 4]

11 चार विभिन्न वस्तुओं के 1980 व 1990 के मूल्य नीचे दिये जाते हैं।
(i) भारित समग्र–विधि (Weighted aggregative method) व
(ii) पारिवारिक बजट विधि या भारित अनुपातों (मूल्यानुपातों) के औसत की विधि (Weighted average of the relatives method) अपना कर 1990 का सूचनांक ज्ञात कीजिए

समूह	भार	1980	1990
A	5	2 00	4 50
B	7	2 50	3 20
C	6	3 00	4 50
D	2	1 00	1 80

संकेत – $\Sigma IV = 3281$ तथा $\Sigma V = 20$ सूचनांक $= \frac{3281}{20} = 164\ 05$]

12 सूचनांकों से सम्बन्धित प्रमुख प्रश्नों को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत स्पष्ट कीजिए
(i) सूचनांक का उद्देश्य,
(ii) आधार–वर्ष का चुनाव,
(iii) वस्तुओं का चुनाव

(iv) भारो का निर्धारण
(v) अन्य ।

13 भारत मे थोक मूल्य सूचनाक दो आधार-वर्षो 1970-71 व 1981-82 पर नीचे दिये हुए हैं । उनको जोडकर 1970-71 के आधार पर पूरा सिरीज दीजिए । उसके परिणाम को स्पष्ट कीजिए । **(स्रोत** *Economic Survery 1992 93* **पृ** *S 64* **से प्राप्त) (सप्ताहो का औसत)**

(समस्त वस्तुओ के सूचनाक)

आधार वर्ष	1970-71 = 100	आधार वर्ष 1981-82 = 100
1985-86	357 8	
1986-87	376 8	
1987-88	405 4	
1988-89	435 3	154 3
1989 90		165 7
1990 91		182 7
1991-92		207 8

[इनमे लिकिग-फैक्टर (linking factor) = 435 3/154 3=2 821 है । अत 1970 71 के आधार पर शेष सूचनाक इस प्रकार होगे-

वर्ष	
1989 90	165 7×2 821 = 467 4
1990-91	182 7×2 821 = 515 4
1991-92	207 8×2 821 = 586 2

चूकि 1991-92 का थोक मूल्य सूचनाक 586 2 है, इसका अर्थ यह हुआ कि 1970-71 की तुलना मे थोक मूल्य सूचनाक 1991-92 मे लगभग 5 86 गुना हो गया]

14 उपर्युक्त प्रश्न मे 1970-71 के सूचनाको को 1981-82 के सिरीज मे बदलिए । यहाँ लिकिग-फैक्टर 154 3/435 3=0 354 आता है, इसलिए 1970-71 के सिरीज को 1981 82 पर ले जाने के बाद 1985-86 से 1987-88 से सूचनाक इस प्रकार बदल जायेगे -

1970-71 के सिरीज को 1981-82 पर बदलने से

1985-86	357 8×0 354 = 126 7
1986-87	376 8×0 354 = 133 4
1987-88	405 4×0 354 = 143 5

बाकी के सूचनाक 1988-89 से 1991-92 तक के 1981-82 के आधार-वर्ष पर प्रश्न मे दिये हुए है । इस प्रकार 1981-82 के आधार पर पूरा सिरीज बन जाता है ।

★ ★ ★

22
व्यापारिक बैंकों द्वारा साख—सृजन
Credit Creation by Commercial Banks)

व्यापारिक बैंकों का देश के आर्थिक विकास में एक महत्वपूर्ण योगदान होता है। ये लोगों की बचत संग्रह करते हैं और विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों जैसे कृषि, उद्योग, व्यापार आदि को कर्ज देते हैं। बैंक आधुनिक युग में प्रमुख वित्तीय संस्था के रूप में कार्य करते हैं। इनके महत्व का इस बात से पता चलता है कि भारत में 19 जूलाई 1969 को 14 बड़े अनुसूचित व्यापारिक बैंकों का एवं अप्रेल, 1980 में छ और बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया था। भारतीय स्टेट बैंक व इसके सात अन्य सहायक बैंको सहित अब हमारे देश में सार्वजनिक क्षेत्र में 28 बैंक हो गये हैं जिनके पास कुल बैंक—जमाओं का 90% से अधिक अंश है। सरकार इन बैंकों के साधनों का आर्थिक विकास में ज्यादा अच्छी तरह से उपयोग करने का प्रयास कर रही है। हमारे देश में बैंक कार्यालयों (सभी अनुसूचित भारतीय व्यापारिक बैंकों, विदेशी बैंकों व गैर—अनुसूचित बैंकों सहित) की संख्या 1951 के अन्त में 4,151 थी, जो 30 जून 1993 को 61059 हो गई।[1] देश के पिछड़े इलाकों में जहाँ अभी तक बैंक नहीं थे, वहाँ बैकों की काफी शाखाएँ खोली गई है। 1975 से देश के विभिन्न भागों में प्रादेशिक ग्रामीण बैंक स्थापित करने का एक नया कार्यक्रम चलाया गया ताकि समाज के कमजोर वर्गों को साख की उचित सुविधा मिल सके।

व्यापारिक बैंकों के कार्य

भारत में बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949 के अनुसार 'बैंकिंग' की परिभाषा इस प्रकार है—

"बैंकिंग का आशय जनता से मुद्रा की ऐसी जमाओं को उधार अथवा विनिमय के उद्देश्य के लिए स्वीकार करना होता है जो माँगने पर, अथवा अन्यथा वापस करनी होती है, और चैक, ड्राफ्ट, आज्ञा या अन्य तरीकों से निकाली जा सकती है।" बैंक मुद्रा जमा करते हैं तथा उधार देते है। वे मुद्रा व साख का लेन—देन करते हैं। हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे कि **वे नकद—जमाओं (Cash deposits) की नींव पर नई जमाओं का महल खड़ा करते हैं जिसे साख—सृजन कहा जाता है।**

1 Economic Survey 1993 94, p s-60

एक आधुनिक व्यापारिक बैंक के कार्य

एक आधुनिक व्यापारिक बैंक के कार्य काफी बढ़ गये हैं। ये रुपया जमा करने व उधार देने के अलावा अपने ग्राहकों के लिए कई प्रकार की सेवाएं उपलब्ध करते हैं। नीचे इनके कार्यों का संक्षिप्त परिचय देकर आगे साख–सृजन का विस्तृत विवेचन किया गया है।

एक आधुनिक व्यापारिक बैंक के कार्य

(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
जमाएँ स्वीकार करना	उधार देना	ग्राहकों के लिए एजेन्सी के कार्य व सुविधाएँ	भारत में नए कार्य।	साख-सृजन करना या जमा का निर्माण करना

विभिन्न कार्यों का संक्षिप्त परिचय - व्यापारिक बैंक कई प्रकार के खातो जैसे चालू, बचत व अवधि-जमा खातो के रूप में लोगों की बचतें जमा करते है। जून 1989 से एक नई स्कीम के अन्तर्गत ये जमा-सर्टिफिकेट (Certificates of Deposit) (CDs) भी जारी कर सकते हैं। शुरू मे ये 25 लाख रु के गुणन मे जारी किये गये। (बाद मे 10 लाख रु के गुणन में) तथा प्रत्येक निर्गम की न्यूनतम राशि एक करोड़ रु (बाद में 50 लाख रु) रखी गई। CDs के निर्गम की सीमा 2 मई 1992 से समग्र जमाओ का 7% कर दी गई, जो पहले 5% थी।

व्यापारिक बैंक ग्राहकों को ओवर-ड्राफ्ट, नकद-साख, बिल की खरीद आदि के रूप में उधार की सुविधा देते हैं। ये अपने ग्राहकों के लिए एजेन्सी के कार्य भी करते हैं जैसे उनके चैक के रुपये एकत्र करना, लॉकर की सुविधा देना, ग्राहकों के लिए शेयर खरीदना, आदि। भारत में आजकल इनके कार्य बढ़ते जा रहे हैं, जैसे यात्रा चैक, उपहार–चैक व साख–कार्ड जारी करना।

लेकिन व्यापारिक बैंकों का एक महत्वपूर्ण कार्य **साख–सृजन करना या साख अथवा जमा का निर्माण करना** (credit creation or deposit creation) है, जिसके माध्यम से ये सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते हैं। इसका विस्तृत विवेचन नीचे दिया जाता है।

व्यापारिक बैंकों के द्वारा साख–निर्माण अथवा जमा–निर्माण

(Credit Creation or Deposit Creation by Commercial Banks)

व्यापारिक बैंक साख–सृजन करके आर्थिक जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जब कोई व्यक्ति बैंक में 100 रुपये जमा कराता है तो बैंक रिजर्व-अनुपात (reserve-ratio) के 20 प्रतिशत होने पर उनके आधार पर कुल $\frac{100}{\frac{1}{5}}$ $= 100 \times 5 = 500$ रुपये तक की जमा का निर्माण कर सकता है। हम आगे बैंकों द्वारा किये जाने वाले साख–सृजन की प्रक्रिया को स्पष्ट करेंगे। लेकिन उससे पहले लेन–देन के चिट्ठे (Balance Sheet) व रिजर्व-अनुपात से भली–भांति परिचित होना आवश्यक है। उसके बिना साख–सृजन की प्रक्रिया स्पष्ट नहीं हो सकती।

बैंक का लेन–देन का चिट्ठा (Balance Sheet of a Bank)

भारत में एक व्यापारिक बैंक के लेन–देन के चिट्ठे में प्राय अग्रलिखित मदे पाई जाती है[1] –

पूँजी व देनदारियाँ (Capital & Liabilities)	लेनदारियाँ या परिसम्पत्तियाँ (Assets)
1 शेयर-पूँजी	1 नकद (Cash)
2 रिजर्व कोष व अन्य रिजर्व	2 इस बैंक की अन्य बैंकों के पास जमा राशियाँ
3 जमाएँ	3 अल्प नोटिस व माँगने पर वापस की जाने वाली उधार राशियाँ (Money at Call and Short Notice)
4 देय बिल (Bills Payable)	4 विनियोग की राशियाँ (Investments)
5 लाभ व हानि खाता	5 अग्रिम राशियाँ (Advances)
6 अन्य देयताएँ	6 भवन, फर्नीचर, आदि
	7 अन्य परिसम्पत्तियाँ

पूँजी व देनदारियाँ–

बैंक के लेन–देन के चिट्ठे की बायीं तरफ बैंक की शेयर पूँजी रिजर्व कोष, जमा–राशियाँ (माँग–जमा व अवधि–जमा) बैंकों द्वारा जिन बिलों का भुगतान *किया जाना है, उनकी राशियाँ तथा अन्य मदें दिखलाई जाती हैं। यह स्मरण रखना* चाहिए **कि जब कभी बैंक में कोई रुपया जमा करता है तो यह देनदारियों की तरफ दिखलाया जाता है।** इसका कारण यह है कि वह रकम बाद में जमाकर्त्ता को वापस की जानी है। **इसलिए ग्राहक की जमा–राशि बैंक की देनदारी मानी जाती है।**

लेनदारियाँ या परिसम्पत्तियाँ– चिट्ठे के दायी तरफ शुरू में नकद राशि दिखलाई जाती है। बाद में इस बैंक की अन्य बैंकों के पास पड़ी जमा–राशियाँ दिखलाई जाती हैं। फिर उस मुद्रा का स्थान आता है जो माँगते ही उधार लेने वालों के द्वारा बैंक को वापस लौटानी होती है अथवा अल्प समय का नोटिस मिलते ही वापस करनी होती है। तत्पश्चात् बैंक के द्वारा किये गये विनियोग आते हैं, जैसे सरकारी प्रतिभूतियों की खरीद व अन्य कम्पनियों के शेयर आदि की खरीद। उसके बाद बैंक द्वारा दी गई उधार की राशियाँ आती है। दूसरे शब्दों में उधार लेने वाले लोग बैंक के ऋणी (Debtors) होते है। अन्त में बैंक की इमारत फर्नीचर व अन्य साज–सामान आते हैं। ये परिसम्पत्तियाँ तरलता (liquidity) के क्रम में दिखलाई गई है, अर्थात् सबसे अधिक तरल मद सबसे ऊपर आती है। उसके बाद कम तरल मद आती है आदि। इसलिए नकद राशि का स्थान सबसे ऊपर होता है।

1 अमेरिका में देनदारियों को दाहिनी तरफ एवं परिसम्पत्तियों को बायी तरफ दिखाया जाता है। यहाँ पर हमने भारत में प्रचलित विधि का ही उपयोग किया है।

स्मरण रहे कि एक व्यक्ति के द्वारा बैंक में 100 रुपये नकद राशि जमा कराने पर देनदारियों की तरफ जमाएं (deposits) 100 रुपये बढ़ जायेगी और लेनदारियों की तरफ भी नकद-राशि 100 रुपये बढ़ जायेगी। ठीक यही स्थिति उस समय होती है जब देश के केन्द्रीय बैंक से व्यापारिक बैंक को 100 रुपये की जमाराशि प्राप्त होती है। बाकी के परिवर्तन आगे चलकर स्पष्ट किये जायेंगे। इसी प्रकार जब बैंक शेयर बेचकर पूँजी प्राप्त करता है तो देनदारियों की तरफ शेयर-पूँजी की राशि बढ़ जाती है और लेनदारियों की तरफ नकद-राशि बढ़ जाती है। लेकिन **बैंक के कुछ कार्यों से परिसम्पत्ति के एक रूप में राशि कम होकर दूसरे रूप में बढ़ जाती है।** जैसे जब बैंक अपना विनियोग बढ़ाते है तो विनियोग के अन्तर्गत उनकी राशि बढ़ जाती है और नकद राशि घट जाती है। इसी प्रकार बैंक द्वारा ऋण देने पर ऋण के अन्तर्गत राशि बढ़ जाती है, और नकद-राशि घट जाती है। **लेकिन प्रत्येक अवधि में समस्त देनदारियों का जोड़ समस्त लेनदारियों के जोड़ के बराबर अवश्य होता है।**

रिजर्व-अनुपात (Reserve Ratio)—बैंकों को अपने अनुभव से यह पता रहता है कि किसी समय विशेष में उनकी जमाराशियों का एक अंश ही ग्राहकों के द्वारा नकद रूप में निकाला जायेगा। इसलिए बैंक के लेन देन के चिट्ठे में जमाराशि व नकद-राशि में काफी अन्तर पाया जाता है। **यहाँ नकद-राशि में स्वयं बैंक के पास पड़ी नकद-राशि के साथ-साथ उसकी केन्द्रीय बैंक के पास पड़ी नकद-राशि भी जोड़ी जाती है। जमा-राशि व नकद-राशि के बीच कानूनी अनुपात भी तय किया जा सकता है, जिसे रिजर्व-अनुपात** (Reserve Ratio) **कहते हैं।** मान लीजिए यह 20% है तो इसका अर्थ यह हुआ कि 100 रु की जमा के पीछे 20 रु की नकद-राशि पर्याप्त रहेगी। इससे स्पष्ट होता है कि यदि सभी जमाकर्त्ता बैंक से नकद-राशि एक साथ निकालने लग जायें तो बैंक समस्त भुगतान नहीं कर पायेगा। लेकिन बैंक जानते हैं कि व्यवहार में ऐसा नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति कार खरीदने के लिए बैंक से एक लाख रुपये निकालता है तो बैंक को कोई परेशानी नहीं होती, क्योंकि इस बात की काफी सम्भावना है कि कार विक्रेता यह राशि तुरन्त ही बैंक में जमा करा दे। इस प्रकार सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि एक लाख रुपये एक व्यक्ति के खाते से निकाल कर दूसरे व्यक्ति के खाते में हस्तान्तरित हो जाते हैं। स्मरण रहे कि बैंक कुछ ग्राहकों को कुछ सीमा तक नकद राशि भी दे सकता है, लेकिन वह सभी उधार लेने वालों को पूरी राशि नकद रूप में नहीं दे सकता।

भारत मे वैधानिक तरलता अनुपात (SLR) तथा वैधानिक नकद रिजर्व अनुपात (CRR) की नवीनतम स्थिति 14 मई, 1994 को घोषित साख नीति (मई, 1994 से अक्टूबर, 1994 के लिए) के अनुसार रिजर्व बैंक ने वैधानिक तरलता-अनुपात (SLR) 34.75% से घटाकर 33.75% कर दिया है जो दो चरणों में लागू होगा। दूसरा चरण 17 सितम्बर, 1994 से लागू होगा। एक व्यापारिक बैंक की शुद्ध माग व अवधि देनदारिया निकालने के लिए उसकी कुल माग व अवधि जमाओ या देनदारियो में से उस बैंक मे

अन्य बैंकों व वित्तीय संस्थाओं की जमाएँ घटा दी जाती हैं। SLR की गणना शुद्ध माग व अवधि देनदारियो पर होती है। वैधानिक तरलता अनुपात के अन्तर्गत बैंको के पास पड़ी नकद राशि, सोना, चादी व स्वीकृत प्रतिभूतियो का मूल्य शामिल होता है। इसके अतिरिक्त वैधानिक नकद रिजर्व अनुपात (Legal Cash Reserve Ratio) (CRR) 14% से पुन बढाकर 15% कर दिया गया है। यह तीन चरणों में बढाया जायेगा और अन्तिम चरण 6 अगस्त, 1994 से लागू होगा। इससे 1994-95 में व्यापारिक बैंकों के 3,700 करोड रु के साधन रुक जायेंगे जिससे मुद्रा-प्रसार कम होगा। यह भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम के तहत 3% से 15% तक परिवर्तित किया जा सकता है। यह कदम मुद्रास्फीति के दबावो को नियन्त्रित करने के लिए उठाया गया है। नकद रिजर्व-अनुपात मे जमाओं का वह अनुपात आता है जो व्यापारिक बैंक को भारतीय रिजर्व बैंक के पास जमा के रूप मे रखना होता है। इसको बढाने से साख-सृजन कम तथा घटाने से साख-सृजन अधिक होता है।

साख-सृजन की प्रक्रिया (Process of Credit Creation)[1]

सेमुअल्सन व नोरढाउस के अनुसार व्यापारिक बैंको के द्वारा किये जाने वाले साख सृजन मे दो मान्यतायें होती हे

(i) मुद्रा बैंक से बाहर एक हाथ से दूसरे हाथ में न रिसक जाय (No leakage) —साख-सृजन की प्रक्रिया में यह मान लिया गया है कि मुद्रा-राशि बैंकिंग प्रणाली से बाहर न चली जाय। मान लीजिए, किसी व्यक्ति के पास 100 रुपये का चैक आया एवं उसने इस चैक की राशि में से 10 रुपये निकाल कर अपने पास रख लिए। ऐसी स्थिति में 90 रुपये के आधार पर 90×5=450 रुपये की साख का सृजन ही हो पायेगा (बशर्ते कि रिजर्व अनुपात 20% हो)। अत यह आवश्यक है कि मुद्रा जनता के पास नकद-राशि के रूप में न रह कर बैंको के पास ही रहे। सबसे ज्यादा साख का निर्माण उस दशा में होता है जब जनता के पास करेंसी बिल्कुल न रहे, अर्थात् सारी करेंसी बैंकों में जमा करा दी जाए।

(ii) बैंक अपने पास अतिरिक्त रिजर्व न रखे (no excess reserves with banks) —इसका अर्थ यह है कि बैंक अपनी जमा का 20% नकद के रूप में रख कर शेष उधार दे डालें, ताकि अधिकतम साख-सृजन हो सके। यदि बैंक 20% से अधिक जमा-राशि को उधार देने का प्रयास नहीं करता है, तो उसके पास अतिरिक्त-रिजर्व पडा रह जाता है, और साख-सृजन की प्रक्रिया में बाधा पहुँचती है। मान लीजिए, बैंक 20% की जगह 40% रिजर्व रखने लग जाता है, तो साख-सृजन 5 गुना न होकर 2.5 गुना ही हो पायेगा। यह आगे के विवरण से स्पष्ट हो जायेगा। अत साख-सृजन की क्रिया में उपर्युक्त दोनों मान्यताओं का बहुत महत्व होता है।

---

1 Samuelson & Nordhaus, Economics 14th ed 1992, pp 508-513

नीचे हम तीन दिशाओ मे साख-सजृन को स्पष्ट करेंगे रिजर्व अनुपात 20% माना गया है।

(1) एकाधिकारी बैंक के लिए (A monopoly bank),

(2) कई बैंक, लेकिन केवल एक नई जमा (Many banks, but a single new deposit)

(3) कई बैंक और कई जमाएँ (Many banks and Many deposits)

1 एक एकाधिकारी बैंक (A Monopoly Bank)

मान लीजिए, एक देश में एक ही बैंक है जिसकी शाखाएँ देश के विभिन्न भागो में फैली हुई है। उसकी प्रारम्भिक स्थिति आगे लेन-देन के चिट्ठे (balance Sheet) में दिखलाई गई है –

एकाधिकारी बैंक की प्रारम्भिक स्थिति

स्थिति–1

	देनदारियाँ (रुपये)		लेनदारियाँ (रुपये)
शेयर-पूँजी	100	नकद व रिजर्व	200
जमाएँ	1,000	कर्ज	900
	1,100		1,100

रिजर्व-अनुपात $= \frac{200}{1000} = 20\%$

अब कल्पना कीजिए कि कोई व्यक्ति इस बैंक में 100 रुपये जमा कराता है तो स्थिति बदल कर इस प्रकार हो जायगी।

स्थिति–2

	देनदारियाँ (रुपये)		लेनदारियाँ (रुपये)
शेयर-पूँजी	100	नकद व रिजर्व (200+100) =	300
जमाएँ (1 000+100) =	1,100	कर्ज	900
	1,200		1,200

अत रिजर्व-अनुपात $= \frac{300}{1100} =$ लगभग 27%

अब बैंक का रिजर्व-अनुपात = 20% से बढ़कर लगभग 27% हो गया है। ऐसी स्थिति में बैंक अधिक कर्ज देना चाहेगा। रिजर्व-अनुपात के 20% होने पर 1,100 रुपये की जमा के लिए $\frac{1100}{5} = 220$ रुपये की नकद-राशि काफी थी।

इसलिए वह (300−220) = 80 रुपये की अतिरिक्त नकद-राशि के आधार पर (80 × 5) = 400 रुपये उधार दे सकेगा। अंत वह किसी फर्म को ब्याज पर 400 रु उधार दे देगा जिससे उसकी स्थिति इस प्रकार की जायगी।

स्थिति−3

देनदारियाँ	(रुपये)	लेनदारियाँ	(रुपये)
पूँजी	100	नकद व रिजर्व	300
जमाएँ (1,100 + 400) =	1,500	कर्ज (900 + 400) =	1,300
	1,600		1,600

पुन रिजर्व-अनुपात $= \frac{300}{1500} = 20\%$

हो जायगा।

उपर्युक्त वर्णन में स्थिति 1 व स्थिति 3 की तुलना से पता लगता है कि स्थिति 3 में बायी तरफ बैंक की जमा में 500 रुपये की वृद्धि हो गई है, जबकि दायी तरफ नकद-रिजर्व में 100 रुपये की एवं कर्ज में 400 रुपये की वृद्धि हुई है। **इस प्रकार बैंक में 100 रुपये की नकद-जमा के आने से 500 रुपये की कुल जमा उत्पन्न हो गई है।** इसमें 100 रु की जमा तो स्वयं ग्राहक की थी और 400 **रुपये की नई साख-जमा बैंक ने अपनी तरफ से उत्पन्न की है।** स्मरण रहे कि साख का निर्माण रिजर्व-अनुपात पर निर्भर करता है। यहाँ पर रिजर्व-अनुपात 20% था, इसलिए बैंक कुल जमा को पांच गुना कर सका है। रिजर्व-अनुपात के 10% होने पर कुल जमा दस गुनी हो जाती।

पाठक साख-ह्रास (साख कम करने) की प्रक्रिया को उपर्युक्त विवेचन से उल्टा चलकर स्पष्ट कर सकते है। यदि एक जमाकर्त्ता बैंक से 50 रुपये निकाल लेता है तो वह (50 × 5) = 250 रुपये की कुल साख को मिटा देता है, जिसका प्रभाव यह होगा कि नकद राशि 50 रुपये कम हो जायेगी और साथ में बैंक को 200 रुपये तक का पुराना कर्ज भी समाप्त करना होगा।

कई बैंक, लेकिन केवल एक नई जमा (Many Banks, but a single new Deposit)

कई बैंक होने से साख-सृजन की प्रक्रिया अधिक जटिल हो जाती है लेकिन अन्तिम परिणाम ठीक पहले जैसा ही होता है। यह जटिल इसलिए होती है कि प्रथम बैंक ने जिस व्यक्ति को कर्ज दिया, सम्भवत वह इसे किसी दूसरे बैंक में जमा करा देता है। इससे दूसरे बैंक की जमाएँ बढ़ जायेंगी और वह रिजर्व-अनुपात के अनुसार कुछ नकद-राशि अपने पास रखकर शेष को उधार दे देगा।, जिससे तीसरे बैंक की जमाएँ बढ़ जायेंगी। इस प्रकार यह क्रम आगे कई बैंकों तक चलता जायेगा और अन्त में 20% रिजर्व-अनुपात के होने पर सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली में पाँच गुनी जमाएँ उत्पन्न हो जायेंगी।

यहाँ पर हम पुन 100 रुपये की नई जमा-राशि से प्रारम्भ करते हैं और कल्पना कर लेते है कि बैंक ऊपर वर्णित स्थिति 1 में होता है। 100 रुपये जमा होते ही वह स्थिति 2 में आ जाता है। यहाँ तक पहले जैसी स्थिति ही चलती है। लेकिन अब मार्ग बदल जाता है। प्रथम बैंक के पास 80 रुपये की अतिरिक्त जमा-राशि पडी है। यह इसके आधार पर 400 रुपये की उधार नहीं दे सकता, क्योंकि उधार लेने वाला तुरन्त चैक काटकर रकम निकालना चाहेगा। अत यह बैंक केवल 80 रुपये का कर्ज ही देता है, जिससे इसका लेन-देन का चिट्ठा अग्र रूप धारण कर लेता है,

स्थिति—4

	देनदारियाँ (रुपये)		लेनदारियाँ (रुपये)
शेयर-पूँजी	100	नकद व रिजर्व	220
जमाएँ	1,100	कर्ज	980
	1,200		1,200

स्थिति 2 व स्थिति 4 में अन्तर देखिए। देनदारियों में कोई अन्तर नहीं है, लेनदारियो में नकद व रिजर्व 80 रुपये कम हो गए। हैं, और कर्ज की राशि 80 रुपये बढ गई है। ये 80 रुपये किसी दूसरे बैंक में जमा किये जाते है जो इसका 20%, अर्थात् 16 रुपये रिजर्व में रखकर शेष 64 रु उधार दे देता है। 64 रु किसी तीसरे बैंक में जमा कराये जाते है, जो इसका 20% अर्थात् 12.80 रु रखकर शेष 51 20 रु उधार दे देता है। इस प्रकार यह क्रम जारी रहता है। अन्त में बैंक 100 नकद-जमा के आधार पर (100 × 5) = 500 रु की कुल जमा का निर्माण करने में समर्थ हो जाते है। इस कार्य को अग्रांकित तालिका में दर्शाया गया है

अनेक बैंक एवं केवल एक नई जमा की स्थिति में साख का निर्माण (रु में)

बैंक	नई जमाएँ	नया कर्ज	रिजर्व में वृद्धि
	(1)	(2)	(3)
प्रथम क्रम का बैंक	100 00	80 00	20 00
द्वितीय क्रम का बैंक	80 00	64 00	16 00
तृतीय क्रम का बैंक	64 00	51 20	12 80
चतुर्थ क्रम का बैंक	51 20	40 96	10 24
कुल (सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली की दृष्टि से)	500 00	400 00	100 00

जिस प्रकार गुणक की प्रणाली में क्रम चलता जाता है, उसी प्रकार यहाँ अनुपात के r होने पर नई जमा के $\frac{1}{r}$ गुने (अर्थात् 5 गुने) तक जमा में वद्धि हो जायेगी। सच पूछा जाय तो कॉलम (1) में जमा का क्रम इस प्रकार रखा जा सकता है—

$$= 100 + \frac{4}{5}\ (100) + \left(\frac{4}{5}\right)^2 (100) + \left(\frac{4}{5}\right)^3 (100) +$$

$$= 100\left[1 + \frac{4}{5} + \left[\frac{4}{5}\right]^2 + \left[\frac{4}{5}\right]^3 + \left[\frac{4}{5}\right]^4 + \qquad \right]$$

यह असीमित ज्यामितीय सीरिज के जोड की विधि से हल किया जा सकता है।[1]

$$= 100\left[\frac{1}{1 - \frac{4}{5}}\right] = 100\left[\frac{1}{\frac{1}{5}}\right]$$

$$= 100 \times 5 = 500 \text{ रुपये}$$

इस प्रकार इस दूसरी स्थिति में भी 100 रुपये की नकद-जमा से 500 रुपये की कुल जमा का निर्माण हो जाता है। यदि रिजर्व अनुपात 10% होता है तो साख का निर्माण दस गुना होगा।

3. कई बैंक तथा कई जमाएँ (Many Banks and Many Deposits)

रिचर्ड जी लिप्से के अनुसार वास्तविक जगत में कई बैंक कई जमाओं की स्थिति अधिक व्यावहारिक होती है। यह निम्न विधि से काम करती है। मान लीजिए, **समाज में एक से 10 बैंक हैं, और प्रत्येक के पास 100 रु की नकद-राशि जमा के रूप में आती है**। इससे प्रत्येक बैंक 100 रु के आधार पर कर्ज देकर साख का विस्तार करने की स्थिति में आ जाता है। चूँकि प्रत्येक बैंक कुल व्यवसाय का $\frac{1}{10}$ व्यवसाय करता है, इसलिए साख-सृजन का औसत 90 प्रतिशत भाग दूसरे बैंकों की ओर चला जायेगा। कारण यह है कि ग्राहक अन्य लोगों को चैक से भुगतान करेंगे। **इससे नकद-राशि उधार देने वाले बैंक से निकल कर अन्य बैंकों की ओर जायेगी। लेकिन इसी तर्क के अनुसार प्रत्येक दूसरे बैंक की नई साख-सृजन का 10 प्रतिशत नकद-राशि का निकास** (outflow) **ज्यादा नहीं होगा, और प्रत्येक बैंक अपने रिजर्व-अनुपात के अनुसार साख-सृजन करता** जायगा। अन्त में प्रत्येक बैंक 100 रुपये की प्रारम्भिक नकद-जमा के आधार पर कुल 500 रु की कुल जमा-राशि उत्पन्न कर देगा, जिसमें से 400 रु की राशि नई साख-सृजन की राशि कहलायेगी। वास्तविक जगत में "कई बैंक तथा कई जमा" की स्थिति ही पायी जाती है और इसमें भी रिजर्व-अनुपात के 20% होने पर साख-सृजन 5 गुना ही होता है।

---

1 असीमित ज्यामितीय प्रोग्रेशन में जोड का फार्मूला $\frac{a}{1-r}$ होता है, जहाँ a प्रथम मद और r सामान्य अनुपात (Common ratio) होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले बैंक में नकद-जमा (cash deposits) आती है जिससे बैंक अपने ग्राहकों को कर्ज देने की स्थिति में आता है, अर्थात् कर्ज नकद-जमा से जन्म लेते हैं, अथवा हम यह कह सकते हैं कि कर्ज, जमा के बच्चे हैं (loans are the children of deposits) लेकिन आगे चलें, कर्ज की राशि बैंकों में जमा के रूप में फिर प्रगट होती है, जिससे यह कहा जाने लगता है कि जमाएं कर्ज से उत्पन्न होती हैं, अर्थात् जमाएं कर्ज के बच्चे हैं (deposits are the children of loans) इस प्रकार नकद-जमाओं --> कर्ज ---> नई जमाओं का क्रम निरंतर जारी रहता है। स्मरण रहे कि इस क्रम का प्रारम्भ नकद-जमाओं या प्राथमिक जमाओं (cash deposits or primary deposits) से होता है, फिर कर्ज के माध्यम से नई या द्वितीयक जमाओं (secondary deposits) के दौर में पहुँच जाता है।

साख-सृजन की मर्यादाएँ (Limitations of Credit Creation)

हम ऊपर देख चुके हैं कि साख-सृजन का कार्य हवा में नहीं होता अर्थात् यह अपने आप नहीं होता। इनकी कुछ सीमाएँ होती है। **सेमुअल्सन ने अपनी पुस्तक के पूर्व संस्करण 1976 में साख-सृजन लिए चार तत्व आवश्यक बतलाये थे — "बैंकों के पास किसी तरह से नये रिजर्व आयें, वे नये अतिरिक्त रिजर्व अपने पास रखने की बजाय कर्ज देने अथवा प्रतिभूतियाँ खरीदने को उद्यत हों, कोई व्यक्ति बैंक से कर्ज लेने अथवा उसे अपनी प्रतिभूतियाँ बेचने को उद्यत हो और जनता बैंक में ही मुद्रा जमा के रूप में रखने का निर्णय करे। ऐसा नहीं कि वह बैंकों से रिजर्व राशियों को कम करवा दे।"** इस प्रकार कई शर्तों के पूरा होने पर ही साख सृजन हो पाता है। सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि लोग-बाग बैंक में नकद-राशि जमा कराएँ, फिर बैंक उस राशि के आधार पर ग्राहकों को अवश्य उधार दें, साथ में यह भी आवश्यक है कि कोई उधार ले एवं जनता अपनी मुद्रा बैंकों में ही रखे, अपने पास नकद रूप में न रखे। इस प्रकार साख-सृजन की निम्न मर्यादाएँ मानी जा सकती हैं—

1 **जनता किस सीमा तक नकद-राशि का उपयोग करती है**—पहले बतलाया जा चुका है कि जनता के पास नकद-राशि जितनी ज्यादा रहेगी, साख-सृजन उतना ही कम होगा। यदि जनता सारा कर्ज नकद रूप में लेना चाहेगी तो साख-सृजन शून्य (Zero) हो जायेगा, क्योंकि बैंक तब नकद-जमा के बराबर ही उधार दे सकेंगे। उनके लिए इससे अधिक उधार देना असम्भव हो जायेगा। इसी प्रकार जनता के पास करेंसी बिल्कुल नहीं रहने पर ही साख-सृजन सर्वाधिक होगा। अत किसी अवधि में जनता की तरलता पसन्दगी, अर्थात् अपने पास नकद राशि रखने की प्रवृत्ति बढ जाती है तो साख-सृजन कम हो जाता है।

2 **विनियोग के अवसर**—यदि विनियोग के लिए वातावरण अनुकुल होता है तो लोग बैंक से ज्यादा मात्रा में उधार लेंगे जिससे साख सृजन ज्यादा होगा। कभी-कभी बैंक तो उधार देने के लिए तैयार रहते है, लेकिन उद्योगपतियों व व्यवसायियों को लाभ की संभावनाएँ कम प्रतीत होती हैं जिससे वे

कर्ज लेने को ज्यादा इच्छुक नहीं होते। परिणामस्वरूप ऐसी दशाओं में साख-सृजन कम हो पाता है।

3. बैंकों को कितनी नकद-राशि जमा के रूप में मिल पाती है—यदि बैंकों को जनता से कम नकद-राशि के रूप में मिल पाती है तो साख-सृजन कम होगा और यदि उन्हें ज्यादा नकद-राशि मिल पाती है तो साख-सृजन ज्यादा होगा।

4 ऋण लेने वालों के पास जमानत की मात्रा — बैंक ऋण देते समय जमानत पर ज्यादा जोर देते हैं। अत जमानत की सहूलियत के अनुसार ही साख-सृजन किया जा सकता है। मान लीजिए, किसान को भूमि गिरवी रख कर बैंक से कर्ज मिलता है। अत जितनी अधिक भूमि गिरवी रखने के लिए होगी उतना ही अधिक कर्ज लिया जायेगा। परिणामस्वरूप उतना ही अधिक साख-सृजन होगा।

5 बैंक अपने पास अतिरिक्त रिजर्व रखता है या नहीं—मान लीजिए, वैधानिक रिजर्व-अनुपात 20% है, लेकिन बैंक के पास यह अनुपात 30% हो जाता है और वह इसे 20% पर लाने की चेष्टा नहीं करता। ऐसी स्थिति में भी साख-सृजन कम हो सकेगा।

6 केन्द्रीय बैंक की नीति—साख-सृजन पर केन्द्रीय बैंक की नीति का बहुत प्रभाव पडता है। मान लीजिए केन्द्रीय बैंक सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीद कर बैंकों के नकद रिजर्व बढ़ा देते हैं तो साख-सृजन अधिक होगा, और यदि वह सरकारी प्रतिभूतियाँ बेचकर बैंकों के नकद-रिजर्व घटा देता है तो साख-सृजन कम हो जायेगा।

अत साख-सृजन की कई सीमाएँ होती है। **लेकिन यदि जनता के पास करेंसी न रहे (सारी करेंसी बैंकों में ही रहे) और बैंक अपने पास 'अतिरिक्त रिजर्व' न रखें और जल्दी से उधार देते जायें तो साख-सृजन सबसे ज्यादा हो पायेगा।**

व्यापारिक बैंक, जमा-संग्रह, साख-सृजन व आर्थिक विकास—

व्यापारिक बैंक जमा एकत्र करके नियोजित आर्थिक विकास में काफी सहायता पहुँचा सकते है। **ये ऐच्छिक बचतों** को प्रोत्साहन देते है, जो साधन बढ़ाने का एक सर्वश्रेष्ठ तरीका माना गया है। वैसे सरकार अपने आर्थिक साधन बढ़ाने के लिए कर लगा सकती है, उधार ले सकती है अथवा नोट छापकर वित्तीय साधनों की व्यवस्था कर सकती है। लेकिन इनसे अर्थव्यवस्था को क्षति पहुंचने का भय रहता है। अत ऐच्छिक बचतों को बढ़ाने का मार्ग ही ज्यादा उपयुक्त माना गया है और बैंक इसमें अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है।

प्राय लोग अपनी बचत का उपयोग जेवर व बहुमूल्य धातु खरीदने, भूमि, मकान व वस्तुएँ खरीदने व असंगठित बाजार में मुद्रा उधार देने में किया करते हैं। बचत के ये उपयोग अनुत्पादक व सामाजिक दृष्टि से कम महत्व के माने गए हैं। बैंक जमा के रूप में लोगों की बचतों को जुटाकर आर्थिक विकास में योगदान दे सकते हैं। भारत में हरित क्रान्ति से कृषिगत आय बढ़ी है और भविष्य में इसमें वृद्धि जारी रहने की सम्भावना है। अत गाँवों में बचत की सम्भावनाएँ बढ़ गई हैं। बैंकों को इस बचत को एकत्र करना चाहिए, अन्यथा इसका अनुत्पादक कार्यों में

उपयोग होने लगेगा। व्यापारिक बैंकों के लिए भविष्य में काफी नया कार्य उत्पन्न होगा। बैंक जमा एकत्र करने के अलावा विभिन्न आर्थिक क्रियाओं के लिए कर्ज की सुविधा भी देने लगे हैं, ताकि देश में उत्पादन बढ़ सके। इस प्रकार आर्थिक विकास के सन्दर्भ में व्यापारिक बैंकों के नये कार्यों पर बल देने की आवश्यकता है। भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के व्यापारिक बैंक आर्थिक विकास में अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। ये केन्द्रीय बैंक से मिलकर राष्ट्रीय स्तर पर साख-नियोजन (Credit planning) में मदद दे सकते हैं ताकि सीमित साख का उपयोग उत्पादन, विनियोग, निर्यात, आदि को बढ़ाने में किया जा सके।

पिछले वर्षों में व्यापारिक बैंकों का काफी विस्तार हुआ है। आशा है आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97) में आर्थिक विकास में व्यापारिक बैंकों का योगदान बढ़ेगा। भारत में इन्होंने जमा-सर्टिफिकेटों की नई स्कीम भी चालू की है जो विनियोगकर्त्ताओं के अल्पकालीन कोषों के उपयोग का उत्तम तरीका है।

प्रश्न

1. व्यापारिक बैंक साख-सृजन किस प्रकार करते हैं? यदि देश में कई बैंक हों तथा एक बार नई जमा बैंक में आती है तो 10 प्रतिशत रिजर्व-अनुपात (reserve ratio) की स्थिति में साख-सृजन का विवरण कीजिए।
2. साख-सृजन किन परिस्थितियों में सर्वाधिक और किन परिस्थितियों में न्यूनतम होता है? समझा कर लिखिए।
3. निम्नांकित पर लगभग 100 शब्दों में संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये -
   (i) क्या व्यापारिक बैंक 'असीमित साख' का सृजन कर सकते हैं?
4. उत्तर दीजिए - (Ajmer Iyr 1993)
   (i) भारत में वर्तमान नकद-अनुपात (CRR) क्या है?
   (ii) भारत में वर्तमान में वैधानिक तरलता-अनुपात (SLR) क्या है?
   (iii) भारत में वर्तमान में बैंक-दर (bank rate) क्या है?

   (i) CRR = 15% (6 अगस्त, 1994 से)
   (ii) SLR = 33 75% (17 सितम्बर, 1994 से)

   (iii) बैंक-दर = 12% (8 अक्टूबर 1991 को व्यवसाय बंद होने के बाद 11% से 12% की गयी।)]

23
केन्द्रीय बैंक के कार्य
(Functions of a Central Bank)

प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य अर्थव्यवस्था में मुद्रा व साख की मात्रा को नियन्त्रित व नियमित करना होता है। सभी देशों के केन्द्रीय बैंक प्राय तीन प्रमुख कार्य करते है, **नोट निर्गमित करना, सरकार के बैंक के रूप में कार्य करना एवं बैंकों के बैंक के रूप में कार्य करना।** इन कार्यों का क्षेत्र विभिन्न देशों व विभिन्न समयों में भिन्न-भिन्न रहा है। यह देश के आर्थिक विकास की अवस्था पर निर्भर करता है। प्राय यह माना जाता है कि एक केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य विकास की ऊँची दर, पूर्ण रोजगार, मूल्य-स्थिरता एवं सुदृढ़ भुगतान-सन्तुलन की स्थिति उत्पन्न करना होता है। विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक सरकार को ऐसी आर्थिक नीतियां अपनाने में मदद देता है जिनसे विकास की गति तेज हो सके और देश में सभी काम के योग्य व्यक्तियों को काम मिल सके। साथ में केन्द्रीय बैंक देश की मुद्रा का आन्तरिक मूल्य व बाह्य मूल्य स्थिर करने का प्रयास भी करता है। केन्द्रीय बैंक इन सभी कार्यों को एक साथ करने की कोशिश करता है। लेकिन व्यवहार में इन विभिन्न उद्देश्य में परस्पर थोड़ा विरोध भी हो सकता है। इसलिए केन्द्रीय बैंक को इनमें आवश्यक ताल-मेल स्थापित करना होता है।

केन्द्रीय बैंक के कार्य

केन्द्रीय बैंकिंग के जाने-माने लेखक डी कॉक (De Kock) ने एक केन्द्रीय बैंक के निम्न कार्य बतलाये है

(1) नोट निर्गमन का एकाधिकार,
(2) सरकारी बैंकर, एजेन्ट व सलाहकार,
(3) व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों का संरक्षक,
(4) देश के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोषों का संरक्षक,
(5) पुनर्कटौती का बैंक एवं अन्तिम ऋणदाता,
(6) केन्द्रीय समाशोधन (Clearance), निपटारा व स्थानान्तरण का बैंक एवं
(7) साख-नियन्त्रण|इनका संक्षिप्त वर्णन आगे किया जाता है।

1. नोट-निर्गमन का एकाधिकार—प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक को कागजी मुद्रा निर्गमित करने का एकाधिकार प्राप्त होता है। इससे नोट-निर्गमन का कार्य अधिक सुचारू रूप से हो सकता है और सरकार इस कार्य को ठीक तरह से नियन्त्रित कर सकती है। नोट निर्गमन की विभिन्न प्रणालियाँ होती है, जिन्हें एक देश अपनी आवश्यकता के अनुसार अपनाता है। नोट-निर्गमन की आनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System) में निर्गमित मुद्रा के पीछे सोने या सोने के सिक्के, अथवा विदेशी प्रतिभूतियाँ किसी निश्चित अनुपात (जैसे 40% में) रखी

जाती है। कागजी मुद्रा बढ़ाने के लिए इस पद्धति में आवश्यक कोषों की व्यवस्था करनी होती है। लेकिन न्यूनतम कोष प्रणाली (Minimum Reserve System) में न्यूनतम कोष रखकर आवश्यकतानुसार पत्र-मुद्रा निकाली जा सकती है। यह पद्धति अधिक लोचदार होती है। भारत में आजकल यही पद्धति प्रचलित है।

किसी भी देश की करेंसी में सिक्के, व पत्र-मुद्रा दोनों शामिल होते हैं। केन्द्रीय बैंक का पत्र-मुद्रा पर तो प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण होता है। सिक्के वैसे तो सरकार चलाती है, लेकिन प्रचलन में केन्द्रीय बैंक ही लाता है। **इस प्रकार केन्द्रीय बैंक का देश की करेंसी पर प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण रहता है।**

2 **सरकारी बैंकर, एजेन्ट व सलाहकार**—केन्द्रीय बैंक सरकार के विभिन्न प्रकार के लेन-देन का कार्य करता है। यह सरकार की ओर से कर, सार्वजनिक ऋण आदि की राशि जमा करता है और समस्त सरकारी भुगतान करता है। यह आवश्यकता पड़ने पर सरकार को कर्ज भी देता है। सरकार को कर्ज सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर दिया जाता है। **डी कॉक के अनुसार, "केन्द्रीय बैंक सर्वत्र राज्य के बैंकर के रूप में कार्य करते हैं। यह इसलिए नहीं कि राज्य के लिए ऐसा करना सुविधाजनक व सस्ता होता है, बल्कि इसलिए कि सार्वजनिक वित्त एवं मौद्रिक मामलों में परस्पर गहरा सम्बन्ध होता है।"** केन्द्रीय बैंक सरकार को विभिन्न आर्थिक नीतियों के निर्धारण में मदद देता है, जैसे मौद्रिक नीति, राजकोषीय नीति (सार्वजनिक राजस्व, सार्वजनिक व्यय तथा सार्वजनिक ऋण नीतियों सहित), विदेशी व्यापर नीति व उत्पादन-नीति, आदि वैसे सरकार की मौद्रिक नीति तो इसी के माध्यम से लागू की जाती है।

3. **व्यापारिक बैंकों के नकद-कोषों का संरक्षक**—व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक के पास कुछ राशि नकद के रूप में रखते हैं जिससे विभिन्न बैंकों के लेन-देन का परस्पर समाशोधन व निपटारा करने में सहूलियत होती है और साख-नियन्त्रण की दृष्टि से भी उसका महत्व होता है। देश का केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को कर्ज भी देता है। इस प्रकार वह इनके **नकद कोषों का संरक्षक** माना गया है। आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय बैंक नकद कोषों की मात्रा बढ़ा या घटा सकता है।नकद कोष अनुपात बढ़ाने से साख-संकुचन होता है और उनको घटाने से साख का विस्तार होता है।

4 **विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक**—केन्द्रीय बैंक अपने देश के विदेशी विनिमय-कोषों का भी संरक्षक होता है। वह प्राप्त विदेशी मुद्रा को जमा करता है और उसके उपयोग को कम करता है। देश में मुद्रा की विदेशी विनिमय दर स्थिर रखने के लिए ऐसा करना आवश्यक माना गया है। एक देश के पास जो विदेशी विनिमय कोष होते हैं उनकी उचित देख-भाल व सदुपयोग करना आवश्यक होता है। कार्य केन्द्रीय बैंक को सौंपा गया है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय की दर को स्थिर रखता है। आवश्यकता पड़ने पर यह सरकार को विनिमय की दर परिवर्तित करने की सलाह भी देता है। जैसा कि जुलाई 1991 में रुपये का लगभग 20 प्रतिशत अवमूल्यन करते समय किया गया था। लेकिन अवमूल्यन या अतिमूल्यन (devaluation or overvaluation) का निर्णय मुख्यतया सरकार के द्वारा ही लिया जाता है। अवमूल्यन में एक देश की मुद्रा की दर नीची की जाती है, और अतिमूल्यन में यह ऊँची की जाती है। मुद्रा के अवमूल्यन से निर्यात बढ़ाने में मदद मिलती है।लेकिन इससेआयात महंगे हो जाते है और विदेशी कर्ज की राशि भी बढ़ जाती है।

5 पुनर्कटौती का बैंक व अन्तिम ऋणदाता—केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के प्रथम श्रेणी के व्यापारिक बैंकों की पुनर्कटौती (rediscounting) करके उन्हें वित्त प्रदान करते है। मान लीजिए, A ने B को उधार माल बेचा और B ने एक बिल स्वीकार करके A को दे दी जिसका भुगतान 3 महीने बाद होगा। A चाहे तो किसी बैंक से इस बिल को भुनाकर तुरन्त नकद राशि प्राप्त कर सकता है। वह बैंक केन्द्रीय बैंक से इस बिल की पुनर्कटौती कराकर रुपया प्राप्त कर सकता है। निश्चित अवधि के बाद (B) को उस बिल की राशि का भुगतान करना होगा। वैसे व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से प्रत्यक्ष रूप में कर्ज भी लेते है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक का मुद्रा-बाजार पर काफी प्रभाव पड़ता है। यह अन्तिम ऋणदाता (Lender of the last resort) माना गया है, क्योंकि देश की मुद्रा की पूर्ति इसके नियन्त्रण में होती है। जिस सीमा तक व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से प्राप्त कर्ज का उपयोग करते है, उस सीमा तक केन्द्रीय बैंक का उन पर प्रभाव बढ़ जाता है और वह अपनी मौद्रिक व साख-नीति को अधिक आसानी से तथा अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से लागू कर सकता है।

6 समाशोधन, निपटारा व मुद्रा का हस्तान्तरण—केन्द्रीय बैंक के पास विभिन्न बैंकों के खाते रहते है, इसलिए उनके पारस्परिक लेन-देन का समाशोधन (Clearance) करने में केन्द्रीय बैंक मदद करता है। यह चैकों के आधार पर एक बैंक के खाते से राशि निकालकर दूसरे बैंक के खाते में जमा कर देते है। यह एक स्थान से दूसरे स्थान में मुद्रा भेजने की सहूलियत भी देता है।

7. साख-नियन्त्रण (Credit Control) —यह केन्द्रीय बैंक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य माना गया है। यह मुद्रास्फीति के समय साख की मात्रा कम करता है और मन्दी के समय साख का विस्तार करता है। साख नियन्त्रण के कई उपाय होते है, जैसे बैंक-दर में परिवर्तन, खुले बाजार की क्रियाएँ, नकद रिजर्व-अनुपात में परिवर्तन, गुणात्मक साख-नियन्त्रण के उपाय, आदि, जिनका आगे चलकर विस्तार से वर्णन किया गया है।

8 विविध कार्य—केन्द्रीय बैंक विकासशील देशों में विकास को प्रोत्साहन देने वाला कार्य भी करता है। जैसे भारत में यह कृषि-साख के क्षेत्र मे विशेष रूप से रुचि लेता है। यह सहकारी संगठनों को रियायती शर्तो पर कर्ज देता है। केन्द्रीय बैंक आर्थिक व मौद्रिक विषयों पर अनुसंधान करवाता है और आवश्यक आँकड़े व रिपोर्ट प्रकाशित करवाता है। यह व्यापारिक बैंकों से मिलकर साख-नियोजन की प्रक्रिया को लागू करता है ताकि सीमित साख का उपयोग प्राथमिकता के आधार पर आवश्यक क्षेत्रों में उत्पादन, विनियोग व आमदनी को बढ़ाने में किया जा सके। व्यापारिक बैंकों के मार्फत समाज के कमजोर वर्गों को साख प्रदान करके केन्द्रीय बैंक उनको भी विकास के पर्याप्त अवसर उपलब्ध कराता है।

विभिन्न कार्यों का सापेक्ष महत्त्व—प्राय अर्थशास्त्रियों में यह विवाद का विषय रहा है कि केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य कौन-सा है। **हाट्रे के अनुसार "केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य अन्तिम ऋणदाता का है।** यह व्यापारिक बैंकों को कठिनाई के समय ऋण की सुविधा प्रदान करता है।" **किश व एल्किन्स**

के अनुसार इसका मुख्य कार्य मौद्रिक मान की स्थिरता को कायम रखना है और ए. सी. एल. डे के अनुसार "इसका प्रमुख कार्य देश की मौद्रिक एवं बैंकिंग प्रणाली को नियन्त्रित करना एवं इसे स्थिर बनाये रखना है।"

सच पूछा जाय तो यह विवाद निरर्थक है, क्योंकि केन्द्रीय बैंक के उपर्युक्त सभी कार्य अपनी-अपनी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हैं। **वैसे इसका प्रमुख कार्य देश की मुद्रा व साख को नियन्त्रित व नियमित करना ही माना गया है।**

भारत में नोट निर्गमन की विधि

भारतीय करेंसी में एक रुपये का नोट व सिक्के भारत सरकार के जारी किए हुए हैं और शेष सभी बैंक-नोट भारतीय रिजर्व बैंक की तरफ से जारी किये गये हैं। आजकल देश में रिजर्व बैंक के द्वारा चलाये गये दो, पाँच, दस, बीस, पचास एक सौ रुपये व पाँच सौ रुपये के नोट प्रचलन में है। 16 जनवरी, 1978 को एक हज़ार, पाँच हज़ार व दस हज़ार रुपये के नोट चलन से हटा लिये गये थे ताकि गैर-कानूनी सौदों पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सके। करेंसी का विस्तार व संकुचन रिजर्व बैंक के बैंकिंग विभाग के द्वारा होता है।

भारत में 6 अक्टूबर, 1956 से पूर्व नोट निर्गमन की आनुपातिक कोष प्रणाली प्रचलित थी, जिसके अन्तर्गत नोटों के पीछे 40% राशि सोने के सिक्कों, धातु व स्टर्लिंग (बाद में, विदेशी) प्रतिभूतियों के रूप में रखी जाती थी। **लेकिन 1956 में रिजर्व बैंक अधिनियम में संशोधन करके नोट-निर्गमन की न्यूनतम कोष प्रणाली लागू कर दी गई जिसमें 400 करोड रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ व 115 करोड रुपये का सोना व सोने के सिक्के रखकर (कुल 515 करोड रुपये का रिजर्व रखकर) चाहे जितनी कागजी मुद्रा निकाली जा सकती थी । 31 अक्टूबर, 1957 को न्यूनतम सीमा घटाकर कुल 200 करोड रुपये कर दी गई जिसमें संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक केन्द्रीय सरकार की सलाह से विदेशी प्रतिभूतियों का भी पूर्णतया परित्याग कर सकते है; लेकिन 115 करोड रुपये का सोना तो सदैव रखना होगा। इस प्रकार भारत में *अब नोट-निर्गमन की न्यूनतम कोष प्रणाली चल रही है। नियोजित आर्थिक विकास में* आवश्यकतानुसार नोट छाप सकने के लिए इस प्रणाली का सहारा लेना पड़ा है। इस प्रणाली के अन्तर्गत नोट छापने की कोई अधिकतम सीमा नहीं है।**

भारत के नोट चलाने की वर्तमान प्रणाली के कारण महगाई बढ़ती जाती है, क्योंकि केन्द्रीय सरकार के कहने पर भारतीय रिजर्व बैंक को सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर कागजी मुद्रा का प्रसार करना पड़ता है। इस प्रकार सरकार के द्वारा अधिक व्यय की व्यवस्था करने के लिए काफी मात्रा में नोट छापे गये हैं, और नोट-निर्गमन की न्यूनतम कोष-प्रणाली के कारण रिजर्व बैंक को नोट निकालने में कोई कठिनाई नहीं होती । **इस प्रकार केन्द्रीय सरकार के निर्णयानुसार घाटे के बजटों की वित्तीय व्यवस्था करने के लिए मुद्रा की सप्लाई बढ़ाई जाती है। अतः इस प्रणाली में कागजी मुद्रा की मात्रा पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता।** देश में कागजी मुद्रा जनता के द्वारा सरकार में विश्वास के आधार पर चलती है। इसके पीछे सोने व अन्य धातु वगैरा का कोष नहीं रखा जाता है। अत्यधिक मुद्रास्फीति की स्थिति में मुद्रा का मूल्य बहुत नीचा हो जाने से जनता का मुद्रा पर से विश्वास

उठ सकता है। अत नोट निर्गमन की न्यूनतम प्रणाली लचीली तो है, लेकिन साथ में काफी जोखिम से भरी हुई है। इस प्रणाली के कारण भारत में मुद्रास्फीति को बढ़ावा मिला है। जिससे देश को दो अकों वाली (two digit) मुद्रास्फीति का सामना करना पड रहा है।

केन्द्रीय बैंक द्वारा साख-नियन्त्रण के उपाय

(Methods of Credit Control by a Central Bank)

हम पहले बता चुके हैं कि केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य साख नियन्त्रण करना है। जिन देशों में केन्द्रीय बैंक करेंसी पर नियन्त्रण नहीं रख सकता वहाँ भी यह साख-नियन्त्रण करने का प्रयास अवश्य करता है। जैसा कि हम ऊपर बतला चुके है भारत में ऐसी स्थिति ही देखने को मिलती है। साख-नियन्त्रण के उपाय अग्र श्रेणियों में बाँटे जा सकते है।

साख-नियन्त्रण के उपाय

(अ) मात्रात्मक या सामान्य उपाय (Quantitative methods or General Methods)	(आ) गुणात्मक या विशिष्ट उपाय (Qualitative or Selective Methods)	(इ) अन्य उपाय
(i) बैंक दर	(i) न्यूनतम मार्जिन की आवश्यकताएँ	(i) नैतिक दबाव
(ii) (क) परिवर्तनशील नकद-रिजर्व अनुपात (CRR)	(ii) न्यूनतम उधार की दरें	(ii) प्रचार
(ख) वैधानिक तरलता-अनुपात (SLR)	(iii) उधार की अधिकतम सीमाएँ	(iii) प्रत्यक्ष कार्यवाही
(iii) खुले बाजार की क्रियाएं		
(iv) नई पुनर्वित्त नीति		

तालिका से पता लगता है कि केन्द्रीय बैंक के पास साख-नियन्त्रण के विविध उपाय होते है जिनकी प्रक्रिया व आर्थिक प्रभावों का विवेचन नीचे किया जाता है।

(अ) साख-नियन्त्रण के मात्रात्मक या सामान्य उपाय (Quantitative or General Methods of Credit Control)

(i) बैंक-दर (Bank Rate) —बैंक दर को अमेरिका में बट्टे की दर (discount rate) भी कहते है। बैंक दर केन्द्रीय बैंक की मुद्रा उधार देने की न्यूनतम दर होती है। वैसी इसी दर पर केन्द्रीय बैंक बिलों की खरीद व पुनर्कटौती भी किया करते हैं। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में , "बैंक दर वह स्टैण्डर्ड दर मानी गई है जिस पर (बैंक) उन विनिमय बिलों या अन्य व्यापारिक प्रपत्रों को खरीदने व उनकी पुनर्कटौती के लिए तैयार रहता है जिन्हें वह इस अधिनियम के अन्तर्गत खरीद सकता है। लेकिन भारत में बिल बाजार के अभाव में बैंक दर वह दर मानी गई है जिस पर रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंक को मुद्रा उधार

देता है । 8 अक्टूबर 1991 को व्यवसाय के बंद होने से लागू करके भारत में बैंक दर 11% से बढ़ा कर 12% कर दी गई है। इससे पूर्व यह 4 जुलाई 1991 को 10% से बढ़ा कर 11% की गयी थी। अमेरिका में केन्द्रीय बैंक की बट्टा दर (डिस्काउण्ट दर) 22 मार्च, 1990 को $5\frac{1}{4}$% की गयी थी।

बैंक-दर के बढ़ने से प्रभाव

1 **साख-संकुचन**— बैंक दर बढ़ने से साख-संकुचन होता है, क्योंकि व्यापारिक बैंकों को केन्द्रीय बैंक से प्राप्त कर्ज पर अपेक्षाकृत अधिक ब्याज देना पड़ता है जिससे उनके द्वारा केन्द्रीय बैंक से लिया/जाने वाला कर्ज कम हो जाता है। साथ में व्यापारिक बैंक अपनी ब्याज की दरें भी बढ़ा देते हैं, जिससे व्यापारी व अन्य ग्राहक कम मात्रा में उधार लेने लगते हैं। यही नहीं बल्कि ब्याज की दर के बढ़ने से लोग बैंक में अधिक मात्रा में रुपया जमा कराने लगते हैं। इस प्रकार बैंक दर को मुद्रास्फीति पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए बढ़ाया जाता है।

2 **नये विनियोग में कमी**—स्वाभाविक है कि बैंक दर के बढ़ने से एवं परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में ब्याज की दरों के बढ़ जाने से नये विनियोगों में कमी आती है जिससे रोजगार व आय घटने लगते हैं।

3 **कीमतों में कमी**—जिन व्यवसायियों ने उधार की रकम के आधार पर माल जमा कर रखा था वे ब्याज की दरें बढ़ जाने पर कुल ब्याज का भार अधिक हो जाने के कारण माल बेचने लगते है **जिससे कीमतों में गिरावट आती है।**

4 **विदेशी पूँजी आकर्षित होती है**—जिस देश में बैंक-दर बढ़ती है, उसमें विदेशों से ऊँचे ब्याज के कारण पूँजी आकर्षित होती है। इसलिए इसे विदेशी पूँजी आकर्षित करने के लिए भी उपयोग में लाया जा सकता है।

बैंक दर को कम करने का प्रभाव—बैंक-दर में कमी करने से साख का विस्तार होता है, क्योंकि व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंकों से ज्यादा मात्रा में उधार लेते है और अपनी ब्याज की दरें कम करके वे व्यवसायियों व उद्यमियों को ज्यादा मात्रा में उधार देते हैं। इससे नया विनियोग बढ़ता है एवं उत्पादन व आय बढ़ते हैं। लेकिन सम्भवत एक देश की पूँजी विदेशों में भी जाने लगती है। इस तरह आर्थिक मन्दी की अवधि में बैंक दर कम करके कुछ सीमा तक विनियोग बढ़ाये जा सकते हैं।

बैंक दर की सफलता की शर्तें—बैंक दर निम्न परिस्थितियों में ही सफल हो सकती है—

1 **देश में संगठित मुद्रा बाजार** (Organised money market) **हो**—बैंक दर की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि देश में संगठित मुद्रा बाजार हो और अन्य ब्याज की दरें बैंक दर के परिवर्तन से प्रभावित हों। यदि ऐसा नहीं होता तो बैंक दर अपना प्रभाव नहीं दिखला पाती है। उदाहरण के लिए, भारत में विशाल असंगठित मुद्रा बाजार पाया जाता है, जिसमें महाजन व देशी बैंकर काफी मात्रा में

मुद्रा का लेन-देन करते हैं। लेकिन उनकी क्रियाएँ बैंक दर के परिवर्तनों से बहुत कम प्रभावित होती हैं। उनकी उधार देने की दरें इतनी ऊँची होती हैं कि बैंक दर का मामूली-सा परिवर्तन तो उन्हें छू भी नहीं पाता। इसलिए बैंक दर का प्रभाव असंगठित मुद्रा-बाजार की दशाओं में काफी घट जाता है।

2 **व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से पर्याप्त मात्रा में उधार लें**—बैंक दर तभी प्रभावशाली होती है जबकि व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से काफी मात्रा में कर्ज लें। यदि वे केन्द्रीय बैंक पर कर्ज के लिए निर्भर नहीं करते तो उस सीमा तक बैंक दर का प्रभाव कम हो जाता है।

3 **यदि विनियोग के अवसर कम होते हैं तो ब्याज की दर कम हो जाने पर भी लोग-बाग ज्यादा उधार नहीं लेते**—अतः आर्थिक मन्दी के समय बैंक दर के घटने मात्र से आर्थिक दशा में सुधार की पूरी आशा नहीं की जा सकती। व्यवहार में विनियोग के सुअवसरों का उत्पन्न होना बहुत आवश्यक होता है। विनियोग-कर्त्ताओं को भावी लाभ की आशाएँ होनी चाहिए ताकि वे पूँजी लगाने के निर्णय कर सकें।

इस प्रकार बैंक-दर के परिवर्तनों का जितना प्रभाव अमेरिका व ब्रिटेन में पड़ता है, उतना भारत में नहीं पड़ता। वैसे भी बैंक दर के परिवर्तन से स्थिर विनियोग जैसे प्लाट, मशीनरी, फैक्ट्री की इमारत आदि पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इन्वेण्टरी विनियोग या माल के रूप में विनियोग, जैसे कच्चे माल व **निर्मित माल आदि पर, बैंक दर के परिवर्तन से अधिक प्रभाव पड़ता है।** इस प्रकार बैंक दर की अपनी सीमाएँ होती हैं। लेकिन जब कभी बैंक दर परिवर्तित की जाती है तब देश में रिजर्व बैंक की साख-नीति के परिवर्तन की दिशा अवश्य स्पष्ट हो जाती है।

भारत में बैंक दर - भारत में बैंक दर शुरू मे नवम्बर, 1951 में 3 से 3.5 प्रतिशत की गई थी। उस समय भी इसका उद्देश्य मुद्रास्फीति के दबाव कम करना ही था। 22 जुलाई, 1974 को रिजर्व बैंक ने बैंक दर 7 प्रतिशत से बढ़ाकर 9 प्रतिशत कर दी थी। एक साथ 2 प्रतिशत की वृद्धि पहले कभी नहीं की गई थी। साथ में व्यापारिक बैंकों की जमा व उधार की दरों में भी वृद्धि की गई थी। इस वृद्धि का उद्देश्य भी मुद्रा-स्फीति को कम करना ही था। **11 जुलाई 1981 से बैंक दर पुनः बढ़ाकर 9 से 10 प्रतिशत की गई थी। तब से लगभग 10 वर्ष तक यह 10% की बनी रही। लेकिन मुद्रास्फीति के दबावों को देखते हुए यह 4 जुलाई, 1991 को 10% से बढ़ा कर 11% कर दी गयी तथा पुनः 8 अक्टूबर 1991 को व्यवसाय बंद होने के बाद 11% से बढ़ाकर 12% कर दी गयी। यह वृद्धि मुद्रास्फीति को रोकने के लिए की गयी।**

लेकिन जैसा कि पहले कहा जा चुका है भारत में आज तक बैंक दर का प्रभाव बहुत सीमित रहा है। इसलिए सरकार को मुद्रास्फीति को रोकने के लिए अन्य उपायों का सहारा लेना पड़ा है। बैंक दर की वृद्धि कठोर मौद्रिक नीति का अंग मानी जाती है, क्योंकि इसका उद्देश्य ब्याज की अन्य दरों में वृद्धि करके सभी

क्षेत्रों में एक साथ साख की मात्रा को कम करवाना होता है। भारत में आज भी कुछ मौद्रिक अर्थशास्त्री मुद्रास्फीति पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए बैंक दर में काफी वृद्धि का समर्थन करते हैं। बम्बई के सुप्रसिद्ध मौद्रिक अर्थशास्त्री प्रोफेसर पी आर. ब्रह्मानन्द ने कुछ वर्ष पूर्व मुद्रास्फीति पर काबू पाने के लिए सुझाये गये उपायों में बैंक दर को 10% से बढ़ाकर 15% कर देने का सुझाव दिया था लेकिन सरकार ने इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया। बैंक दर को 15% कर देने से देश में आर्थिक मंदी के आने का भय उत्पन्न हो सकता है। वैसे भी आजकल मुद्रास्फीति के स्थान पर 'मन्दी के साथ महंगाई', अर्थात् 'स्टेग्फ्लेशन (stagflation) की स्थिति कुछ सीमा तक देखने को मिलती है, जिसमें मुद्रास्फीति के साथ-साथ बेरोजगारी भी पाई जाती है। इसलिए बैंक दर को बहुत ज्यादा बढ़ाना उचित नहीं माना जाता। ब्याज की दरों की वृद्धि को कुछ अर्थशास्त्री उचित नहीं मानते, क्योंकि इससे विनियोग हतोत्साहित हो सकता है।

(ii) (क) परिवर्तनशील नकद रिजर्व अनुपात (Cash Reserve Ratio) (CRR) एवं (ख) बैंकों के लिए वैधानिक तरलता अनुपात (Statutory Liquidity Ratio) (SLR)

(क) परिवर्तनशील नकद रिजर्व अनुपात-केन्द्रीय बैंक के पास व्यापारिक बैंकों को अपनी शुद्ध माग व अवधि-देनदारियों (*net demand and time liabilities*) का एक निश्चित प्रतिशत नकद जमा के रूप में रखना पड़ता है, जो प्रचलित कानून के अनुसार इन देनदारियों के 3% से 15% के बीच में हो सकता है। इसे 'नकद रिजर्व-अनुपात' (**Cash Reserve Ratio or CRR**) कहते है। जैसा कि पिछले अध्याय में बतलाया गया था, एक बैंक की शुद्ध माग व अवधि देनदारिया निकालने के लिए उसकी कुल माग व अवधि देनदारियों में से अन्य बैंकों व वित्तीय संस्थाओं की उस बैंक के प्रति देनदारिया को घटा दिया जाता है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए एक व्यापारिक बैंक की कुल माग व अवधि देनदारियों की राशि (पाक्षिक आधार पर दैनिक औसत लेने पर) 10 लाख रुपये है, तथा उस बैंक की अन्य बैंकों में जमाए 1 लाख रुपये है तथा अन्य बैंकों की उस बैंक में जमाए 2 लाख रुपये है तो उस बैंक की शुद्ध माग व अवधि देनदारिया या जमाए = 10 + 1 2 = 9 लाख रुपये आकी जायेगी। 14 मई, 1994 को घोषित साख-नीति के अनुसार CRR को 14% से बढ़ाकर तीन चरणों में 15% किया गया है। अन्तिम चरण 6 अगस्त, 1994 से लागू होगा। ऐसा मुद्रास्फीति पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए करना पड़ा है। नकद रिजर्व अनुपात केन्द्रीय बैंक के पास साख नियंत्रण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अस्त्र माना गया है। इस अनुपात को बढाने से व्यापारिक बैंकों को रिजर्व बैंक के पास नकद रिजर्व अधिक मात्रा में रखने पड़ते हैं जिससे उनकी साख सृजन करने की क्षमता कम हो जाती है। नकद रिजर्व अनुपात को घटाने से उनकी साख सृजन की क्षमता बढ़ जाती है।

केन्द्रीय बैंक नकद रिजर्व अनुपात में वृद्धि करके व्यापारिक बैंकों की शुद्ध माँग व अवधि देनदारियों का ज्यादा प्रतिशत अपने पास रख सकता है, जिससे देश में साख की मात्रा को घटाने में मदद मिलती है।

गुण—

(1) इसका प्रभाव शीघ्र होता है। नकद रिजर्व-अनुपात को बढ़ाने पर व्यापारिक बैंकों की साख-सृजन करने की क्षमता घट जाती है।

(2) यह विधि खुले बाजार की क्रियाओं से ज्यादा अच्छी मानी जाती है, क्योंकि खुले बाजार की क्रियाओं की प्रणाली में सरकारी प्रतिभूतियों की कीमतें घट सकती हैं जिससे वित्तीय संस्थाओं को हानि हो सकती है। लेकिन CRR की विधि में इस प्रकार की हानि का कोई भय नहीं रहता ।

(3) जिन देशों में प्रतिभूतियों के लिये बाजार पर्याप्त रूप से विकसित नहीं होता उनमें यह विधि ज्यादा सफल प्रमाणित होती है।

अवगुण—यह विधि बेलोच व कठोर मानी गई है, क्योंकि इसमें उन बैंकों पर ज्यादा प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है जिनकी तरल स्थिति कमजोर होती है। यह सभी क्षेत्रों पर समान रूप से लागू होती है, जिससे यह क्षेत्रीय आवश्यकताओं को ध्यान में नहीं रखती। जिन क्षेत्रों में बैंकों के पास नकद-राशि की कमी होती है उनमें इस नीति का बुरा प्रभाव पड़ता है। अत यह नीति विभिन्न क्षेत्रों व विभिन्न बैंकों में कोई भेद नहीं करती,जिससे इसकी वजह से कई प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती है।

(ख) बैंकों के लिए वैधानिक तरलता-अनुपात-व्यापारिक बैंक को वैधानिक दृष्टि से अपनी शुद्ध माँग व अवधि देनदारियों का एक निश्चित अनुपात अपने पास तरल परिसम्पत्तियों के रूप में रखना पड़ता है। यह वैधानिक तरलता अनुपात (statutory Liquidity Ratio) (SLR) **कहलाता है। भारत में तरल परिसम्पत्तियों में नकद-राशि, सोना या स्वीकृत प्रतिभूतियाँ शामिल की जाती हैं।** नकद-राशि में बैंक के पास पड़ी नकद-राशि व भारतीय रिजर्व बैंक के पास पड़ी इसकी बकाया राशि में से उस बैंक की नकद रिजर्व-अनुपात (CRR) वाली राशि घटाने के बाद बची शेष राशि को लेते हैं। साथ में इस बैंक की अन्य बैंकों के पास चालू खाते में पड़ी बकाया राशि भी शामिल की जाती है। इसके बाद सरकारी प्रतिभूतियों व सोने की मात्रा जोड़ी जाती है।

उदाहरण—मान लीजिए, एक व्यापारिक बैंक के पास पड़ी नकद-राशि 1 करोड़ रुपया है, भारतीय रिजर्व बैंक के पास पड़ी इसकी बकाया राशि 2 करोड़ रुपया है, बैंक की नकद-रिजर्व-अनुपात (CRR) के अन्तर्गत रिजर्व बैंक के पास पड़ी राशि 1 करोड़ रुपया है, इस बैंक की अन्य बैंकों के चालू खातों में पड़ी राशि 50 लाख रुपया, है बैंक के पास स्वीकृत शुद्ध प्रतिभूतियों की राशि 1.30 करोड़ रुपया है तथा सोना 20 लाख रुपये का है, एवं शुद्ध माँग व समय देनदारियां 10 करोड़ रुपये की है, तो बैंक का वैधानिक-तरलता अनुपात—

$$(SLR) = \frac{1 + (2\ 1) + 0\ 50 + 1\ 30 + 0\ 20}{10}$$

$$= \frac{4}{10}$$

= 40% होगा

SLR के बढने से व्यापार व उद्योग के लिए बैंकों से प्राप्त कर्ज कम हो जाता है। लेकिन सरकार को बैंकों से अधिक राशि ऋण के रूप में मिलने लग जाती है। इस प्रकार यह बैकों से साधनों का स्वरूप बदल देता है। भारत में SLR मे समय-समय पर परिवर्तन किये गये हैं। **14 मई, 1994 को घोषित नई साख नीति मे इसे दो चरणो मे 34.75% से घटाकर 33.75% पर लाया जायेगा। दूसरा चरण 17 सितम्बर, 1994 से लागू होगा।** 17 सितम्बर,1993 से ऊपर की घरेलू शुद्ध माग व समय देयताओं पर यह 25% जारी रहेगा। **जेसा कि पहले कहा गया है** *वैधानिक तरलता अनुपात* **(SLR) की वृद्धि का उद्देश्य सरकार के उधार-कार्यक्रम को सहारा देना रहा है।** सरकारी प्रतिभूतियों की बाजार माग काफी सीमा तक SLR द्वारा निर्धारित होती है। SLR की मामूली वृद्धि से बैंक सरकारी प्रतिभूतियों में काफी अधिक धनराशि लगाने को बाध्य हो जाते हैं। **अत SLR की वृद्धि से बेको को अधिक राशि सरकारी प्रतिभूतियो मे लगानी होती है।**

चूँकि सरकार उधार ली गई राशि को व्यय करती है, अत SLR के बढ़ने से मुद्रा की पूर्ति पर कोई सकुचनकारी प्रभाव नहीं पड़ता। लेकिन बैंको की उधार गैर-खाद्य व गैर-प्राथमिकता वाले क्षेत्रो के लिए कम हो जाती है, तथा सरकारी प्रतिभूतियो मे बैंको की विनियोग बढ़ जाते हैं।

(iii) **खुले बाजार की क्रियाएँ** (Open Market Operations) -केन्द्रीय बैंक द्वारा *साख-नियन्त्रण का यह उपाय बहुत महत्वपूर्ण माना गया है।* साख नियन्त्रण के परम्परागत उपायो मे सदैव इसका महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वैसे खुले बाजार की क्रियाएँ केन्द्रीय बैंक द्वारा विभिन्न प्रकार की परिसम्पत्तियो के क्रय-विक्रय के माध्यम से सचालित की जा सकती है जैसे कि सरकारी प्रतिभूतियाँ, व्यावसायिक विनिमय बिल, विदेशी विनिमय, सोना तथा कम्पनी के शेयर। **लेकिन व्यवहार में ये सरकारी प्रतिभूतियों (ट्रेजरी बिलों सहित) के क्रय-विक्रय तक ही सीमित रहती है।**

खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियों की खरीद का प्रभाव

यदि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैको के नकद रिजर्व बढ़ाने चाहे तो यह खुले बाजार मे सरकारी प्रतिभूतियो को खरीदने लगता है। कोई भी व्यक्ति या फर्म

सरकारी प्रतिभूतियों को बेचते समय केन्द्रीय बैंक से चैक प्राप्त करते है, जिसे वे किसी भी व्यापारिक बैंक में जमा कराते हैं। व्यापारिक बैंक इसे केन्द्रीय बैंक के पास भुगतान के लिए भेजते हैं। केन्द्रीय बैंक सम्बन्धित व्यापारिक बैंक के खाते में उतनी मुद्रा-राशि जमा कर देता है। अब व्यापारिक बैंक इस जमा के आधार पर किसी को कर्ज देकर साख का निर्माण कर सकता है जिसका विस्तृत विवरण पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यदि व्यापारिक बैंक सरकारी प्रतिभूतियों को बेचते तो भी प्रभाव वैसा ही पड़ता। उनके अतिरिक्त रिजर्व बढ़ जाते (सरकारी प्रतिभूतियाँ कम हो जातीं) और वे अधिक ऋण देकर साख की मात्रा में वृद्धि कर सकते थे।

खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियों की बिक्री का प्रभाव

यदि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के नकद रिजर्व कम करना चाहें तो वह खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियाँ बेचने लगता है। जो व्यक्ति या फर्म सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदते हैं वे अपने बैंक पर चैक काटकर केन्द्रीय बैंक को देते हैं। केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को भुगतान के लिए चैक पेश करता है। भुगतान का सुगम तरीका यह है कि केन्द्रीय बैंक के पास व्यापारिक बैंक की जमा-राशि में कमी करदी जाती है। इससे व्यापारिक बैंक का रिजर्व-कोष कम हो जाता है और यदि बैंक का रिजर्व-अनुपात न्यूनतम वैधानिक सीमा से नीचे आ जाता है तो उसे अपने चालू विनियोगों में से कुछ विनियोगों को बेचकर, अथवा पुराने कर्ज लौटाने पर नये कर्ज न देकर, रिजर्व-अनुपात को वैधानिक स्तर पर वापस लाना पड़ता है।

यहाँ पर एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि यदि जनता सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदना नहीं चाहे तो केन्द्रीय बैंक क्या कर सकता है? उत्तर में यह कहा जायेगा कि प्रत्येक वस्तु की एक कीमत होती है, जिस पर वह बेची जा सकती है। अत केन्द्रीय बैंक को सरकारी प्रतिभूति बेचने के लिए इनका भाव घटाना पड़ सकता है, जिसका अर्थ होगा ब्याज में वृद्धि। यदि 4 प्रतिशत पर 100 रु की सरकारी प्रतिभूति का भाव 90 रुपये हो जाता है, तो ब्याज की दर $\frac{4}{90} \times 100 =$ लगभग 4.4 प्रतिशत हो जायेगी। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक के द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों के बेचने से ब्याज की दर में बढ़ने की सम्भावना होती है जिससे साख-संकुचन या साख में कमी की प्रक्रिया को अधिक प्रोत्साहन मिलता है।

भारत में खुले बाजार की क्रियाएँ

भारतीय रिजर्व बैंक ने खुले बाजार की क्रियाओं का उपयोग सरकार को उसके उधार कार्यक्रम में सहायता देने के लिए एवं प्रतिभूति बाजार में व्यवस्था बनाए रखने के लिए किया है। खुले बाजार की क्रियाओं का उपयोग बैंकों को मौसमी साख प्रदान करने के लिए भी किया गया है। सुस्त मौसम में बैंक अपने अतिरिक्त कोष सरकारी प्रतिभूतियों में लगा देते हैं, और व्यस्त मौसम में उद्योग व व्यापार को साख का विस्तार करने के लिए वे सरकारी प्रतिभूतियाँ बेचते हैं, अथवा इनके आधार पर रिजर्व बैंक से उधार लेते हैं।

भारत में खुले बाजार की क्रियाओं का उपयोग साख-नियन्त्रण के अन्य उपायों के साथ किया गया है, **लेकिन यह विधि भी मुद्रास्फीति को रोकने में विशेष सफल प्रमाणित नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि यहां का मुद्रा-बाजार संगठित नहीं है।** इसमें महाजन व सर्राफ आदि शामिल है, जो

असंगठित मुद्रा-बाजार के अंग माने गये हैं। उनके लेन-देन व ब्याज की दरों के अपने तौर-तरीके होते हैं और इनका मौद्रिक बाजार पर काफी प्रभाव भी होता है।

खुले बाजार की क्रियाओं की सीमाएं

(1) आजकल खुले बाजार की क्रियाओं का उपयोग भी सीमित हो गया है। **इस विधि में सरकारी प्रतिभूतियों की कीमतों के गिरने की सम्भावना होती है** जिससे सरकारी प्रतिभूति रखने वालों को आर्थिक हानि हो सकती है।

(2) सरकारी प्रतिभूतियों की कीमतों के गिरने से **सरकार की प्रतिष्ठा को हानि पहुँच सकती है**, जिससे आजकल इस अस्त्र का प्रयोग पहले से काफी कम हो गया है।

(3) केवल खुले बाजार की क्रियाओं से सरकार नये विनियोगों को प्रर्याप्त मात्रा में प्रोत्साहन नहीं दे सकती। मान लीजिए, केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों से प्रतिभूतियाँ खरीद कर उनको मुद्रा देता है। लेकिन व्यापार-व्यवसाय मन्द होने के कारण व्यवसायी लोग बैंकों से उधार नहीं लेते, जिससे खुले बाजार की क्रियाएं अपना प्रभाव नहीं दिखा पातीं।

अत खुले बाजार की क्रियाएँ भी संगठित मुद्रा-बाजारों में ही अधिक सफल हो पाती हैं। भारत जैसे विकासशील देश में इन्हें सीमित मात्रा में ही सफलता मिल सकती है।

(iv) नई पुनर्वित्त नीति (New Refinance Policy)

इसमें केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को दिये जाने वाले ऋणों पर मात्रात्मक प्रतिबन्ध लगाता है। इसका 1975 से प्रयोग चालू किया गया था। इसमें सर्वप्रथम बैंकों के लिए उनकी माग व अवधि-देनदारियों के 1% तक के लिए बेसिक उधार की सीमाएँ निर्धारित की गयी थीं। खाद्यान्नों की सार्वजनिक खरीद व निर्यात के लिए विशेष पुनर्वित्त सुविधा को सीमित किया गया था, एवं सभी प्रकार के पुनर्वित्त की मात्रा, अवधि व ब्याज की दर रिजर्व बैंक के निर्णय पर छोड दी गई थी। इसके लिए बैंकों के कर्ज-जमा अनुपात तथा निर्यात-साख में उनकी सफलता आदि पर विचार किया जाता है।

इस प्रकार पहले रिजर्व बैंक यह सोचता था कि उधार की लागत बढ़ा देने से उधार को कम किया जा सकता है। लेकिन नई पुनर्वित्त नीति में उधार की मात्रा पर सीधा नियन्त्रण स्थापित किया गया है ताकि साख-नियन्त्रण के काम में अधिक सफलता प्राप्त की जा सके।

(आ) साख-नियन्त्रण के गुणात्मक या विशिष्ट उपाय

(Qualitative or Selective Methods of Credit Control)

साख-नियन्त्रण के गुणात्मक या विशिष्ट उपायों के अन्तर्गत विशेष उद्देश्यों के लिए साख का नियन्त्रण किया जाता है। **साख-नियन्त्रण के सामान्य उपाय साख की लागत व साख की कुल मात्रा को प्रभावित करते हैं, जबकि विशिष्ट नियन्त्रण के उपाय उपलब्ध साख की पूर्ति के वितरण को प्रभावित करते है।** साख-नियन्त्रण के विशिष्ट साधनों का उद्देश्य ऐसी क्रियाओं को हतोत्साहित करना होता है जो

अनावश्यक अथवा कम आवश्यक होती है। भारत में इन साधनों का उपयोग खाद्यान्न व आवश्यक कच्चे माल जैसी वस्तुओं में सट्टेबाजी व संग्रह आदि को रोकने के लिए किया गया है। इन्हें सामान्य साख-नियन्त्रणों के उपायों के साथ अपनाया गया है। अब तक का अनुभव यह बतलाता है कि इनको सामान्य साख-नियन्त्रण के उपायों के साथ अपनाकर ही अधिक सफल बनाया जा सकता है। इनका उपयोग करके विशेष प्रकार की वस्तुओं की कीमतें स्थिर की जा सकती हैं।

भारत में विशिष्ट साख-नियन्त्रणों का उपयोग समय-समय पर खाद्यान्नों, तिलहनों, कपास, चीनी, वनस्पति तेल व अन्य वस्तुओं में सट्टेबाजी को रोकने के लिये किया गया है। इसके लिए विशेषतया न्यूनतम मार्जिन की विधि अपनाई गयी है।

(I) न्यूनतम मार्जिन की आवश्यकताएँ (Minimum Margin Requirements) — न्यूनतम मार्जिन को बढ़ाने से उस वस्तु-विशेष के लिए साख की मात्रा कम हो जाती है जिससे उस वस्तु में सट्टेबाजी व संग्रह कम होने लगता है। मान लीजिए, किसी वस्तु पर न्यूनतम मार्जिन 40 प्रतिशत है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि बैंक इस वस्तु के आधार पर 60% तक कर्ज देंगे। शेष 40% राशि स्वयं व्यवसायियों को लगानी होगी। यदि न्यूनतम मार्जिन की राशि 40 प्रतिशत से बढ़ाकर 50 प्रतिशत कर दिया जाय तो उधार की राशि 60% से घटकर 50% पर आ जायेगी, जिससे साख की मात्रा कम होगी। कहने का आशय यह है कि मूल्य बढ़ने पर न्यूनतम मार्जिन बढ़ा दिये जाते हैं और मूल्य कम होने की स्थिति में ये घटा दिये जाते हैं।

11 फरवरी 1992 से मिलों व प्रोसेसिंग इकाइयों के लिए धान/चावल, दालों व अन्य खाद्यान्नों तथा तिलहनों व वनस्पति तेलों के लिए न्यूनतम मार्जिन 60% कर दिये गये थे।[1]

(II) उधार की न्यूनतम दरें (Minimum Lending Rates) —केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों की उधार देने की न्यूनतम दरों को बढ़ाकर भी साख नियन्त्रण करने का प्रयास कर सकता है। गुणात्मक साख-नियन्त्रण के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं पर उधार की न्यूनतम दरों को बढ़ाने से उधार की राशि कम हो जाती है जिससे सम्बन्धित वस्तुओं की कीमतें नियन्त्रण में आ जाती हैं। प्रायः न्यूनतम मार्जिन व उधार की न्यूनतम दरों को एक साथ प्रयोग में लाया जाता है। उधार की न्यूनतम दरों में वृद्धि का उद्देश्य मुद्रास्फीति पर नियन्त्रण स्थापित करना होता है।

(III) उधार की अधिकतम सीमाएँ (Credit Ceilings) — विभिन्न व्यवसायियों के लिए उधार की सीमा निर्धारित करके भी साख-नियन्त्रण किया जा सकता है। कभी-कभी केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को यह भी कह देता है कि वे अमुक अवधि के अमुक कार्यों के लिए अमुक धनराशि से ज्यादा राशि उधार नहीं

देंगे। 11 फरवरी 1992 से साख की सीमा का स्तर (1989-90 नवम्बर-अक्टूबर को समाप्त होने वाले तीन वर्षों के औसत को आधार मानने पर) धान/चावल, गेहूँ, दालों, तिलहनों व खाद्य-तेलों के लिए 85% कर दिया गया था। इस प्रकार साख पर सीमा निर्धारित करके भी साख-नियन्त्रण किया जा सकता है। उपभोक्ता को मिलने वाली साख पर भी सीमा लगाई जा सकती है। इससे मुद्रास्फीति का भय कम हो जाता है।

साख-नियन्त्रण के गुणात्मक उपाय चुने हुये क्षेत्रों में साख की पूर्ति को बढ़ाते है, और अन्य क्षेत्रों में कम करते है। इनका मुख्य उद्देश्य उत्पादन बढ़ाने के लिए साख उपलब्ध करना एवं सट्टेबाजी व संग्रह के लिए साख की पूर्ति पर रोक लगाना रहा है। इसलिए इन्हें साख-नियन्त्रण के चुने हुए या गुणात्मक उपाय कहा जाता है।

(इ) अन्य उपाय

(i) नैतिक दबाव (Moral Suasion) —साख नियन्त्रण के मात्रात्मक उपायों के अलावा हमारे देश में केन्द्रीय बैंक के द्वारा अपने नैतिक दबाव या प्रभाव का भी उपयोग किया गया है। समय-समय पर व्यापारिक बैंकों को पत्र लिखकर उन पर जोर डाला जाता है ताकि वे साख को नियन्त्रित करें एवं विशेष वस्तुओं पर उधार की राशि को कम करें। बैंकरों से इन उद्देश्यों के लिए विचार-विमर्श भी किया जाता है। पिछले लगभग 40 वर्षों में रिजर्व बैंक व व्यापारिक बैंकों में ऐसे विचार-विमर्श कई बार हुये है। विभिन्न बड़े अनुसूचित व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण से सार्वजनिक क्षेत्र में बैंकों की संख्या बढ़ी है, जिससे नैतिक दबाव, जैसे अस्त्र का महत्व और बढ़ गया है।

समय-समय पर रिजर्व बैंक के गवर्नरों ने व्यापारिक बैंक को लिखे गये पत्रों में इस बात पर बल दिया है कि प्रत्येक बैंक के स्तर पर साख-नियोजन इस प्रकार का होना चाहिये कि साख का उपयोग राष्ट्रीय उद्देश्यों व प्राथमिकताओं के अनुरूप हो सके। मार्च, 1990 के अन्त में प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों के लिए साख का अनुपात विशुद्ध बैंक-साख की बकाया राशि का 43 1% हो गया था जो एक सराहनीय प्रगति थी, क्योंकि यह 40% के लक्ष्य से अधिक था। लेकिन मार्च, 1992 के अन्त मे यह 39.3% रहा है जो लक्ष्य से कम है।

(ii) प्रचार—केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को साख-नियन्त्रण की आवश्यकता पर जोर देने के लिये प्रचार की विधि भी अपना सकता है जिससे वे इसका महत्व समझने लग जाते है और आवश्यक कदम उठाने में केन्द्रीय बैंक को सहयोग देते हैं।

(iii) प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct action)—असामान्य परिस्थितियों में साख-नियन्त्रण के लिए प्रत्यक्ष कार्यवाही की विधि भी अपनाई जा सकती है जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को कुछ कार्यों के लिए ऋण देने से रोक सकता है अथवा अन्य कड़े प्रतिबन्ध लगा सकता है। लेकिन ऐसे कठोर कदमों को लागू करने में कई कठिनाइयाँ आती है, और लोकतन्त्र में इसके अवसर बहुत कम आते हैं।

भारत में साख नियन्त्रण

भारत में रिजर्व बैंक की नीति नियन्त्रित साख-विस्तार (Controlled credit expansion) की रही है। इसके अन्तर्गत बैंक ने देश में उत्पादन बढ़ाने के लिए साख का विस्तार किया है, लेकिन अनुत्पादक कार्यों, सट्टेबाजी व अनुचित संग्रह व अन्य

समाज-विरोधी कार्यों के लिये साख को कम करने की नीति अपनाई है। 9 अक्टूबर 1991 से बैंक दर 12% कर दी गयी थी। जैसा कि पहले कहा गया है अब नकद-रिजर्व-अनुपात (CRR) 14% से बढ़ाकर पुन. 15% कर दिया गया है जो 6 अगस्त, 1994 से लागू हो जायेगा। इससे अनुसूचित व्यापारिक बैंकों के 3,700 करोड रु के वित्तीय साधन रुक जायेंगे जिससे मुद्रा प्रसार व मुद्रास्फीति पर नियत्रण करने में मदद मिलेगी। SLR 34.75% से घटाकर 33.75% किया गया है जो 17 सितम्बर, 1994 से प्रभावशील हो जायेगा। इससे बैंकों की SLR की राशि 2,600 करोड रु कम हो जायेगी, लेकिन इससे उधार कार्यक्रम पर असर नही पडेगा, क्योंकि बैंक पहले ही ज्यादा सिक्यूरिटी रखे हुए हैं।

प्राय यह कहा जाता है कि भारत में महँगाई बढ़ी है, जिससे रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति की असफलता प्रकट होती है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि रिजर्व बैंक ने मुद्रास्फीति को नियन्त्रित करने के लिए कुछ मौद्रिक उपाय काम में लिये हैं। लेकिन मुद्रास्फीति की समस्या बहुत जटिल है जिसे राजकोषीय व मौद्रिक नीतियों के मिले-जुले प्रयोग एवं अन्य भौतिक नियन्त्रणों व राशनिंग तथा उत्पादन वृद्धि आदि के व्यापक उपायों द्वारा ही हल किया जा सकता है। मूल रूप से यह समस्या उत्पादन बढाने से सम्बन्ध रखती है। अत **मुद्रास्फीति की समस्या पर केवल मौद्रिक उपायों से ही नियन्त्रण स्थापित नहीं किया जा सकता।** भारतीय रिजर्व बैंक ने मात्रात्मक साख-नियन्त्रण व गुणात्मक साख-नियन्त्रण के उपाय अपनाकर नियन्त्रित साख-विस्तार के कार्यक्रम को आगे बढाने का प्रयत्न किया है जिसमें इसे कुछ सीमा तक सफलता भी मिली है। कुछ क्षेत्रों में यह विश्वास किया जाता है कि यदि रिजर्व बैंक साख-नियन्त्रण के विभिन्न उपाय नहीं अपनाता तो सम्भवत मुद्रा स्फीति की स्थिति अधिक गम्भीर हो जाती

वास्तव में देखा जाय तो भारत में केन्द्रीय बैंक का करेंसी की पूर्ति पर कोई नियन्त्रण नहीं है। वह केन्द्रीय सरकार के कहने पर कागजी मुद्रा का प्रसार करता है। अत केवल साख-नियन्त्रण के उपायों से ही काम नहीं चल सकता। **सरकार को अपने व्यय पर भी नियन्त्रण करना चाहिये और घाटे के बजटों का सीमित मात्रा में उपयोग करना चाहिए।** हमें भारत में समस्त मुद्रा की सप्लाई को नियन्त्रित व नियमित करने की आवश्यकता स्वीकार करनी होगी। अत **मौद्रिक नीति के साथ-साथ राजकोषीय नीति पर भी समुचित रूप से ध्यान दिया जाना चाहिये।** सरकारी खर्च की जरूरतों को पूरा करने के लिए मुद्रा की पूर्ति बढानी होती है, जिससे मुद्रा स्फीति होती है। अत सरकारी व्यय पर पर्याप्त अंकुश लगाना ज्यादा जरूरी है।

सरकार मौद्रिक नीति पर चक्रवर्ती समिति की सिफारिशों को कार्यान्वित करने का प्रयास कर रही है। इसके अनुसार मौद्रिक नियोजन के लिए मौद्रिक लक्ष्य निर्धारित किये जायेंगे, जिनके आधार पर मुद्रा की पूर्ति की वार्षिक वृद्धि को नियमित व नियन्त्रित किया जायगा।

केन्द्रीय बैंकों व व्यापारिक बैंकों का परस्पर सम्बन्ध

(1) प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों जैसे कृषि, निर्यात, लघु उद्योगों, स्वरोजगार में संलग्न व्यक्तियों व कारीगरों आदि को अधिक कर्ज की सुविधा देना—केन्द्रीय बैंक देश में करेंसी व साख की पूर्ति को नियन्त्रित करता है। यह बैंकों का बैंक व सरकार का बैंक होता है। आजकल भारत जैसे विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक का कार्य विकास को प्रोत्साहन देना भी हो गया है। इसलिए बैंक ऐसी नीतियाँ अपनाता है जिससे ऊपर वर्णित प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों के लिए आवश्यक साख की मात्रा उचित लागत पर उपलब्ध की जा सके। साथ में केन्द्रीय बैंक इस बात का भी ध्यान रखता है कि अनुत्पादक कार्यों, सट्टेबाजी व वस्तु-संग्रह के लिए साख का उपयोग न होने दिया जाय। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक पर आर्थिक विकास के लिए साख-सम्बन्धी निर्णय लेने की पूरी जिम्मेदारी होती है।

(2) व्यापारिक बैंकों के मार्फत साख-नियन्त्रण—सरकार आर्थिक विकास के लिये घाटे के बजट बनाती है और घाटे की पूर्ति के लिए केन्द्रीय बैंक से उधार लेती है। इस व्यवस्था में मुद्रा-प्रसार पर नियन्त्रण रखने के लिए केन्द्रीय बैंक को उचित मौद्रिक नीति अपनानी पड़ती है। केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के द्वारा साख-सृजन की मात्रा को नियन्त्रित रखता है।

(3) केन्द्रीय बैंक व व्यापारिक बैंकों की परस्पर निर्भरता—हम पिछले अध्याय में बतला चुके हैं कि व्यापारिक बैंक भी साख-सृजन करके मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करते हैं। ये केन्द्रीय बैंक की नीति को कार्यान्वित करने में सहयोग देते हैं। **देश की अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय बैंक व व्यापारिक बैंकों का मिला-जुला योगदान होता है।** केन्द्रीय बैंक के निर्देशन में व्यापारिक बैंक अपने कार्यों का संचालन करते हैं। दूसरे शब्दों में,हम यह कह सकते हैं कि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के माध्यम से अपनी विभिन्न मौद्रिक व साख-सम्बन्धी बैंकिंग नीतियों को कार्यान्वित करता है। व्यापारिक बैंक आवश्यकता पड़ने पर कोषों के लिए केन्द्रीय बैंक की तरफ देखते हैं। केन्द्रीय बैंक साख-नियन्त्रण के विभिन्न उपाय अपना कर व्यापारिक बैंकों के रिजर्व कोषों को प्रभावित करता रहता है।

(4) केन्द्रीय बैंक पर व्यापारिक बैंकों के विकास की जिम्मेदारी—केन्द्रीय बैंक बैंकिंग प्रणाली के विकास के लिए कई प्रकार के कार्य करता है। इसे व्यापारिक बैंकों की क्रियाओं को नियन्त्रित करने के लिए व्यापक रूप से अधिकार दिये गये हैं। भारत में बैंकिंग व्यवसाय प्रारम्भ करने से पूर्व प्रत्येक बैंक को रिजर्व बैंक से लाइसेंस लेना पड़ता है। बैंकों के लिए न्यूनतम परिदत्त पूँजी व रिजर्व अनुपात, नकद व अन्य तरल परिसम्पत्तियों के लिए शर्तें निर्धारित होती हैं। यह बैंकों की जाँच करता है। उनके प्रबन्ध पर नियन्त्रण रखता है। 19 जुलाई 1969 को 14 बड़े बैंकों के राष्ट्रीयकरण से केन्द्रीय बैंक व व्यापारिक बैंकों के सम्बन्धों में एक नया मोड़ आ गया था। तब से व्यापारिक बैंक प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों जैसे कृषि, लघु उद्योग, स्वरोजगार में संलग्न व्यक्तियों, ग्रामीण कारीगरों, आदि को अधिक मात्रा में कर्ज देने लगे हैं। अब सरकार का भारतीय स्टेट बैंक सहित व्यापारिक बैंकों की

जमा-राशियों के 90 प्रतिशत पर अधिकार हो गया है। सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली 'सामाजिक उद्देश्यों' से प्रेरित व प्रभावित होने लगी है।जून, 1980 में 6 और बैंकों के राष्ट्रीयकरण का अधिनियम पास किया गया था। इस प्रकार भारतीय स्टेट बैंक व उसके सहायक बैंकों सहित सार्वजनिक क्षेत्र में 28 बैंक हो गये हैं। इनके अलावा 31 मार्च 1990 को 196 प्रादेशिक ग्रामीण बैंक (Regional Rural Banks) (RRBs) अलग से कार्य कर रहे थे। इस प्रकार बैंकिंग व्यवसाय पर सरकार का प्रभाव काफी सीमा तक बढ़ गया है। इन नवीनतम परिवर्तनों व प्रवृत्तियों पर अधिक प्रकाश अगले अध्याय में डाला जायगा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि केन्द्रीय बैंक व व्यापारिक बैंकों का परस्पर गहरा सम्बन्ध होता है और दोनों मिलकर बैंकिंग जगत की विभिन्न क्रियाओं को प्रभावित करते हैं। **केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों का मित्र, दार्शनिक व मार्गदर्शक होता है, और व्यापारिक बैंकों को आवश्यक वित्तीय साधन उपलब्ध कराता है।** व्यापारिक बैंक उत्पादन के क्षेत्रों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हैं और कृषि, उद्योग व व्यापार आदि को निरन्तर प्रभावित करते रहते हैं। **सफल बैंकिंग के लिए केन्द्रीय बैंक व व्यापारिक बैंकों के कार्यों में पूर्ण ताल-मेल स्थापित होना चाहिए।**

प्रश्न

1 एक केन्द्रीय बैंक के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिये। (Ajmer Iyr 1993)

2 केन्द्रीय बैंक साख-नियंत्रण के जिन उपायों को व्यवहार में प्राय काम में लेता है उनको भारतीय रिजर्व बैंक के द्वारा अपनाये गये उपायों को ध्यान में रखते हुए स्पष्ट कीजिए।

3 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए —
(i) भारत में बैंक-दर व उसकी उपयोगिता,
(ii) खुले बाजार की क्रियाएँ,
(iii) नकद रिजर्व अनुपात (Cash Reserve Ratio)
(iv) वैधानिक तरलता अनुपात (Statutory Liquidity Ratio)
(v) गुणात्मक साख-नियंत्रण के उपाय
(vi) नैतिक दबाव,

4 भारतीय रिजर्व बैंक की साख-नियंत्रण की नीतियों का मूल्यांकन कीजिए। क्या यह कहना सही है कि यदि रिजर्व बैंक साख-नियंत्रण पर ध्यान न देता तो भारत में मुद्रास्फीति अनियन्त्रित हो जाती?

5 व्यापारिक बैंक साख सृजन करते हैं तथा केन्द्रीय बैंक साख नियंत्रण करता है। दोनों के कार्यों में ताल-मेल कैसे स्थापित किया जा सकता है?

6 साख-नियंत्रण के मात्रात्मक व गुणात्मक उपायों में अंतर करिए और उनका सापेक्ष महत्त्व बताइए।

7 भारत में बैंक-दर के परिवर्तन अर्थव्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित करते हैं?

• • •

भारतीय बैंकिंग की आधुनिक प्रवृत्तियाँ
(Recent Trends in Indian Banking)

परिचय:— बैंकिंग का विकास इन्फ्रास्ट्रक्चर के विकास का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। इसकी विशेषता यह है कि यह कृषि, उद्योग, व्यापार, आदि क्षेत्रों के विकास में सहायक होता है और बाद में विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों से जमाएं प्राप्त करके स्वयं विकसित होता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारतीय बैंकिंग काफी अविकसित अवस्था में थी। उस समय बैंकिंग व्यवसाय निजी क्षेत्र में था। भारतीय रिजर्व बैंक का भी राष्ट्रीयकरण बाद में 1949 में हुआ। देश में इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का 1955 में राष्ट्रीयकरण करके भारतीय स्टेट बैंक की स्थापना की गई। 1959 में इसके आठ सहायक बैंक स्थापित हुए। 1969 में 14 व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा 1980 में 6 अन्य व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण हुआ। देश में कुल 275 अनुसूचित व्यापारिक बैंकों में 28 सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक हैं, 51 निजी क्षेत्र के बैंक (जिनका आकार छोटा है) तथा 196 प्रादेशिक ग्रामीण बैंक हैं। 28 सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों के पास लगभग 90 प्रतिशत बैंकिंग व्यवसाय केन्द्रित है।

हम प्रारम्भ में यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि देश में विभिन्न प्रकार के बैंक हैं, जैसे भारतीय रिजर्व बैंक, भारतीय स्टेट बैंक व उसके सहायक बैंक, व्यापारिक बैंक-अनुसूचित व गैर-अनुसूचित–(*अनुसूचित बैंकों को भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम की दूसरी सूची में शामिल किया गया है*), कृषि व ग्रामीण विकास का राष्ट्रीय बैंक (NABARD) (*नाबार्ड*), प्रादेशिक ग्रामीण बैंक, विदेशी बैंक, सहकारी बैंक, भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI) भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (SIDBI), राष्ट्रीय आवास बैंक (National Housing Bank), आदि। इस प्रकार देश में कई प्रकार के बैंक पाये जाते हैं, जो अपने-अपने क्षेत्र में *वित्तीय संस्थाओं के रूप में* विभिन्न प्रकार की सेवाएं प्रदान करते हैं। इनमें कुछ संस्थाओं को बैंक कहा गया है, जैसे IDBI, SIDBI व NHB को, लेकिन ये मूलतया वित्तीय संस्थाएं हैं।

नीचे भारतीय रिजर्व बैंक, भारतीय स्टेट बैंक, व्यापारिक बैंकों, विदेशी बैंकों व सहकारी बैंकों के कार्यों व प्रगति का संक्षिप्त परिचय देकर बैंकों के राष्ट्रीयकरण व अन्य गतिविधियों का विवेचन किया जायगा।

(i) भारतीय रिजर्व बैंक (Reserve Bank of India)

1934 के रिजर्व बैंक अधिनियम के अन्तर्गत भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना एक शेयर होल्डरों के बैंक के रूप में हुई थी। इसने *1 अप्रैल, 1935* से देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्यारम्भ कर दिया था। इसने करेंसी का काम सरकार से और साख-नियन्त्रण का काम भारतीय इम्पीरियल बैंक से लिया था। 1 जनवरी, 1949 से इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। मुआवजे के तौर पर शेयरहोल्डरों को

100 रुपये की कीमत के एक शेयर के 118 रुपये 10 आने दिये गये थे। इनकी विभिन्न गतिविधियों पर आगे प्रकाश डाला जाता है

संगठन (Organisation)

(1) पूंजी—1935 में कार्यारम्भ के समय इसकी शेयर-पूँजी 5 करोड़ रुपये थी, जिसे 100-100 रुपये के पूर्णत परिदत्त शेयरों में बाँटा गया था। बैंक का संचालन कुछ थोड़े से हाथों में केन्द्रित न होने पाये, इसलिए उस समय देश को पाँच क्षेत्रों में बाँटा गया था और दिल्ली, बम्बई, मद्रास, कलकत्ता तथा रंगून में प्रत्येक क्षेत्र से प्राप्त की जाने वाली पूँजी की मात्रा को निर्धारित किया गया था।

(2) प्रबन्ध— आजकल रिजर्व बैंक के केन्द्रीय संचालन बोर्ड (Central Board of Directors) में 20 सदस्य है (अ) एक गवर्नर और चार उप-गवर्नर, (आ) चार संचालक, जो चारों स्थायी समितियों में प्रत्येक में से एक केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते है, (इ) दस संचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते है, (ई) एक सरकारी अफसर होता है। सरकार ने यह आश्वासन दिया था कि राष्ट्रीयकरण से बैंक की संचालन-समिति पर विभिन्न हितों के प्रतिनिधित्व में कोई अन्तर नहीं आयेगा और बैंक का संचालन यथासम्भव व्यावसायिक सिद्धान्तों के आधार पर किया जायगा।

(3) बैंक के कार्यालय—इसका केन्द्रीय कार्यालय स्थायी रूप से बम्बई में है। इसके स्थानीय कार्यालय एवं शाखाएँ बंगलौर, बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, मद्रास, नागपुर, नई दिल्ली, पटना, अहमदाबाद, जयपुर व अन्य स्थानों में स्थित हैं।

कार्य (Functions)

(1) नोट निर्गमित करना—बैंक ऑफ इंगलैण्ड की भाँति भारतीय रिजर्व बैंक के भी दो प्रमुख विभाग है (i) निर्गम विभाग (Issue Department), और (ii) बैंकिंग विभाग (Banking Department)। रिजर्व बैंक को नोट-निर्गमन का एकाधिकार प्राप्त है। पिछले अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है कि भारत में नोट-निर्गमन की न्यूनतम कोष प्रणाली प्रचलित है। इससे देश में मुद्रास्फीति को प्रोत्साहन मिला है।

(2) विनिमय-दर का नियन्त्रण — जब तक भारत में स्टर्लिंग विनिमय मान था, तब तक कानून के अनुसार रुपये और स्टर्लिंग की निश्चित दर 1 रुपया = 1 शि 6 पें कायम रखने का उत्तरदायित्व रिजर्व बैंक का था। 25 सितम्बर, 1975 से देश की विनिमय-दर में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किया गया। **रुपये की विनिमय-दर भारत के साथ व्यापार करने वाले प्रमुख देशों अमेरिका, यू के., जापान, फ्रांस व जर्मनी की मुद्राओं के भारित औसत** (Weighted average) **के परिवर्तन से जोड़ दी गयी।** इस प्रकार भारत में व्यवस्थित परिवर्तनशील विनिमय-दर (managed floating exchange rate) की पद्धति लागू की गई जिसका प्रबन्ध भारतीय रिजर्व बैंक करता है। जुलाई 1991 में दो चरणों में रुपये का विदेशी मुद्राओं में लगभग 20% अवमूल्यन किया गया, जिसके अनुसार रुपये की नई विनिमय दर स्टर्लिंग में 41.59 रुपये प्रति पौंड स्टर्लिंग व डालर मे 25.95 रुपये प्रति डालर निर्धारित की गई ताकि निर्यात बढ़ाये जा सकें।

(3) **सरकारी कारोबार**—रिजर्व बैंक सरकारी संस्थाओं का रुपया जमा करता है और उनके खाते में जमा रकम की सीमा तक रुपये देता है तथा सरकार के रुपये अन्य स्थानों में भेजने तथा लेने-देने के अन्य कार्य करता है। साथ ही रिजर्व बैंक केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों को बिना जमानत पर अधिक से अधिक 90 दिनों के लिए अग्रिम राशि (Ways and Means Advances) देता है, सरकारी ऋणपत्रों का क्रय-विक्रय करता है तथा सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था करता है। रिजर्व बैंक ने यह कार्य काफी सन्तोषप्रद ढंग से किया है। हाल में इसने विदेशी विनिमय संकट की स्थिति में विदेशों में सोना गिरवी रखने की प्रक्रिया में योगदान दिया है।

(4) **कृषि-साख निगम**—कानून के अन्तर्गत भारतीय रिजर्व बैंक को एक विशेष कृषि-साख विभाग खोलने का दायित्व सौंपा गया है जिसके कार्य इस प्रकार है (अ) कृषि-साख सम्बन्धी प्रश्नों का अध्ययन करना और केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों, राज्य सहकारी बैंकों तथा अन्य बैंकों को परामर्श देना, और (आ) कृषि-साख से सम्बन्धित बैंकों के कार्य तथा राज्य सहकारी बैंकों या अन्य बैंकों से लेन-देन के कार्य सम्पन्न करना।

(5) **बैंकों को सहायता**—अन्य बैंकों का संरक्षक और अन्तिम ऋणदाता होने के नाते रिजर्व बैंक का कर्तव्य है कि संकट के समय उनकी सहायता करे। रिजर्व बैंक के आलोचकों का कहना है कि बैंक इस उत्तरदायित्व को निभाने में असफल रहा है। जहाँ एक ओर देश में कई ऐसे बैंक खुल गये है जिनकी पूँजी की व्यवस्था और कार्य-विधि दोषपूर्ण है, वहीं दूसरी ओर रिजर्व बैंक से सहायता न मिलने के कारण कुछ बैंकों को बन्द होना पड़ा है। इन दोषों को दूर करने के लिए 1949 के बैंकिंग कम्पनी कानून के अधीन अब रिजर्व बैंक से लाइसेंस प्राप्त किये बिना कोई कम्पनी देश में बैंकिंग का कार्य चालू नहीं कर सकती और न इसकी अनुमति के बिना कोई नयी शाखा स्थापित कर सकती है। रिजर्व बैंक को बैंक का निरीक्षण करने , उनकी वास्तविक स्थिति की जानकारी करने और किसी बैंक के विलय की योजना स्वीकार करने के अधिकार दिये गये हैं।

(6) **कर्मचारियों का प्रशिक्षण**— भारत में बैंकों के विभिन्न दोषों का एक मुख्य कारण प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव रहा है। इस कमी को दूर करने के लिए रिजर्व बैंक ने सितम्बर 1954 में बम्बई में बैंकर्स ट्रेनिंग कॉलेज की स्थापना की थी, जहाँ पर व्यापारिक बैंकों की देख रेख करने वाले कर्मचारियों को व्यावहारिक प्रशिक्षण दिया जाता है।

भारतीय रिजर्व बैंक के साख-नियंत्रण के कार्यों का विस्तृत विवेचन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। इसने देश की मौद्रिक नीति में निरन्तरता (Continuity) व लचीलापन (Flexibility) के गुण जोड़े है, और समय-समय पर सरकार को उचित आर्थिक सलाह दी है। इसे अधिक स्वायत्तता (autonomy) प्रदान करने से देश का ज्यादा हित हो सकता है। इसका व्यापारिक बैंकों की गतिविधियों पर भी काफी नियन्त्रण है। देश के बैंकिंग विकास में इसकी भूमिका प्रगतिशील रही है।

भारतीय रिजर्व बैंक ने 8 अक्टूबर 1991 को व्यवसाय बंद के बाद से बैंक दर 11 प्रतिशत से बढ़ा कर 12 प्रतिशत कर दी। इस प्रकार लगभग तीन महीनों

की अल्पावधि में बैंक-दर दूसरी बार बढ़ायी गयी है। पहले यह 4 जुलाई 1991 को 10% से 11% की गई थी। बैंक दर की वृद्धि मुद्रास्फीति पर नियंत्रण स्थापित करने के उद्देश्य से की गयी थी। लेकिन इससे ब्याज का भार बढ़ने से लागतजन्य मुद्रास्फीति (Cost push inflation) पर अकुश नहीं लगेगा, हालाकि बैंको के साख-सृजन पर अकुश अवश्य लगेगा। ब्याज की दरें बढ़ने से बैक-कर्ज पर नियंत्रण स्थापित करने में मदद मिली है।

(2) भारतीय स्टेट बैंक (State Bank of India)

भारतीय स्टेट बैंक की स्थापना 1 जुलाई, 1955 को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण करके की गयी थी। इम्पीरियल बैंक का भारतीय मुद्रा बाजार में काफी ऊँचा स्थान था। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् भी इम्पीरियल बैंक अपने साधनों, सम्बन्धों एवं प्रतिष्ठा के कारण भारतीय मुद्रा बाजार का नेतृत्व करता रहा। देश में इसकी लगभग 400 शाखाएँ थीं। अतएव इसके प्रयत्नों से ब्याज की दरें नीची रहीं तथा समान भी हो गयी थीं। इससे अन्तर्देशीय व्यापार की वित्तीय व्यवस्था करने में बड़ी सहायता मिली थी, किन्तु इस बैंक ने भी भारतीय व्यापारियों, फर्मों तथा भारतीय बैंकों के विरुद्ध भेदभाव की नीति अपनायी थी, और शिक्षित भारतीय नवयुवकों को उच्च पदों से वंचित रखा गया था।1949 में रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के साथ ही भारत सरकार ने इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण को भी सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिया था, किन्तु वित्त के अभाव में सरकार इसको कार्यान्वित नहीं कर पायी थी। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण की केन्द्रीय संचालन समिति की सिफारिशों के अनुसार 1 जुलाई, 1955 को भारतीय इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके भारतीय स्टेट बैंक की स्थापना की गयी थी। अब स्टेट बैंक समूह में निम्नलिखित बैंक शामिल हे

(1) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, (2) स्टेट बैंक ऑफ बीकानेर एण्ड जयपुर, (3) स्टेट बैंक ऑफ हैदराबाद, (4) स्टेट बैंक ऑफ इन्दौर, (5) स्टेट बैंक ऑफ मैसूर, (6) स्टेट बैंक ऑफ पटियाला, (7) स्टेट बैंक ऑफ सौराष्ट्र, तथा (8) स्टेट बैंक ऑफ ट्रावनकोर।

भारतीय स्टेट बैंक के कार्य–

(अ) केन्द्रीय बैंक के कार्य– जहाँ पर रिजर्व बैंक की अपनी शाखाएँ नहीं है वहाँ स्टेट बैंक उसके एकमात्र एजेण्ट के रूप मे कार्य करता है। स्टेट बैंक सरकार के बैंक के रूप में कार्य करता है और बैंकों के बैंक के रूप में भी कार्य करता है। रिजर्व बैंक की ओर से यह समाशोधन गृह का कार्य करता है। इसने उद्योग एवं कृषि को साख प्रदान करने के लिए रिजर्व बैंक के साथ अल्पकालीन और दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था की है तथा खाद्यान्नों के वितरण के लिए इसने सहकारी संस्थाओं एवं निजी व्यापारियों को साख प्रदान करने के लिए उचित कदम उठाये हैं।

(आ) व्यापारिक बैंक के कार्य - स्टेट बैंक स्वीकृत प्रतिज्ञा-पत्रो, विनिमय बिलो तथा बॉण्डो के आधार पर ऋण प्रदान करता है और अन्य बैंको की तरह यह भी तैयार माल, माल के अधिकार-पत्रो तथा अन्य उपयुक्त प्रपत्रो एव प्रतिभूतियो के आधार पर ऋण देता है।

भारतीय स्टेट बैंक की प्रगति1

(1) शाखाओ में वृद्धि - जून 1955 म स्टेट बैंक की स्थापना के समय 466 कार्यालय थे जो बढ़कर मार्च 1993 के अत में 8,738 हो गये। इसमे से लगभग तीन-चौथाई कार्यालय ग्रामीण व अर्द्ध-शहरी क्षेत्र मे थे। स्टेट बैंक की सहायक बैंको की शाखाएँ मार्च 1993 के अत मे 4,317 थीं।

(2) जमा मे वृद्धि - 1992 93 के अत मे इसकी समग्र-जमाराशियॉ 55,146 करोड रु थी जो पिछले वर्ष से 18 0 प्रतिशत अधिक थी।

(3) उधार का विस्तार - इसकी उधार की मात्रा मे विस्तार हुआ है। पिछले वर्षों मे कृषि, लघु उद्योग व निर्यात आदि के लिए कर्ज की सुविधा का तेजी से विस्तार किया गया है। इसका परिचय नीचे दिया जाता है।

(i) **कृषि के लिए वित्त** - मार्च 1993 के अन्त मे भारतीय स्टेट बैंक द्वारा कृषि को दिये गये प्रत्यक्ष वित्त की बकाया राशि 4,865 करोड रुपये थी तथा परोक्ष कृषिगत ऋण की बकाया राशि 370 करोड रुपये थी। अधिक सहायता छोटे कृषको को दी गयी है। इसके सहायक बैंको ने भी कृषि के लिए कर्ज की व्यवस्था की है।

(ii) **लघु उद्योग के लिए वित्त** - मार्च 1993 के अन्त मे लघु उद्योगो का दिये गये कर्ज की बकाया राशि 5,463 करोड़ रुपये थी, जबकि एक वर्ष पूर्व यह 5,069 करोड़ रुपये थी।

(iii) **निर्यातो की वित्त-व्यवस्था** - स्टेट बैंक ने निर्यात साख की भी व्यवस्था की है।

प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रों को उधार (Advances to Priority Sectors) - स्टेट बैंक ने प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रो को अधिक राशि उधार दी है। लघु उधार वालो की वित्तीय व्यवस्था पर अधिक ध्यान दिया गया है। प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो को दी गयी साख की मात्रा मार्च 1992 के अन्त मे बैंक द्वारा दी गयी कुल साख का लगभग 39 प्रतिशत थी, जबकि जून 1969 के अन्त मे यह केवल 17 5% थी। यह मार्च 1990 के अन्त मे 42 7 प्रतिशत थी, जो निर्धारित नॉर्म 40% से अधिक हो गई थी। लेकिन अब यह कर्ज-राहत-स्कीम, 1990 के कारण कम हुई है।

---

1 State Bank of India Monthly Review, July 1993, pp 348 359

अन्य दिशाओं में प्रगति—1977 से स्टेट बैंक ने समग्र ग्रामीण विकास कार्यों में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया था। स्टेट बैंक ने इस सम्बन्ध में प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों का निर्देशन किया है। यह बीमार औद्योगिक इकाइयों को भी सहायता देता है। बैंक प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रों को साख की सुविधा देकर स्वरोजगार के अवसर बढ़ाने में सक्रिय रहा है। बैंक को अब तक काफी "लीड" जिले आवंटित किये गये हैं। इसने आधारभूत पूँजीगत वस्तुओं तथा उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों के विकास में मदद की है। इसने निर्यात-साख प्रदान की है। इसने प्रवासी भारतीयों के विनियोगों को प्रोत्साहित किया है। इसमें 2 लाख से अधिक कर्मचारी कार्यरत हैं।

इस प्रकार भारतीय स्टेट बैंक कृषि, लघु उद्योग, ग्रामीण उद्योग व अन्य प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रों के विकास में यथोचित योगदान देता रहा है। बैंक के 'लीड' जिलों में से काफी जिले औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। इस प्रकार इसके कार्यों से पिछड़े जिले लाभान्वित हुए हैं। इसकी विदेशी शाखाओं का व्यवसाय भी काफी बढ़ा है। अब यह भारत के बढ़ते हुए विदेशी व्यापार व अन्तर्राष्ट्रीय वित्त में भी अधिक योगदान देने की स्थिति में आ गया है। विदेशों में इसके कारोबार का विस्तार किया गया है जहाँ इसकी शाखाएँ बढ़ी हैं। स्टेट बैंक ने 20-सूत्री कार्यक्रम के तहत भी वित्तीय सहायता प्रदान की है। इसकी सहायता से ड्रिप-सिंचाई व सूखी खेती का विस्तार किया गया है। यह एकीकृत ग्रामीण विकास-कार्यक्रम में भाग लेता रहा है।

1986 में इसकी एक स्वतंत्र सहायक कम्पनी एस बी आई कैपीटल मार्केट्स लि, (SBI Capital Markets Ltd) (SBICAP) का गठन किया गया है जो **मर्चेंट बैंकिंग** के कार्य (जैसे कम्पनियों के लिए प्रोजेक्टों के निर्माण व क्रियान्वयन, पूँजी के ढाँचे की स्कीम बनाने, एकीकरण के प्रस्तावों की जाँच करने, आदि) तथा पारस्परिक कोष (mutual fund) के कार्य (जैसे विनियोगकर्ताओं से धनराशि एकत्र करके उद्योग व अन्य संस्थाओं के शेयर व डिबेंचर खरीदना, आदि) करता है। अब पारस्परिक कोष के काम को इससे पृथक् करके एक स्वतन्त्र कम्पनी बनाने का विचार है।

26 फरवरी 1991 से 'एस बी आई **फैक्टर्स एण्ड कमर्शियल सर्विसेज प्राइवेट लि** (SBI Factors and Commercial Services Pvt. Ltd.) की स्थापना की गई है जो अपने ग्राहकों के लिए फैक्टरिंग सेवाएं (उनके कर्ज की बकाया राशि कमीशन पर एकत्र करने का काम) पश्चिम भारत की औद्योगिक इकाइयों को प्रदान करेगी। इससे महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, गुजरात, गोआ, आदि प्रदेशों को लाभ पहुँचेगा।

1990-91 में इसे 107 करोड़ रु का मुनाफा हुआ है। इस समय इसकी शेयर पूँजी में प्राइवेट अंश केवल 3 प्रतिशत है, जिसे इसी के नियमानुसार बढ़ा कर 45 प्रतिशत तक किया जा सकता है। अत इस सीमा तक इसके निजीकरण में कोई कानूनी अड़चन नहीं है ताकि इसके स्वयं के पूँजीगत साधन बढ़ सकें। यह एक आधुनिक, प्रगतिशील व प्रतिस्पर्धात्मक भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में भारी योगदान दे सकने की स्थिति में आ गया है।

(3) भारत में व्यापारिक बैंकों की प्रगति

भारत के अधिकांश सयुक्त पूँजी वाले बैंक व्यापारिक बैंक हैं जो मुख्यत अन्तर्देशीय व्यापार के लिए अल्पकालीन ऋण प्रदान करते रहे हैं। ये बैंक जमा के रूप में जनता की बचत एकत्र करते है, हुण्डियों पर बट्टा काटते है, नकद साख (cash credit) के खाते खोलते है, खाद्यान्न, कपास, गुड तथा ऋणपत्रों इत्यादि पर ऋण देते हैं, स्टॉक और शेयरों का क्रय-विक्रय करते हैं तथा *विविध लेन-देन* के कार्य करते हैं।

व्यापारिक बैंकों का वर्गीकरण

व्यापारिक बैंक दो प्रकार के होते हैं अनुसूचित *(scheduled)* और गैर-अनुसूचित (non-scheduled) **अनुसूचित बैंक वे होते हैं जिनको भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम की दूसरी सूची में शामिल किया गया है।** अनुसूचित बैंकों के लिए यह आवश्यक है कि (1) इनकी परिदत्त-पूँजी और रिजर्व-राशि 5 लाख रुपये से कम न हो, (2) इनके बैंक सम्बन्धी कारोबार जमाकर्त्ताओं के हितों के विरुद्ध न हों, (3) 1956 के कम्पनी कानून के अनुसार वह एक कम्पनी हो या सरकार द्वारा बनाया गया कोई निगम हो। **गैर-अनुसूचित बैंक ऐसे बैंक होते हैं जिनको भारतीय रिजर्व बैंक के अधिनियम की दूसरी सूची में शामिल नहीं किया गया है।** अधिकांश गैर-अनुसूचित बैंकों का कार्य-क्षेत्र छोटी बस्तियों तक सीमित होता है। साधारणतया इनकी परिदत्त पूँजी और रिजर्व राशि 5 लाख रुपये से कम होती है।

व्यापारिक बैंकों की प्रगति[1]

भारतीय व्यापारिक बैंको ने योजना काल मे अपनी शाखाओ का तेजी से विस्तार किया है। **1955 मे इनकी शाखाओं/कार्यालयों की कुल संख्या 2,858 थी**

जो जून, 1969 के अन्त मे 8, 262 हो गयी तथा मार्च 1993 के अन्त मे 60,884 हो गयी।

प्रति शाखा जनसख्या 1955 में 1.37 लाख से घटकर जून, 1969 में 65 हजार तथा मार्च, 1993 के अन्त में 11 हजार हो गई। व्यापारिक बैंकों में भारतीय स्टेट बैंक व इसके सहायक बैंक, 20 राष्ट्रीयकृत बैंक, प्रादेशिक ग्रामीण बैंक, अन्य अनुसूचित व्यापारिक बैंक, विदेशी बैंक व गैर अनुसूचित बैंक शामिल होते हैं।

अनुसूचित व्यापारिक बैंकों की जमाओं व उधार की बकाया राशियों में वृद्धि

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	कुल जमाएँ	कुल उधार की राशियाँ
1951-52	822.0	580.0
1970-71	5,906.0	4,684.0
1980-81	37,988.0	25,371.0
1992-93	2,52,799.	1,39,812

1 Report on Currency & Finance 1992-93, Vol I pp 190-226, (Chapter VII)

जून 1969 में राष्ट्रीयकरण के बाद अनुसूचित व्यापारिक बैंकों की जमाओं व उधार की राशियों मे काफी वृद्धि हुई है ।

ग्रामीण जमाओं का कुल जमाओं में अनुपात जून 1969 में 3 1% से बढ़कर दिसम्बर 1989 में 15% हो गया । 1968-69 में बैंक जमाएँ GNP का 15 2% थीं जो 1989 90 में 35 3 प्रतिशत हो गयी । जून 1969 में कुल उधार का 1 5% ग्रामीण क्षेत्रों में प्रदान किया गया था, जो दिसम्बर 1989 के अन्त में बढ़कर 14 8% तक पहुँच गया । ब्याज की दरों में वृद्धि करने से अधिक जमाएँ एकत्र की जा सकती हैं । भारतीय बैंकिंग का ग्रामीण व अर्द्ध शहरी क्षेत्रों में अधिक विकास होने से यह वर्ग विशेष की बैंकिंग न रहकर आम जनता की बैंकिंग बन गयी है (From class banking to mass banking)

बैंकिंग की दृष्टि से कम विकसित राज्यों में शाखाओं का विस्तार जून 1969 से जून 1991 की अवधि मे अधिक तेजी से हुआ है । महाराष्ट्र, गुजरात व केरल की तुलना में 1969 की अवधि में शाखाओं का विस्तार असम, बिहार व उड़ीसा में अधिक तेजी से हो पाया है । मार्च,1993 के अत में 60,864 बैंक कार्यालयों में से उत्तरप्रदेश में 8,538, महाराष्ट्र में 5,626 तथा तमिलनाडु में 4,341 कार्यालय थे । राजस्थान में इनकी सख्या 3,079, मध्यप्रदेश में 4,384 व बिहार में 4,876 थी । राजस्थान में व्यापारिक बैंको के कार्यालय जून 1969 के अत में 364 से बढ़कर मार्च 1993 के अत में 3,079 हो गये।

शाखाओं का तेजी से विस्तार करने से कई प्रकार की कठिनाइयाँ भी उत्पन्न हो गयी हैं, जैसे उचित किस्म के व्यवस्थापकों व कर्मचारियों का अभाव, कई नई शाखाओं का घाटे में चलना, परिवहन व सचार के साधनों के अभाव में विभिन्न शाखाओं के कार्य की देखभाल व नियन्त्रण में कठिनाइयाँ एव राष्ट्रीयकरण के बाद श्रम-सघों के जोर पकड़ने से बैंकिंग सेवाओं के स्तर में गिरावट, आदि । बैंकों द्वारा कृषि व लघु उद्योगों को दिये गये ऋणों में ओवरड्यूज की राशियाँ काफी बढ़ गयी हैं ।

(4) विदेशी बैंक - (Foreign Banks) **जून 1991 के अंत में भारत में 24 विदेशी बैंकों की कुल शाखाएँ 140 थीं ।** पाँच चोटी के विदेशी बैंकों के नाम इस प्रकार हैं सीटी बैंक (Citi Bank), **ग्रिन्डलेज, स्टेण्डर्ड चार्टर्ड, बैंक ऑफ अमेरिका तथा हागकाग बैंक । 1990-91 में सीटी बैंक को** 58 6 करोड़ रुपयों का मुनाफा हुआ था । विदेशी बैंक व्यापारिक बैंकों के कार्य करते हैं, लेकिन ये प्रवासी भारतीयों की विदेशी मुद्रा में जमाओं को ज्यादा मात्रा में आकर्षित करने का प्रयास करते हैं तथा विदेशी व्यापार की वित्तीय व्यवस्था में भाग लेते हैं । इन्हें भारतीय रिजर्व बैंक की नीति के अनुसार चलना पड़ता है ।

(5) सहकारी बैंक (Cooperative Banks)-ये भी व्यापारिक बैंकों की श्रेणी में आते हैं, लेकिन इनका सम्बन्ध सहकारी सस्थाओं से अधिक होता है । जून 1989 के अत में राज्य सहकारी बैंकों की सख्या 28 थी । ये शीर्ष बैंक (apex banks) भी कहलाते हैं । ये भारतीय रिजर्व बैंक से अल्पकालीन व मध्यकालीन ऋण प्राप्त करते हैं तथा जिला-स्तर पर सहकारी बैंकों को कर्ज देते हैं । 1988 89 में इन्होंने

10, 159 करोड़ रु के ऋण जारी किये, तथा ओवरड्यूज का बकाया कर्ज से अनुपात 10 2 प्रतिशत रहा जो 1990 91 में 15 0 प्रतिशत हो गया।

जिला-स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंकों की संख्या 1988-89 में 354 थी तथा इन्होंने 7,903 करोड़ रुपये के कर्ज प्रदान किये। ये प्राथमिक सहकारी कृषि समितियों को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं। इन पर ओवरड्यूज का अनुपात 1988 89 में 24 2% रहा जो 1990 91 में 36 0% हो गया।

देश में कृषकों को दीर्घकालीन कर्ज प्रदान करने के लिए 1988-89 में राज्य या केन्द्रीय भूमि विकास बैंकों की संख्या 19 थी जिन्होंने 676 करोड़ रु के कर्ज प्रदान किये और इनमें ओवरड्यूज का अनुपात 19 8 प्रतिशत पाया गया जो 1990-91 में जारी रहा। भारत में सहकारी बैंकों की स्थिति संतोषजनक नहीं है। ये स्वयं के साधनों पर आश्रित न होकर रिजर्व बैंक के साधनों पर अधिक आश्रित होते हैं। इनमें ओवरड्यूज की समस्या काफी गम्भीर रूप में पायी जाती है। इनकी प्रबन्ध-व्यवस्था में काफी सुधार की आवश्यकता है।

बैंकिंग प्रणाली से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण परिवर्तन

(1) व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण (Nationalization of Commercial banks)

दिसम्बर 1967 से व्यापारिक बैंकों पर "सामाजिक नियन्त्रण" (social control) की नीति का प्रयोग किया गया था जिसके अन्तर्गत कृषि, लघु उद्योग व निर्यात के लिए वित्तीय साधनों की व्यवस्था बढ़ायी गयी थी। बैंकों के संचालक-मण्डलों के पुनर्गठन की भी व्यवस्था की गयी थी। रिजर्व बैंक का व्यापारिक बैंकों पर नियन्त्रण अधिक व्यापक कर दिया गया था। बैंकों द्वारा उधार देने के सम्बन्ध में उचित नीति निर्धारित करने के लिए राष्ट्रीय साख-परिषद (National Credit Council) स्थापित की गयी थी।

लेकिन प्रारम्भ से ही यह महसूस किया जा रहा था कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बिना इनसे अपेक्षित लाभ प्राप्त नहीं किये जा सकेंगे। इसलिए 19 जुलाई, 1969 से 14 बड़े व्यापारिक बैंकों का, जिनकी जमा-राशि 50 करोड़ रुपये से अधिक थी, राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। 14 राष्ट्रीयकृत बैंक इस प्रकार हैं सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, पंजाब नेशनल बैंक ऑफ इण्डिया, बैंक ऑफ बड़ौदा, बैंक ऑफ इण्डिया, पंजाब नेशनल बैंक, सिण्डीकेट बैंक, कनारा बैंक, यूनाइटेड बैंक ऑफ यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक, सिण्डीकेट बैंक, यूनियन बैंक ऑफ इण्डिया, बैंक ऑफ इण्डिया, देना बैंक, इलाहाबाद बैंक, यूनियन बैंक ऑफ इण्डिया, बैंक ऑफ महाराष्ट्र, इण्डियन ओवरसीज बैंक व इण्डियन बैंक। स्टेट बैंक सहित राष्ट्रीयकृत बैंक कुल जमा और कुल शाखाओं का 80% से अधिक अंश नियन्त्रित करते हैं।

15 अप्रैल, 1980 को छः और बैंकों के राष्ट्रीयकरण का अध्यादेश जारी किया गया जो जून 1980 में अधिनियम में परिवर्तित कर दिया गया था। इन बैंकों की माँग व समय-देनदारियाँ 14 मार्च, 1980 को 200 करोड़ रुपयों से अधिक हो गयी थी। जून 1969 में 14 बैंकों के राष्ट्रीयकरण के समय यह कहा गया था कि शेष व्यापारिक बैंकों की माँग व समय देनदारियों के 200 करोड़ रुपयों से अधिक होते ही उनका भी राष्ट्रीयकरण कर दिया जायगा। छः बैंक इस प्रकार हैं: आन्ध्र बैंक, कॉरपोरेशन बैंक, न्यू बैंक ऑफ इण्डिया, ओरियण्टल बैंक ऑफ कॉमर्स, पंजाब एण्ड सिंध बैंक और विजया बैंक।

भारत में व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण क्यों किया गया?

भारत में व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में निम्न तर्क दिये गये है —

(1) वित्तीय साधनों का कृषि व अन्य उपेक्षित क्षेत्रों के लिए अधिक मात्रा में उपयोग करने हेतु— राष्ट्रीयकरण से पूर्व व्यापारिक बैंकों ने कृषकों को उधार की बहुत कम राशि उपलब्ध की थी। अखिल भारतीय साख सर्वेक्षण समिति की रिपोर्ट के अनुसार 1951-52 की अवधि के लिए व्यापारिक बैंकों द्वारा कृषकों की कुल उधार में केवल 0.9 प्रतिशत (लगभग एक प्रतिशत) योगदान हो पाया था, जो बहुत नीचा था। 1961-62 में भी यह बहुत नीचा, लगभग 0.6 प्रतिशत, रहा था। अतः राष्ट्रीयकरण का एक उद्देश्य कृषि-प्रधान देश में बैंकों के वित्तीय साधनों का अधिक मात्रा में कृषि में उपयोग करना था। साथ में गाँव के कारीगरों व अन्य निर्धन लोगों को वित्तीय साधन प्रदान करके उनका आर्थिक विकास करना भी इसका उद्देश्य था।

(2) जनता का बैंकिंग-प्रणाली में विश्वास बढ़ाने के लिए भी इन पर सरकार का नियंत्रण स्थापित करना जरूरी समझा गया, ताकि लोग ज्यादा-से-ज्यादा मात्रा में अपनी बचतें बैंकों में जमा करा सकें। निजी क्षेत्र में रहने से इनके प्रति विश्वास की भावना सुदृढ़ नहीं हो पाती थी।

(3) बैंकिंग का विकास बिना बैंक व कम बैंक वाले पिछड़े क्षेत्रों में करने के लिए राष्ट्रीयकरण आवश्यक माना गया ताकि सरकारी नीति व प्रोत्साहन के जरिए बैंकों का जाल ग्रामीण व अर्द्ध-शहरी इलाकों में फैलाया जा सके।

(4) कर्मचारियों को काम की सुरक्षा प्रदान करने व उनकी सेवा-शर्तों में सुधार करने के लिए राष्ट्रीयकरण आवश्यक माना गया।

(5) नियोजन व समाजवाद के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वित्तीय साधनों के इतने बड़े स्रोत को निजी क्षेत्र में छोड़ना अव्यावहारिक माना गया।

(6) जनता को बैंकों द्वारा बेहतर सेवाएं प्रदान करने के लिए राष्ट्रीयकरण जरूरी समझा गया।

(7) बैंकों को विकास की जिम्मेदारी सौंपने, साख-नियोजन करने व जिलों के लिए योजनाएं बनाने में मदद देने के लिए राष्ट्रीयकरण आवश्यक माना गया।

(8) आर्थिक विकास व सामाजिक न्याय में ताल-मेल बैठाने के लिए राष्ट्रीयकरण आवश्यक माना गया ताकि गरीबी की रेखा से नीचे जीवन-यापन करने वाले व्यक्तियों को साधन सुलभ करके उनकी आर्थिक दशा में सुधार किया जा सके।

(9) राष्ट्रीयकरण के पीछे एक उद्देश्य यह भी था कि **उधार की पद्धति व प्रक्रिया को 'जमानत के आधार' से हटाकर 'उद्देश्य के आधार' पर लाया जाय ताकि** एक तरफ जरूरतमंद लोगों को, जिनके पास गिरवी रखने के लिए साधनों का अभाव है, मदद मिल सके, तथा दूसरी तरफ इनका राष्ट्रीय उत्पादन में योगदान बढ़ाया जा सके। इस प्रकार राष्ट्रीयकरण के पीछे नियोजित विकास, सामाजिक न्याय, स्वयं बैंकों की प्रगति तथा जनहित की भावना सर्वोपरि थी। लेकिन बैंकों के राष्ट्रीयकरण के प्रति कई प्रकार की आशंकाएं भी प्रगट की गई थी, जैसे नौकरशाही का बढ़ना, बैंकिंग की कार्यक्षमता का घटना, सेवाओं की लागत का बढ़ना, कोषों का सरकार द्वारा राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए काम में लेना, जिससे जनता की बचतों का खतरे में पड़ने का भय, आदि, आदि।

अब हम यह देखेंगे कि पिछले 20-22 वर्षों में बैंकों का राष्ट्रीयकरण के उद्देश्य कहाँ तक प्राप्त हो पाये हैं क्योंकि कुछ लोग प्रगति से निराश होकर हाल में यह कहने लगे है कि सरकार को अपनी आर्थिक नीति में परिवर्तन के दौरान **बैंकों के विराष्ट्रीयकरण या निजीकरण** (*denationalization or privatisation*) **की नीति को स्वीकार कर लेना चाहिए,** हालाँकि सरकार अभी इसके लिए तैयार व तत्पर नहीं जान पडती, क्योंकि मजदूर-सघ इसका भारी विरोध करेंगे। इसके अलावा यह वर्तमान आर्थिक सकट का इलाज नहीं है।

सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की प्रगति[1] —आजकल सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में भारतीय स्टेट बैंक, इसके सहायक बैंक, 14 राष्ट्रीयकृत बैंक, प्रादेशिक ग्रामीण बैंक तथा 6 और राष्ट्रीयकृत व्यापारिक बैंक आते हैं। बैंकों ने अपनी शाखाओं के विस्तार, जमा-संग्रह व उधार को अधिक विविधता प्रदान करने के कार्यक्रम जारी रखे हैं। विभिन्न दिशाओं मे प्रगति निम्न प्रकार रही है

(1) **बैंक शाखाओं का विस्तार**—30 जून, 1969 को स्टेट बैंक व इसके सहायक बैंकों, 14 राष्ट्रीयकृत बैंकों तथा प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की कुल शाखाएँ 6,596 थी। 15 अप्रैल, 1980 को 6 राष्ट्रीयकृत बैंकों की 419 शाखाएँ इनमें और जुड़ीं। इससे इनकी सख्या 7,015 हो गयी। 30 जून 1993 को इन सभी की शाखाएँ बढ़कर 56,998 हो गयी थीं। इस प्रकार इनकी शाखाओ मे 49,983 की वृद्धि हुई है।

नयी शाखाओं में 62% शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रो में खोली गयी हैं। कुल शाखाओं मे ग्रामीण शाखाओं का प्रतिशत बढा है। असम, बिहार, जम्मू-कश्मीर, मध्य प्रदेश, उडीसा व उत्तर प्रदेश में बैंकिंग सुविधाओं का काफी विस्तार हुआ है। शाखाओं की स्थापना के लिए केन्द्रों का चुनाव करने हेतु रिजर्व बैंक समय-समय पर बैंकरों की सभाएँ बुलाता रहा है।

(2) **जमा में वृद्धि** - सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में जून 1969 में जमा की राशि 3,897 करोड रुपये थी जो बढकर सितम्बर,1993 में 2,42,092 करोड रुपये हो गयी। जमा की ये वृद्धिया काफी प्रभावशाली मानी जा सकती हैं। ये वृद्धिया सभी राज्यों में पायी गयी हैं। अत इनका सम्बन्ध केवल कृषि की सम्पन्नता से ही नहीं है। जून,1969 में बैंक-साख की राशि 3,035 करोड रुपये से बढकर सितम्बर 1993 में 1,43,771 करोड रुपये हो गयी। प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों को कर्ज का अनुपात जून, 1969 में 14 9% से बढकर मार्च,1992 के अन्त में 37.3% हो गया था, हालांकि मार्च 1990 में यह 40 4% हो गया था।

---

1 *Economic Survey 1993-94,* pp *S-60 to S-62.*

(3) कृषि, लघु उद्योगों, आदि को दिया गया कर्ज[1] - राष्ट्रीयकरण के समय बैंकों द्वारा कृषि, लघु उद्योगों व अन्य क्षेत्रों को कर्ज की सुविधा बहुत कम थी जो आगे चलकर बढ़ायी गयी है। जून 1969 में सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों द्वारा कुल ऋण की बकाया राशि 3,017 करोड़ रुपये थी, जिसमें से कृषि, लघु उद्योग, सड़क परिवहन चालक, खुदरा व्यापार व लघु व्यवसाय, पेशेवर व्यक्तियों व शिक्षा के लिए कर्ज की बकाया राशि 441 करोड़ रुपये (14 6%) थी। मार्च 1992 के अन्त में कुल ऋण की बकाया राशि 1,13,686 करोड़ रुपये हो गयी और इसमें से कृषि व अन्य प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रों को दिया गया कर्ज 44,692 करोड़ रुपये हो गया (39.3% जो पहले से लगभग 25% बिन्दु अधिक था) मार्च 1990 के अत में इन क्षेत्रों को कुल उधार का 40% देने का लक्ष्य प्राप्त कर लिया गया था। राष्ट्रीयकृत बैंकों ने स्वरोजगार प्राप्त व्यक्तियों, शिक्षित बेरोजगारों, खुदरा व्यापारियों, सड़क परिवहन-चालकों एव लघु कृषकों को उधार देने के कार्यक्रमों में व्यक्तियों की उधार लेने की क्षमता के स्थान पर प्रोजेक्ट व आर्थिक क्रिया की उत्पादन एव आमदनी बढ़ाने की क्षमता पर ध्यान दिया है इस प्रकार कर्ज का आधार जमानत न मान कर प्रोजेक्ट की उत्पादन व आमदनी बढ़ सकने की क्षमता को माना गया है। इससे समाज के कमजोर व उपेक्षित वर्गों को बैंकों से कर्ज मिलने का मार्ग खुल गया है। जून 1990 के अत में प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्र को शुद्ध बैंक साख का 42.3% प्राप्त हुआ था जो मार्च 1992 के अत में 39 3% रहा। 1990-91 में इसके अनुपात में कमी हुई है। कुछ सगठनात्मक कठिनाइयों से कर्ज में प्रगति की रफ्तार धीमी पड़ गयी है। बैंकों को प्रयत्न करके ये कठिनाइयाँ दूर करनी चाहिए एव प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों को अधिक कर्ज देना चाहिए। सार्वजनिक क्षेत्रों को बीमार उद्योगों को कर्ज देने में काफी हानि हुई है, तथा ग्रामीण शाखाओं पर भी काफी घाटा उठाना पड़ रहा है। अत इस स्थिति में सुधार किया जाना चाहिए।

(2) 'लीड बैंक' स्कीम (Lead Bank Scheme)

राष्ट्रीय साख परिषद के अध्ययन-दल व लीड बैंक स्कीम पर नरीमैन समिति के सुझावों के आधार पर रिजर्व बैंक ने 1969 के अन्त में यह स्कीम प्रारम्भ की थी। लीड बैंक स्कीम के अन्तर्गत बैंकों को यह कार्य सौंपा गया कि वे विशिष्ट जिलों का सर्वेक्षण करके उनकी साख की आवश्यकताओं, जमा की सम्भावनाओं, शाखाओं के विस्तार एवं सामान्य विकास की सम्भावनाओं का पता लगायें। इस स्कीम के अन्तर्गत प्रत्येक जिले में साख-संस्थाओं की क्रियाओं को विकास-कार्यक्रमों से जोड़ने का कार्य किया जाता है।

विभिन्न बैंकों में जिलों का वितरण बैंक के आकार, इसके साधनों की पर्याप्तता, जिलों की परस्पर समीपता एवं बैंकों के प्रादेशिक स्वरूप, आदि के आधार पर किया गया है। 'लीड' बैंक विभिन्न वित्तीय संस्थाओं के कार्यों में समन्वय स्थापित करता रहा है।

---

1. E[illegible] S[illegible] 1993-94, S-61

अक्टूबर 1980 से देश में एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP) लागू करने से समस्त लीड बैंकों पर यह जिम्मेदारी आ गयी कि वे इस कार्यक्रम की विभिन्न गतिविधियों के लिए कर्ज प्रदान करें । इसके लिए उन्हें पूर्ण विवरण जिला-ग्रामीण विकास एजेन्सियों (DRDAs) से प्राप्त होते हैं । उन्हें अपनी वार्षिक कार्य-योजनाएँ (Annual Action Plans-AAPs) तैयार करनी होती हैं । जून 1991 में अत में 'लीड बैंक स्कीम' देश में 463 जिलों में व्याप्त थी । 1990-91 में सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों पर 5 नये जिलों में इस स्कीम की जिम्मेदारी सौंपी गयी । इन योजनाओं के द्वारा ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उत्पादन व उत्पादकता में सुधार करने पर बल दिया जा रहा है ।

लीड बैंक स्कीम का मूल्यांकन—'लीड' बैंक योजना जनवरी 1970 से प्रारम्भ हुई थी। इस अवधि में 'लीड' बैंकों ने लीड जिलों में काफी कार्यालय खोले हैं। सर्वेक्षण कार्य भी किया गया है। 1974 में सर्वेक्षण कार्य पूरा करके 'लीड बैंक स्कीम' का प्रथम चरम समाप्त कर लिया गया था। बैंकों ने सभी जिलों के लिए साख-योजनाएँ बना ली हैं जिनमें सभी जिलों में कार्यारम्भ किया जा चुका है। इनके सम्बन्ध में निम्नलिखित कठिनाइयाँ सामने आयी हैं

(1) इस स्कीम को शुरू में बैंकों ने ठीक तरह से नहीं समझा था। कुछ बैंकों ने तो यह समझा कि उनका काम सर्वेक्षण कराना एवं ऐसे स्थानों का पता लगाना है जहाँ बैंकिंग के विकास की सम्भावनाएँ हैं, और फिर उस सूची को सभी बैंकों में प्रसारित करना है, जो वहाँ अपने कार्यालय खोलना चाहते हैं। लीड बैंक वहीं शाखा खोलेगा जहाँ अन्य बैंक नहीं खोलेंगे। एक दृष्टिकोण यह था कि लीड बैंक को ही सभी शाखाएँ खोलनी होंगी। (2) कहीं-कहीं बड़े बैंकों को ऐसे क्षेत्र व जिले दे दिये गये जो उनके प्रधान कार्यालय से बहुत दूर पड़ते थे। इससे उनकी कठिनाइयाँ बढ़ गयीं । ऐसी स्थिति में जिलों से उनका व्यक्तिगत सम्पर्क करना कठिन हो गया। अपरिचित स्थानों में 'लीड' बैंक ठीक से कार्य नहीं कर सकता। (3) जिला-सर्वेक्षण के कार्य में समस्याएँ पायी गयी

है। कुछ लोगों का मत है कि सर्वेक्षण का कार्य तो सरकार का है, बैंक तो साख-नियोजन (credit planning) के समय सामने आता है। (4) जहाँ तक बैंकों की शाखाओं को खोलने का प्रश्न है, इसका सर्वेक्षण से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। शाखाओं के लिए स्थान वैसे ही निर्धारित किये जा सकते हैं। अत बैंकों को केवल साख-नियोजन के काम में हाथ बँटाना चाहिए। नियोजन का मूल कार्य जिलाधिकारी को करना चाहिए।

स्मरण रहे कि लीड बैंक को किसी विशेष जिले में जो उसे आवंटित किया गया है, वहाँ के व्यवसाय पर एकाधिकार नहीं होता। अन्य बैंक भी वहाँ कार्य कर सकते है।

(3) जमा बीमा व साख गारण्टी निगम (Deposit Insurance and Credit Guarantee Corporation-DICGC)

यह निगम 15 जुलाई, 1978 को पहले दो निगमों-जमा-बीमा निगम व साख-गारण्टी निगम को मिलाकर बनाया गया था। जमा-बीमा निगम 1 जनवरी, 1962 से चालू किया गया था। इसका उद्देश्य जमाकर्ताओं को सुरक्षा प्रदान करना

था। 1 जुलाई, 1976 से एक जमाकर्ता की 20 हजार रुपये की जमाराशि की बीमा करने की सीमा रखी गयी थी।

बैंकों द्वारा दिये जाने वाले छोटे ऋणों की जोखिम को उठाने के लिए साख-गारण्टी निगम 1 अप्रैल, 1971 से चालू किया गया था। निगम ने विशेष सीमाओं तक छोटे कर्जों पर जोखिम के सम्बन्ध में गारण्टी देने के कार्यक्रम बनाये थे। ये सीमाएँ परिवहन-चालकों, पेट्रोल स्टेशनों के स्वामियों व खाद के व्यापारियों को दिये जाने वाले अग्रिमों पर बढ़ायी गयी थी, तथा कृषकों को दिये जाने वाले अग्रिमों पर से हटायी गयी थीं। इस स्कीम के अन्तर्गत अग्रिमों पर 75% हानि की पूर्ति निगम करता था, जो अब 90% कर दी गयी है। इस स्कीम से बैंकों को उधार देने का प्रोत्साहन मिला है।

DICGC पर अधिक कार्यभार को देखते हुए इसकी पूँजी 15 जुलाई, 1978 से 2 करोड़ रुपयों से बढ़ाकर 10 करोड़ रुपये कर दी गयी थी । एकीकरण के बाद की प्रगति नीचे दी जाती है ।

जमा-बीमा कार्य- मार्च,1993 के अन्त में बीमाकृत व्यापारिक बैंकों की सख्या 80, बीमाकृत प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की सख्या 196 तथा बीमाकृत सहकारी बैंकों की सख्या 1,655 थी (कुल 1,931 बीमाकृत बैंक थे)।

1992-93 में निगम ने लघु उधार लेने वालों के 566 करोड रु के दावों का तथा 243 करोड रुपये लघु उद्योगों की इकाइयों के दावों का निपटारा किया।

साख गारटी कार्य (Credit Guarantee Function) गारन्टी स्कीमों में ऋण गारन्टी स्कीम, वित्तीय निगम गारन्टी स्कीम , सेवा समिति गारन्टी स्कीम तथा लघु ऋण (सरकारी बैंक) गारन्टी स्कीम शामिल होती है।

(4) भेदात्मक ब्याज की दर की स्कीम (Differential Rate of Interest Scheme-DRI Scheme)

जुलाई 1972 से सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों ने भेदात्मक ब्याज की दर की स्कीम लागू की है। इनके अन्तर्गत अनुसूचित जातियों व जन-जातियों को नीची ब्याज की दरों पर कर्ज दिया जाता है ताकि वे उत्पादन बढ़ा सकें। जनवरी 1975 से इस स्कीम में संशोधन किया गया है। अब अनुसूचित जाति के लोगों को भू-जोतों के आकार पर ध्यान दिये बिना कर्ज मिल सकता है। आशा है, भेदात्मक ब्याज की दरों का आगे चलकर अधिक उपयोग किया जा सकेगा। सार्वजनिक खातों की सख्या 2 30 लाख थी जिनमे बकाया राशि 10 06 करोड़ रुपये थी, जो

दिसम्बर,1992 के अन्त में 30 69 लाख खातों के लिए 692 करोड रुपये हो गयी थी । DRI स्कीम के अन्तर्गत उधार का लक्ष्य समग्र उधार के 1/2% से बढाकर 1% कर दिया गया है, जो प्राप्त कर लिया गया है । इस स्कीम से SC/ST के लोगों को काफी लाभ पहुचा है ।

(5) बैंकिंग आयोग के सुझाव (Recommendations of the Banking Commission 1972)

बैंकिंग आयोग फरवरी 1969 में स्थापित किया गया था। इसने अपनी रिपोर्ट 9 फरवरी, 1972 को पेश की थी। प्रमुख सुझाव निम्नलिखित हैं

(1) **सहकारी साख को संघीय सूची अथवा मिली-जुली सूची में लाने के सुझाव**—बैंकिंग आयोग ने सिफारिश की कि सहकारी साख जो इस समय एक राज्यीय विषय है, वह केन्द्रीय विषय बना दिया जाय और इसके लिए संविधान में संशोधन करके सहकारी साख एजेन्सियों को संघीय सूची (Union List) अथवा संवर्ती सूची (Concurrent List) में शामिल कर लिया जाय। इसका प्रमुख कारण यह दिया गया कि राज्यों द्वारा सहकारी बैंकों को जो वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है वह ज्यादातर रिजर्व बैंक अथवा केन्द्रीय सरकार से ही मिलती है। **सहकारी साख** के संघीय सूची में आने से रिजर्व बैंक एक समन्वित मौद्रिक व साख-नीति अपना सकेगा, साख प्रदान करने वाली एजेन्सियों के कानूनों में समरूपता आ जायेगी और उच्चकोटि का प्रबन्ध किया जा सकेगा।

(2) **प्राथमिक कृषि-साख-समितियों को ग्रामीण बैंकों में परिवर्तित करने का सुझाव**— बैंकिंग आयोग का दूसरा महत्वपूर्ण सुझाव यह था कि गांवों में प्राथमिक साख-समितियों को ग्रामीण बैंकों में बदल दिया जाय। ये ग्रामीण बैंक गाँवो में बैंकिंग आदत का विकास कर सकेंगे। इन ग्रामीण बैंकों को केन्द्रीय सहकारी बैंकों अथवा राज्य सहकारी बैंकों के साधन प्राप्त हो सकेंगे।

एक ग्रामीण बैंक मध्यम व छोटे कृषकों की समस्त साख की आवश्यकता की पूर्ति करेगा। अनार्थिक व खराब प्रबन्ध वाली प्राथमिक समितियों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। ग्रामीण बैंक जमा को आकर्षित करने के लिए थोड़ा अधिक ब्याज दे सकते हैं। भारतीय खाद्य निगम भी इन ग्रामीण बैंकों का उपयोग कर सकता है।

ग्रामीण बैंक को भूमि-विकास बैंक के एजेन्ट के रूप में दीर्घकालीन ऋण देने का भी अधिकार होना चाहिए।

(3) कृषि पुनर्वित्त निगम एवं कृषि-वित्त निगम को मिला दिया जाय ताकि नयी संस्था सहकारी व व्यापारिक बैंकों के माध्यम से अधिक वित्तीय सुविधा प्रदान कर सके।

(4) जहाँ एक उधार लेने वाले की आवश्यकताएँ बहुत हैं वहाँ उसे एक से अधिक बैंकों से उधार लेने की सुविधा होनी चाहिए।

(5) बैंकों में यथासम्भव यन्त्रीकरण का उपयोग किया जाना चाहिए।

(6) स्टॉफ की नियुक्ति के लिए एक राष्ट्रीय बैंकिंग सेवा आयोग स्थापित किया जाना चाहिए। यह क्लर्क ग्रेड व जूनियर अफसर ग्रेड में कर्मचारियों की भर्ती कर सकता है।

(7) देश में राष्ट्रीय व प्रादेशिक बैंक दो श्रेणी के बैंक होने चाहिए। राष्ट्रीय बैंकों की शाखाएँ जिला केन्द्रों में हों एवं प्रादेशिक बैंक अन्य स्थानों में हों।

(8) निर्यात साख की वर्तमान व्यवस्था पर्याप्त है, इसलिए एक नये निर्यात-आयात बैंक के निर्माण का औचित्य नहीं है। लेकिन निर्यात साख के सम्बन्ध में औद्योगिक विकास बैंक को अधिक सूचनाएँ एकत्र करनी चाहिए।

(9) बैंकिंग आयोग ने भवन निर्माण के लिए वित्तीय व्यवस्था बढ़ाने का महत्व स्वीकार किया था। **इसके लिए राष्ट्रीय स्तर पर एक वित्तीय संस्था हो, एवं जिला या प्रादेशिक स्तर पर भी इस प्रकार की संस्था हो।** सहकारी भवन निर्माण समितियों को सुसंगठित व विकसित किया जाना चाहिए। देश में विशाल पैमाने पर भवन-निर्माण के कार्यक्रमों को पूरा करने की आवश्यकता है।

(10) आयोग का सुझाव था कि देशी बैंकरों की क्रियाओं को भी नियमित किया जाना चाहिए। इनके व्यवसाय पर व्यापारिक बैंकों के माध्यम से नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। रिज़र्व बैंक अपना परोक्ष प्रभाव डाल सकता है देशी बैंकरों द्वारा लिये जाने वाले ब्याज पर व्यापारिक बैंक नियमन लगा सकते हैं| जो देशी बैंकर गलत नीतियों पर चलते हैं उन्हें व्यापारिक बैंकों से ऋण नहीं मिलना चाहिए।

बैंकिंग आयोग ने सुदृढ़ प्राथमिक कृषि-साख समितियों को ग्रामीण बैंकों में बदलने का नया सुझाव दिया था। इसने बड़े आकार के व्यापारिक बैंकों की स्थापना का समर्थन करके बैंकिंग के ढाँचे के "पुनर्गठन" की दिशा में प्रभावपूर्वक सुझाव प्रस्तुत किये थे।

(6) प्रादेशिक ग्रामीण बैंक (Regional Rural Banks)[1]

1 जुलाई, 1976 को घोषित किये गये नये आर्थिक कार्यक्रम के अंग के रूप में भारत सरकार ने समस्त देश में प्रादेशिक ग्रामीण बैंक स्थापित करने का निश्चय किया था। RRBs की सख्या जून, 1976 के अन्त में 19 से बढ़कर सितम्बर 1992 के अन्त तक 196 तथा इसकी शाखाएं 14,540 करोड़ हो गयी थी। 19 मार्च, 1993 को इनकी कुल जमाराशि (बकाया) 6,369 करोड़ रुपये तथा कुल उधार की राशियाँ 4,451 करोड़ रुपये थी। इनके कार्य में काफी तेज रफ्तार से प्रगति हुई है।

आशा की जाती है कि ये बैंक ग्रामीण क्षेत्रों में निजी साहूकारी प्रथा का प्रभाव समाप्त/कम करने में समर्थ हो सकेंगे।

इनके उद्देश्य—**प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों का उद्देश्य ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास करने के लिए कृषि, व्यापार-वाणिज्य, उद्योग व अन्य उत्पादक क्रियाओं के लिए कर्ज व अन्य सुविधाएँ प्रदान करना है। ये सुविधाएँ विशेषतया लघु व सीमान्त कृषकों, खेतिहर श्रमिकों, कारीगरों व लघु उद्यमकर्ताओं को प्रदान की जाती हैं।**

इनका आकार स्थानीय होता है, ये ग्रामोत्थान पर बल देते हैं तथा इनका संगठन व्यावसायिक ढंग पर होता है। इस प्रकार ये एक तरफ वाणिज्यिक बैंकों से सम्पर्क रखते हैं तो दूसरी तरफ कृषक-सेवा-समितियों से।

पूँजीगत ढाँचा—इनकी स्थापना के लिए सितम्बर 1975 में प्रादेशिक ग्रामीण बैंक अध्यादेश जारी किया गया था। प्रत्येक ग्रामीण बैंक की अधिकृत पूँजी 1 करोड़ रुपये व निर्गमित तथा परिदत्त पूँजी 15 लाख रुपये रखी गयी थी। इनकी शेयर पूँजी

1 Report on Currency and Finance 1992 93 Vol I pp 209-210

में केन्द्रीय सरकार का योगदान 50%,राज्य सरकार का 15% व सम्बन्धित व्यापारिक बैंक का 35% रखा गया था। RRBs को नाबार्ड से पुनर्वित्त की सुविधा मिलती है।

सितम्बर 1992 के अंत में देश के 397 जिलों में 196 RRBs कार्यरत थे। मार्च 1990 के अंत में भारतीय स्टेट बैंक के 30 प्रादेशिक ग्रामीण बैंक थे, तथा सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया के 23, बैंक ऑफ बड़ौदा के 19 एवं पंजाब नेशनल बैंक के 18 थे। इसके अलावा 10 व अधिक प्रादेशिक ग्रामीण बैंक निम्न बैंकों के थे - बैंक ऑफ इण्डिया, युनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया, यूको बैंक व सिण्डकेट बैंक। कुल मिलाकर 29 व्यापारिक बैंकों ने 196 RRBs की स्थापना की थी।

प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों व व्यापारिक बैंकों का भेद

(i) प्रादेशिक ग्रामीस बैंक का कार्य-क्षेत्र एक विशिष्ट प्रदेश तक सीमित रहता है जिसमें किसी भी राज्य में एक या अधिक जिले होते हैं।

(ii) ये लघु व सीमान्त कृषकों, ग्रामीण कारीगरों व लघु उद्यमकर्ताओं को कर्ज व अग्रिम राशियाँ देते हैं तथा अन्य कम साधन वाले व्यक्तियों की सहायता करते हैं ताकि उस क्षेत्र का आर्थिक विकास हो सके। व्यापारिक बैंकों का कार्य-क्षेत्र व्यापक होता है।

(iii) ग्रामीण बैंकों की उधार देने की दरें राज्य में सहकारी समितियों की उधार की दरों से अधिक नहीं होती हैं।

(iv) इन बैंकों के कर्मचारियों का वेतन-ढाँचा केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित किया गया है और इस सम्बन्ध में राज्य सरकार व अन्य स्थानीय संस्थाओं के कर्मचारियों के वेतन-ढाँचे का पूरा ध्यान रखा जाता है।

भविष्य में प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की सफलता कर्मचारियों की कार्यकुशलता पर निर्भर करेगी। यह तो ठीक है कि उत्पादन बढ़ाने के लिए समाज के कमजोर वर्गों को देहातों में ग्रामीण बैंकों की शाखाओं के माध्यम से रियायती शर्तों पर कर्ज उपलब्ध हो, ताकि वे महाजन के चंगुल से मुक्त हो सकें। लेकिन साथ में यह भी देखना होगा कि कर्ज का उपयोग उत्पादन बढ़ाने के लिए किया जाय, अन्यथा ऋणों के दुरुपयोग से समाज को हानि पहुँचने का खतरा हो सकता है।

प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों पर जाँच समिति (दांतवाला समिति) की सिफारिशें—रिजर्व बैंक ने प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों के कार्य की समीक्षा करने के लिए प्रोफेसर एम एल दांतवाला की अध्यक्षता में जून 1977 में एक समिति नियुक्त की थी, जिसने फरवरी 1978 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी।

समिति का निश्चित मत था कि प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों को ग्रामीण साख के ढाँचे का मुख्य अंग बनाया जाना चाहिए। देश के 182 जिलों में केन्द्रीय (जिला-स्तर पर) सहकारी बैंक कमजोर स्थिति में हैं। अतः इन जिलों में ग्रामीण बैंकों को स्थापित किया जाना चाहिए।

समिति का सुझाव था कि धीरे-धीरे व्यापारिक बैंकों की ग्रामीण शाखाओं के स्थान पर RRBs व उनकी शाखाएँ स्थापित की जानी चाहिए। जहाँ प्राथमिक

कृषि-साख-समितियाँ व कृषक सेवा समितियाँ कमजोर हैं, वहाँ ग्रामीण बैंक इस कमी की पूर्ति कर सकते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि उन स्थानों के सम्बन्ध में क्या नीति अपनायी जाय जहाँ सहकारी ढाँचा जिला-स्तर पर काफी सुदृढ़ व सक्षम है? इस बारे में समिति का विचार था कि यदि प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों व केन्द्रीय सहकारी बैंकों में परस्पर सहयोग व समन्वय स्थापित हो सके तो दोनों का सहअस्तित्व हो सकता है। सहकारी बैंक तो फसल-ऋण (crop loans) देने में भाग ले सकते हैं, तथा ग्रामीण बैंक मध्यमकालीन ऋण के क्षेत्र में प्रवेश कर सकते हैं। गाँवों में कृषि के अलावा बागवानी, पशु पालन, वन-उद्योग, लघु-उद्योग, कुटीर उद्योग मरम्मत की दुकानों आदि का विकास किया जा सकता है, और इसके लिए आवश्यक कर्ज की व्यवस्था RRBs कर सकते हैं।

इस प्रकार दांतवाला समिति ने ग्रामीण बैंकों व सहकारी संस्थाओं के सम्बन्ध में इनके परस्पर सहयोग की कल्पना की है, और प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों को ग्रामीण साख की व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।

(7) कृषि व ग्रामीण विकास के लिए राष्ट्रीय बैंक (नाबार्ड) (National Bank for Agriculture and Rural Development-NABARD)

कृषि व ग्रामीण विकास पर संस्थागत साख की व्यवस्थाओं की समीक्षा के लिए नियुक्त समिति (Committee to Review Arrangements for Institutional Credit for Agriculture and Rural Development CRAFICARD) ने 1981 में नाबार्ड (NABARD) की स्थापना की सिफारिश की थी, जिसके फलस्वरूप यह 12 जुलाई, 1982 को स्थापित किया गया। इसने ARDC (कृषि पुनर्वित्त व विकास निगम) के कार्य तथा RBI के पुनर्वित्त के कार्य (SCBs व RRBs के सन्दर्भ में) ले लिये। इसकी शेयर पूँजी 100 करोड रुपये की है जिसमें भारत सरकार व रिजर्व बैंक का बराबर बराबर का हिस्सा है।

नाबार्ड के सात कार्य —(Functions)

(i) यह पुनर्वित्त के रूप में कृषि, लघु उद्योगों, कारीगरों, कुटीर व ग्रामीण उद्योगों, दस्तकारियों व अन्य सहायक आर्थिक क्रियाओं के लिए उत्पादन व विनियोग के लिए साख प्रदान करता है,

(ii) कर्ज दे सकने के लिए इसके पास साधन भारत सरकार, विश्व बैंक व अन्य एजेन्सियों, बाजार-ऋण, राष्ट्रीय ग्रामीण साख (दीर्घकालीन कार्य व स्थिरीकरण) कोषों से प्राप्त होते हैं। रिजर्व बैंक इसे अल्पकालीन कार्यों के लिए कर्ज दे सकता है,

(iii) SCBs RRBs LDBs (क्रमश सहकारी, प्रादेशिक ग्रामीण व भूमि विकास बैंकों) को कर्ज देने के अलावा यह राज्य सरकारों को 20 वर्ष तक की अवधि के लिए कर्ज दे सकता है ताकि वे सहकारी साख समितियों की शेयर पूँजी में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से भाग ले सकें। केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से यह किसी अन्य संस्था को भी कृषि व ग्रामीण विकास में संलग्न किसी भी संस्था की शेयर पूँजी में भाग लेने के लिए कर्ज दे सकता है,

(iv) यह भारत सरकार, योजना आयोग, राज्य सरकारों आदि के कार्यों में कुटीर व लघु उद्योगों के सम्बन्ध में समन्वय स्थापित करता है,

(v) यह कृषि व ग्रामीण विकास में **अनुसन्धान को प्रोत्साहन देने के** लिए अनुसन्धान व विकास कोष स्थापित कर सकता है,

(vi) विभिन्न **प्रोजेक्टों के क्रियान्वयन की सूचना** देने की जिम्मेदारी लेता है तथा अच्छी किस्म के प्रोजेक्टों के विकास का कार्य देखता है, तथा

(vii) **नाबार्ड RRBs व सहकारी बैंकों की जाँच की व्यवस्था करता है।** ये सस्थाएँ शाखाएँ खोलने के लिए रिजर्व बैंक को अपने आवेदन-पत्र नाबार्ड के मार्फत भेजती है। इसे बैंकों से सूचना व स्टेटमेण्ट मँगाने का अधिकार भी दिया गया है।

नाबार्ड की प्रगति[1]- इसने मार्च 1993 तक कुल 1,02,712 स्कीमें मजूर की हैं जिनका सम्बन्ध लघु सिचाई, भूमि विकास/कमाण्ड क्षेत्र विकास, फार्म यन्त्रीकरण, बागान/फलों के उद्यान, मुर्गी पालन, भेड पालन व सूअर पालन, मछली पालन, स्टोरेज व बाजारों के निर्माण कार्यों से रहा है।

1992 93 में नाबार्ड ने पुनर्वित्त सहायता के रूप में 2,896 करोड रुपये की राशि का वायदा किया और 2,359 करोड रुपये की राशि वितरित की। 31 मार्च, 1993 तक कुल वायदे की राशि 23,431 करोड़ रुपये रही तथा कुल वितरित राशि 18,723 करोड रुपये रही। कुल वितरित राशि में प्रथम स्थान अनुसूचित व्यापारिक बैंको का तथा द्वितीय स्थान राज्य भूमि विकास बैंकों का रहा। सर्वाधिक राशि लघु सिचाई के लिए दी गयी है। दूसरा स्थान IRDP का रहा है।

अत इसकी अधिक सहायता अनुसूचित व्यापारिक बैंकों के माध्यम से सचालित की गयी है। नाबार्ड प्राथमिक कृषि साख समितियों के पुनर्गठन का प्रयास भी कर रहा है। यह विदेशी सहायता स सम्बद्ध प्रोजेक्टों के क्रियान्वयन में भाग लेता है। यह कृषि व ग्रामीण विकास के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगा है।

भारतीय बैकिंग की नई दिशाएं
(New Directions in Indian Banking)

पिछले वर्षों में बैकिंग के क्षेत्र में कुछ नई प्रवृत्तियाँ या दिशाएं विकसित हुई है जिनकी वजह से व्यापारिक बैंकों ने समाज को नई सेवाएं प्रदान करना चालू किया है। इससे एक तरफ बैंकों को आर्थिक लाभ प्राप्त करने के अवसर प्राप्त हुए हैं, और दूसरी तरफ समाज को नवीन सेवाओं का लाभ मिलने लगा है।

इस सम्बन्ध में हम साख-कार्ड, परस्पर कोष (mutual funds), मर्चेण्ट-बैंकिंग, लीजिंग, जोखिम-पूँजी (Venture Capital), फैक्टरिंग आदि का संक्षिप्त विवेचन करने के बाद बैंकिंग व्यवस्था की आवासीय वित्त प्रदान करने, लघु उद्योगों का विकास करने, ग्रामीण विकास में सक्रिय रूप से भाग लेने, रोजगार - संवर्धन

1. Report on Currency and Finance 1992 93, Vol I pp 217 218

वनिर्धनता-निवारण में योगदान देने सम्बन्धी क्रियाओं व कार्यक्रमों का परिचय देंगे, जिनसे पता चलेगा कि भारतीय बैंकिंग में नये क्षितिज (new horizons) उभर रहे है और उचित नीतियाँ अपना कर बैंकिंग का भविष्य काफी उज्जवल बनाया जा सकता है। लेकिन साथ में कुछ समस्याओं का समाधान भी जरूरी होगा।

(i) **साख-कार्ड** (credit cards) :—भारत में कुछ बैंकों ने प्रयोग के तौर पर साख-कार्ड चालू किये हैं। ये पहचान-कार्ड के रूप में ग्राहकों को दिये जाते है। इन साख-कार्डों को दिखाकर बैंक का ग्राहक इसी बैंक की किसी भी शाखा से एक विशिष्ट मुद्रा-राशि तक किसी भी दिन चैक का रुपया प्राप्त कर सकता है। इस सुविधा से ग्राहकों को काफी लाभ होता है और सहूलियत बढ़ जाती है।

(ii) **परस्पर कोष** (mutual funds) —शुरू में 'परस्पर कोष' की व्यवस्था भारतीय यूनिट ट्रस्ट ने चालू की थी, जिसके माध्यम से लोगों की बचतें एकत्र की जाती हैं, और फिर उनका उपयोग कम्पनियों के शेयर व ऋण-पत्र आदि खरीदने में किया जाता है, तथा बचत करने वालों को उचित वार्षिक प्रतिफल दिया जाता है। हाल में कई सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों ने परस्पर कोष स्थापित किये है। हम पहले बतला चुके हैं कि भारतीय स्टेट बैंक की एक स्वतंत्र सहायक इकाई SBI वर्तमान मे इस कार्य का संचालन करती है। लेकिन वह साथ में मर्चेण्ट-बैंकिंग का भी काम कर रही है। काम बढ़ने से भारतीय स्टेट बैंक 'परस्पर कोष' का काम एक स्वतंत्र इकाई को सौंपने पर विचार कर रहा है।

(iii) **मर्चेण्ट-बैंकिंग**—इसके माध्यम से व्यापारिक बैंक प्रोजेक्ट के निर्माण व क्रियान्वयन में अपनी सलाह देते हैं, जिससे कम्पनियों को नये प्रोजेक्टों का चुनाव करने, उनका निर्माण करने व उनको चलाने में मदद मिलती है। इससे वित्तीय सहायता प्राप्त करने में भी मदद मिलती है, तथा कम्पनी अपनी पूँजी एकत्र करने की स्कीम बनाती है एवं आवश्यकतानुसार अन्य इकाइयों से एकीकरण व विलयन पर भी विचार कर सकती है। भारतीय स्टेट बैंक की ऊपरवर्णित सहायक इकाई SBI Capital Markets Ltd (SBICAP) मर्चेण्ट बैंकिंग का कार्य 1986 से देख रही है।

(iv) **लीजिंग** (Leasing) —इसके माध्यम से बैंक कम्पनियों को मशीनें व उपकरण 'लीज' पर उपलब्ध करते हैं। वे मशीनें बैंकों की सम्पत्ति होती है, जिन्हें वे वार्षिक लीज या किराये पर कम्पनियों को उपलब्ध करते है। इससे कम्पनियों को उधार की जैसी सुविधा मिल जाती है और उत्पादन बढ़ाने का अवसर मिलता है।

(v) **जोखिम-पूँजी** (Venture Capital)—भारतीय रिजर्व बैंक ने 'जोखिम पूँजी' के सम्बन्ध में दिशा निर्देश 1988 के अंत में जारी किये थे। अभी तक यह काम भारतीय औद्योगिक विकास बैंक व अन्य बड़ी वित्तीय संस्थाओं द्वारा किया जाता था। इसके अन्तर्गत जोखिमी परियोजनाओं, जिन्हें 'ग्रीन फील्ड प्रोजेक्ट' कहा जाता है, के लिए वित्तीय व्यवस्था की जाती है। अब यह काम बैंक भी अन्य संस्थाओं के साथ मिल कर या स्वतंत्र रूप से करने के लिए आगे आने लगे हैं। भारतीय स्टेट बैंक के ऊपरवर्णित SBICAP ने एक 'इक्विटी विकास स्कीम' चालू की है जिसका उद्देश्य जोखिम-पूँजी देना है। कुछ विदेशी बैंक जैसे ग्रिण्डलेज भी इसमें भाग लेने लगे हैं।

(vi) **फैक्टरिंग** (factoring) :— कल्याण सुन्दरम समिति की सिफारिशों के बाद हाल में व्यापारिक बैंक 'फैक्टरिंग' में भी रुचि लेने लगे हैं। जैसाकि पहले बतलाया गया था, इसके अन्तर्गत एक फैक्टर, अर्थात् बैंक, (जो फैक्टरिंग का काम अपने ऊपर लेता है) अपने ग्राहकों के लिए उनके बकाया कर्जों की वसूली का काम करता है। इससे उत्पादक अपना सम्पूर्ण ध्यान उत्पादन बढ़ाने व बिक्री की व्यवस्था को सुधारने में लगा सकते हैं। बैंक फैक्टरिंग के काम के लिए अपना कमीशन लेते हैं। इससे छोटी व मध्यम इकाइयों को बहुत लाभ होता है क्योंकि भारत में भुगतानों में प्राय विलम्ब होता है, और फैक्टरिंग-सेवा मिलने से वे कई प्रकार की उलझनों से मुक्त हो सकते हैं। 26 फरवरी, 1991 से **SBI Factors and commercial Services Private Ltd.** (SBIFACS) की स्थापना महाराष्ट्र, गुजरात, गोआ, दादरा, नगर हवेली व दिव के प्रदेशों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

अभी फैक्टरिंग का काम प्रारम्भिक चरणों में ही है। अतः भविष्य में यह वास्तविकता का रूप धारण कर पायेगा।

(vii) **राष्ट्रीय आवास बैंक** (National Housing Bank) (NHB) —यह जुलाई 1988 से देश में आवास-वित्त की सुविधा बढ़ाने का कार्य कर रहा है। इसने व्यापारिक बैंकों व सहकारी बैंकों के सहयोग से 1 जुलाई 1989 से 'होम लोन एकाउण्ट स्कीम' परिवारों से साधन जुटाने के लिए चालू की है, जिसके मार्च 1991 तक 4 लाख लोग सदस्य बन चुके हैं और 68 करोड़ रु जमा के रूप में प्राप्त हुए हैं। **राष्ट्रीय आवास बैंक भवन-निर्माण के लिए उधार देने वाली संस्थाओं को पुनर्वित्त** (refinance) **की सुविधा देता है।** *इस प्रकार यह आवास की सुविधाओं में वृद्धि करने का प्रयास कर रहा है। इसकी परिदत्त पूँजी 200 करोड़ रुपये कर दी गयी है। इसे विदेशी कर्ज भी मिलेगा ताकि यह अपने उद्देश्य में सफल हो सके।*

(viii) **भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक** (SIDBI) —इसने 2 अप्रैल 1990 से 4200 करोड़ रु के साधनों से कार्यारम्भ किया है और यह IDBI के लघु उद्योग विकास कोष व राष्ट्रीय इक्विटी कोष का संचालन करेगा, और लघु उद्योगों की स्थापना, आधुनिकीकरण, पुनर्स्थापना, आदि में मदद देगा। इसका मुख्य कार्यालय *लखनऊ में है तथा इसकी 26 प्रादेशिक व ब्रांच कार्यालय है ।*

(ix) **सेवा-क्षेत्र-दृष्टिकोण (सा)** *(Service Area Approach)* (SAA) :— ग्रामीण विकास के क्षेत्र में यह एक नया दृष्टिकोण है। इसमें बैंक की ग्रामीण या अर्द्ध-शहरी शाखा को 20-25 गाँवों का एक समूह दिया जाता है, जो उन क्षेत्रों की विकास-सम्भावनाओं का सर्वे करके 'साख-योजना' बनाते हैं। यह अप्रैल 1989 से प्रारम्भ की गयी है और पूर्व योजना 'लीड बैंक' के क्रम को जारी रखते हुए बनायी गयी है। *इससे स्थानीय नियोजन व विकास में मदद मिल सकती है। इससे कृषिगत* साख, उत्पादन तथा उत्पादकता बढ़ाने व कोषों की वसूली में मदद मिलेगी।

(x) **रोजगार-संवर्धन में योगदान** :—बैंक निम्न दो स्कीमों के अन्तर्गत स्वरोजगार बढ़ाने के लिए कर्ज देते हैं

(अ) शिक्षित बेरोजगार युवाओं के लिए स्वरोजगार की स्कीम (SEEUY) तथा (आ) शहरी गरीबों के लिए स्वरोजगार के कार्यक्रम (SEPUP) । इससे बेरोजगार व्यक्तियों को कर्ज उपलब्ध किये जाते हैं।

(xi) निर्धनता-निवारण में बैंकों का योगदान—

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत चुने हुए निर्धन परिवारों को सरकार सब्सिडी देती है और बैंकों से कर्ज की व्यवस्था की जाती है ताकि गरीबों को कोई परिसम्पत्ति प्राप्त हो सके और वे अपनी आमदनी बढ़ा सकें।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय बैंकिंग नई दिशाओं में प्रवेश कर रही है और इसके लिए विकास के नये क्षितिज उभरे हैं। लेकिन साथ में कई नई समस्याएं भी उत्पन्न हो गई हैं। हाल में कर्ज-राहत (debt relief) ने सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों, प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों व सहकारी बैंकों की वित्तीय दशा पर विपरीत प्रभाव डाला है। 4 मई 1991 तक कर्ज-राहत के रूप में इनके द्वारा 7802 करोड़ रु दिये जा चुके हैं जिनमें केन्द्रीय सरकार का दायित्व लगभग 5777 करोड़ रु व राज्य सरकारों का 2025 करोड़ रु आया है। इससे बैंकों की लाभप्रदता व विश्वसनीयता को भारी धक्का पहुँचा है। इससे देश की वित्तीय स्थिति पर भी प्रतिकूल असर पड़ा है। भविष्य में कर्ज का उपयोग उत्पादन बढ़ाने में करने से ही हालात सुधर सकते हैं।

आशा है सरकार, रिजर्व बैंक, व्यापारिक बैंक व जनता नई चुनौतियों का सामना करने के लिए सही निर्णय लेकर उत्पादन व उत्पादकता बढ़ाने पर जोर देंगे ताकि गाँवों का आर्थिक विकास हो सके। 'लोन-मेलों' व 'कर्ज-राहत' - स्कीमों का उपयोग राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करना राष्ट्र के लिए घातक सिद्ध होगा। इससे कृषकों व अन्य वर्गों की कर्ज चुकाने की मानसिकता का भी लोप हो सकता है। अत भारतीय बैंकिंग को उचित दिशा में मोड़ा जाना चाहिए। सरकार ने एम नरसिम्हम की अध्यक्षता में एक समिति भारत की बैंकिंग व वित्तीय प्रणाली की कमियों को दूर करने के लिए सुझाव देने के लिए नियुक्त की थी, जिसने अपनी रिपोर्ट 16 नवम्बर 1991 को वित्त मंत्री को पेश की। इसकी प्रमुख सिफारिशें नीचे दी जाती हैं—

1 समिति ने बैंकिंग क्षेत्र की कार्यकुशलता, उत्पादकता व लाभप्रदता को बढ़ाने के लिये कार्य-पद्धति में लोच (operational flexibility) व आन्तरिक स्वायत्तता (internal autonomy) को बढ़ाने का दृष्टिकोण स्वीकार किया है। बैंकों की लाभप्रदता को ऊँचा करने के लिए इसने वैधानिक तरलता अनुपात (SLR) को क्रमबद्ध तरीके से पांच वर्षों में घटा कर 25 प्रतिशत तक लाने का सुझाव दिया है।

2. नकद रिजर्व अनुपात (CRR) को भी घटाने पर बल दिया है तथा इसके स्थान पर खुले बाजार की क्रियाओं का उपयोग अधिक करने की आवश्यकता बतलाई है।

3 प्रथमिकता प्राप्त क्षेत्र (priority sector) की नई परिभाषा में लघु व सीमान्त कृषक, उद्योग का टाइनी क्षेत्र, लघु व्यवसाय व परिवहन-चालक, ग्रामीण व कुटीर उद्योग, ग्रामीण कारीगर व अन्य कमजोर वर्ग के लोग शामिल किये

गये हैं और उनके लिए समग्र साख का 10% अंश ही निर्धारित किया गया है। (यह पहले 40% था) तीन साल बाद देखना होगा कि इसे जारी रखा जाय या नहीं।

4 ब्याज की दरों का विनियमन किया जाना चाहिए (deregulated) जो बाजार की दशाओं के अनुरूप हो।

5 बैंकों को मार्च 1996 तक पूँजी-पर्याप्तता अनुपात (Capital adequacy ratio) (जोखिमभारित परिसम्पत्तियों के सम्बन्ध में) 8% प्राप्त करना चाहिए ताकि इनके पास पर्याप्त मात्रा में पूँजी हो सके (बासल स्टेण्डर्ड के अनुसार)।

6 बैंकों की परिसम्पत्तियों का चार श्रेणियों में वर्गीकरण किया जाना चाहिए, यथा, स्टेण्डर्ड, सब-स्टेण्डर्ड , संदेहास्पद व हानि वाली परिसम्पत्तियाँ। हानि वाली परिसम्पत्तियाँ बट्टे खाते लिख दी जाएं अथवा उनके लिए 100% तक व्यवस्था की जाए।

7 बैंकों के द्वारा कर्ज की रिकवरी की कठिनाइयाँ दूर की जाए। समिति ने एक परिसम्पत्ति-पुनर्निर्माण-कोष (Assets Reconstruction Fund) (ARF) की स्थापना का सुझाव दिया है जो बैंकों व वित्तीय संस्थाओं के कुछ बुरे व संदेहास्पद कर्ज बट्टे पर ले लेगा और उनकी वसूली में मदद करेगा। ARF की स्वयं की पूँजी में बैंक व वित्तीय संस्थाएं भाग लेंगे।

8 नई बैंकिंग व्यवस्था के ढांचे में चार श्रेणियाँ होंगी —
(i) तीन या चार बड़े बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के, (ii) 8 या 10 बैंक 'यूनिवर्सल ' बैंकिंग स्तर के जिनकी शाखाएं देशभर में हों, (iii) स्थानीय बैंक एक क्षेत्र-विशेष तक सीमित हों तथा (iv) ग्रामीण बैंक (RRB सहित) कृषि व सहायक क्रियाओं से जुड़े हों।

9 बैंकों के लिए शाखा खोलने के लिए लाइसेंस व्यवस्था समाप्त कर दी जानी चाहिए। विदेशी बैंकों को भारत में शाखाएं खोलने की इजाजत उदारतापूर्वक दी जानी चाहिए।

10 बैंकों पर केवल भारतीय रिजर्व बैंक का नियंत्रण रहना चाहिए। वित्त मंत्रालय के बैंकिंग विभाग का दोहरा नियंत्रण हटा देना चाहिए।

11 बैंकों द्वारा अवधि-कर्ज तथा विकास-वित्तीय संस्थाओं द्वारा आवश्यक कार्यशील पूँजी देने की व्यवस्था चालू की जानी चाहिए।

12 पूँजी-निर्गमन पर कन्ट्रोल हटा दिया जाना चाहिए। अत पूँजी-निर्गमन-नियंत्रक कार्यालय की आवश्यकता नहीं रह गई है।

पूँजी बाजार विदेशी विनियोग के लिए खोला जाना चाहिए।

समिति के दो सदस्यो प्रो मृणालदत्ता चौधरी व श्री एम आर श्रोफ ने अपने असहमति नोट में कहा है कि सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों व वित्तीय संस्थाओं के बोर्डों पर सरकार अपने अधिकारी (officials) नियुक्त न करे ताकि समिति की सिफारिशों के कियान्वयन में सुविधा रहे।

डॉ जी तिमैय्या ने अपने लेख (The Economic Times, 24 फरवरी 1992) में बतलाया है कि नरसिम्हम समिति ने वैधानिक-तरलता अनुपात (SLR) को घटाने के प्रभाव की ठीक से जाँच नहीं की है क्योंकि इससे केन्द्र के पास वित्तीय साधनों की कमी हो जायेगी जिससे वह राज्यों को योजना-कार्यों के लिए पर्याप्त मात्रा में उधार नहीं दे पायेगा और परिणामस्वरूप राज्यों की वित्तीय व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। अत इससे भारत में नियोजन को क्षति पहुँच सकती है।

उन्होंने परिसम्पत्ति-पुनर्निर्माण कोष (ARF) की उपादेयता पर भी संदेह व्यक्त किया है। उनका मत है कि इससे बेहतर यह रहता कि वसूल न किये जा सकने वाले कर्ज बट्टे खाते डाल दिये जाएं क्योंकि उनके प्रबंध पर व्यय करना व्यर्थ होगा।

फिर भी यह कहना होगा कि समिति ने बैकों व वित्तीय संस्थाओ की कार्यात्मक लोच व आन्तरिक स्वायत्तता पर बल देकर उनकी कार्यकुशलता व लाभप्रदता को सुधारने के जो सुझाव दिये है, उन पर उचित ध्यान दिया जाना चाहिए।

बैंकिंग सेवाओं में सुधार पर गोयपोरिया समिति के सुझाव—

भारतीय रिजर्व बैंक ने भारतीय स्टेट बैंक के अध्यक्ष श्री एम एन गोयपोरिया (M.N Goiporia) की अध्यक्षता में सितम्बर 1990 में बैंकिंग सेवाओं में सुधार के लिए सुझाव देने के लिए एक समिति नियुक्त की थी जिसने अपनी रिपोर्ट 6 दिसम्बर 1991 को पेश की। इसकी प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार है—

(i) नकद के अलावा अन्य लेन-देनों के लिए बैंकिंग के घटों को बढ़ाना, (ii) बैंकों के काम को चालू करने के समय में परिवर्तन ताकि बैंक-काउन्टर्स समय पर खुल सकें, (iii) 5,000 रूपये तक के आउट-स्टेशन चैकों को तुरन्त जमा करना (वर्तमान में 2,500 रुपये तक), (iv) बचत खाते में ब्याज की दर बढ़ाना, (v) बैंक जमाओं पर कर-लाभ प्रारम्भ करना, (vi) सभी स्तरों पर बैंक स्टॉफ को मिले विवेकशील अधिकारों का पूरा उपयोग करना, (vii) निर्यात-विन में निर्यात-राशियों की समय पर वसूली के लिए प्रपत्रों को शीघ्र भेजना, (viii) बैंकों का आधुनिकीकरण, (ix) विभिन्न ग्राहकों के लिए विशिष्ट सेवाओं के लिए शाखाएं खोलना, (x) बैंकों में प्रतिबन्धित अवकाश की व्यवस्था लागू करना तथा (xi) बैंक आर्डर्स के रूप में एक नया इन्स्ट्रूमेन्ट चालू करना। आशा है इन उपायों को लागू करने से बैंकिंग सेवाओं में सुधार आयेगा।

शेयर घोटाले में ैंकों की अवांछित भूमिका :-

पिछले वर्ष भारत में हुए प्रतिभूति घोटाले (securities scam) ने सर्वाधिक ध्यान आकर्षित किया है । इस सम्बन्ध मे जानकीरमन समिति की **प्रथम रिपोर्ट 31 मई 1992 को, दूसरी रिपोर्ट 5 जुलाई 1992 को, तीसरी रिपोर्ट 23 अगस्त 1992 को, चौथी रिपोर्ट 4 मार्च 1993 को** तथा पाचवीं व अन्तिम रिपोर्ट मई 1993 के मध्य में पेश हुई थी जिनमें इस घोटाले मे बैंकों व सार्वजनिक वित्तीय सस्थाओ की अवांछित व अशोभनीय भूमिका पायी गयी है । प्रथम रिपोर्ट मे 3,079 करोड़ रु के अनियमित विनियोग के लेन-देन का उल्लेख किया गया और दूसरी रिपोर्ट मे इसे बढ़ा कर 3,544 करोड़ रुपये किया गया और चौथी व पाचवीं रिपोर्ट में 4,025 करोड़ रु किया गया है। दूसरी रिपोर्ट में यह पाया गया कि राष्ट्रीय आवास बैंक (जो भारतीय रिजर्व बैंक की एक सहायक इकाई है) ने 1271.2 करोड़ रु तक के जो विनियोग के लेन देन किये, उनके लिए न तो आवश्यक सिक्यूरिटियाँ रखीं, *न सब्सिडियरी-जनरल-लेजर (SGL) फार्म रखे और न बैंकर्स-रसीदें (BR_S) रखीं* । इन लेन-देनो से दलालों के विशिष्ट समूहों को लाभ पहुँचा है । कुछ सौदों में बैंको ने बैक ऑफ कराड व मैट्रोपोलीटन सहकारी बैंक द्वारा जारी किये गये SGL ट्रॉन्सफर फॉर्म रखे हैं, जबकि ये दोनो बैंक बाद मे समाप्त (liquidate) कर दिये गये हैं । दूसरी रिपोर्ट के अनुसार **चार विदेशी बैंकों - सीटी बैंक, स्टेण्डर्ड चार्टर्ड बैंक, बैंक ऑफ अमेरिका तथा ए एन जैड** (ANZ) **ग्रिन्डलेज बैंक का अश दो तिहाई लेन-देनों** (two third transactions) **में पाया गया है ।** बैको ने अन्य बैंको ने कॉल मनी (call money) के तहत *बडे भुगतान दिखाये हैं, लेकिन प्राप्तकर्ता बैंकों के खातो मे इसका जमा* खर्च न दिखाया जाकर ये राशियाँ दलालो के खातों मे जमा दिखाई गयी हैं । इस प्रकार बैको की अनियमितताओं, भ्रष्टाचार, धोखाधड़ी व घपलो के कारण काफी बदनामी हुई है और छोटे विनियोगकर्ता बर्बाद हुए हैं । कई अधिकारियो को निलम्बित किया गया है, और इस सम्बन्ध मे सरकार दोषी व्यक्तियो को कठोर सजा देने के लिए कृतसकल्प है । प्रतिभूति घोटाले की जाच के लिए जुलाई 1992 मे श्री रामनिवास मिर्धा की अध्यक्षता में नियुक्त

सयुक्त समिति (JPC) की रिपोर्ट भी पेश की जा चुकी है । सरकार भविष्य में इस प्रकार के घोटालों को रोकने के लिए बैंकिग प्रणाली पर कारगर नियत्रण की व्यवस्था करेगी । सरकार ने इसे 'व्यवस्था की विफलता (System failure) का मामला बतलाया है, जबकि विरोधी पक्ष इसे 'सरकार की विफलता' (failure on the part of government) मानता है । बहरहाल इस घोटाले से भारत की प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुचा है ।

प्रश्न

1. भारत में बैंकों के राष्ट्रीयकरण की नीति क्यों अपनायी गयी? बाद के लगभग दो दशकों के अनुभवों ने क्या राष्ट्रीयकरण का औचित्य सिद्ध किया है? विवेचन कीजिए। क्या बैंकों का 'विराष्ट्रीयकरण' व 'निजीकरण' देश के हित में रहेगा?
2. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए –
   (i) भारतीय स्टेट बैंक के कार्य व प्रगति,
   (ii) प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्र को व्यापारिक बैंकों द्वारा कर्ज की सुविधा,
   (iii) व्यापारिक बैंकों के कार्यों की नयी दिशाएं,
   (iv) मर्चेण्ट-बैंकिंग व 'परस्पर कोष' की स्कीम तथा बैंकों की भूमिका,
   (v) राष्ट्रीय आवास बैंक (National Housing Bank)
3. राष्ट्रीयकरण के बाद बैंकिंग की प्रगति व मुख्य उपलब्धियों का परिचय दीजिए। क्या यह प्रगति संतोषजनक मानी जा सकती है? भविष्य में बैंकिंग विकास के लिए आवश्यक सुझाव दीजिए।
4. सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए -
   (i) बैंको द्वारा फैक्टरिंग की सेवाए,
   (ii) सेवा-क्षेत्र दृष्टिकोण (Service Area Approach) (SAA)
   (iii) लीड बैंक स्कीम,
   (iv) प्रादेशिक ग्रामीण बैंक,
   (v) भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (SIDBI)
   (vi) नरसिम्हम समिति द्वारा बैंको व वित्तीय सस्थाओ मे सुधार के सुझाव,
   (vii) गोइपोरिया समिति द्वारा बैंकिग सेवाओं मे सुधार के सुझाव,
   (viii) शेयर घोटाले मे बैंको की भूमिका।
5. भारत में बैंको की वर्तमान प्रवृत्तियो का वर्णन कीजिये
   (Ajmer Iyr. 1992)

● ● ●

Rajasthan University

B.A./B.Sc. (Part I) EXAMINATION, 1993

ECONOMIC

First Paper

(Economic Concepts and Method)

(Attempt any five questions)

किन्हीं पाच प्रश्नों के उत्तर दीजिये ।

1 Compare the merits and demerits of the 'Positive Economics' and that of the 'Normative Economics'
'वास्तविक अर्थशास्त्र' एव 'आदर्शात्मक अर्थशास्त्र' के गुण-दोषों की तुलना कीजिए।

2 Define the circular flow of Income Explain the variables which increase it and the variable which decrease it.
आय के वृताकार प्रवाह को परिभाषित कीजिए। इस प्रवाह को बढ़ाने वाली तथा घटाने वाली चल राशियों की व्याख्या कीजिये ।

3 Explain the meaning and suitability conditions of 'Partial and 'General Equilibrium' Prove their complementarity, if any
'आंशिक साम्य' एव 'सामान्य साम्य' का अर्थ व उपयुक्ता की दशाओं को समझाइये। इनका पूरकता, यदि कोई हो, तो सिद्ध कीजिये ।

4 Show the relationship of per capita Income and Economic Welfare State the situation when per capita Income increase but economic welfare decreases
आर्थिक कल्याण व प्रति व्यक्ति आय के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए । उस स्थिति को स्पष्ट कीजिए जब प्रतिव्यक्ति आय बढ़ रही हो, लेकिन आर्थिक कल्याण घट रहा हो।

5 Differentiate the following
(a) Currency and Credit,
(b) Fiat Money and Fiduciary Money;
(c) Stock of Money and Money in circulation,
(d) Real money and Unit of account.
निम्नलिखित में अन्तर कीजिये -
(अ) करेंसी एव साख,
(ब) आदेशाश्रित मुद्रा एव विश्वासाश्रित मुद्रा,
(स) मुद्रा का कुल स्टॉक तथा प्रचलन में मुद्रा,
(द) वास्तविक मुद्रा तथा लेखे की इकाई ।

6 Explain the meaning of concept of *money supply of* M_1, M_2 M_3 and M_4 with reference to India. Also explain the relationship of Money supply (M) and the High-powered money (H)
भारत के सदर्भ में मुद्रा की पूर्ति की अवधारणाओं M_1, M_2, M_3, M_4के स्पष्ट कीजिये । मुद्रा की पूर्ति (M) तथा उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा (H) का स्पष्ट कीजिये ।

7 How will you define 'Mixed Economic' ? Why and which will you prefer between 'Dominantly Capitalist Mixed Economy' and 'Planned socialist mixed Economy'?

आप मिश्रित अर्थव्यवस्था' को कैसे परिभाषित करेंगे ? प्रमुखतया पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था तथा नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था में आप किसको व क्यों पसन्द करेंगे ?

8 What are the concepts of Total, Average and Margin ? Measure the Marginal Product and Average Product when total product curve is given. Find the points on T P Curve When (a) Marginal Product is maximum, and (b) Marginal product is zero

कुल, औसत व सीमान्त की अवधारणाएँ क्या हैं ? कुल उत्पत्ति वक्र दिये हुए होने पर सीमान्त उत्पत्ति व औसत उत्पत्ति का माप कीजिये। कुल उत्पत्ति वक्र पर वह बिन्दु बताइये, जब (अ) सीमान्त उत्पादन अधिकतम हो, तथा (ब) सीमान्त उत्पादन शून्य हो।

9 Write short notes on any two of the following
(a) *Capitalist economy*, (b) Monopoly market,
(c) Exchange Rate, (d) Basic-economic Problems,
(e) Stock and flow variable

निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये
(अ) पूँजीवादी अर्थव्यवस्था, (ब) एकाधिकारी बाजार,
(स) विनिमय दर, (द) मूलभूत आर्थिक समस्याएँ,
(य) स्टॉक व प्रवाह चलराशियाँ।

10 Prepare Fisher's Ideal Index number from the following data -

1980			1992	
Items	Quantity (q_0)	Total Expenditure (P_0q_0)	Price (P_1)	Total Expenditure (P_1q_1)
A	8	16	4	24
B	10	50	6	30
C	14	56	5	50
D	19	38	2	26

Does is satisfy the Time reversible Test ?

निम्न समकों से फिशर की विधि से मूल्य सूचकांक ज्ञात कीजिये -

1980			1992	
मद	मात्रा (q_0)	कुल व्यय (P_0q_0)	कीमत (P_1)	कुल व्यय (P_1q_1)
A	8	16	4	24
B	10	50	6	30
C	14	56	5	50
D	19	38	2	26

क्या यह समय-उत्क्राम्यता जाँच को सतुष्ट करता है ?

University of Rajasthan

B.A./B.Sc. (Part I) EXAMINATION, 1994 (10+2+3 Patten)

ECONOMICS

First Paper

(Economic Concepts and Method)

प्रत्येक खण्ड से कम से कम एक प्रश्न चुनते हुए
किन्हीं पाच प्रश्नो के उत्तर दीजिए।
सभी प्रश्नो के अक समान है।

(खण्ड 'अ')

1 एक अर्थव्यवस्था की मूलभूत आर्थिक समस्याओ की व्याख्या कीजिए। एक प्रतियोगी अर्थव्यवस्था मे उनको किस प्रकार हल किया जा सकता है? 14,6

2 पूर्ण प्रतियोगिता एव अपूर्ण प्रतियोगिता बाजारो मे अन्तर कीजिए। 10,5,5

3 निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए 5,5,6,4
(अ) साधन लागत पर GNP एव बाजार भावो पर GNP (सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति)
(ब) साधन लागत पर NNP एव बाजार भावो पर NNP (शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति)
(स) सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP)= सकल राष्ट्रीय व्यय (GNE)=सकल राष्ट्रीय आय (GNI),
(द) व्यक्तिगत खर्च योग्य आय (PDI)।

(खण्ड 'ब')

4 मुद्रा की आधुनिक परिभाषा दीजिए। एक अर्थव्यवस्था मे मुद्रा द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कार्यों का विवेचन कीजिए। 4,8,8

5 फिशर एव कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। जहाँ आवश्यकता हो वहा समीकरणो व चित्रों का उपयोग कीजिए। 8,6,6

6 'पूँजीवाद मे सुधार करना सम्भव है, इसका पूर्णरूप से अन्त करने की आवश्यकता नहीं है। इस कथन की जाँच कीजिये। 4,6,6,4

(खण्ड 'स')

7 निम्न की व्याख्या कीजिये 10,10
(अ) ढाल का अर्थ व माप
(ब) कीमत–लोच की धारणा।

8 व्याख्या कीजिये 10,10
(अ) धनात्मक एव ऋणात्मक फलन,
(ब) रेखिय एव अरेखिय फलन।

9 केन्द्रीय प्रवृत्ति के विभिन्न माप कौन से होते हैं? निम्न वितरण के लिए उपयुक्त माप लागू कीजिये 6,14

मासिक आय (रु मे)	परिवारों की सख्या
100 से कम	50
100-200	500
200-300	555
300-400	100
400-500	3
500 से ऊपर	2
	कुल 1210

मध्यका= 209 9 रु
=210 रु

MDS University, Ajmer

B.A. (Part I) Examination of The Three-Year Degree Course, 1994

(Faculty of Arts)

ECONOMICS

First Paper

(Economic Concepts & Methods)

प्रत्येक खण्ड मे से कम से कम एक प्रश्न का चयन करते हुए किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिये। सभी प्रश्नो के अक समान हैं।

खण्ड अ

1 'विवेकपूर्ण व्यवहार' से क्या आशय है? उपभोक्ता एव उत्पादक के सन्दर्भ मे व्याख्या कीजिए। 4+8+8

2 (i) व्यष्टि एव समष्टि अर्थशास्त्र से भेद स्पष्ट कीजिए। 5+5

(ii) स्थिर एव गतिशील विश्लेषण में भेद स्पष्ट कीजिए। 5+5

3 निम्न अवधारणाओ को स्पष्ट कीजिए—

(i) सकल राष्ट्रीय उत्पाद एव विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद। 5

(ii) साधन लागत पर विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन तथा बाजार कीमत पर विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन। 5

(iii) व्यक्तिगत आय एव व्यय योग्य आय। 5

(iv) प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय एव आर्थिक कल्याण के मध्य सम्बन्ध। 5

खण्ड ब

4 मुद्रा की माग क्यो की जाती है? मुद्रा की माग के विभिन्न उद्देश्यो को स्पष्ट कीजिए। 5+5+5+5

5 मुद्रा की पूर्ति किस प्रकार से उत्पादन के स्तर को प्रभावित करती है? मौद्रिक सयत्र की सहायता से समझाइये। 20

6 केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियत्रण की व्याख्या कीजिये। 20

खण्ड स

7 वक्र का ढाल किस प्रकार ज्ञात किया जाता है? वक्र के विभिन्न बिन्दुओं पर ढाल क्यों बदल जाता है? 10+10